

राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित हिन्दी का सर्वथ्रेप्ठ कथा-संकलन एक दुनिया : समानान्तर

आयुनिक साहित्य की सबसे अधिक सशक्ति, जीवन्त और महत्वपूर्ण साहित्य विवाद-कहानी—को लेकर इधर जो विवाद, हलचलें, प्रश्न, जिजासाएं और गोप्तियाँ हुई हैं, उन सभी में कला-साहित्य के नये-नुराने सालों में नारदार उदाय गया है। कथाकार राजेन्द्र यादव जूँहोंगे वही दारदहानी के मूलभूत और नई विकासीति का गहरा और वारक अन्तिमिट के साथ खुल कर रखा। रखा देवी-विदेशी कहानियों के परिवेष्य में उन दोनों दारदहानी का निर्भीक विवेचन दिया है। बहुतों की अप्रवन्नता और समर्थन के लिए लम्हा मुक्त, यह गम्भीर विश्लेषण जितना लोडा है, उतना ही महत्वपूर्ण भी।

लेकिन उन कहानियों के बिना यह सारा विश्लेषण अद्वूरा रहता जिनका ज़िक्र समीक्षक, लेखक, समादर, पाठक वार-वार करते रहे हैं; जिनसे आज की कहानी का धरातल बना है।

निविवाद रूप से यह स्वतंत्रता के बाद की हिन्दी-कहानी का बेजोड़ संकलन और प्रामाणिक 'हैण्ड-बुक' है। यह सिर्फ़ कुछ कहानियों का हेर पा वाल नहीं है, बल्कि इनके चुनाव के पीछे एक विशेष जागहक रूपिट और कलात्मक आग्रह है।

इसीलिए आज की सम्पूर्ण रचनात्मक चेतना को गमनने के लिए "एक दुनिया : समानान्तर" प्रारिहार्य और अनुरोधणीय संकलन है, ऐतिहासिक और समकालीन लेखन का प्रतिनिधि सन्दर्भ-प्रन्थ...

"एक दुनिया : समानान्तर" की भूमिका ने कथा-समीक्षा में भीषण उद्यत-पुष्यत मचायी है, मूल्योकन की नये पत्तातल दिये हैं। यह समीक्षा भावने या में हिती के विचार-साहित्य की एक उत्तमित है।

यह योद्या मंदारण इनकी सोकप्रियता का प्रमाण है।

एक दुनिया : समानावतर

सम्पादक : राजेन्द्र यादव

यशपालजी के नाम

यह संकलन

इस कथा-संकलन का एक विशिष्ट प्रयोजन है, इसलिए यह परम्परागत संकलनों से कुछ अलग हो गया है।

संकलनों की कई दृष्टिर्थ होती हैं।

संकलन किसी साहित्य-विधा के इतिहास या इतिहास-खण्ड को पूरा करने के लिए किये जाते हैं और प्रयत्न होता है कि निश्चित अवधि की सम्पूर्ण रचनात्मक प्रतिभा उनके माध्यम से अभिव्यक्ति पाये। एक विशेष अवधि में जो भी महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उसे शामिल करके विधा की शतरंजी बुनी जाती है। श्री वाचस्पति पाठक की 'इककीस कहानियाँ' इस प्रकार का एक निर्दोष संकलन है और श्री विनोदशंकर व्यास ने 'मधुकरी' के चार खण्डों में कहानी के क्रमबद्ध इतिहास को देने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। किसी वर्ष-विशेष या दशक को केन्द्र बनाकर भी इतिहास की कड़ी प्रस्तुत की जाती है। 'मुक्त' द्वारा सम्पादित 'कहानियाँ-५५' और सत्येन्द्र शरत् का 'नये पत्ते' तथा काल-खण्डों में निकलनेवाले संकलन इस दृष्टि से आज की कहानी को पीछे की परम्परा से जोड़ने में अत्यधिक सहायक हैं। पाठ्य-क्रमों के अनुसार किये गये संकलनों को मैं जान-वृक्षकर ढोड़े दें रहा हूँ; क्योंकि वहाँ न संकलनकार का कोई व्यक्तित्व होता है, न विधा-विशेष के प्रति उसका लगाव। कोर्स में लगवा ले-जाने की क्षमता ही संकलन-कर्ता का एकमात्र गुण माना जाता है। इसी में प्रकाशक की सामर्थ्य भी मिली होती है। इसी वर्ग में संकलन का एक और क्रम आया है और किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में इसे 'शवायात्रा' संकलन नाम दिया जा सकता है। इस प्रकार के संकलनों के नाम होते हैं, 'भारत की श्रेष्ठ कहानियाँ', 'विश्व की महान कहानियाँ' या 'ग्रह्याण्ड की काल-जयी कहानियाँ'—इनमें आप देखेंगे कि चैखव, टाल्सटाय, हैर्मिंगवे इत्यादि के बीच संकलनकर्ता श्री छजूलालजी की भी एक कहानी फिट है। वस्तुतः यह महान नामों के कन्धों पर अपनी सवारी निकालने की सद्भावना से किये जाते हैं।

विधा की महत्त्वपूर्ण कला-उपलब्धियों को स्वयं लेखक या सम्पादकीय रचि और विवेक से चुनकर एक जगह संकलित करना दूसरा प्रकार है। 'मेरी श्रेष्ठ कहानियाँ', 'स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ' या 'मेरी चुनी हृदई कहानियाँ', 'पांच लम्बी कहानियाँ' (राकेश) या मेरी 'नये कहानीकार' पुस्तक-माला इसी दृष्टि ने किये गये संकलन हैं।

प्रथम पुरुष में, पत्रों या डायरी के शिल्प में लिखी गयी कहानियों के संकलन हैं।

पर बल देते हैं, तो 'हिन्दी लेखिकाओं की प्रतिनिधि कहानियाँ' जैसे संकलन लेखकों के वर्गीकरण पर।

जब प्रेम नम्बन्धी, जासूसी, हास्य-प्रधान, ऐतिहासिक, ग्रांचलिक या शहरी महानगर वोध, जैसी कहानियों को आधार बनाकर संकलन किये जाते हैं तो किसी विषय की विविधता में प्रभाव नहीं करने का आग्रह रहता है।

मुकिन-आनंदोन्नत, कालि श्रीर वलिदान, नारी-जागरण, समाज-सुधार जैसे आनंदोन्नतों या समन्वयाओं को केन्द्र बनाकर भी कहानी-संकलन किये गये हैं और युद्ध, विप्लव, वंगाल का अदाल, देश-विभाजन, विदेशी आक्रमण जैसी 'घटनाओं' की कहानी-प्रतिक्रियाओं को भी पुस्तकाकार एकत्र किया गया है। विचारधाराओं के आधार पर प्रगतिशील और कला-वर्षी कहानियों के संकलन भी उपलब्ध हैं।

दृष्टियाँ और भी होंगी; लेकिन यह संकलन किसी वर्ग में नहीं आता।

नयी परिस्थितियों में किस प्रहार कथाकार का जीवन-वोध बदलता है, उसके राग-वोध में महत्त्वपूर्ण संकार घटित हुए हैं—यही दृष्टि इस कथा-संकलन की प्रेरणा है। जीवन के माध्यम ने कहानी और कहानी के माध्यम से जीवन को खोजने-समझने की एक दृष्टि भी उने कह सकते हैं। कला, कला के लिए ही या जीवन के लिए; इस उल्लंभन में पड़े बिना भी मैं यह समझता हूँ कि कला का मूल्यांकन कला के अपने मानदण्डों द्वारा हो ही नहीं सकता। यह ऐसा ही होगा जैसे चौर या सज्जन (गवाह) को उसके काव्यों और परिणामों ने (ऐविड्नियल सरकम्प्टान्सेज में) नहीं, उसके कहे हुए शब्दों (केवल व्यान) ने—या कृत्यों की जीवन के प्रभावों और परिप्रेक्ष्य से काटकर, देखा जायें। कला के मानदण्ड कही-न-कहीं जीवन के सन्दर्भों से ही जुड़े होते हैं। इसीलिए समय-नमय पर उन्हें जीवन के समाजान्तर रखकर देख लेना दोनों को समझने में सहायक होता है। कला की अभिभ्युक्ति देने का माध्यम कलाकार है और यह सब कुछ होते हुए भी समय और समाज के प्रभावों को नकार नहीं सकता, उन्होंके कारण उसकी अभिभ्युक्ति और दृष्टि में परिवर्तन और प्रयोग होते हैं।

फहरत है कहानीकार समाज की संवेदनशील आत्मा है। आज की स्थितियाँ किस तरह और इन स्थानों पर उगे दृढ़ी या प्रभावित करती हैं, इसका आकलन बस्तुतः समाज के ही नीतिक और आध्यात्मिक उत्तिवृत्त को पहचानता है—समय-विशेष में मनुष्य को दृढ़ते और बताते देखता है। यही जिजासा इस संकलन की भूमि है। यों कहानियों के चुनाव में स्वतन्त्रता के बाद यानेवाले दहानीकार और कहानियों के अपने कला-स्तर को न्यूनतम अपेक्षाएँ भी हैं ही। कहानीकार का तीव्र जीवन-वोध, उसके सन्दर्भ में कला-प्रयोग और परिचाल ही प्रकाश दर्जीटी मेरे सामने रही हैं। इस प्रक्रिया में मैंने अनियांत्रण पाया है कि जिजासा जीवन-वोध पारम्परिक है, उन्होंने प्रायः कहानी के शिल्प और ना में भी परिवर्तन नहीं किये हैं। इस विषय का विस्तार से दिवेचन ग्रलग है; मैंकिन यहाँ कहानियों के चुनाव-सम्बन्धी अपनी दो-एक कठिनाइयों को सामने रखने का प्रयत्न करूँगा।

यदों एक चबना अभनो और तहसा ही ध्यान खोने लेती है और वयों दूसरी

अनेक श्रायोजित परिचर्चाओं और प्रेरित समीक्षाओं के वावजूद वहीं-वहीं रह जाती है ? शायद जीवन को कुछ अलग तरह देखने-समझने की आकृतता, और परिणामस्वरूप कृति में आये दृष्टि और रूपनगत परिवर्तन ही हमारा ध्यान ग्रपनी और संचर्ते हैं। कोई भी महत्वपूर्ण कृति उठा लीजिए, वह कहीं-न-कहीं परम्परागत जीवन-दृष्टि की जड़ता और कला-रूप के रूपाव को तोड़ती है। यह तोड़ना ही उसे महत्वपूर्ण बना देता है और वहीं से कहानीकार की वास्तविक 'यात्रा' शुरू होती है। ग्रपनी हर अगली कृति द्वारा वह प्रमाणित करता है कि उसकी वह विशिष्ट कृति सचमुच किसी संवेदनशील जीवन संचेतना का ही परिणाम थी, या सिर्फ़ एक तुकड़ा (फ़्लुक) !

चूंकि समीक्षाओं, परिचर्चाओं और गोप्तियों में अक्सर उन्हीं कहानियों का जिक्र होता है जिन्होंने पहली बार ग्रपनी जीवन-संचेतना और रूप-प्रयोग के कारण हमारा ध्यान कहानीकार की और आकृपित किया था, इसलिए संकलनकार के सामने एक बहुत ही सुविधाजनक प्रलोभन रहता है : क्यों न उन्हीं विशिष्ट और 'ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण' कहानियों का ही एक जगह संकलन कर दिया जाये जो पाठकों, समीक्षकों और प्राध्यापकों के लिए सन्दर्भ-ग्रन्थ की तरह उपयोगी हो ? मानता हूँ, ऐसे संकलन का महत्व और उपयोग कम नहीं है; किन्तु साथ ही प्रश्न उठता है कि वह 'विशिष्ट कृति' तो केवल एक ब्रेक—या अलगाव—थी, जहाँ से किसी कथाकार की रचनात्मक प्रतिभा एक नयी दिशा लेती है—जीवन्त और संवेदनशील कथाकार के राग-बोध और दृष्टि को निरन्तर माँजने-सेवारने का पहला पड़ाव। तब कला के माध्यम ने जीवन को समझने के लिए बया वह अधिक अच्छा नहीं है कि कथाकार की प्रीड़तर कृति ही ली जाये और उस कृति का मोह छोड़ दिया जाये जो उसकी 'यात्रा का प्रारम्भ' थी ? यों, यहाँ मैं कला-सृजन की उस जटिल क्रिया को भी नज़रन्दाज नहीं करना चाहता कि आयु का बढ़ना, कथाकार का प्रीड़ होना ही नहीं होता; और कभी-कभी कला-प्रीड़ता और आयु-वार्षयक दो विरोधी वातें भी हो जाती हैं। यह भी ज़रूरी नहीं है कि किसी जीवन्त कथाकार की हर अगली रचना उसका विकास ही बताये। और इस बात का मैंने ध्यान रखा है।

वहरहाल, इसी दृष्टि से जो रचनाएँ समय के परिप्रेक्ष्य में कथाकार की जीवन-संचेतना को अधिक सार्थकता से व्यक्त करती थीं, मैंने उन्हें चुनना बेहतर समझा है—कुछ कहानियाँ तो इसी वर्ष की हैं।

लेकिन इस दृष्टि से भी एक और कठिनाई सामने आती है और यह कठिनाई, लक्ष्मीनारायण लाल की कहानियाँ; मनोहरस्याम जोशी की 'एक दुलंभ व्यक्तित्व'; हरिप्रकाश की 'वापसी'; मनहर चौहान की 'घरघुसरा'; दूधनाथ मिह की 'विस्तर,' धीमती विजय चौहान की 'अफ़सर की बटी' या 'एक बुतशिफ़न का जन्म'; धरद देवड़ा की 'श्रनकह' और इसी तरह रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन, महेन्द्र भल्ला वी श्रेष्ठ कहानियों को लेकर मेरे सामने आयी हैं। ग्रपनी ही कसीटी से ऐसी बहुत-सी कहानियाँ मुझे इसी भी प्रतिनिधि संकलन के लिए आवश्यक लगती हैं; किंतु भी मैं उन्हें नहीं ले पा नहा हूँ। कारण; संकलन की स्थान-सीमा है और उस हालत में कुछ को छोड़कर ही उच्च को लिया जा सकता है। जिन कुछ को छोड़ा जा सकता है उनके पक्ष में एक तर्क भेरे

सामने है। जीवन संवेतन के अन्वेषण और अभिव्यक्ति के प्रयत्न में 'उसने कहा था' का इतिहास दार-द्वारा नहीं दुहराया जाता; जहाँ कोई एक कहानी ही किसी के 'अमरत्व' के लिए पर्याप्त हो। प्रतिभा अपने विस्फोट से नहीं, नैरन्तर्य से अपने-आपको प्रमाणित करती है और कहानीकार का स्थान एक कहानी से नहीं, अनेक कहानियों में विकसित होती उसकी जीवन-दृष्टि से निर्धारित होता है, अपनी विधा के प्रति आत्मीय लगाव से निश्चित होता है। ऊपरवाली कहानियों के लेखकों में कुछ ने इस नैरन्तर्य को प्रमाणित करना आवश्यक नहीं समझा है तो कुछ ने प्रमाणित नहीं किया है। कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिनकी सम्भावनाओं और उपलब्धियों के प्रति समस्त सम्मान का भाव रखते हुए भी मुझे लगता है कि उनकी वास्तविक दिशा का निर्धारण अभी होना है, अभी तो उनकी हर रचना उनके लेखक-व्यक्तित्व की मूल रेखाएँ उकेर रही हैं। अवधनारायण सिंह, दूधनाय सिंह, प्रबोधकुमार, विजय चौहान, नीलकान्त, काशीनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, गिरिराज किशोर, नरेश मेहता, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला इत्यादि अनेक नाम हैं जो भविष्य के प्रति आश्वस्त करते हैं; इनके कृतित्व के साथ न्याय करने के लिए एक स्वतन्त्र संकलन की अपेक्षा है।

अब प्रस्तुत कहानियाँ :

वदलती परिस्थितियों में व्यवित-सम्पर्कों के भावात्मक परिवर्तन स्पष्ट करने के लिए पहले इन कहानियों को दूसरे क्रम से रखा गया था। तब इन कहानियों के चार वर्ग थे और वे इस प्रकार विभाजित थीं :

१. गुजरते साथे—अथवा पितृ-वर्ग के प्रति वर्तमान पीढ़ी की वदलती हुई दृष्टि। इस वर्ग में जो कहानियाँ थीं उनमें परम्परा या प्राचीनों के प्रति श्रद्धा की भावना धीरे-धीरे दया में वदलती दिखायी देती है, दया उदासीनता और फिर उपहास में :

१. हुंसा जाई अकेला	मार्कण्डेय
२. गुलश के बाबा	"
३. देवा की माँ	कमलेश्वर
४. किसके लिए	"
५. दुनिया बहुत बड़ी है	"
६. आद्वा	मोहन राकेश
७. फर्मनाशा की हार	शिवप्रसाद सिंह
८. गोदले जल का रिता	दानी
९. अफेली	मनू भण्डारी
१०. चीफ की दावत	भीम साहनी
११. तलवार फन्च-हुजारी	राजेन्द्र यादव
१२. विरादरी-बाहर	
१३. एक दुर्लभ व्यक्तित्व	मनोहरस्याम जोशी

२. प्रणय और परिणय—वर्ग में नारी और पुरुष के आपसी सम्बन्धों के दबे-दूट वदलते स्वर मुत्तरित करनेवाली कहानियाँ थीं। इनमें हल्के-न्से मधुर-भाव से लेकर

एक-दूसरे के प्रति वाक्यायदा विरक्ति और उदासीनता तक प्रकट होती है। इसी वर्ग की कहानियों की संख्या सबसे अधिक थी :

१. अपरिचित	मोहन राकेश
२. फौलाद का आकाश	"
३. अँधेरे में	निर्मल वर्मा
४. लवस	"
५. अन्तर	"
६. तीसरी क़सम	फणीश्वरनाथ रेणु
७. तीन विन्दियाँ	"
८. अच्छे आदमी	"
९. यही सच है	मनू भण्डारी
१०. चश्मे	"
११. नशा	"
१२. तीसरा आदमी	"
१३. कोसी का घटवार	शेखर जोशी
१४. पक्षाधात	मार्कण्डेय
१५. सूर्या	"
१६. मोहवन्व	उपा प्रियंवदा
१७. एक कोई दूसरा	"
१८. सागर पार का संगीत	"
१९. रेवा	रामकुमार
२०. शवरी	रमेश वक्षी
२१. विस्तर	दूधनाथ सिह
२२. वातें	प्रयाग शुक्ल
२३. राजा निरवंसिया	कमलेश्वर
२४. नीली भोल	"
२५. जो लिखा नहीं जाता	"
२६. एक कमज़ोर लड़की की कहानी	राजेन्द्र यादव
२७. छोटे-छोटे ताजमहल	"
२८. टूटना	"
२९. पुराने नाले पर नया प्लैट	"
३०. सावित्री नम्बर दो	धर्मवीर भारती
३१. एक पति के नोट्स	महेन्द्र भल्ला
३२. टूटा हुआ पुरुष—वर्ग में दुनिया की भाग-दीड़ में खोये हुए से लेकर इन्हें प्रारब्ध के प्रति समर्पित आदमी भी था :	
१. सितम्बर की एक शाम	निर्मल वर्मा

सामने है। जीवन संचेतन के अन्वेषण और अभिव्यक्ति के प्रयत्न में 'उसने कहा था' का इतिहास वार-वार नहीं दुहराया जाता; जहाँ कोई एक कहानी ही किसी के 'अमरत्व' के लिए पर्याप्त हो। प्रतिभा अपने विस्फोट से नहीं, नैरन्तर्य से अपने-आपको प्रमाणित करती है और कहानीकार का स्थान एक कहानी से नहीं, अनेक कहानियों में विकसित होती उसकी जीवन-दृष्टि से निर्धारित होता है, अपनी विधा के प्रति आत्मीय लगाव से निश्चित होता है। ऊपरवाली कहानियों के लेखकों में कुछ ने इस नैरन्तर्य को प्रमाणित करना आवश्यक नहीं समझा है तो कुछ ने प्रमाणित नहीं किया है। कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिनकी सम्भावनाओं और उपलब्धियों के प्रति समस्त सम्मान का भाव रखते हुए भी मुझे लगता है कि उनकी वास्तविक दिशा का निर्धारण अभी होना है, अभी तो उनकी हर रचना उनके लेखक-व्यक्तित्व की मूल रेखाएँ उकेर रही हैं। अवधनारायण सिंह, दूधनाय सिंह, प्रबोधकुमार, विजय चौहान, नीलकान्त, काशीनाथ सिंह, श्रीकान्त चर्मा, गिरिराज किशोर, नरेश मेहता, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला इत्यादि अनेक नाम हैं जो भविष्य के प्रति आश्वस्त करते हैं; इनके कृतित्व के साथ न्याय करने के लिए एक स्वतन्त्र संकलन की अपेक्षा है।

अब प्रस्तुत कहानियाँ :

बदलती परिस्थितियों में व्यक्ति-सम्पर्कों के भावात्मक परिवर्तन स्पष्ट करने के लिए पहले इन कहानियों को दूसरे क्रम से रखा गया था। तब इन कहानियों के चार वर्ग थे और वे इस प्रकार विभाजित थीं :

१. गुजरते साथे—अथवा पितृ-वर्ग के प्रति वर्तमान पीढ़ी की बदलती हुई दृष्टि। इस वर्ग में जो कहानियाँ थीं उनमें परम्परा या प्राचीनों के प्रति शङ्खा की भावना धीरे-धीरे दया में बदलती दिखायी देती है, दया उदासीनता और फिर उपहास में :

१. हंसा जाई अकेला	मार्कण्डेय
२. गुलश के बादा	"
३. देवा की माँ	कमलेश्वर
४. किसके लिए	"
५. दुनिया बहुत बड़ी है	"
६. आर्द्धा	मोहन राकेश
७. कर्मनाशा की हार	शिवप्रसाद सिंह
८. गेंदले जल का रिता	शानी
९. अपेली	मन्नू भण्डारी
१०. चीफ की दावत	भीष्म साहनी
११. तलवार पंच-हृजारी	राजेन्द्र यादव
१२. दिरादरी-वाहर	"
१३. एक हुमें भ व्यक्तित्व	मनोहरस्याम जीशी

२. प्रगत और परिगत—वर्ग में नारी और पुरुष के ग्रापती सम्बन्धों के दबे-पुटे बदलते स्वर मुतारित करनेवाली कहानियाँ थीं। इनमें हल्के-से मधुर-भाव से लेकर

एक-दूसरे के प्रति वाक्यायदा विरक्ति और उदासीनता तक प्रकट होती है। इसी वर्ग की कहानियों की संख्या सबसे अधिक थी :

१. अपरिचित	मोहन राकेश
२. फौलाद का आकाश	"
३. अँधेरे में	निर्मल वर्मा
४. लवस	"
५. अन्तर	"
६. तीसरी क्लसम	फणीश्वरनाथ रेणु
७. तीन विन्दियाँ	"
८. अच्छे, आदमी	"
९. यही सच है	मन्तू भण्डारी
१०. चश्मे	"
११. नशा	"
१२. तीसरा आदमी	"
१३. कोसी का घटवार	शेखर जोशी
१४. पक्षाधात	मार्कण्डेय
१५. सूर्य	"
१६. मोहवन्ध	उपा प्रियंवदा
१७. एक कोई दूसरा	"
१८. सागर पार का संगीत	"
१९. रेवा	रामकुमार
२०. शवरी	रमेश वक्षी
२१. विस्तर	दृघनाथ सिंह
२२. बातें	प्रयाग शुक्ल
२३. राजा निरवंसिया	कमलेश्वर
२४. नीली भील	"
२५. जो लिखा नहीं जाता	"
२६. एक कमज़ोर लड़की की कहानी	राजेन्द्र यादव
२७. छोटे-छोटे ताजमहल	"
२८. दूटना	"
२९. पुराने नाले पर नया प्लैट	"
३०. सावित्री नम्बर दो	धर्मवीर भारती
३१. एक पति के नोट्स	महेन्द्र भल्ला
३. टूटा हुआ पुरुष—वर्ग में दुनिया की भाग-दौड़ में खोये हुए से लेकर अपने प्रारब्ध के प्रति समर्पित आदमी भी था :	
१. सितम्बर की एक शाम	निर्मल वर्मा

एक दुनिया : समाजान्तर

२. सिमेट्री	रामकुमार
३. सेलर	"
४. एक चेहरा	"
५. अन्वकूप	शिवप्रसाद सिंह
६. नये-नये ग्रानेवाले	राजेन्द्र यादव
७. चुशबू	"
८. कोसी का घटवार	देखर जोशी
९०. एक और जिन्दगी	मोहन राकेश
११. मलवे का मालिक	"
१२. पाँचवें माले का प्लैट	अमरकान्त
१३. जहूम	"
१४. डिप्टी कलक्टरी	"
१५. जिन्दगी और जोंक	"
१६. दिपकली	"
१७. वेकार आदमी	"
१८. दिल्ली में एक मौत	कमलेश्वर
१९. खोयी हुई दिशाएँ	"
२०. दुखों के रास्ते	"
२१. आइसवर्ग	"
२२. घरघुसरा	दूधनाथ सिंह
२३. भोलाराम का जीव	मनहर चौहान
२४. सजा	हरिशंकर परसाई
२५. प्रयागनारायण युक्त और रामनारायण युक्त की अनेक कहानियाँ। की कहानियाँ थीं :	मनू भण्डारी
१. वादलों के घेरे	कृष्णा सोबती
२. गुनकी बन्नो	धर्मवीर भारती
३. दय	मनू भण्डारी
४. छट्टी का एक दिन	उपा प्रियंवदा
५. परिन्दे	निर्मल वर्मा
६. योज	"
७. मिर का सदका	भीष्म साहनी
८. गुने पंथ, दूटे दैने	राजेन्द्र यादव
९. प्रतीक्षा	"
१०. मिस पाल	मोहन राकेश
११. गुहागिने	"

१२. जानवर और जानवर
 १३. टेबुल
 १४. नन्हों
 १५. एक सन्धि और

- मोहन राकेश
 फणीश्वरनाथ रेणु
 शिवप्रसाद मिह
 दानी

भाई श्री जयरत्न का तो अभी भी आग्रह है कि मुझे संकलन में कहानियों का यही विभाजन देना चाहिए, क्योंकि यह विलक्षण नया प्रकार होगा। किन्तु इसमें भी कुछ दिक्षकर्ते मेरे सामने हैं। ऊपर गिनायी कहानियों में से छंटाई करने के बाद भी वे निर्धारित संख्या ने बहुत बड़े जायेंगी; दूसरे, प्रायः सभी लेखक चारों वर्गों में बार-बार आयेंगे। संघवात्मा मिश्रों को अपना कोई मन्तव्य खोज निकालने का सन्तोष दे सकने लायक साहस मुझमें नहीं है। वस्तुतः इन या ऐसे ही वर्गों के आधार पर चार स्वतन्त्र संकलन कर देना अधिक उपयोगी होगा। मैंने ऊपर केवल उन्हीं कहानियों के नाम दिये हैं जो प्रायः नुपरिचित हैं और सहज ही बाद आ गयी हैं, हो सकता है इनसे अच्छी कुछ और भी कहानियाँ बच गयी हैं।

इस भूमिका और साथ के निवन्ध के विपर्य में भी एक शब्द। यों कहने को कुछ नहीं है, जो कुछ है वहीं बहुत साफ-साफ कह दिया गया है। हाँ, कहीं-कहीं अपनी बात को साफ करने के लिए अपनी कहानियों के नाम लिये हैं, जो अनेक को आपत्तिजनक लगेंगे। जहाँ तक स्वापना स्पष्ट कर सकने में दूसरों की कहानियों ने सुविधा हुई है, वहाँ यही पमन्द भी किया है। यों मेरी जानकारी की भी एक सीमा तो है ही न! 'इन पंक्तियों के लेखक की अमुक कहानी भी' वाली छव्व-विनम्रता, और जान-दूभकर अपने को अनुपस्थित रखने की आडम्बरी-उदारता मुझमें नहीं है। विनय और दम्भ से हटकर तथ्य-कथन के हृप में ही उनका उल्लेख है।

लेखकों के अकारादि क्रम से कहानियाँ हैं। परिचय जान-दूभकर नहीं दिये जा रहे। देना बहुत परिपाठी-बढ़ हो जाता। इतना काफ़ी है कि ये सभी स्वतन्त्रता के बाद साहित्य में प्रविष्ट हुए हैं, और अभी जीवन्त हैं।

भाई श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, प्रो० कल्याणमल लोड़ा और विष्णुकान्त शास्त्री इस संकलन और नूमिका-निवन्ध को पूरा कर लेने के लिए मुझे जिस उत्सुक-आग्रह से प्रेरित करते रहे हैं वही श्रम का स्नेह-सम्बल रहा है। कथाकार मिश्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

—राजेन्द्र यादव



कहानियाँ

एक दुनिया : समानान्तर	१७
१. श्रमरकान्त जिन्दगी और जोंक	७७
२. उपा प्रियंवदा मछलियाँ	६३
३. कृष्ण वलदेव वैद मेरा दुश्मन	११४
४. कृष्ण सोवती वादलों के घेरे	१२२
५. कमलेश्वर खोयी हुई दिशाएँ	१४०
६. धर्मवीर भारती गुलकी बन्नो	१५३
७. निर्मल वर्षा परिन्दे	१६७
८. प्रयाग शुक्ल सामान	१६५
९. फणीश्वरनाथ रेणु तीसगी कसम उर्फ़ मारे गये गुलफ़ाम	२००
१०. भीष्म साहनी चीफ़ की दावत	२२५
११. मन्तू भण्डारी यही सच है	२३३
१२. मार्कण्डेय दूध और दवा	२५१
१३. मोहन राकेश एक और जिन्दगी	२५७

१४. रघुवीर सहाय विजिता	
१५. रमेश वक्षी शवरी	२८३
१६. राजेन्द्र यादव दूटना	२८६
१७. रामकुमार सेलर	२६६
१८. शानी एक नाव के यात्री	३२७
१९. शिवप्रसाद सिंह नन्हों	३३७
२०. शेखर जोशी वदतू	३४६
२१. घैलेश मटियानी प्रेत-मुक्ति	३५६
२२. हरिशंकर परसाई भोलाराम का जीव	३६६
	३७६

एक दुनिया : समानान्तर

—राजेन्द्र यादव

अक्सर एक प्रश्न मुझे परेशान करता है : विश्वामित्र नायक हैं या खल-नायक ?

जिस संतार की उन्होंने सृष्टि की थी वह कौसा था ? उसके लोग, मकान, नगर और व्यवस्था-प्रवन्ध कैसे थे ? वे लोग स्थापित-संसार से कितने भिन्न थे ? ऋषि का यह कार्य गलत था या सही ?

अक्सर यही प्रश्न मुझे तंग करता है। विशेष रूप से आज का कथा-नाहित्य जब-जब अपने युग-सन्दर्भों और वोध के साथ मुझे खींचता है तो एक तप-जर्जर व्यक्ति भेरे सामने आ-खड़ा होता है... एक समानान्तर सृष्टि का निर्माता, दुर्दन्ति आत्म-विश्वास या डैस्पेरेट-हताशा से खीलता अकेला एक व्यक्ति... इस दुनिया ने अलग, एक नये और भिन्न संसार की परिकल्पना को साकार करने की पीड़ा में आतुर-व्रस्त, उपेक्षित शक्ति...

यह उसकी पराजय थी या इस संसार के असन्तुलन, अव्यवस्था को दुस्साध्य मानकर किसी काल्पनिक संसार में पलायन की स्वीकृति ? यह वर्तमान के चैलेंज से कतरा जाना था या या शक्ति-सामर्थ्य का दास्तिक प्रदर्शन-मात्र ? — इन विषय में पुराण-कार के अपने तर्क हैं; लेकिन मैं इन्हे यूटोपिया-लेखन की दिशा में एक नाहित्य-प्रयोग या प्रतीक मानता हूँ... ही सकता है, यह स्वर्ग के प्रचलित यूटोपिया की प्रतिक्रिया ही हो !

कला-सर्जना, कलाकार की मानस-प्रक्रिया से ढलकर रूप लेती, इस संसार के समानान्तर स्वतन्त्र-सृष्टि ही तो है... स्वतन्त्र सृष्टि, शर्यात् निर्माण और संघटन के अपने नियमों, परम्पराओं से प्रेरित-परिचालित... कलाकार इसके लिए मिट्टी भले ही इस वस्तु-संसार से लेता हो; रूप उसका वह अपने ही स्वप्नों, स्मृतियों, आवश्यकताओं, दवाओं, कुण्ठाओं और दृष्टियों के अनुरूप देता है... अपने 'इस' जगत् का वह निपामक है, प्रह्ला है और 'इस' जगत् में वहाँ के राजदूत की हैसियत से ही रहता है। कला-जगत् के निर्माण का कार्य, कलाकार व्यक्तित्व के 'उस जटिल, संशिल्प और प्रायः अविदलेष्य' के हाथों होता है जो स्पष्ट है... उस रचनात्मक तनाव के क्षणों में होता है जब प्रतिभा की तीव्र वैयक दृष्टि वस्तुओं को आर-पार देखने लगती है, उनकी मूल प्रकृति को दूर लेती है... और कलाकार अपने जारे संह्लारों और प्रभाओं को भटकारकर प्रकृति और वस्तु का एक नया पद्धत, एक अनदेखा कोण, एक अपरिचित रूप नींवार जानने रख देता है ! ही सकता है यह जारा 'नयापन' पहले न ही प्रकृति और वस्तु में विजीत हो; वैसिन उसे वहाँ ने सींचकर एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में सामने और समानान्तर स्थापित कर देना.

कलाकार को एक भिन्न प्रतिष्ठा और निष्ठा देता है... कला उसके लिए प्रकृति की 'प्रतिष्ठिति' या 'प्रतिनिधि' न रहकर स्वयं नयी कृति होकर आती है... एक स्वतन्त्र सृष्टि का माय्यम, जो वास्तविक सृष्टि की तुलना में अधिक सत्य, अधिक ग्राह्य, अधिक युक्तिपूर्ण और सन्तुलित है...

यह 'नत्य' और 'मन्तुलन' कभी वर्तमान के होते हैं, कभी भविष्य के। आज का कुहप सत्य और असन्तुलन, हो नकता है कल की सन्तुलित सुन्दरता की जमीन बनकर ही आये। वर्तमान, भविष्य के लिए चेतावनी है या प्रेरणा, इसका चुनाव और विवेक कलाकार को नष्टा की तटस्थता देता है।

लेकिन इसी धरातल पर वह अपने को आज की अनेक सुन्दर-असुन्दर चुनौतियों से विरा पाता है। वर्तमान की विकृति कभी उसे मुँह चिढ़ाती है तो कभी अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए तरह-तरह के वास्ते देती है—कभी पुरातनता का संस्कार दिखाती है और कभी वर्तमान का विस्तार... लेकिन कलाकार को हर क्रीमत चुकाकर इन चुनौतियों को स्वीकार करना होता है। अपने धर्म के प्रति प्रतिवद्ध—कमिटेड—कलाकार की यह वाध्यता नहीं, नियति है...

और यहीं आज के कलाकार—कथाकार—के सामने स्थिति की यह चुनौती, धायद धर्म से अधिक उलझे हप में है। विचित्र क्षण है जबकि वर्तमान, भूत और भविष्य सब उलट-भुलट गये हैं, दियारे, गड़वड़ा गयी हैं और पृथ्वी की विसात पर अक्षांश और देयान्तर देखाएँ धिकर गयी हैं। कलाकार यह भेद करना भूल गया है कि वह सृष्टा-बहू है या उन नारी मृष्टि को भुठलाता विश्वामित्र? उसकी सृष्टि झूठ है या वह सृष्टि गलत है जिसमें वह रहने की मजबूर है? विश्वामित्र होना गौरव है, या अभिशाप? वह विश्वामित्र को अहंकार-प्लौट स्वल-नायक माने, या धरती और स्वर्ग की चुनौती स्वीकारना मानवीय निष्ठा और आत्म-सम्मान का अपराजेय प्रतिष्ठाता...?

विश्वामित्र किसी प्रदेश का उत्तर है या स्वयं एक उद्धत प्रदेश?

वह उत्तर है तो किस नवालिया नियान के सामने उसे रखना है?

वह प्रदेश है तो उसके आगे की खाली जगह में दया भरा जाना है?

प्रदेश एक ही है, तो किन दो हपों में बैठ जाता है...

कथाकार के सामने आज दो संगार हैं।

दोनों ही कुम्ह हैं, दोनों ही अस्त्रीकार्य हैं।

दो लानारियां हैं और इनमें मुक्ति की हर छटपटाहट किसी दलदल में और गहरे धेना देती है। दो वर्तमान हैं; और दोनों ही गलत हैं, लेकिन दोनों समानान्तर अजगरों में विद्य है और उनकी फुफकार, जहर और जकड़ को महसूस करता दीन में वह नवद है!

समानान्तर के बाद के कथाकार का एक नंगार वह है जो उसके चारों ओर है और इनमें उन सम्बन्धिक पृक्षा हैं, देह तङ्गरत हैं; लेकिन जिसमें रहने, दूटने और समर्थीत करने की यह दार्द है।

इससा नंगार वह है, जिसे शमने भी न निकालकर उसने बाहर कैता दिया है,

जिनका 'निर्माण' उसने स्वयं किया है और जो उसके टूटने, घुटने और विस्फुटने की ओर भी धिनीनी तस्वीर को मानने रखता है, उसकी असामर्थ्य, पराजय और हताशा का लेखा है—उसकी नियति है।

उसे खुद नहीं मालूम कि जिस कुहप, धिनीनी और चिपचिपी सृष्टि का जिम्मेदार उसे ठहराया जाता है उसमें उसकी जिम्मेदारी कितनी है? जिस रंग-विरंगे, लकड़कल, सलमे-सितारे-मढ़े ज़ंसार को उन पर लाद दिया गया है, उसकी कुहप सिनकती आत्मा को खींचकर बाहर निकाल लेना अपराध है या अपनी आन्तरिक कुहपता की कीचड़ को कला के माध्यम से औरों पर फ़लाना और यों सिसृक्षा का दुरुपयोग करना उसका अपराध है? ... कलाकार का अपराध कहाँ है—कला-धर्म का निर्वाह, या न निर्वाह सकने की मजबूरी? जिम्मेदारी की स्वीकृति या किसी भी जिम्मेदारी, किसी भी अपराध-आरोपती अँगुली के लक्ष्य से न भाग पाने की यातना?

० ०

हिन्दी कथाकार की यह समस्या वीसवीं शताब्दी के ठीक मध्य ने घुर होती है, जहाँ विश्व-आकाश पर एक महायुद्ध लटका हुआ है; और यह महायुद्ध हमारे वौद्धिक, मानविक, आर्थिक या राजनीतिक प्रेरणा देनेवाली दुनिया के इतिहासों को ठीक दीन ने काट देता है—और हमारे सारे दिशा-ध्रुव अपनी-अपनी जगहें बदलने लगते हैं।

युगों की पराधीनता के बाद किसी देश का स्वतन्त्र होना ही यथने आपमें बहुत बड़ी घटना है, किर अपने यहाँ तो इस घटना के साथ ही देश का विभाजन भी जुड़ा है... गरणार्थियों और विस्थापितों के बे क़ाफ़िने जुड़े हैं जो भ्रूँ-प्यासे, खून ने लथपद एक देश ने दूसरे देश में आये; वे सारी हत्याएँ और नृशंसताएँ भी जुड़ी हैं जो दोनों देशों के लोगों को मुगतनी पड़ीं; लाखों लोगों के अतीत की जलती चिनाएँ जुड़ी हैं जहाँ पिछला नव कुछ, सभी कुछ भस्म हो गया... अच्छा भी और बुरा भी... नेजी ने विश्वित होते जीवन-मूल्यों के भू-कम्प जुड़े हैं।

साथ ही खुले आसमान और फैली धरनी के बीच आ-पड़े लोगों की, सिर पर छत तलाश कर लेने की वह वैचानी आती है जिसमें पीत्य, प्रयत्न और आपा-वापी का अजीव नम्मवर्ण है। रहने के लिए घर बनाने हैं, जीविका के साधन घोजने हैं और साथ ही उन स्वतन्त्र देशों के बीच अपना व्यवितरण भी स्थापित करना है जिनकी विरादरी में हम अब नगर्व शामिल हो गये हैं। सबसे प्राचीन इतिहास और मान्कृतिक गीरव के दयनीय खोखेपन ने आकान्त—आँसेस्ड—इन नये राष्ट्रों ने मवको महानुभूति है, इसलिए नव हमें हप्तदर्दी और नम्मान देते हैं। किसी ने हमें उधार और दान पैसा दिया है, किसी ने गेहूं और चावल; कोई हमें टेक्नीकल मदद, मरीनें और माल देना है तो कोई नये वियोपज भेजता है; सांस्कृतिक और वैज्ञानिक डेलीगेशनों का तो जैसे तांता ही ढैंग गया है... और इन पिछले दम-पन्द्रह वर्षों में हमारे देवते-देवते कहीं 'एमिया का रुद्धने वड़ा दाँप' बन गया है, कहीं 'दुनिया की नवरे वडी नहर' निकल आयी है, लही नाई-स्क्रीप्ट उठे हैं तो कहीं आसमान-झुने पहाड़ उड़ा दिये नदे हैं... आधुनिकतम जॉर्डन और प्रदोगों के बड़े-बड़े नंगगन, दुनियर्निटियाँ, बड़ी-बड़ी मिन्ने, बड़े शरारत बर्दाह

प्लाण्ट और प्रोजेक्ट, बड़के और रेले, मेले और नुमायदों, उत्सव और जयन्तियाँ अकाद-मियाँ और ड्रूट, बीटिंगें और कांफेंसें, कमेटियाँ और कमाशन, चुनाव और प्रेस... पंचवर्षीय योजनाओं के निलमिले... उत्थान और प्रगति की दिशा में आशा और उत्साह-भरे क्रदम... भीतरी और बाहरी खतरों से लड़ते हुए निरन्तर बढ़ते जाने का संकल्प; हर कमज़ोरी और दुर्लक्षण से लड़ने की कठिनदृष्टा, अधिक-से-अधिक आत्मनिर्भर होने की जी-तोड़ कोशियें... सूचनाओं और प्रसार के बड़े-बड़े बाबत हैं जो सारे आसमान पर इस सिरे ने उस सिरे तक एक-दूसरे को काटते हुए मँडरा रहे हैं, किसी बड़ी फ़िल्म के ट्रैलर की तरह, कभी ऊपर से और कभी नीचे से धमाके के साथ एक नदी सनसनी सामने रख दी जाती है और आप उसे रामझें-नमझें तब तक एक बड़ी विज्ञापन-लाइन के साथ दूसरी सनसना आ जुड़ती है... प्रजातान्त्रिक तरीकों से समाजवादी व्यवस्था का प्रयोग! ... और नव मिलाकर कुछ ऐसा होता रहा है कि दुनिया के बड़े-से-बड़े देश ने भारत को साथ लेने में उत्साह दिखाया है; सभी यहाँ आये हैं और सभी ने हमें बुलाया है, हमारी प्रगति और परम्परा की प्रशंसा की है, प्रतिभा और परिव्राम का लोहा माना है, समान-स्तर पर औद्योगिक और राजनीतिक समर्पक रखे हैं...

लेकिन इसी दुनिया में रहता है एक और व्यक्ति, और वह कलाकार है... या कहें, कलाकार होने की मजबूरी के अभियाप को हो रहा है। उसे इस दुनिया से बेहद-बेहद नफरत है... यह सारी चमक-दमक, शौर-शराबा, दिलावा और गलैमर उसे ज्यादा दुःखी करते गये हैं; अकेला काटते गये हैं और सब कुछ उसे अछूता और अनछुआ छोड़ नया है।

उसके नामने की दुनिया तो विल्कुल ही दूसरी है... और ये तात्त्व के महल जितने केंद्र होते जाते हैं, उसका दिन घसकता जाता है—कब निचला पक्ष अपनी जगह से जराना सरक जाये। और जो दुनिया उसके सामने है वह उसकी कहानियों, उपन्यासों, कविताओं, चित्रों में उभर रही है और नव मिलाकर एक ही बड़े चित्र के डिटेल्स भरते चले जाते हैं... तो रण-पताकाओं के ऊपर गुद्वारे और आतिशवाजियों के सुनहरे सितारे नाच रहे हैं, काली-नामों और वन्दनवारों के ऊपर तत्तरंगे बलव हैं, शंखों और लाउडस्पीकरों में होड़ नयी है और कमनों वी कीवनी विजलियों में आँखें खोलना मुश्किल है; लेकिन यह नव तो उस चित्र की पृष्ठभूमि है... सामने पूरे कीवास पर छाया हुआ बैठा है एक नींदवाल... गाया भुकामे, धूटनों पर मुहनियाँ टिकाये, हृथेलियों में सिर पकड़े, हताश, दिलान्दूरा, परत, धीमार... हर बार कलाकार की कूची इसी व्यक्ति की कुछ और करण रेशाओं को उभार देती है; हर बार कहीं-एक और जगह टूटने की चट्ट सुनायी देती है, हर बार उनकी दृष्टि कली-कुछ संवेदनशील के मर जाने का सजाचार लाती है... अजीव पश्चिम है, अजीव भाग्यदाद है, कि यह 'बूढ़ा-गुदक' हाथ पर हाथ धरे किसी चमत्कारी घटना की प्रतीक्षा में बैठा है और जो युद्ध आय-पाय हो रहा है, उसे सब भूठ-फ़रेव, दग्धायारी और धोगा नहता है; भलगाहट से भर जाता है...

कहते हैं : "यह ने सबसे भीषण नुकगान, विद्यंत और हत्याओं के स्वप्न में नहीं ही रहा, पर यह मैं भी नहा है। देग का साग थोड़, मुन्दर और स्वस्थ हो युद्ध की

लपटों में स्थाहा हो चुकता है, वच जाती है जूठन्...हड्डे-कट्टे नीजवान युद्ध में घपते चले जाते हैं, वच जाते हैं बूझे, वीमार, वायल और असमर्थ पुरुष—आनेवाली पीढ़ी के पिता बनने के लिए। इस प्रकार पूरी एक जाति का भयानक हास हो जाता है...“आनेवाली पीढ़ी बीनी और कलीब होती है” लेकिन कैसा कूर है स्थिति का यह व्यंग्य कि जिन देशों ने सचमुच युद्ध लड़े हैं, जिस धरती ने ध्वंस और नाश को अपनी आँखों देखा और भोगा है वहाँ कुछ और आहत पीढ़ियाँ जानती हैं; और जहाँ यह सब नहीं हुआ वहाँ वास्तविक युद्ध के बाद का डिप्रेशन है...“वहाँ की नीजवान पीढ़ी बूझी और निर्विर्य है...” लगता है उसका कोई भविष्य नहीं है...

वारहा कथाकार ने खुद अपने-आपसे और दूसरों ने उससे पूछा है कि क्यों नहीं देश के नव-निर्माण, उत्थान और प्रगति में वह भी अपनी नामाजिक, नागरिक और तात्कालिक जिम्मेदारी निभाता? क्यों नहीं कर्म के इस उल्लास और आळाद को अपनी लेखनी समर्पित करता जो देश के हर खम और खामी को भर रहा है? स्वतन्त्र राष्ट्र का एक जीवन्त युवक क्यों नहीं उसकी पंक्तियों को झाँकता? क्यों नहीं कहीं कुछ भी उजला उमे दीखता, महान् और महत् उसकी निगाहों में आता? और अस्तर उस पर आरोप लगाया गया है कि वह अपनी जिम्मेदारी से भागता है। वह किसी मानसिक असन्तुलन और रोग का शिकार है कि हर उत्सव और त्योहार देखकर भीतर से कुड़ता और गमतीन हो जाता है...“वह गला फाढ़कर यह भी नहीं चीख पाता कि यह सब भूठ है! नकली है! फरेव है!...” असलियत जो है उसे मैं जानता हूँ, उसे मैं भोगता हूँ...

और जिस असलियत को वह जानता-भोगता है, वही सब तो उसकी कहानियों में फैल गयी है; जिस यातना में वह जीता है वही तो जहरीली नहर की तरह उसके चेहरे की हर रेखा से बोलने लगती है...“जो दुनिया उसके भीतर कुलबुला रही है, वही तो सारे रेग्मी गिलाफ़ फाढ़कर बाहर झाँकने लगती है; लेकिन जिसके भीतर खुद झाँकते डरता है...” वहाँ खुराट, भूठे, मक्कार, स्वार्थी, स्थितखोर, अहंकारी, धन-जोलुप, व्यभिचारी लोगों का राज है और सरल, ईमानदार, उत्साही, प्रतिभावान, महत्वाकांक्षी युवक पीढ़ी वेकार और फ़ालतू भटकती है...“अफ़करों और एम० पियों की कोठियों ने लेकर दम-दस मंजिले ऐम्प्लायमेंट एकमचेजों के दरवाजों के सामने एड़ियाँ रगड़ती भीड़ है...” जो कुछ कर-दिखाने के साहस-हीन, नाधन-हीन सपने देखकर, अपने को निर्ममना ने तोड़कर देच देती है...“जिस भूठ और गलत की शिकार है उसी का अंग बन जाने की मजदूरी के साथ नमर्जीता कर लेती है और आत्मा में अपराध और पाप का नासूर लेकर उसे भूल जाने का होंग करती है...” भीतर के मरते हुए की कराहट और चीखों को राजनीतिक और सांस्कृतिक मनोरंजनों की कान-फोड़ माइक-च्वनियों में मुला देना चाहती है। एक दूसरे को थंका और आशंका-भरी निगाहों से देखती है और आरोप और अपराध को दूसरे पर डालकर आपने में निगाहें चुराती है; उस स्तर पर मिलते डरती है और एक-दूसरों से दिन-व-दिन अपरिचित और दूर होती जानी है...“जो कुर्सी पर बैठा है और जो फ़ुटपाथ पर खड़ा है, दोनों अपने को फ़ालतू और अजनवी महसूस करते हैं। जहाँ वह है, वह उसका प्रतीका-काल है; वरोंकि वह मनलायक नहीं है, उसे अपनी असली योग्यता का जही उपयोग वहाँ

नहीं, कहीं और करना है; और साथ ही वह यह भी अच्छी तरह जानता है कि कभी कोई है न हाँ आयेगी और वह जिन्दगी-भर यों ही प्लेटफॉर्म पर बैठा रहेगा... अजीव जिभ-लाहट है और इस भवर्म परिवार डूँ रहे हैं, तम्बन्ध टूट रहे हैं और सह-भावना निरवधि काल के लिए निष्कासित हो गयी है...

कलीब और बीनों की यह दुनिया, यह क्षुद्र और घिनीता संसार जितना अस्वीकार्य है, उतना ही भूत भी है... लेकिन कथाकार अपने को इसी दुनिया का अंग मानने को मजबूर है, उसका अंग होने का अभिशप्त जिम्मेदार है।

° ° °
जिम्मेदार है... व्योक्ति आत्म-मंथन के निष्पक्ष क्षणों में, वाहर के भूठ और भीतर की इस सदांध ने घबड़ाकर कथाकार ने अपने-आपसे भी अनेक बार यह सवाल किया है कि उसकी जिम्मेदारी क्या है? उसका धर्म आज उसे किसके साथ प्रतिवद्ध (कमिटेड) करता है? लेखक का कमिटमेंट क्या होता है?

इस प्रतिवद्धता के लिए सबसे पहला नाम उसके सामने आता है: 'मानवता'। नेतृत्व को व्यापक मानवता के प्रति प्रतिवद्ध होना चाहिए। लेकिन कौन-सी मानवता? दीन-दुखी, भूखे-भिखारियों को दया और भीख देना मानवता है या दुखी और भिखारी होने की स्थिति के विरुद्ध प्रवल करना मानवता है? मरनेवाले के लिए रोना मानवता है या मारनेवाले हाथ को पकड़ लेना? — मारनेवाले का हाथ पकड़ना? लेकिन उस हाथ को पकड़ने के लिए फिर अनेक दर्शन हैं। इस शब्द के खालीपन और अर्थ-हीनता को भरने के लिए अनेक अर्थ हैं। और जो अर्थ अचानक ही अपनी ओर व्यान खींचता है वह, है: मामान्य जन के लिए, नामान्य जन द्वारा, समाज सुविधाएँ और अवसर। स्वतन्त्रता वन्धुत्व और समता का दर्शन। मनुष्य का आत्म-विस्तार और राष्ट्रों के पार मनुष्य के प्रति प्यार। उसा और युद्ध—परिचम और पूर्व के उन उदात्त सन्देशों का प्रसार, जो मानव-माम के लिए हितकर रहे हैं।

और इसी नाम पर 'मानवता' की राजनीतिक मांस्तुतिक हपरेखाएँ दे दी जाती हैं, किन्तु रक्ता के लिए इन्हें एटम-न्यूम, हाइड्रोजन और कोवाल्ट वस हैं कि सत्तरी मानवता का दिनियों बार गफ्ताया हो सकता है, फौजें और इण्टर-कॉण्टेण्टल मिसाइलें हैं... और धीरे-धीरे यह मानवतावाद अपना गोफनाक चेहरा लोलता चला जाता है... पेढ़ों और विजली के लम्बों पर लटके जीवित नींगो, चारों ओर हर्प-ध्वनि करती सफेद भीड़ को 'लिचिग' का आनन्द देते हैं और अफ़क़ीका के जंगलों में लुम्बुम्बा की कराह ठंडी भी नहीं पड़ती कि जोनी यांगे कैनेडी का मिर जैकलीन की गोद में लटक आता है। अर्थों-पर तथान उटता है कि कैमा यह प्रजातन्त्र है जो कम्यूनिज्म के विरुद्ध हिन्दुस्तान को रुद्धियार देता है और हिन्दुस्तान के विरुद्ध पाकिस्तान को? धान्ति के नाम पर आधे फरोड़ लोगों को नागामाकी, हिरेभिमा में भून देता है, अपने देश से पांच हजार मील दूर नालों को गोनों और टेंडों से कुचल देता है, कोसिया और वियतनाम की हजारों मील की आदादियाँ वहाँ ते उड़ाकर किसे यह कम्यूनिज्म से बचाने की बात करता है? इन देशों में कौन दश जायेगा प्रजातन्त्र का मुख भोगने? अर्थात्, सारी दुनिया को अपना

वाजार बना डालने के लिए पहले चिन्तित हैं, प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए बाद में...

लेकिन वह विदेशी मानवतावाद है और हमारी चेतना को बाहर ने ही छूता है, हमारी आत्मा का विष-दंश तो देवी मानवतावाद बनता है। हम देखते हैं : इस मानवता, अहिंसा और सत्य में हर भूठ, हर ब्रष्टाचार, हर हिना और हर फर्रव जायक है... कोठियाँ और वैक-वैलेन्स बनानेवाले अपरिग्रह का उपदेश देते हैं, सादगी की नहिमा बखानकर गरीबों को गाँरवान्वित करते हैं। वेयर्म-चालवाजी को प्रश्न्य देकर गढ़ियों ने चिपके जन-नेता त्याग, सदाचार और ध्रम के भाष्य बखानते हैं। हर कुत्सा और भेदभाव को ही व्यावहारिक राजनीति बना डालनेवाले बन्धूत्व और समता का उपदेश देते हैं। जाति और रिश्वत की चक्की के बीच प्रजातन्त्र की साँसें टूट गयी हैं, और जिन्दगी की छोटी-से-छोटी आवश्यकता के लिए कोई भी साझा-नुस्थरा रास्ता नहीं बचा है। असंख्य भूखी, बेकार और दिभान्त 'मानवता' के आगे कोई वृक्षारोपण करता है तो कोई भूमिदान...

देश की आत्मा को प्रजातन्त्र के इस राष्ट्रीय भूठ (फॉड) ने ही जायद मवसे अधिक तोड़ा है। वहाँ ने जिन आदर्शों को जीवन का आधार घोषित किया था, उन्हें खुद अपने-ग्राप ही कुचल डाला और भ्रम-मंग का यह धनका सेभालना इस पीड़ी के लिए मुश्किल हो गया। वह हर उस चीज़ को ठोकर मारकर तोड़ डालना चाहती है जिसे सामने दिखाकर उसे वहकाया जाता है। प्राचीनता की नरिमा ? भूठ है। कोई नहीं जानता वह कभी थी भी या नहीं। अगर हो भी तो वह आज हमारी कोई मदद नहीं कर सकती। नैतिकता ? वक्वास है। पिछड़े सामाजिक मूल्यों को आज के विकल्पित समाज पर लादने का दुराग्रह। कीन-सा विज्ञान कहता है कि व्यावहारिक साहृन-हीनता और धारीरिक नपुंसकता को ही नैतिकता कहते हैं ? मर्यादा ? अपने वचाव और दूनरों की आँखों में धूल भोकने का नाम मर्यादा है। सत्य ? इससे बड़ा भूठ शब्द जायद आज तक नहीं गढ़ा गया। जो एक के लिए नत्य है, वही दूपरे के नियंत्रण भूठ है। विज्ञान जारे 'शाश्वत-सत्यों' की विज्ञिया उधेड़े दे रहा है। ज्ञान की रीमा और न जानने की मजबूरी का नाम सत्य है। तो फिर मानवता आज कहते किसे हैं ?

शब्द ! शब्द ! शब्द ! नदी पीड़ी को इनमें ने किसी भी शब्द पर आस्था नहीं है। कुछ शब्दों को धर्म ने खोजता कर दिया था और रहे-नहे शब्दों का तर्पण इन मानवता ने कर दिया। ये सारे-के-सारे शब्दकोश भूठे, खोये जाएँ जाएँ नहीं हैं। कल तक जो इन शब्दों का कीर्तन करते थे, वे ही आज जजे में इनकी हड्डियाँ चिरोड़ रहे हैं... भाषण और उपदेश हमारे लिए हैं, ग्रन्थ और स्वार्थ उनके हैं... कभा नूब बैठवारा है !

इस मानवतावाद ने प्रतिवद्व लेखकों की आस्था हमें मानवता और लेखक दोनों की कुरुचिपूर्ण विडम्बना लगती है। सांस्कृतिक औदाय की यह गिलगिनी नंकीणता लेखक की प्रतिष्ठा का अपमान है। हमें यह विलुप्त नहीं चाहिए... आव्याहारिक नैतिकता और सांस्कृतिक आदर्श की हर प्रतिमा को हम खण्डित कर दानेंगे... जो यादगंगा-इतना अव्यावहारिक और हवाई हो कि पहने ही प्रलोभन के भासने घुटने देव दे, पीड़ी तक जिस पर न टिक सके—वह शब्दों और सिद्धान्तों में नाहे जितन

चाहे जितना पुरातन और उदात्त हो—वह छल है, आउट-डेटेड, और विगर्हणीय है...
हमें न वह आदर्श चाहिए, न आदर्शवादी !

आनेवाली पीढ़ी इन सबके बिल्ड एक चिपाकत-पितृधाती तिलमिलाहट से
उद्धिष्ठन और वर्चन है। इधर उनके पास प्रलोभन हैं, साधन हैं और इनके टुकड़े फैककर
वे नयी पीढ़ी को ख़रीदते हैं...लेकिन भ्रम-भंग की यह ख़रीद-फ़रोख़त अपने और अपने
पिताओं के क्षुद्र और भूठे होने के सत्य को धो नहीं पाती...एक केंतर भीतर-ही-भीतर
फैलता चला जाता है !

नहीं, मानवता, राष्ट्रीयता, सत्य, नैतिकता, धर्म, प्राचीन गौरव के इन छलावों
के प्रति आस्थावान होना चलता है—ये शब्द अव्यावहारिक हैं, धैज़ानिक हैं, रुद्धियाँ
हैं...डार्विन, फॉयड और मार्क्स की चिमूर्ति ने वहूत पहले ही इन रुद्धियों के चिथड़े उड़ा
दिये थे...! लेखक की आस्था को किसी और भूमि पर टिकना चाहिए ।

० ० ०

तब किसी ने कहा : लेखक का कमिटमेंट किसी वैज्ञानिक, व्यावहारिक और
गतिशील सिद्धान्त के साथ होना चाहिए जो सचमुच मानव-समानता, मानवीय
मुविधाओं और हितों को साकार कर सके । सुविधाएँ और अवसर 'केवल कुछ' की
घपोती न हों; माधवन-नम्पन्न मनमानी कीमत पर ख़रीदने को स्वतन्त्र न हो और
नाथन-नीन अपने-आपको बेचने को मज़बूर न हो । स्वतन्त्रता का यह अर्थ भी अस्वीकार्य
है जिसमें मारनेवाला मारने के लिए और मरनेवाला मरने के लिए 'स्वतन्त्र' है । साधनों
पर नमाज का नियन्त्रण हो, अर्थात् सभी-कुछ नमाज का हो, किसी का अपना कुछ न
हो । उस प्रकार नभी नाथन नद्यके उपभोग के लिए सुलभ और उपलब्ध हों...तत्कालीन
विषमता के बीच वह सपना बड़ा रंगीन था और इस सपने के ताने-वाने अपेक्षया
श्रविक वैज्ञानिक, युक्तिसंगत और ग्राह्य ढंग पर बुने गये थे...व्यक्ति नहीं, समाज...
नमाज नहीं, इतिहास की गतिशीलता में विकसित समाज-व्यवस्था का अगला क्रम...
अब तक के इतिहास से प्राप्त सारे मानवीय ज्ञान-विज्ञान के समाहार की परिणति...
एक नाम्नवादी नमाज-व्यवस्था । कला उस व्यवस्था को रेखांकित करने, साकार करने
का नक्किय नाथ्यम और हृषियार...कलाकार हवाई शब्दों को पकड़ता या अनाम ऊँचाइयों
में तोटा 'परिस्थित' नाम नहीं; एक जिम्मेदार नामाजिक...मानव आत्मा का हिटेकिट्व
नहीं, 'इंडीनियर' ! एक उज्ज्वल भविष्य !

उस सपने ने दो पांच हमें बांधे रखा । राष्ट्रीयता की संकीर्ण तरहदों से उठकर
जहाँ भी ऐसी व्यवस्था थी, वही हमारे लिए आदर्श और अनुकरणीय हो गयी । उस
प्रयत्न को नामेवाले व्यक्ति हमारे युग-पुरुप हीरो हो गये । स्तालिन और भास्त्रो के
एक-एक चारों हार दुदिजीवी के लिए दिवाद और विश्वास का विषय बन दैठे...बाकी
जो भी था वह भूठ और झूठा प्रचार था...

लेनिन एक और के स्वर्ग की दीवार कन्सेप्टेशन कीमों की जीखों से दहलने लगी
पांच दस्या-पांच रुपगं पा 'धो', दुदिज्जेव पा 'नॉट वाई ड्रैट एलोन', पॉस्टरनाक पा
'टोटर जिवागो', धेल्युरोंको की कविताएँ और 'ए प्रिकॉर्स अ दॉवायग्रॉफ़ी' और

सोल्वेनिट्सिन की 'वन डे इन द लाइफ ऑफ ईवान दैनिकोविच'—जैसी चित्रावें उन दीवार के पीछे ने उछल-उछलकर आने लगीं। उबर दूनरी और का स्वर्ग, दुनिया की सबसे प्राचीन दीवार को हमारी जरहदों के भीतर खिसकाने लगा... तब हमारे पांवों तक की घरती काँपने लगी और विराट देवताओं की मूर्तियाँ खण्ड-खण्ड होकर ढहने लगीं... यह कैसा समाजवाद है जहाँ करोड़ों व्यक्तियों को तोड़कर एक व्यक्तित्व बनता है और उसका एक इशारा बाकी नवको कठपुतलियों की तरह नजाता है? वह कौनी राष्ट्रीयता है जो दूसरे के घर में पांच फैलाती है और पाकिस्तान जैसे दक्षिणांशी, घर्मन्ध-राष्ट्र से भुज-भर भेटती है? जो सिद्धान्त वों देखते-देखते अपनी सारी नकावें उतार फेंके वह लेखक की आस्था का अधिकारी कैसे ही जकता है? और तब सारे लाल सूरज काले पड़ गये और सारी लाल सुबहें मुरझा गयीं...

फिर एक भ्रम-मंग और दिग्भ्रान्ति !

० ०

हर 'वाहरी' सिद्धान्त, सन्देश और आदर्श झूठा है—लेखक की आस्था और कमिटमेंट इनमें से किसी को नहीं मिलनी चाहिए। वह किसी के प्रति प्रतिक्रिया नहीं होगा—होगा तो सिर्फ़ अपने प्रति ! वह हर सिद्धान्त, हर राजनीति, हर दर्शन और हर सामाजिक जिम्मेदारी से ऊपर है। इन धरातलों पर उससे कुछ भी अपेक्षा करना उसकी 'विशिष्टता' पर सन्देह करना है, उसे छोटा करना है—वह तो कालाइल का हीरो, शोपेनहावर का जीनियस और नीतशे का सुपरमैन है, अरविन्द का सुपर-माइण्ड है। जो उसका मन होगा वही लिखेगा। अपनी अनुभूति के अलावा कुछ भी निखना आदेशित और आरोपित होगा।

लेकिन हमने देखा कि यह 'अनुभूतिवाद' वाहरी चुनौतियों ने घबराकर अपने भीतर ही मठ-निर्माण-साधना का दूसरा नाम है; व्यापक लेखकीय मंवेदना-हीनता का कवच-साद्र है, एक नया रहस्यवाद है। अनुभूतियों के लोन और प्रवाह से कटे हुए व्यक्ति ही अपने को उनसे 'उठा हुआ' या 'पहुँचा हुआ' कहते हुए दिखायी दिये, हाथों में 'अनुभूतिवाद' का यह दयनीय हथियार शा जिनसे वे अपने 'दिशिष्ट और अलग' होने के 'द्वीपत्व' की रक्षा कर रहे थे... बस्तुतः वे अनुभूतियों न विशिष्ट थीं, न महत्वपूर्ण... ये केवल व्यक्तिगत और विलक्षण थीं। आत्म-बन्दनावादी ये 'नाहित्यिक-सिद्ध,' दिक्काल से ऊपर केवल अपने रुद्र-मन की विलक्षण और व्यक्तिगत (यूनीक और पर्सनल) अनुभूतियों को विशिष्ट (सिनिकिंग) और अदृष्टी होने के गरिमामय कोण से पेश कर रहे थे और इस प्रकार 'व्यक्तित्व की गरिमा' में ही 'अनुभूति की भव्यता' की भान्ति पैदा कर देते थे। चूंकि व्यक्तित्व और अनुभूति को नमृद्ध करने वाले वाहरी लोतों को धुद्र घोषित करके वे अपने को उनसे नायाम काटे रहे थे, ज्ञानिएं अपने चुकने दो

१. "सेता शाग्रह रहा है कि लेखक अपना अनुभूति ही लिखे। जो अनुभूत नहीं है, उसे सिद्धान्तिक प्रेरणा के वशीभूत होकर उसे लिखना न्यून-शोध हो जाना। नाहित्यिक सिद्ध नहीं है।"—अन्तेय (धरणाधीं की भूमिका में)

आभिजात 'आन्दोलन-वर्णी' की आड़ में छिपाते रहे, अपने तक न-आ पाने की औरों की 'वैचारणी' पर उन्नासिक सन्तोष पाते रहे, व्यक्तिगत आभिजात्य के वचाव के लिए हर सुविधा और अवसर के अनुरूप दृष्टि और दर्शन बदलते रहे और हर नयी रचना में अपने को जस्टीकाई करते रहे... आस्था और कमिटमेंट इनके लिए सेल्फ-जस्टीफिकेशन का दूसरा नाम रह गया...

आज के कथाकार को लगता है : वह कमिटमेंट भी कहीं गलत है।

प्रश्न उभरे : आखिर लेखक क्यों लिखे ? किसके लिए लिखे ? आस्था क्या अपने आपमें कोई आत्यन्तिक मूल्य है या उसका कोई आलम्बन है ? क्या इस आलम्बन के नाम पर उन आदर्शों को वह अपनी आस्था लांप दे, जो गलत, भूठे और अवैज्ञानिक हैं ? या उन वैज्ञानिक निदान्त के लिए, जो व्यक्ति और राष्ट्र का गला धोंट देता है ? या दायित्वहीन व्यक्ति के उस 'आत्म' के लिए जो अवरुद्ध अहं को ही सर्वोपरि घोषित करता है ? या जिसके उस पाठकों के लिए जो हर कलात्मक ऊँचाई को अवकाश के क्षणों का मनोरंजन मानता है ?

हर जगह ने जला और हताश लेखक सोचता है : नहीं, वह किसी भविष्य और अतीत के प्रति प्रतिवद्ध नहीं है—वह प्रतिवद्ध है केवल अपने वर्तमान के प्रति, अपने उस सीमित यथार्थ के प्रति जो उसकी चेतना-परिधि में आ गया है। वह किसी समाज और व्यक्ति की जिम्मेदारी नहीं प्रोडेगा, वह जिम्मेदार है केवल अपने उस जीवित परिवेश के प्रति जो हम नवको बनाता है और जिसे हम सब मिलकर बनाते हैं, स्वयं जिनके अंग हैं।

००

आज के मारे महत्त्वपूर्ण कथा-साहित्य में एक भी 'ऐतिहासिक' या 'यूटीपियन' रूपना का न होना यही प्रमाणित करता है कि कथाकार के सामने न कोई अतीत है, न भविष्य। वह केवल और केवल उस वर्तमान यथार्थ के प्रति कमिटेड है जो उसकी संचेतना का अंग है; उस परिवेश ने प्रतिवद्ध है जो परिस्थिति और व्यक्ति के सायुज्य का परिणाम है; जो अविभाज्य सम्बन्ध भी है और अनिवार्य सन्दर्भ भी, और दोनों एक-दूसरे के निर्माण में समान उत्तरदायी हैं।

इस कथाकार को न बाहर से उधार लिया हुआ 'दंड' चाहिए, न भीतर की गद्दराल्डों ने धीनकर निकाला गया 'मुख'। ये दोनों गलत हैं; क्योंकि एक उसे स्वानुभूति की वैयक्तिकता से काट देता है तो दूसरा उसे निर्वैयक्तिक प्राभाणिकता से। ये उन्हीं थीम हो ही नहीं सकते। उन्हीं थीम तो व्यक्ति और परिस्थिति की वह धनीभूत (एटन्नीमाइट) संयुक्ति है, परिवेश का वह अनुभूति-न्यूनेदित क्षण है जो आज की वास्तविकता है, नितान्त अपना है और किसी भी तरह, कठई अभारतीय नहीं है। शायद आज ने पहले के कथाकार ने अपने विषय का ऐसा भी वास्तवा कभी भी नहीं किया था। वह अपने विषय के प्रति कभी भी इन नियमाननदार नहीं रहा था; क्योंकि इस यथार्थ प्रादर्श हीता था, कभी कोई दर्शन, और कुछ न नहीं तो अपने को जहीं निद्व करने का-

आग्रह। लेकिन इस पीढ़ी के लेखक की दृष्टि को वाहरी और भीतरी ट्रैजेडियों ने जैसा सूक्ष्मदर्शी और संवेदनशील बना दिया है वैसा पहले कभी नहीं हुआ। कितने देवताओं, देव-शिशुओं, आदर्शों, सिद्धान्तों और दर्शनों के विश्वासवात के जहरीले अनुभवों ने उसे यह दृष्टि दी है, वह साहस दिया है कि यथार्थ जैसा है; उसे वैसा ही भेले।

इसलिए 'दृश्य' की इस विकृति से कतराकर वह अब किसी भी महिमामयी वैईमानी का शिकार नहीं होता चाहता। अगर युभ और महान् भूठा है, अगर पारिवारिक, नैतिक और सामाजिक सम्बन्ध विवर रहे हैं, अगर व्यक्ति हार और टूट रहा है, अगर आदमी बुद्ध और ओछा है (इसे वह बदला हुआ कहना ज्यादा सही समझता है) और अगर सामने कोई रास्ता नहीं है तो वही सही। उसे वही सब स्वीकार है। वही उसकी रचनाओं से उभरे, वही उसकी कूची और कलम से आये...लेकिन आये विना किसी लाग-लपेट के; निर्ममता और तटस्थिता के साथ...अब कोई रेखमी पर्दा नहीं, कोई अपराध-भाव या पलायन नहीं, कोई खेद और क्षमा नहीं...वास्तविकता को पूरी प्रामाणिकता के साथ, पूरी सचाई के साथ और अपनी सम्पूर्ण संशिलिष्टता के साथ उभरने दो...

शिव या अशिव, सुन्दर या असुन्दर—यथार्थ के इसी चैलेज को लेखक स्वीकार करेगा...उसी से अपने को प्रतिवद्ध करेगा। इस लेखन से उभरनेवाली तसवीर अगर स्वयं लेखक को ही कौपा या दहला देती है तो भी कोई मुजायङ्गा नहीं...यही उसकी नियति है, तो रहे।

००

विश्वासधातों की इस परम्परा और भ्रम-भंग की इम कड़वी जलन को नम्रभे विना, न तो नये कथाकार के क्रोध, आक्रोश या द्रोह और वितृष्णा के स्वर को नम्रभना सम्भव होगा, न उस संवेदनशील मन को जो विना किसी आरोपित विदेषण, विना किसी आदर्श उपाधि, विना किसी नैतिकता और दर्शन का चश्मा लगाये यथार्थ को ज्यों-का-न्यों, लेकिन सम्पूर्ण कलात्मक परिष्कृति और मैंजाव के भाव प्रभावशाली रूप में सामने रख देता है...रख देना चाहता है।

यों इस प्रकार का यथार्थ, या मानवीय नम्रन्धों और सामाजिक मूल्यों के विषय-टन का ऐसा प्रारम्भ आज ही हुआ हो, ऐसा नहीं है। मानव जब अपनी एक अवस्था (फेज) से दूसरी अवस्था में अतिक्रमित होने लगता है, तभी यह प्रतिया धुर्हो जाती है। युद्ध के द्वारा चूंकि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया झटके के साथ अपना चक पूरा कर लेती है, इसलिए इस परिवर्तन या विषय-टन की ओर सहसा ही सबका ध्यान चिन जाता है। हमारे यहाँ भी युद्ध, स्वतन्त्रता और विभाजन ने, मूल्यों के इस परिवर्तन को एक अभूतपूर्व तेजी दी। जारे मान्य, स्वीकृत सम्बन्धों की जो गरिमा उन दिनों दूरी वह निरन्तर टूटती ही रही। उनका विवराव पहले परिस्थिति और भूगोलगत था, फिर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्तरों पर चलने लगा और ऐतिहासिक दौरके इन कहानी-कार को हम इसी सचाई को लिखित करते हुए पाते हैं। यों ही तकता है यथार्थ पहले भी कहीं-न-कहीं इरा रूप में रहा हो; लेकिन यह स्पष्ट है कि अपने और अपने नम्र-यथार्थ-

को इस रूप में देखने, चित्रित करने की प्राप्ति कोई कमवद्ध परम्परा आज के लेखक के नामने नहीं है...या है; तो वह बहुत ही कीण है। अर्थात् उन छिटफुट कहानियों से ही इन परम्परा को जोड़ा जा सकता है जहाँ पूर्ववर्ती लेखकों ने भी अपने यथार्थ को ऐसी ही आग्रहीन दृष्टि ने लिया है। प्रेमचन्द की 'पून की रात', 'कङ्कल', 'शतरंज के खिलाड़ी', यशपाल की 'आनिश्च्य', 'प्रतिष्ठा का बीभत्ता', 'पराया सुख'; अन्नेय की 'रोज़ा'; जैनेन्द्र की 'पल्ली' और 'पांजेव' इत्यादि कहानियाँ उस क्षण और दृष्टि की ही कहानियाँ तो हैं जब लेखक अपने ग्राम और अपने शासन-पास के आदर्शों ने उठकर यथार्थ की निहायत निर्वेय-वितकता के नाम उतार नका है, उस अपनी संवेदना का अंग बनाकर सम्प्रेषित कर सका है। दूसरी लोगों की दयनीय स्थिति पर अमृत बहाते हुए भावुकता से नहीं, भावात्मक संवेदना के नंसकां-क्षणों में सचाई को देख और लिख सका है...हाँ, प्रेमचन्द और यशपाल की यह विकास-यात्रा है—अन्नेय-जैनेन्द्र का डाइग्रेशन (विषयान्तर)।

यहाँ फिर दुहरा देने की ज़रूरत है कि यथार्थ के प्रति यह दृष्टि नये कथाकार के पाम इनहाम की तरह नहीं उतरी—उसे इसके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है, निहायत ऊबढ़-न्यायालय धरती ने गुजरना पड़ा है और न जाने कितने वाहरी-भीतरी प्रमाणों, स्थियों, परम्पराओं के नंसकारों से जूझना पड़ा है। इस संघर्ष को हमें से हरेक की रचना में अभ्यास लोडकर रेवांकित किया जा सकता है।

आज जो चीज लेखक को नया बनाती है वह ही यथार्थ को रु-ब-रु देखने की दिशा में हर पूर्वाप्ति और परम्परागत दृष्टिकोण को छोड़ने की अकुलाहट...हर लोक को तोड़ने का शास्त्रोग्रन्थ। याथद परम्परा—यानी, चली ग्रानी धारा के प्रति, तीव्र असन्तोष, भीतरी धृष्णा गद्दमूग किंव चिना न तो किमी लीक को छोड़ा जा सकता है, न उसे आगे बढ़ाया जा सकता है। घर के छोटे और औद्योगिक, या नान्काफ़ी होने से जब तक मन नन्हुन भीतर तक चिल्गम्बेट नहीं हो उठता, नव तक न तो उसे घर में कोई संशोधन और दृजाक्ष करने की धारा नोनी जा सकती है, न उसे बदलने की। नये कथ्य की समृद्धि को द्रुतगत करते हुए, तत्त्वालीन परम्परा के प्रति यह असन्तोष और वितृष्णा ही किमी नियम को नया बनाते हैं, मात्र नम-व्यवस्थ और नमकानीन द्वाना ही नहीं। धारा के प्रति उत्तमी द्रुत धृष्णा भवे ही उसे परम्परा-व्यवकर्तों की लिंकी परम्परा ने जोड़ देनी हो—विद्रोहियों की एक परम्परा से।

इस अवन्तोष या नियमीय-नामवर्य की अनुपस्थिति को कभी-कभी कुछ लेखक राष्ट्रीयता के सुराटे की धारा में छिपते हैं। कहते हैं कि वे ही घर के अपने हैं। चाहे जिनका छोड़ा, नान्काफ़ी या ग्रमुकिधारनक ही; घर के प्रति सोहू ही उनकी एकभाव नहि है। दूसरी ओर कुछ लेखक अपना घर छोड़कर, दूसरों के छोड़े हुए खाली घर जा देंते हैं और नन्हों पाते हैं कि उस घटने ने तो मुकित मिली। इस प्रकार अनजाने ही एक दूसरी पुटने के शिकार ही जाते हैं। दोनों ही भूल जाते हैं कि जिम्मेदारी का तक़ाजा न पर की पुटने से चिरंत रुक्कर मोक्ष-नाम करने में है, न घर की घटने में ही है—चाहे उसके जिए पुरानी धरातलाद दीवारों को तोड़ना ही क्यों न पड़े... (और घर तोड़ने-

वालों की परम्परा भी छोटी हो, ऐसा नहीं है) लक्ष्मीनारायण लाल और शिवप्रसाद सिंह की 'भारतीयता'; प्रसाद, गरत् और विष्णु प्रभाकर की नियति-अर्ऱ्सू-आदर्श-मानवता के रोमांटिक सपनों की उसी धूटन का अभिनन्दन (ग्लोरीफिकेशन) है, जिसे निर्गुण और सत्येन्द्र शरत् रो-रोकर बताते हैं। दूसरी ओर मुद्राराधस, राजकमल चौधरी, गोविन्द-सिंह का हैनरी-मिलर, मोराविया या उर्दू के 'श्रीरत-रात-शराव' वाले स्कूल में जा-छिपना भगोड़े किशोरों का पलायन है जिसे ये लोग 'साहसिकता' कहते हैं। ट्रेजेडी यह है कि ये दोनों वर्ग अपनी-अपनी जगह तीस साल पुरानों की ही शरण खोजते हैं।

ये बुजुर्ग-दुःखी और किशोर भगोड़े अपने युग-बोध और यथार्थ के चैलेंज से भागते हैं और आधुनिकता के उस यथार्थ से डरते हैं जिसे आज का परिवेश और मनुष्य दोनों मिलकर बना रहे हैं...

० ०

आज की कहानियों के सन्दर्भ से उभरनेवाला यथार्थ क्या है? मनुष्य और परिवेश के सार्थक सम्बन्ध-स्वरूप कीन-से हैं; इन पर भी एक सरसरी निगाह डाल लेना शायद वहुत-सी बातों को साफ़ करने, समझने में सहायक होगा...

कहानी हमेशा ही किसी विशेष परिस्थिति में मनुष्य के मन और अनुभवों, यानी मनोविज्ञान को समझने-सम्प्रेषित करने का एक प्रयत्न है; उसे बनाने-वदलनेवाले तत्त्वों और उसके द्वारा बनायी-वदली गयी स्थितियों के जीवन-खण्डों का अव्ययन है, इन बनती और बनाती स्थितियों को दिशा और काल में अर्थात् विस्तार और गहराई की संश्लिष्टता में साथ पकड़ने का एक कलात्मक विधान। न तो यह प्रयत्न इलाचन्द्र जोशी, अजयें, जैनेन्द्र की तरह लम्बवत्—वर्टीकल—है कि उसके परिवेश का ही पता न चले, उन स्थितियों का कोई हवाला ही न हो जो उसका कारण और कार्य रही हैं; और न अमृतराय और कृश्नचन्द्र की तरह विस्तारगत—हॉरिजॉन्टल—है कि परिवेश ही मनुष्य के व्यक्तित्व का सपाटीकरण कर दे। कहानी न 'मैं' की व्यक्तिगत डायरी है, और न परिस्थिति की निर्वेद्यकितक रिपोर्टिंग। आज की कहानी व्यक्ति और परिवेश का वह सम्बन्ध-क्षण है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में युग की एक-एक नव्ज छूता है... उसे नाम देने, समझने की कोशिश करता है। अर्थात् रिपोर्टज और डायरी के पीछे की यथार्थ-दृष्टि उसकी चेतना बना सकती है, स्वयं कहानी का विषय नहीं हो सकती।

यथार्थ-दृष्टि की इस चेतना के प्रकाश में ही देखना होगा कि युग के व्यक्ति और परिवेशगत वे सार्थक सन्दर्भ क्या हैं जो आज की कहानी की थीम, कव्य और विषय के रूप में आये हैं; व्यक्ति और व्यक्ति के आपसी सम्बन्धों में पहले की अपेक्षा क्या मूलभूत अन्तर आये हैं जिनकी समझ युगबोध का महत्वपूर्ण अंग है? और क्या वे सम्बन्ध अपने बास्तविक रूप में कहानियों में आ पाये हैं या वहाँ आकर तसवीर को अतिरंजित कर देते हैं? मैं अपनी बात को स्वतन्त्रता के बाद, पन्द्रह-लोलह वर्षों की कहानियों में ही अधिक नीतिशक्त रखना चाहूँगा, ताकि दात्र अधिक ठीक और नीदाहरण रह सके।

० ०

व्यक्ति और समाज के दीच का तेतु, या व्यक्ति और व्यक्ति के दीच के ज्ञामा-

जिक सम्बन्धों की इकाई है परिवार। और यहीं से सारे नैतिक मूल्यों या सामाजिक मान्यताओं के रूप निर्वाचित होते हैं। इसी केन्द्र-विन्दु पर खड़े होकर दोनों हाथों को समझा जा सकता है। विना परिवार के व्यक्ति के लिए समाज बैगाना, कहीं-कहीं शब्द ही जाता है, और समाज के लिए व्यक्ति पथन्नप्ट और लक्ष्यहीन विद्रोही। दोनों ही स्थितियाँ, हिन्दी कथा-नाट्य में आ-चुकी हैं।

परिवार का परम्परागत ढांचा प्रेमचन्द के समय में ही टूट गया था और परिवार की परिभाषा वह नहीं रह गयी थी जो अभी तक समझी जाती थी। फँसिली या परिवार की सीमा आज परिवार की तक समझी जाती थी, उसमें भाई-बहन, भाभी-जीजा, बाबा-बादा इत्यादि रखितेदार नहीं आते। इस बात को समझने के लिए भारतीय व्यक्ति को जिन-जिन भी पण यातनाओं से गुजरना पड़ा है, वे आज अविश्वसनीय लगती हैं। संयुक्त-परिवार की ऐतिहासिक आवश्यकता समाप्त हो चुकी है, स्वयं प्रेमचन्द को यह समझने में कम नमय नहीं लगा। शरत्चन्द तो जिन्दगी-भर पारिवारिक गलतफहमियों की दीवार को छोड़ने की बाढ़ में ही बहाने की कोशिश करते रहे। लेकिन प्रेमचन्द ने 'शान्ति', 'बड़े घर की बेटी' और 'धांखनाद' की जिद को 'सुजान भगत', 'सवा सेर गेहूँ' और विशेष रूप में 'घोदान' में एकदम छोड़ दिया और स्वीकार कर लिया कि परिवार को टूटना ही है... 'आन्दोलनों और नौकरियों के सिलसिले में नयी पीढ़ी घर छोड़-छोड़-कर, अपने वाप-दादों के बेत-मकान, चाचा-नाड़ों के मोह-ममता से टूटकर वाहर निकल रही थी; यिधा और ट्रेनिंगों के लिए घर छोड़कर आये नवयुवकों को देश-विदेश का परिचय, ज्ञान-विज्ञान जौंच रहा था और नयी-नयी खोजें उनके कुछ-कर-गुजरने के भाव को उकना रही थीं...'

अजेय, जैनेन्द्र और प्रारम्भिक यशपाल में हम इसी नवयुवक के दर्शन करते हैं। वह श्रेष्ठ, और अवसर अविवाहित है; आज यहाँ, कल वहाँ भटकता है और कहीं शूला-ना कोमल नम्पक, कोई महानुभूति उसकी थकान हरकर फिर भटकने का बल दे देती है। कुछ कानिकाण्डियों को छोड़कर, सामाजिक पिछड़ेपन और श्रणिका के कारण नारी प्रायः उसके नाथ आने ने इन्कार कर देती है; वह जहाँ है वहीं स्थित रहकर अपनी मर्यादा और लक्षण-गेवाओं को निवाहनी हृदै, मौतिक महानुभूति और प्लैटोनिक प्यार—आत्मा-आत्मा का प्यार—देती है, जो इस युवक की कुण्ठा को और गहरा जाता है... ये नामन्ती मूल्य-पद्धति में टूटने के तनाव और प्रवास हैं।

वहरहाल, यहीं वह युग होता है जिसमें नये परिवार बनाने की कामना नारी-पुरुष को अनेक स्तरों पर एक-दूसरे के नम्पक में लाती है और कोई भी साहित्य अपनी नईप्रेट प्रेम-नहानियाँ पाता है। नैकिन भारत में प्रायः वह युग आता ही नहीं और इन युवक की नारी यकित नारी को, परिवार और धर्म—ज्ञान-पांत इत्यादि—की रुद्धियों में जार उठाने में, या न-उठा पाने के व्रह्मान ने कुड़ने में ही चुक जाती है। प्यार की निर्मल-युवतियों के धर्मों में भी उन अपनी नायिन को नमझाना पड़ता है; कि प्यार नारी है; कि वह देंदी, दहन, भाभी, वह की नयदियाँ ने ऊपर हैं; कि वैधव्य और जारी उसके नारी हैनि में कहीं भी वादक नहीं हैं... और वह युग नारी-नुधार, उसकी

दयनीयता या अपनी असमर्थता के चित्रण में ही गुजर जाता है। समान स्तर पर नारी-पुरुष को एक-दूसरे को समझने का अवसर ही नहीं आता... समानान्तर चलते रहते हैं तरह-तरह के मुक्ति-ग्रान्दोलन जो इस समस्या को इतना महत्व ही नहीं देने देते... और उनमें वास्तविक नारी को स्थानापन्न कर दी जाती है अजल्य प्रेरणामयी, अनन्त ओज और शक्तिमयी, अनिवंचनीय रहस्य-मंडित एक हवाई नारी, देवी, या 'ओ तू !'

इसी बीच चालीस और पचास के बीच का वह समय है, जब सारी परिस्थितियाँ भट्टके-से बदल जाती हैं और इतिहास का नया दौर आ-जाता है। तब हम कहानी में एक नयी स्थिति उभरती देखते हैं, जिसमें यह नया परिवार भी टूटता दिखायी देता है। इस परिवार के बनने तक प्रेम के स्वस्थ विकास के लिए जो अवकाश चाहिए था, उसे कहानी का इतिहास भट्टके-से फलांग आया, और दोनों पक्षों को एक-दूसरे को जानने का पर्याप्त समय नहीं मिला। पुराने टूटे हुए परिवार की जगह जल्दी-से-जल्दी कोई नया परिवार होना ही चाहिए, इस हड्डड़ी में परिचय-अवधि की खानापूरी भी करनी गयी और नये परिवार बन गये।

शायद यही कारण है कि हमारे इस कथा-काल की सारी कहानियाँ नये सम्बन्धों के बनने की कहानियाँ नहीं, सम्बन्धों के टूटने की कहानियाँ हैं; सारे सम्बन्धों से टूटा हुआ व्यक्ति अधिक-से-अधिक अकेला, अजनबी होता चला जाता है, पिछली पीढ़ी के प्रति अविश्वास, घृणा और आपस में अपरिचय, अनिदच्य... यही यथार्थ नयी कहानी के माध्यम से बार-बार सामने आता है...

० ०

इस अनेकपक्षीय और विविध-स्तरीय विवराव की प्रक्रिया में नवसे रोचक और सार्थक है माता-पिता या इस वर्ग के प्रति नयी पीढ़ी का क्रमशः बदलता हुआ स्वर...

इन वड़ों के त्याग और साहस के प्रति समानी धन्दा की अनेक कहानियाँ पचास के आनंदपास लिखी गयीं। 'हंसा जाई अकेला', 'गुलरा के बाबा' (मार्कण्डेय), 'कर्मनामा की हार' (शिवप्रसाद मिह) के कर्मठ, त्यागी दूड़े; और 'आद्री' (मोहन राकेश), 'देवा की माँ' (कमलश्वर), 'अकेली', 'रानी माँ का चबूतरा' (मनू भण्डारी) की नमतामयी माँए— 'डिप्टी कलकटरी' (अमरकान्त) 'पास-फेल', 'लंच-टाइम' (राजेन्द्र यादव), 'दोपहर का भोजन' (अमरकान्त) में धीरे-धीरे मिहासन-च्युत 'मेरे लिए नहीं': (धर्मवीर भास्ती) और 'विरादरी-ब्रह्म' (राजेन्द्र यादव) होते जाते हैं। 'बीकू की दावत' (भीष्म साहनी), 'एक दूटी हुई आत्मा' (अमरेन्द्र अमर) में वेदा उनी माँ के लिए धर्म महसूस करता है; उसे भाँ-त्राप के लिए समय नहीं है; वह उसे फटे कपड़े की तरह कहीं छिपा देना चाहता है। 'वापसी' (उपा प्रियंका) में व्राप वेटों के घड़ी, और 'वापिसी' (हरिप्रकाश) में वेदा वाप के यहाँ पराया और गैर महसून करके नोंद आता है। जिन घृणा और ऊब से धवराकर 'तलवार पंन-हजारी' को चुराकर वेदा, वाप के घड़ी ने 'जड़े' (नुदंजन चोपड़ा) तो इकर भाग आया था, 'रक्तके लिए' (कमलेश्वर) के उन ही वाप के विकास उठान्हर ललचारने लगता है। 'मजिका दूरिया का देटा' (नमृतलाल तामन) के 'मेंदें जन का रिश्ता' (शानी) कनी दड़ा करण नगना है, और कनी दड़ा करण

मर्मवेदी। कभी उस पर दया आती है, कभी भुंकलाहट। कभी वेटे की मज़बूरी सच-लगती है, कभी माँ-बाप की। 'अफ़सर की देटी' (श्रीमती विजय चौहान) इस सचाई को शिकायती टोन में स्वीकार करती है; लेकिन मनोहरश्याम जोशी का 'एक दुर्लभ व्यक्तित्व' इस सम्बन्ध-धेत्र में सबसे अद्भुत प्रयास है, कुछ हद तक सिनिक परिहास भी। 'पिता' में रवीन्द्र कालिया ने इस 'सम्बन्ध' (राजेन्द्र यादव) को पथराने की हद तक पहुंचा दिया है।

परिवार की यह सम्बन्ध-शृंखला वाप-वेटे या माँ-वेटे के बीच ही टूटकर नहीं रुक जाती, विघटन का यह सिलसिला अनेक सम्बन्ध-स्तरों पर संश्लिष्ट रूप में और साथ-नाथ चलता है... जिस 'रक्षा-वन्धन' (विश्वस्मृतनाथ कौशिक) के लिए वहने तड़पती थीं और दसियों वर्षों के छूटे भाई जहाँ आकर मिल जाते थे, वे भाई-वहन 'कमरा और गली' (कमलेश्वर), 'गर्जियन' (राजेन्द्र यादव) या उपा प्रियंवदा की 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' की बदली परिस्थिति में एक-दूसरे से मीलों दूर जा पड़े हैं, और भाई-वहन को शहर के बीच एक 'वृक्ष' (राजेन्द्र यादव) मानकर क़ल करा देता है... जो भाई 'शंखनाद' और 'वड़े घर की देटी' में गले मिलते थे, वे प्रयाग गुक्ल, रामकुमार, निर्मल बर्मा की अनेक कहानियों में आपस में अपरिचित और एक-दूसरे के प्रति कस्ठ नहिंणुता की मज़बूरी से बँधे दीखते हैं—रमेश वक्षी की 'शबरी' में प्रायः प्रतिद्वन्द्वी हैं और मनहर चौहान के 'धर-वुसरा' में प्रायः एक-दूसरे के दुश्मन... (वहन-वहन आपस में एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी हों, यह स्थिति तो जाने कब से कहानियों का विषय बनती रही है।)

० ०

लेकिन सम्बन्धों के धेत्र में सबसे अधिक भीषण संक्रान्तियों से गुजरना पड़ा है नारी और पुरुष के आपसी सम्बन्धों को। आज के कथाकार ने शायद सबसे अधिक कहानियाँ इसी सम्बन्ध को लेकर लिखी हैं। आज ही क्यों, जमाज और कला का तो, यह चिरन्तन निरायक विषय रहा है। हाँ, यह जल्द है कि पुरुष-प्रधान समाज में अधिकतर पुरुष ने ही नारी को केन्द्र बनाकर अपनी भावनाओं या चिन्तना को अभिव्यक्ति दी है...

छायावादी युग की नारी, न तो नारी है, न सामाजिक सन्दर्भों में रहनेवाली जीवित शकाई। वह, प्रायः निराकार है, एक 'हवा' है जो कवि-हृदय कलाकार को आन्दोलित करती रही है। वह कथाकार या तो उसके हाड़-मांस के रूप को ही देखने से इन्कार करता रहा है, या उस रूप को देखते ही अपने-आपको आव्यातिक ऊँचाइयों से गिरा हुआ पाता और उसे 'दानवी' कहकर धिकारता रहा है। इस आव्यातिक स्तर पर 'नारी' को प्यार करना, अपनी दमित आकांक्षाओं और लपतों को किसी भी 'मादा' पर आरोपित करने उन्हें ही प्यार करना होता है, और इस प्रकार इस 'हवाई-प्रेम' को आत्मनिक मूल्य के रूप में स्वीकृति दे दी जाती है, जिसका न परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों ने कुछ नेना-देना होता है, न दोनों पक्षों की अपनी-अपनी कमियों और फ़लों-रियों ने। बिना एक-दूसरे के व्यक्तित्व से परिचित हुए भी 'उदात्त प्रेम' पनपता और प्रयाग दरता रहता है। प्रेम की इस धारणा का एक स्वस्थ (लेकिन कथा-दृष्टि

ने सपाट) परिणाम यह होता है कि प्रेम के दोनों में आनेवाली दूरियों और वाधाओं को अक्षर प्रेमी, और कभी-कभी प्रेमिका, दूर करके या दूर न कर पाने के संबंध में विवरकर 'हीरो' 'हीरोइन' होने का गोरख प्राप्त कर लेते हैं। त्याग और वलिदान इस प्रेम की दो दिव्य प्रवृत्तियाँ होती हैं : इन्हें अपनाकर प्रेमी-प्रेमिका अपने जीवन को सार्थक करते हैं, और अपने व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ पक्ष उजागर करते हैं। वाधाओं से प्यार की पुष्टा प्रमाणित और अप्रमाणित होती है।

प्यार एक सामाजिक घटित है और उसका यह रूप निश्चय ही स्पृहणीय है। हर देश और काल में इसकी बड़ी ऐतिहासिक, महत्वपूर्ण और प्रगतिशील भूमिका रही है। लेकिन आज के कथा-सन्दर्भ में प्यार के इस रूप में दो असंगतियाँ दिखाई देती हैं : एक तो नारी और पुरुष के मिलने, या न मिल सकने की अन्तिम परिणति तक जाकर ही यह रुक जाता है... उसके बाद उनके आपसी या अकेले सम्बन्ध किस रूप में चलते हैं—प्रायः इस बारे में कहानी कुछ नहीं कहती। दूसरे, हमारे यहाँ की कुछ सामाजिक परिस्थितियों की जचाई को यहाँ बहुत सरल कर दिया जाता है।

जैसा कि मैंने कहा : हमारे यहाँ की परिस्थितियाँ कुछ अलग रही हैं। यहाँ वाधाएँ नारी-पुरुष के प्रेमी-प्रेमिका बनने पर नहीं आतीं, बल्कि नारी को प्रेमिका के स्तर तक नाने के धर्य-अधर्य के रूप में आती हैं। उसे सामाजिक भीतियों (टंडूज) और संकल्प-हीनता के कुएँ से निकलकर खुली हवा में सांस लेना, चलना, जिखाना और तत्व साधन के रूप में देखना—ये प्रेम से भी पहले की समस्याएँ हैं... यों एकपक्षीय प्रेम के लिए तो कभी कोई हाथ पकड़ ही नहीं सकता।

नारी को जिन्होंने सचमुच देवी या राधाकी के रूप में न देखकर यथार्थ मानवी और समान सामाजिक प्राणी के रूप में देखा है, उन्हें मजबूर होना पड़ा है कि नारी को एक सामाजिक समस्या के रूप में ही देखें—उसके इस विद्यिष्ट परिवेश के कारण। यही कारण है कि कथाकारों की एकाधिक पीड़ी इस समस्या के निरूपण और निराकरण पर ही लिखती रही है। नारी होने के उसके प्राकृतिक और शारीरिक अभिशाप से लेकर, समाज को बदल डालनेवाली उसकी विराट् घटितयों, जाह्नवा या नाहसहीनता को कहानियों का विषय बनाया जाता रहा है, उसकी दुर्दशा के कारणों की खोज-यीन की गयी है। इसलिए प्रेम के नाम पर अधिकांश कहानियाँ—नारी-नुधार, नारी-जागरण, भारतीय नारी की गरिमा या नारी की आर्थिक पराश्रयता की कहानियाँ हैं...

यहाँ ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि उस अवधि के कथाकार को नारी का अधिक स्वतन्त्र और पूर्ण व्यक्तित्व, या समान प्रेम-पात्रता वेश्या में मिले हैं, क्योंकि वह सामाजिक विधि-नियेध से मुक्त है, आर्थिक रूप से आत्म-निर्जरह है और स्वतन्त्र नियंत्रण लेकर अपनी समग्रता से प्यार कर सकने की स्थिति में है। भारतीय ही नहीं, विदेशी-साहित्य को इस मुक्त नारी ने सचमुच कुछ अन्य प्रेम-कहानियाँ दी हैं। लेकिन वह वेश्या होना समाज का एक दूसरा कोड़ और नारी-पराधीनता की दूसरी दर्दनाल है...

कितने आश्चर्य की बात है कि प्रगतिशील दृग को अपना नारा

मर्मवेदी। कभी उस पर दवा आती है, कभी रुक्मलाहट। कभी वेटे की मजबूरी सच लगती है, कभी माँ-बाप की। 'अफ़सर की देटी' (श्रीमती विजय चौहान) इस सचाई को दिकायती टीन में स्वीकार करती है; लेकिन मनोहरश्याम जौशी का 'एक दुर्लभ व्यक्तित्व' इस सम्बन्ध-क्षेत्र में सबसे अद्भुत प्रयास है, कुछ हद तक सिनिक परिहास भी। 'पिता' में रवीन्द्र कालिया ने इस 'सम्बन्ध' (राजेन्द्र यादव) को पथराने की हद तक पहुंचा दिया है।

परिवार की यह सम्बन्ध-अंखला बाप-वेटे या माँ-वेटे के बीच ही टूटकर नहीं रुक जाती, विघटन का यह मिलसिला अनेक सम्बन्ध-स्तरों पर संश्लिष्ट रूप में और जाय-जाय चलता है... 'जिस 'रक्षा-वन्धन' (विश्वभरनाय कौशिक) के लिए वहनें तड़पती थीं और दसियों वर्षों के छूटे भाई जहाँ आकर मिल जाते थे, वे भाई-वहन 'कमरा और गली' (कमलेश्वर), 'गार्जियन' (राजेन्द्र यादव) या उपा प्रियंवदा की 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' की बदली परिस्थिति में एक-दूसरे से मीलों दूर जा पड़े हैं, और भाई-वहन को शहर के बीच एक 'वृक्ष' (राजेन्द्र यादव) मानकर क़त्ल करा देता है...' जो भाई 'शंखनाद' और 'वडे घर की देटी' में गले मिलते थे, वे प्रयाग छुक्ल, रामकुमार, निर्मल वर्मा की अनेक कहानियों में आपस में अपरिचित और एक-दूसरे के प्रति करुण तहिणुता की मजबूरी से बँधे दीखते हैं—रमेश वक्षी की 'शबरी' में प्रायः प्रतिद्वन्द्वी हैं और मनहर चौहान के 'धर-घुसरा' में प्रायः एक-दूसरे के दुश्मन...' (वहन-वहन आपस में एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी हों, यह स्थिति तो जाने कब से कहानियों का विषय बनती रही है।)

° °

लेकिन सम्बन्धों के क्षेत्र में सबसे अधिक भीषण संक्रान्तियों से गुजरना पड़ा है नारी और पुरुष के आपसी सम्बन्धों को। आज के कथाकार ने शायद सबसे अधिक कहानियाँ इसी सम्बन्ध को लेकर लिखी हैं। आज ही क्यों, तमाज और कला का तो, यह चिरन्तन निर्णायक विषय रहा है। हाँ, यह ज़रूर है कि पुरुष-प्रधान समाज में अधिकतर पुरुष ने ही नारी को केन्द्र बनाकर अपनी भावनाओं या चिन्तनों को अभिव्यक्त दी है...

द्वायावादी युग की नारी, न तो नारी है, न सामाजिक सन्दर्भों में रहनेवाली जीवित इकाई। वह प्रायः निराकार है, एक 'हवा' है जो कवि-हृदय कलाकार को आनंद-नित करती रही है। वह कथाकार या तो उसके हाड़-मांस के रूप को ही देखने से इन्कार करता रहा है, या उस रूप को देखते ही अपने-आपको आव्यातिमक कौचाइयों से गिरा हृषा पाता और उसे 'दानवी' कहकर विकारता रहा है। इस आव्यातिमक स्तर पर 'नारी' को प्यार करना, अपनी दमित श्राकांक्षाओं और सपनों को किसी भी 'मादा' पर आरोपित करने उन्हें ही प्यार करना होता है और इस प्रकार इस 'हवाई-प्रेम' की आत्मनिक मूल्य के रूप में स्वीकृति दे दी जाती है, जिसका न परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों ने कुछ लेनान्देना होता है, न दोनों पक्षों की अपनी-अपनी कमियों और दमजोरियों ने। इन एक-दूसरे के व्यक्तित्व से परिचित हुए भी 'उदात्त प्रेम' पनपता और परवान चढ़ता रहता है। प्रेम की इस धारणा का एक स्वस्य (लेकिन कथा-दृष्टि

से सपाट) परिणाम यह होता है कि प्रेम के बीच में आनेवाली दूरियों और वाधाओं को अक्सर प्रेमी, और कभी-कभी प्रेमिका, दूर करके या दूर न कर पाने के संवर्य में विखरकर 'हीरो' 'हीरोइन' होने का गाँव प्राप्त कर लेते हैं। त्याग और बलिदान इस प्रेम की दो दिव्य प्रवृत्तियाँ होती हैं : इन्हें अपनाकर प्रेमी-प्रेमिका अपने जीवन को सार्थक करते हैं, और अपने व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ पक्ष उजागर करते हैं। वाधाओं से प्यार की पुष्टा प्रमाणित और अप्रमाणित होती है।

प्यार एक सामाजिक शक्ति है और उसका यह रूप निश्चय ही स्पृहणीय है। हर देश और काल में इसकी बड़ी ऐतिहासिक, महत्वपूर्ण और प्रगतिशील भूमिका रही है। लेकिन आज के कथा-सन्दर्भ में प्यार के इस रूप में दो असंगतियाँ दिखाई देती हैं : एक तो नारी और पुरुष के मिलने, या न मिल सकने की अन्तिम परिणति तक जाकर ही यह रूप जाता है... उसके बाद उनके आपसी या अकेले सम्बन्ध किस रूप में चलते हैं—प्रायः इस बारे में कहानी कुछ नहीं कहती। दूसरे, हमारे यहाँ की कुछ सामाजिक परिस्थितियों की सचाई को यहाँ बहुत सरल कर दिया जाता है।

जैसा कि मैंने कहा : हमारे यहाँ की परिस्थितियाँ कुछ अलग रही हैं। यहाँ वाधाएँ नारी-पुरुष के प्रेमी-प्रेमिका बनने पर नहीं आतीं, वल्कि नारी को प्रेमिका के स्तर तक लाने के धैर्य-अधैर्य के रूप में आती हैं। उसे सामाजिक भीतियों (टंडूज) और संकल्प-हीनता के कुएँ से निकलकर खुली हवा में सांस लेना, चलना, सिखाना और तब साथिन के रूप में देखना—ये प्रेम से भी पहले की समस्याएँ हैं... यों एकपक्षीय प्रेम के लिए तो कभी कोई हाथ पकड़ ही नहीं सकता।

नारी को जिन्होंने सचमुच देवी या राक्षसी के रूप में न देखकर यथार्थ मानवी और समान सामाजिक प्राणी के रूप में देखा है, उन्हें मजबूर होना पड़ा है कि नारी को एक सामाजिक समस्या के रूप में ही देखें—उसके इस विशिष्ट परिवेश के कारण। यही कारण है कि कथाकारों की एकाधिक पीढ़ी इस समस्या के निरूपण और निराकरण पर ही लिखती रही है। नारी होने के उसके प्राकृतिक और शारीरिक अभिशाप से लेकर, समाज को बदल डालेवाली उसकी विराट शक्तियों, साहस या साहसहीनता को कहानियों का विषय बनाया जाता रहा है, उसकी दुर्दशा के कारणों की खोज-बीन की गयी है। इसलिए प्रेम के नाम पर अधिकांश कहानियाँ—नारी-सुधार, नारी-जागरण, भारतीय नारी की गरिमा या नारी की आर्थिक पराश्रयता की कहानियाँ हैं...

यहाँ व्यान देने योग्य महत्वपूर्ण वात यह है कि उस अवधि के कथाकार को नारी का अधिक स्वतन्त्र और पूर्ण व्यक्तित्व, या समान प्रेम-पात्रता वेश्या में मिले हैं, क्योंकि वह सामाजिक विधि-नियेद से मुक्त है, आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर है, और स्वतन्त्र निर्णय लेकर अपनी समग्रता से प्यार कर सकने की स्थिति में है। भारतीय ही नहीं, विद्य-कथा-साहित्य को इस मुक्त नारी ने सचमुच कुछ अमर प्रेम-कहानियाँ दी हैं। लेकिन उनका वेश्या होना समाज का एक दूसरा कोड़ और नारी-पराधीनता की दूसरी दर्दनाक कहानी है...

कितने आदर्श की वात है कि प्रगतिशील युग को अपना नारा नमंत्रन

शक्ति देनेवाले शिवदानसिंह चौहान जैसे समाजदर्शी आलोचक आज भी शाश्वत-प्रेम की बड़ी छायावादी, शर्त-बन्दीय तसवीर दिल में संभाले हुए हैं और नयी कहानी में एक भी प्रेम-कहानी न होने की शिकायत करते हैं ('लहर' कहानी-विशेषांक) शायद इसका कारण अपने युग की मूल-प्रवृत्तियों को तटस्थ और अधिक गहरी निगाह से न देख पाना है। आज तक उनके लिए इस तथ्य को पता पाना मुश्किल हो रहा है कि फायड, हैवलाँक एलिस और स्वयं मार्क्स या नवीनतम डॉक्टर किन्से ने, प्रेम की अशारीरिक-शाश्वतता की सारी नम्भावनाओं को बोसियों वर्ष पहले दफ़ना दिया था... और अपनी-अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के साथ जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और यशपाल नारी के 'वास्तविक' स्वरूप और सम्बन्धों को समझने की दिशा में टटोलवाँ चल रहे थे—जैनेन्द्र और जोशी व्यक्तिगत और यशपाल सामाजिक सम्बर्भों के साथ... 'सुनीता', 'दादा कामरेड' और 'संन्यासी' एक ही मनोदशा के अलग-अलग प्रयत्न लगते हैं।

समाज के उस अपेक्षाकृत स्थिर रूप में यह शायद अधिक सम्भव भी था कि ये लेखक, वहे दृष्टीनाम से नारी को विलनिक या स्टूडियो में रखकर उसकी बनावट और बुनावट को सरल यियु-जिजासा से समझें। लेकिन वह, यही उनकी सीमा भी थी। जैनेन्द्र आज तक 'विज्ञान' और 'अविज्ञान' कहानियों में वही किये जा रहे हैं। 'नारी एक पहेली है' की जिस रहस्यवादी संचेतना से उन्होंने जिन्दगी शुरू की थी, वही आज भी उनकी चरम-गति और परिणति है। नारी को सामाजिक सम्बन्धों में चलते-फिरते प्राणी, और अपने प्यार के समान हिस्सेदार की तरह देखने का जो स्वस्थ प्रयत्न यशपाल से शुरू हुआ उसे और भी वास्तविक धरातल देने का थ्रेय आज की कहानी को ही दिया जायेगा—यह दूसरी बात है कि तसवीर बहुत उत्साह-वर्धक नहीं है; लेकिन समस्या सबसे पहले सचाई की स्वीकार कर लेने की है।

क्योंकि नारी और पुरुष को अपने-अपने सम्बर्भों से तोड़कर, उनके अलग-अलग स्वरूप और गठन को नमझने का तरीका शरीर-विज्ञान के विद्यार्थी का हो सकता है, कथाकार का नहीं। उसके लिए तो प्रश्न उनके सम्बन्धों के वास्तविक स्वरूप को स्वीकार कर लेने का पहल है...

युद्ध, स्वतन्त्रता और बाद के तेजी से बढ़ते श्रीदोगीकरण, शहरीकरण की परिस्थितियों, नारी के आत्म-निर्भर, आत्म-निर्णायक होने की नयी स्थितियों ने, उसके स्वरूप और भानसिक गठन को और परिणामतः पुरुष के साथ उसके सम्बन्धों को भी बदला है। कथाकार ने तुलकर स्वीकार और चित्रित किया कि नारी और पुरुष का सम्बन्ध, न तो हृषीर्ष-प्रेरणा का शक्ति-स्रोत है जहाँ नारी सामाजिक और अन्य असंगतियाँ अपने-आप भर जाती हैं, और न ही किसी जिजासा का है जहाँ नारी का अनावृत शरीर देखकर हृषुप आंगे मूँद जेता है या भकुआया हुआ देखता रह जाता है। वह सम्बन्ध सामाजिक भीतियों वा चुनौतियों देवर संक्ष-नाम्भोग के शरीरी-शरीरी सुख का भी है, दो आत्म निर्भर इकाइयों की समान-मंथी का भी है, युद्ध नीकर-मालिक का भी है... और उन सब उत्तरन होनेवाली सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिणतियों, विकृतियों, नयी परिस्थितियों और उन्हें जोवारने-जैगालने के मानवीय प्रयत्न का भी है; कि प्रेम-कहानी उस किसी

अध्यवसाय की ही कहानी नहीं रह गयी है जहाँ प्रेमी-प्रेमिका अनेक जाइदों को पार कर लेते हैं, साथ आ जाते हैं या साथ न आ पाने की भजवूरी में टूट जाते हैं... और कहानी समाप्त हो जाती है। नहीं, प्यार की कहानी उसके आगे भी चलती है, उसके बाद भी प्रेमी-प्रेमिका मिलते-बिछुड़ते हैं, नवी स्थितियों और सम्बन्धों की जटितता—कास्प्लैक्सटी—उस कहानी को आगे भी बढ़ाती है—पुराने मूल्यों को चुनौती देकर औरत कभी कोपले वाले के यहाँ और कभी सैनेटोरियम में ही जीवन का 'त्याग-पत्र' नहीं देती, सारी पारम्परिक गरिमा को ढुकराकर 'कुलटा' होने के आरोप को भी सहती है। जिन्दगी में सभी-कुछ मधुर-मृदुल या 'गुड़ी-गुड़ी' नहीं होता, मजवूरियाँ भी हैं, विद्रोह भी हैं और सबकी जिन्दगियाँ एक-दूसरे से उलझी-बैठी भी हैं। इसी यथाये को पकड़ने के लिए नये कथाकार ने इस सम्बन्ध को अधिक ठोस, व्यावहारिक घरातल पर रखकर चित्रित किया है, स्त्री-पुरुष के योन-सम्बन्धों को लेकर जो दुनिया-भर के मानसिक पूर्वग्रह—इनहिंविश्वास—थे, उन्हें साहस से तोड़ा है। जीला, पलावेयर, लॉरिस और शार्व की तरह इसकी अन्तरंगता—इण्टीमेसी—को समझने का प्रयत्न भी किया है।

मान सीजिए, 'उसने कहा था' का लहनार्सिंह न मरता तो ? मान सीजिए, वह युद्ध में घायल होकर, या बिना घायल हुए रिटायर होकर, 'मेजर चांघरी' (अज्ञेय) की तरह वापस लौट आता और किसी पहाड़ी 'कोसी' के किनारे पनचको जमाकर 'घटवार' (शेखर जोशी) बन जाता, उसी पुराने मधुर धन की याद में जिन्दगी विता रहा होता और उसका नाम गुसाई होता, तो ? उधर लहनार्सिंह की कुड़माई बाली प्रेमिका 'धान्ति' और 'बड़े घर की बेटी' की सारी मर्यादा के साथ, पति-नेत्रा में रत किसी की 'पली' (जैनेन्द्र) होती और 'रोज' (अज्ञेय) घुटन का गंगीन पाले, 'उसकी रोटी' (मोहन राकेश) से 'दोषहर का भोजन' (अमरकान्त) कराती, 'नह्नों' (गिवप्रनाद निह) की तरह दरवाजे से लगी पत की राह देखती रहती, या किसी यद्यमा का गिकार हुई सैनेटोरियम में पड़ी-पड़ी 'वादलों के घेरे' (कृष्ण सोवती) ताकती रहती ?... या यह भी तो हो सकता था कि नूवेदारनी से लहनार्सिंह की मुलाकात ड्यूड़ी पार, परदे की आड़ से न होती, पति की उपस्थिति में ही वह लहनार्सिंह को चाय पर बुलाती... परम्परा और प्यार दोनों के दीच निष्ठावान—निसियर और दोनों के प्रति इर्निसियर होने के द्वन्द्व में छलपटाती... 'कमज़ोर लड़की की कहानी' (राजेन्द्र यादव) की इस यातना को समझने के लिए, पुराने और आज के 'चश्मे' (मनू भण्डारी) ही अनग नहीं हैं, वह सचाई और वह मनोविज्ञान भी अनग है जिसमें 'पुराने नाने पर बने नये प्लैट' (राजेन्द्र यादव) पर छाये 'फँलाद के आकाश' (मोहन राकेश) के नीचे नारी किसी 'राजा निरवंसिया' (कमलेश्वर) का वंग चलाती है और यों ही 'अंवेरे में' (निर्मल वर्मा) 'आग्निरी शामान' (मोहन राकेश) बनकर डूब जाती है। आज तो अनेक प्रभावों के दीन दोनों पक्षों का जो 'टूटना' (राजेन्द्र यादव) है, वह 'निखा नहीं जाता' (कमलेश्वर) नेकिन दोनों को अमश: 'अपरिचित' (मोहन राकेश) जहर बनाना जाता है। दोनों फिर 'एक और जिन्दगी' (मोहन राकेश) की 'खोज' (निर्मल वर्मा) में भटकते हैं, 'नीनी जील' (कमलेश्वर) की मज़मली लहरोंवाली किसी 'ऊँचाई' (मनू भण्डारी) जो परने

की कोशिश करते हैं या तीनरे आदमी (मनू भण्डारी) के सामने हारकर 'एक कटी हुई कहानी' (राजेन्द्र यादव) के छोटे-छोटे टुकड़ों की तरह अलग-अलग गुड़मुड़ाते हैं। वस्तुतः परम्परागत मुर्दा प्यार के बड़े ताजमहल के साथे में जाने कितने 'छोटे-छोटे ताजमहल' (राजेन्द्र यादव) विवर जाते हैं। 'लवर्स' (निर्मल वर्मा) का 'परिणय' (श्रीकान्त वर्मा) उतना नीचा और आमान नहीं रह गया है जिसमें सुखान्त प्रेम-कहानी का अर्थ दो सपाट स्त्री-पुरुष का मिन जाना-भर हो। जो है, वही समर्पण उतना नहीं, जितना संस्कार या 'नशा' (मनू भण्डारी) है। और जब यह नशा उतर जाता है तो प्यार की वह संस्लिष्ट और जटिल परिणति भी हो सकती है जहाँ पति पत्नी की मृत्यु की कामना करता है, ('नाशिकी नम्बर दो'—धर्मवीर भारती) और पत्नी पति की 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' (मनू भण्डारी) की सिफ़ 'मजाक' (राजेन्द्र यादव) समझती है। या पति, अग्रनवी ('एक पति के तोट्स'—महेन्द्र भर्ला) की तरह अपनी अलग जिन्दगी जीता है।

पुराने भगवन्यों की नीस्टेलिजिक महानता के साधर्म में चाहे आज भी इसे अस्वस्थ और विकृत कहकर गानियाँ दे दी जायें, लेकिन आज वात 'यही राच है' (मनू भण्डारी) कि परिचय ने लेकर परित्याग तक, नारी-पुरुष के आपसी सम्बन्धों की नैतिक धारणा में एक मूलभूत 'अन्तर' (निर्मल वर्मा) जहर आ गया है। नवा कथाकार इस राचाई को यिन किंति पात-नोंद के स्वीकार करके, किसी नयी नैतिकता की 'प्रतीक्षा' (राजेन्द्र यादव) करता है। अगर उमका दोष, स्वलन, या अपराध है तो इतना ही कि उसने उनी न-प्रदीन, नैतिक-नैतिक, शुभ-अशुभ, उदात्त-विगर्हणीय से उठकर साहरा से इस गताई से राती कर्तियों में उभारा है। मैं इसे मूल्य-मूढ़ता नहीं, तथ्य-स्वीकृति के मार्ही एक मूल्यों की स्थाना मानता हूँ जो नये मूल्यों के निर्धारण-निरूपण का आधार बनते हैं...

यही कारण है कि आज की नयी कथा-चेतना नारी-पुरुष के आपसी सम्बन्धों के संकल्पण और मंकट को ही चिह्नित नहीं करती, या उन्हें अलग-अलग स्थितियों में ही नहीं एक-दूसरे से अलग होने और रहने की स्थिति में भी जाँच लेना चाहती है और पाती है कि मूल्यों का यह चतुर्दिक रुधाव वहाँ कितना सांघातिक या निर्णयिक है...

००

देविति स्थिति के स्पष्ट में जो कुछ भयादह, सांघातिक और निर्णयिक होता है, मानव-मन के अध्येता और कथाकार के लिए वही सबसे अधिक नाटकीय, सबसे दुनिवार आकर्षण का केन्द्र भी बन जाता है। शामद उसी विन्दु पर कथाकार का यथार्थ-नोंद सबसे बड़ी चुनौतियों का सामना करता है।

नारी यों ही आदिकाल से स्तोनदर्य (और उसके शास्त्र) तथा कला का केन्द्र रही है; फिर आत्मनिर्मर, स्वर्य-नामय अकेली नारी तो पुरुष के लिए सबसे बड़ा प्रलोभन और निगमन्यण भी है। इन निगमन्यण को प्रायः हर पुरुष कथाकार को स्वीकार करना पड़ा है और अपनी-अपनी लीगायों, मंस्कारों के साथ प्रायः प्रत्येक ने उसकी घसितायों, देवतियों और दक्षीणामीं को कथा-दृष्टि दी है। पुराने संस्कारों और नयी

परिस्थितियों के बीच नारी किस प्रकार पुरुष के अनेक टूटे मन्दभों के बीच अकेली होती जाती है, उसकी मानसिक गठन और मनोविज्ञान में कई दिव्यवन्य परिवर्तन आते-जाते हैं, इन आज की कहानी अधिक वास्तविक भूमि, अनेक भूक्षम-संशिलण्ड धरातलों और विविध संवेदनशील पक्षों से चिह्नित करती है।

आत्म-निर्मरता के बातावरण में आज नारी भले ही यह पाती हो कि उसके पंख खुल गये हैं लेकिन सामाजिक भीतियों, मानसिक गतियों—इनहिं विवाह—से जूझते के प्रयत्न में ही उसके डैने भी टूट गये हैं ('खुले पंख : टूटे डैने'—राजेन्द्र यादव), कभी उस शरीर की माँग भूका देती है तो कभी अकेलेपन की यातना। जिस 'तीक्ष्ण गदाह' (निर्मल वर्मा) की अनुपस्थिति, अर्थात् संकल्पहीनता ने उसे जिन्दगी के सुनहरे क्षण को होड़कर भाग आने को बाध्य किया था, वही अब हर नये आमनवण के प्रति उसे आस्थाहीन बना देता है... 'बड़ा 'अनकहा' (घरद देवड़ा) दर्द है कि जो सामने है, उसे उन्मुक्तानन में ग्रहण नहीं कर पाती और जब वह निकल जाता है तो फिर-फिर उनी क्षण में लौट जाना चाहती है। किनी भट्टके हुए 'परिदें' (निर्मल वर्मा) की तरह अतीत की एक पीड़ा दबाये उदास बातावरण में 'बादलों के घेरे' (कृष्णा नौवरी) ताकती रहती है, 'धन' (मनू भण्डारी) होती रहती है, कहीं दूर पहाड़ों में भागकर 'मिल पाल' (मोहन रादेश) की जिन्दगी विताना चाहती है, लेकिन मन ने रहती उन्हीं आतंगों और मम्पकों में है... 'या अप्राकृतिक भट्टकनों की छलना में पड़ी 'प्रतीका' (राजेन्द्र यादव) करती है कि यायद कभी 'पचपन त्तम्भों की नान दीवार' (उपा प्रियंवदा) टूटेगी, वह मुनित की नाम नेगी और धायद अपने भें लोटे, तीन के प्यार को छाती ने चिपकाये ही नुपमा, अपनी बड़ती उन्होंने शायंकाशों को जीतलेगी। मगर पैरों के नीचे की उमधवकनी दीवारंका वहक्या करे, जहाँ उसे हर बार 'एक सन्धि और' (शानी) कर नेनी पड़ती है और वह पाती है कि जिन्दगी अब उसके लिए बास्तविकता नहीं, 'डायरी का नेत' (निर्मल वर्मा)-भर रह गयी है, आज वह जीवन-नाटक की नायिका नहीं है जो धीरे नायक की काम्य हो, उनका व्यवितत्त गुमनाम 'एक कोई दूसरे' (उपा प्रियंवदा) का है—जिनके लिए मुख का क्षण शिक्ष के 'सेत' (राजेन्द्र यादव) के एक रवर ने ज्यादा नहीं है। आज वह अवैय की 'हीलीवोन की बत्तखाँ' की तरह किसी की प्रतीकात्मक गदनें भी नहीं मरोड़ नकती, केवल एक वेजान 'टेकुल' (रेणु) की तमपिता-भर ही सकती है... 'या अपने शकेलेपन की भयावहता ने वचने के निप कोई भी एक भूका आवार बनाकर 'मुद्दागिने' (मोहन राकेश) होते की विटम्बना होती है और हर जगह वह स्वीकार करने वाले गवर्नर हैं कि वह नमूर्ण नहीं, 'एक कट्टी हरै कहानी' (राजेन्द्र यादव) है, 'दर्मन में कौड़ कुन्हाना पानी' (रमेश वधी) या 'पत्थरों में बन्द आवाज' (शानी) है, जो गुलकर निरक भी नहीं पाती।

शानी-द्रग्नी मानसिकता के प्रकार में पुरुष और नारी दोनों कथाएँ इन नारी के अविनत्त जी दोज में रहते हैं और जिनका दी इनके निकट जाने हैं उने उनका दी जटिल पाते हैं। क्योंकि यहाँ उनकी कुछ अनेक-स्तरीय और अनेक अनुभुति इनकिए और भी अधिक है कि उनकी 'धूठन' (मनू भण्डारी) पुरुष की तरह केवल प्रतिभा नभा राजा

के दुरुपयोग-अनुपयोग या यीन-मुक्ति की ही नहीं—माँ बनकर व्यक्तित्व को सार्थक न कर पाने की भी है। यों जहाँ तक सबाल यीन-मुक्ति का है, उसकी आत्म-निर्भरता, मान-सिक प्रौद्योगिकी, फ्री-मिर्किंसग, शरीर-ज्ञान, योन-शिक्षा, फँमिली-प्लार्निंग तथा अन्य जिम्मेदारियों के अहसास ने अकेलेपन की असहनीयता के साथ मिलकर पुराने सारे संस्कार धो दिये हैं और यीन-शुचिता की 'पूत योनि वह, मूल्य चर्म पर अंकित' वाली सामन्ती नैतिकता, आज की ओर्डोगिक दुनिया में उसे अपने व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से पिछड़ी और ओट्टी लगती है। आज उसे अपनी कच्चे काँचवाली यीन-शुचिता को लेकर वैठे रहना है या इस भीड़भाड़-भरी भागती दुनिया में कहीं एयर-होस्टेस बनना है, नर्स बनकर दूर-दराज अस्पतालों में, लड़ाई के मोर्चों के भूखे जवानों में, ग्राम-सेविका, कन्वेसर, एजेंट बनकर घर-घर में जाना है, कहीं डैलीगेशनों में, कहीं एक्सकर्शनों में, कहीं उच्च-शिक्षणों में देश-विदेश के चक्कर काटने हैं, स्कूटर से लेकर हवाई जहाज तक चलाने हैं? वास्तविक व्यक्तित्व की स्तोज की दिशा में—शारीरिक पवित्रता की उस दक्षियानूसी धारणा या किंद्रोर-संकोच की अनुपस्थिति आज उसके मन में कोई पाप-बोव भी नहीं जागती, यीन-मुक्ति भी उसे अपने अस्तित्व के अधिकार की एक मौलिक आवश्यकता लगती है और इस वह चारित्रिक शील के साथ जोड़ना भी पसन्द नहीं करती... क्योंकि आज सामाजिक नैतिकता और व्यवितरण नैतिकता एक-दूसरे की विरोधी दिशा में जा पड़ी हैं। जब एक को भुलाया जाता है तभी दूसरे को स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति समाज को नितान्त अन्वेषकार्य या अपने लिए निहायत असहिष्णु—इनकन्सीडरेट पाना हो तो...? 'नम्मूर्ण अस्वीकार !'

लेकिन आज की नारी की इम नचाई को या तो आदर्शवादी लेखकों ने एकदम अन्वेषकार ही कर दिया है, या जहाँ स्वीकारा भी है वहाँ उसके 'पतन' पर पंरिताप के अंगू बहाकर लोपा-पोती कर दी है। अमृतलाल नागर के 'वूंद और समुद्र' की शील-स्थिग और 'नदी के द्वीप' की रेखा इस चरित्र की साहस्रिक-स्वीकृति के कुछ उदाहरण हैं। दूसरी ओर नन्हे बाजाह लेखकों ने, उसके नम्मूर्ण व्यक्तित्व-निर्माण के विराट् परिप्रेक्ष्य को भूलकर—उसकी इम स्थिति पर पुरानी वेश्याओं के चट्ठारे के साथ कहानियाँ लियी हैं... वन्तुतः यह विषय जितनी गम्भीरता, नहानुभूति और संयम की मांग करता है, उन्होंने वहाँ कम दे पाते हैं, वरन्ता अधिकांश तो इसी प्रयत्न में रहे हैं कि आत्म-निर्भर, मन्महार-मुक्त इन नारी के, कैदे अधिक-मेर-अधिक दुस्ताहसी चरित्र की कल्पना करें कि यीन-गम्भीरों के विस्तृत विवरण दिये जा नकें ताकि लोकप्रियता और आधुनिक होने का नेतृत्व एक साथ ही मिलता रहे...

००

यह अकेली नारी ही या देगानेपन और बेकारी के बीच का स्ट्रेटेज युवक—सूझम राग-योग (पालनर नैनिंगविनिटीज) के प्रति एक सजगता के साथ-साथ प्रतिहिमालु दृष्टि भी उन्हीं आत्म-चेतन अकेले लोगों में सबसे अधिक दिलायी देती है; क्योंकि अतीत के प्रति कहुता और भविष्य-हीनता का अहसास इन्हें ही सबसे अधिक तीव्रता के साथ महता है... इन्हें ही लगता है कि अतीत की तलवार को कोई मूठ तक कलेज में धूँसाकर

इन्हें मरने के लिए छोड़ गया है ('तलवार पंचहजारी'—राजेन्द्र यादव)। ये 'नये-नये आनेवाले' (राजेन्द्र यादव) आते तो वडे उत्साह, आस्था और विश्वास के साथ हैं; लेकिन धीरे-धीरे इन्हें भी बातावरण का अजगर निगल लेता है और इनके गन्दे हाथों से 'बदबू' (शेखर जोशी) आनी बन्द हो जाती है। हर शाम की तरह 'सितम्बर की एक शाम' (निर्मल वर्मा) को भी 'सेलर' (रामकुमार) 'मकान' (प्रयाग थुकल) से बाहर, 'खोई हुई दिशाओं' (कमलेश्वर) में 'एक चेहरा' (रामकुमार), एक परिचित आश्वासन सोजता भटकता रहता है, और हर बार एक नयी दुमकटी 'छिपकली' (अमरकान्त) उसे बड़ी और सम्पूर्ण होकर निगल लेती है। 'डिप्टी कलकटरी' (अमरकान्त) के उम्मीदवार इस 'वेकार आदमी' (कमलेश्वर) की जिन्दगी में कहाँ कोई 'खुशबू' (राजेन्द्र यादव) की नहीं-सी लहर भी ऐसी नहीं है कि मन के खोखलेपन को भर सके। उसका मन क्या है, एक 'ग्रन्थ-कूप' (शिवप्रसाद सिंह) है और उसमें पड़ा हुआ वह अपने और अपने 'जलम' (मोहन राकेश) को नेकर तरह-तरह के मंसूबे वाँधता है, लाटरी-रेस ('निं० भाटिया'—मोहन राकेश) या हाथ की रेखाओं में ('भविष्यवक्ता'—राजेन्द्र यादव) कहाँ-कुछ पा लेना चाहता है। जिन्दगी का जुलूस गुजर जाता है और वह बैठा-बैठा अपनी उस 'भाग्यरेखा' (भीष्म साहनी) को खोजता रहता है जो सहारा बन सके; लेकिन हर दफ्तर, हर शहर-मड़क उसके लिए एक ऐसी 'सिमटी' (रामकुमार) बन गयी है जहाँ उसका निरीह अभिमन्यु रोज 'आत्महत्या' (राजेन्द्र यादव) करके लौट आता है—आत्मा की लाश को कन्धे पर लादे हुए। वह स्वयं अपना ही 'खलनायक' (अमरकान्त) बन गया है... और इस 'हत्यारे' (अमरकान्त) को यह भी पता नहीं चलता कि उसने कहाँ किसकी हत्या कर दी है...

खलनायक, यानी वैरेमानी, फ़ालतू, वेमानी, वेकार और दिग्गा-हीनता में भटकने का अहसास इस युवक को निरन्तर घोटता चला जा रहा है। कहाँ उसे लगता है कि वह स्वयं 'वह' नहीं रह गया है, उसमें कुछ बदल गया है, या आम-पास के उसके नारे सम्बन्ध और सम्पर्क ही एकदम बदल गये हैं। सम्बन्धों की इस मैट्रिकलॉज़िज़ (कायाकल्प—कापका) ने उसे एक विनीता कीड़ा बना छोड़ा है, कोई एक 'झाड़ी' (श्रीकान्त वर्मा) है जिसे वह लांघ नहीं पाता और 'कुत्ते की माँत' (निर्मल वर्मा) मर जाता है। हर सम्बन्ध में उसकी चेतना और क्रिया-शीलता इस तरह कुन्द हो गयी है कि उसे लगता है वह एक निर्जीव 'टोनो' (श्रीकान्त वर्मा) से अधिक कुछ नहीं है, उसे कुछ भी अनुभव नहीं होता।

हाँ, इन बाहरी-भीतरी दबावों में उनकी संवेदना-भवित्व कुछ इसी तरह भर गयी है कि आत्म-पास की बड़ी-ने-बड़ी घटना उसे नहीं छूती... वाह, भूकम्प, रेल-कुर्चिटनाएँ और यहाँ तक कि देव पर नीनी-गानिष्ठतानी हमला तक उने नहीं प्रभावित करता और वह अग्रणी दिन की प्रतीक्षा करता है कि देवों, अद्वैत दिनिस्टर इन पर किस तरह भाषण देता है; कोन किसे जिम्मेदार ठहराता है और फिर किसे सारी स्विति पर लीपा-पोती की जाती है। हाँ, व्यक्तिगत स्तर पर जरा-नी भी कोई बात उने नहीं देती है। कन्धे ढाने, निर भुजाये, 'बूझे' की तरह वह धिशटना हुआ, हाता-पक्का चलता जाता है। उसके इस रूप को देखकर उर भी लगता है और नदान भी उठते हैं: कहा इसे जिसी...
...

भविष्य के सपने नहीं आते ? इसे वर्तमान से कड़वी शिकायत भी नहीं है ? क्या इसके सुख-दुःख, सपनों-आकांक्षाओं, प्रेम-रोमांस की कहानियाँ केवल पीछे ही छूट गयी हैं और उन्हें इसने नहीं, किसी 'दूसरे आदमी' ने जिया था, जिन्हें वस ठेस की तरह यह याद-भर कर लेता है ?

लगता ऐसा है जैसे इस युवक के हायों से जिन्दगी की पकड़ छूट गयी है और पता नहीं, 'धरणार्थी' उन्हें हुए लोगों का यह काफ़िला किस घाट जाकर बिछेगा... पंचवर्षीय योजनाओं, अंतर्योगीकरण की बाइ, सोशलिस्टिक पैटर्न और दैत्याकार प्लाष्टों और प्रोजेक्टों की छाया में माये पर हाथ रखकर वैठे इस बूढ़े को देखकर लगता है, जैसे दहूत बड़ी नुमायग के दरवाजे पर सूली-लटका ईसा आज भी कराह रहा है... निर्माण के इस किसी में भी उसका हाथ नहीं है। कहीं भी उसे सेन्स ऑफ विलोर्मिंग (किसी से जुड़े होने) का अहसास नहीं होता—उधार का पैसा है और उधार का दिमास... डॉलर, स्टलिंग और हवलों के साथ टेक्नीशियन, एक्सपर्ट, स्पेशलिस्ट सभी बाहर से आये हैं। उससे तो अलम्पूर्वक-भाव से रोजाना मजदूरी पर काम कराया गया है... उस सबमें अपना कुछ भी देखने या दिखाने का सवाल ही नहीं उठता। वह जानता है : जब इन योजनाओं के कमीशन वैठे थे, तभी कुछ लोगों ने रिस्वतें खायी थीं। किसी उद्योगपति की डोरियों में लटके किसी मिनिस्टर या एम० पी० नाम के कटपुतले ने बातें दबा लीं, या आगे बढ़ा दी थीं, तब कुछ नमक, कुछ नम्बर, कुछ रिस्तेदारियाँ निभायी गयी थीं... कुछ के भत्ते बनाये थे और कुछ ने भाई-भनीजे लगाये थे... सामरी की घरीद में लेकर यह सिलसिला अफ़ग़निस्तान की नियुक्ति तक में चला था। फ्रें वह भी वह जानता है कि जब वह सब बनाकर बढ़ा ही जायेगा तो 'इन इन्स्पेक्शन' करनेवाली कमेटी को ठेकेदार-दर-ठेकेदार किसी हीटन में कैंप्रे दिखा रहे होंगे, किसीन कानूनों की नियमित्कीय मुमकराहटों की छाया में 'किंग-ऑफ-फिल' की चुन्कियाँ चल रही होंगी, परमिटों और लाइसेन्सों के संदेह से रहे होंगे... फिर अगले दिन मन्त्रीजी की नडी-नुरई जैसी अंगुलियाँ बटन दबाकर या फ्रीता काटकर उद्धाटन कर देंगी, नन्हीरें अवश्वारों पर छा जायेंगी... फिर अगले दिन दीप में दरार ही जायेगी, दीवारे वह जायेंगी, आम-पाम के हजार-पाँच-सी गाँव डूब जायेंगे, बातों की टॉकुमेटरियाँ बनेंगी, मन्त्रीजी अपनी ओर से रिलीफ-फण्ड में रुपया देंगे, यानी निकालेंगे और किर नया कमीशन बैठेगा...'

इन सारे 'निर्माण' में इन नींगवान की 'रचनात्मक प्रतिभा' और 'ईमानदारी' के लिए कहीं भी नौ जगह नहीं है। जो कुछ है, भी उनकी विवृति का ही है इसलिए संस्कारों, आदरों और धर्मों की तरह इन योजनाओं ने भी उसे धृणा है, लक्ष्यों से उसे नज़रअल है। न तो उन नदोंके परिणाम ने उसे कुछ मिलेगा, न वनस्पति में उसका अपना कुछ मिलेगा... 'कहीं कुछ होता रहे, उने क्या ?' (कुछ महस्तकांकी दैज़ानिकों की आत्महत्याएँ और टेक्नीशियनों का विनेमी भै जाकर दापन न आना, नेरे दूष कथन का प्रमाण है) मर्हु उनके लिए नहा क्या है ? नेताजी के भाषणों और अपनी ईमानदारी के दीन, कहीं तो उसे जिन्दा नहा ही है...'

जिन्दा जल्द रहना है; लेकिन जिन्दगी की उन वेवसी का वह क्या करे, जब

अपने से बड़े किसी निर्माण और रचनात्मक आयोजन में विसर्जित न कर पाने की स्थिति में उसकी सृजन-शक्ति अपने ही मूल-उत्स की ओर लौट-लौट आती है और उसके लिए जिन्दगी में सैक्स ही सवंते बड़ी समस्या बन जाती है—एक स्वस्थ आदमी की योन-मुक्ति के रूप में नहीं, एक घुटे आदमी की योन-विकृति के रूप में... अपने होने के आश्रामण की सोज बनकर...

ऐसे में वह कहाँ अपने को जीवन से कमिट करे और किस भविष्य के सपने दें ?

मैं समझता हूँ कि आज के मारे कहानी-साहित्य में इसी रुई जिन्दगी पर सवंते अधिक संवेदना से लिखा गया है और शायद यही संवेदना वह तार है जो भविष्य के लिए अनदेवा-प्रतजाना-पुल बनेगी...

○ ○

यहीं एक भय मुझे और भी है : कथा के माध्यम से उभरनेवाले यथार्थ की इस रूप-रेखा को ही नपी कहानी न समझ लिया जाये। वस्तुतः यह यथार्थ तो आज के कहानीकार का वह परिवेश और परिविह हैं जो उसकी चेतना और दृष्टि बनाती है। इसकी विस्तृतियाँ—ठिटेन—और भी हो सकती हैं। वल्कि परिवेश की यह संचेतना, समाज के इन्हें अधिक रूपरूप और इन्हें विद्याद भूगोल-व्यष्टियों को लेकर व्यक्त हुई है कि हिन्दी-कहानी ने एक अभूतपूर्व विस्तार पाया है। प्रागाणिकता के आगहे ने ही जिस भी भूमि-खण्ड और नमाज ने नेतृत्व का परिचय है उन्हें उन्हीं अपनी कथा का घटनास्थल (लोकेश) बनाया है... नागार्जुन और रेणु ने विहार की 'परती' (वेस्ट-लैण्ड ?) 'मैने अचिल' की 'ठुमरी' गायी है, मधुकर गंगाधर ने 'तीन रंग : तेरह चिन्हों' में उनकी कानी-उजली चित्रिताएँ तसवीरें दी हैं... शानी और राजेन्द्र अवस्थी ने बस्तर के आदिवासियों की जिन्दगी को केन्द्र बनाया है... शैलेश मटियानी, यिवानी और पानू खोनिया ने कुमाऊँ के पहाड़ी मोड़ों में जीवन की धूप-छाँह देखी है... मार्कंडेय, शिव-प्रसाद मिहू और अवधनारायण मिहू ने उत्तर-प्रदेश के पूर्वाञ्चल की प्रेमचन्द्रीय जभीन पकड़ी है... रमेश बद्धी के पान मालदा की सांस्कृतिक सुरक्षा है... छप्पा सोवती, बलबन्तसिंह, अमृता प्रीतम ने पंजाबी कितानों और नव्यवर्गीय परिवारों की दृष्टिकल-भरी जिन्दगी को उठाया है...

लेकिन ने नव घटना-स्थल और भागोनिक परिपालन हैं, विषय और वातावरण हैं; और कहानी को विषय के हिसाब से बांटने का प्रयत्न एक को दूसरे से थ्रेष्ठ निरूपण करने के प्रयत्न में भटका देना है। नन् '५५-५६ के दिनों में कहानी को वातावरण और विषय के अनुसार गाँव और झहर की कहानियों में बांटकर एक सन्दर्भ क्रियम का आन्दोलन लगाया कर दिया गया था। इसमें बताया गया कि गाँव की कहानियाँ प्रेमचन्द्र की परम्परा की कहानियाँ हैं; कि वे अधिक स्वस्थ, सरल और भेने लोगों की कहानियाँ हैं; कि शहरी कहानियों के नेतृत्व कुण्ठा, विकृति, पुतन इत्यादि की कहानियाँ हैं; कि गम्भीर कहानियों का विस्फार कर रहे हैं...

प्रेमचन्द्र के विषय को उनके यथार्थ-व्याप या दृष्टि ने जोड़ने और उसे “

उनकी परम्परा कहने की जल्दवाज़ी ने इस प्रकार के गलत नारे को जन्म दिया था और अनेक प्रवृद्ध सशक्त लेखकों की शक्ति इस आन्दोलन को प्रतिष्ठित करने में वरचाव हुई थी, जबकि उचाई यह है कि खूबसूरत लैण्ड-स्केपों, सपाट भावनाओंवाले नियमी-संयमी भले लोगों के 'हारने-जीतने' पर ही अच्छी कहानियाँ लिखी जायें, ऐसा कठत नहीं है। शक्तिवाली कहानी लिखने का सीधा सम्बन्ध लेखक की अपने विषय से आत्मीयता और लेखकीय-सामर्थ्य से ही है।

और जहाँ तक विषय की आत्मीयता या लेखकीय-सामर्थ्य की बात आती है, आंचलिक जीवन पर लिखनेवाले कम सक्षम (लैसर इविवर्ड) हैं, ऐसा नहीं है। वल्कि उनकी कठिनाई प्रायः उस कोण को न पकड़ पाना रही है जो 'समय की नव्ज' (मूड शॉफ द टाइम) को प्रतिविम्बित कर सके। उन्होंने सामन्तवादी संस्कृति की उन भावुक स्थितियों को ही चुना, या खेत-खलिहान, हल-बैल, गांव-सिवान के लिए मन में उठनेवाले भासूम मोह को ही कहानियों का विषय बनाया था जिन्हें अपने स्तर पर 'शहर के कहानीकार' पहले छोड़ आये थे। हाँ, 'भूदान' (मार्कण्डेय), 'पापजीवी' (शिवप्रसाद सिंह), 'कस्तूरी' (शानी), 'महुआ आम के जंगल' (राजेन्द्र अवस्थी), 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' (कमलेश्वर), 'अच्छे आदमी' (फणीश्वरनाथ रेणु), 'ठिवरी' (मधुकर गंगाधर) के लेखकों की कहानियाँ निस्तर्वेद ह उस नये कोण और स्वर को मुखरित करने का प्रयास करती हैं जो नगर-केन्द्रित सम्भवता का दिशा-स्वर है...

० ०

आज का प्रमुख स्वर अपने समय से यथार्थ, उसके स्वरूप, उसके स्तरों को पहचान लेने में, राष्ट्रीय-ग्रन्तराष्ट्रीय पीठिका में देख लेने में ही नहीं; लेखकीय मानस पर उसकी प्रतिक्रिया में भी है; उसकी प्रकृति को अपने-अपने हंग से समझने में भी है, उसे कहानी की विद्या में अभिव्यक्त करने में भी है, और यह महसूस करने में भी है कि उनके कथ्य की व्यंजना के लिए कहानी ही उपयुक्ततम समर्थ और प्रभाववाली विद्या है।

यथार्थ पहले भी या, लेखक पहले भी उसे देखता और भोगता था; लेकिन उसे समझने के लिए दृष्टि कहीं और से लेना था। उन लेखक की तर्फ और संवेदनशीलता में गमदृढ़ करना चालत है; लेकिन आज एक और तो यथार्थ भी वह नहीं रह गया जो पहले था, दूसरे परिस्थितियों के तीव्र धान-प्रतिघात, तेजी से बदलती विश्व-स्थितियों और जिसी निश्चित हृप ले लेने तक की ननाव-भरी प्रतीक्षा के बाद ही हृताश जड़ता ने आज के लेखक को पहले से अधिक मंवेदनशील और नाथ ही तटस्थ बना दिया है—इतना ही नहीं; सारा यथार्थ लेखकीय मंचेतना बनकर आज जिस तरह स्पन्दित हो उठा है, वैसा शायद ही कभी रहा हो।

लाहौरिय के प्रगतिशील युग में, एक वर्ग को केवल परिवेश दिखायी देता था; उसके लिए व्यक्ति का अस्तित्व-पात्र था, व्यक्तित्व नहीं। उस वर्ग के लेखक जो कुछ लिखते थे, या जिने 'ननाजवादी यथार्थ' कहते थे, वह ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और वास्तु परिस्थितियों का लेखा ही अधिक होता था, एक विशेष दृष्टिकोण से लिया गया चित्र।

एक दुनिया : समानान्तर

उन दिनों कहानी को 'रिपोर्टर्जि' कहना ज्यादा सैद्धान्तिक गम्भीरता देता था। रांगेय राघव, अमृतराय, भगवतशरण उपाव्याय, गिरीश अस्थाना ने जनता के संघर्ष को केन्द्र बनाकर जो रिपोर्टर्जि लिखे थे, वे निश्चय ही हिन्दी-नाद्य की शक्ति के उन्नत प्रकाश-स्तम्भ हैं। लेकिन यह दुखद सत्य उससे कम नहीं होता कि वहाँ व्यक्ति भी परिस्थिति-मात्र हो गया था, भीड़ और जुलूस ही बन गया था। वहाँ व्यक्ति, व्यक्ति नहीं, प्रतिगामी या प्रगतिशील प्रवृत्ति का प्रतिनिधि अधिक था। हर व्यक्ति या स्थिति अपने-अपने वर्ग की प्रवृत्ति थी। अपनी विस्तारगत अन्वितियों के कारण प्रवृत्ति, समग्रता और शक्ति होती है—इतिहास को आगे या पीछे ले जानेवाली धारा होती है—लेकिन उसमें अलग-अलग चेहरा किसी का नहीं दीखता। वहाँ तो कौरव और पाण्डव दो नाम होते हैं; कौरवों में भी द्रोणाचार्य हैं, जयद्रथ हैं और प्रवृत्तियों से जुड़े होने के अलावा उनसे अलग उनके अपने भी संघर्ष हैं—जो उनके व्यक्तित्व की रेखाओं को उजले-काले रंगों में उजागर करके उन्हें अधिक 'मानवीय' रूप देते हैं; इस ओर देखने से वह कथा-कार इन्कार कर देता था। इस 'प्रवृत्तिवाद' की दूसरी खामी यह थी कि लेखक विना वर्तमान को अपनी चेतना का अंग बनाये, भविष्य का कीर्तन करने लगता था। इतिहास-क्रम में उस 'प्रवृत्ति' की धारा को खोजा, और 'इसे मरना है', 'इसे विजयी होना है' की मुहर लगाकर प्रारब्ध की तरह भविष्य में प्रतिष्ठित कर दिया। यह भविष्यातुर दृष्टि, वर्तमान को या तो बहुत सपाट कर देती थी या वर्तमान और भविष्य के तर्क-संगत सम्बन्ध-क्रम को ही नज़रन्दाज़ कर देती थी। यथार्थ का वस्तुवादी चित्रण करते-करते अचानक अगली पंक्ति फलांग कर ही अँधेरी रात बीत जाती थी और आशा का लाल सूरज निकलने लगता था... 'नीजे में वर्तमान और भविष्य के बीच की दूरी बढ़ती गयी, आशा का सेतु समय के थपेड़ों में टूटता गया और एक किनारे को दूसरा किनारा दीखना बन्द हो गया...'

दूसरी ओर के लेखकीय-वर्ग ने बाहरकी इस भीड़, जुलूस, धक्का-मुक्की, प्रवृत्ति-संघर्ष के इस धोर-शराब से धवराकर नाक-भाँ लिकोड़ते हुए सारे खिड़की-दरवाजे बन्द कर लिये थे और अपनी हाथीदाँती मीनारों पर जा चढ़े थे। प्रयत्न करके भूल जाना चाहते थे कि बाहर भी कोई यथार्थ है, बाहर भी कुछ है जो उनका परिवेश बनाता है, चेतना को प्रभावित-निर्मित करता है। भीतर बन्द-ही-बन्द वे यह भी भूल गये कि एक बार बाहर निकल देने तो लें : 'खतरा' अभी भी है या गुजर गया ? 'प्रवाह में मिलकर हम उसे गेंदला ही करेंगे' के 'तर्क' देकर (हृपक तर्क नहीं होते !) ही वे अपने-आप को जस्टीफाई कर लेते थे (मानो उन्हें अपनी नहीं, 'प्रवाह' की ही बेहद चिन्ता है) और अस्तित्व-भीति को साहित्य में 'कोने में घिरे रिस्याते कुत्ते' की चिनियाहृष्ट में व्यक्त करते थे, या काम-प्रेम का अजीव रहस्यवाद बोलते थे... 'उन्हें न भविष्य दीखता था, न वर्तमान। उनके लिए साहित्य अन्तर्वेतना की भूतोन्मुख डायरी का पर्याय ही गया था।

जीवन से अपरिचय की मज़बूरी इन वर्ग के लेखकों की अभिव्यक्ति को कवि-तानों तक ही बढ़े थे, और तरह-तरह के हृपकों से ये अपने अस्तित्व की व्याख्या करते थे... कोई अपने को 'काठ का आदमी' कहता था तो कोई 'नुस-भरा पुतला' महसूस

करता था, किसी को रथ का टूटा पहिया कहकर अपने को महाभारत की गरिमा में रखने का रोमांटिक गीरद प्राप्त होता था तो किसी को अपनी शक्ति द्वावार पर चिपके कागज के पोस्टर-जैसी लगती थी। विना किसी बाहरी, या वास्तविक भीतरी संघर्ष, हृत्कृति में हिन्मा निये अपनी ही घुटन में व्यर्थ और अस्तित्व की अर्थ-हीनता के अहसास के मारे इन कवियों को अन्धे-कुएँ, पीछे छूटी केंचुल, तट पर छोड़े गये धोंधे-सीप, अंजुरी ने नरकनी रेन इत्यादि की उपमाएँ ही सबसे अधिक याद आती थीं। कितनी दिलचस्प वात है कि लेखकों के पहले वर्ग ने अपनी व्यक्तित्व-हीनता से ऊवकर वास्तविक व्यक्तित्व की ओङ्ज में प्रवत्त किये, जबकि वह दूसरा वर्ग व्यक्तित्व (या अस्तित्व ?) की सुरक्षा का नारा लेकर आया और धीरे-धीरे अपना व्यक्तित्व ही खोता गया। लघु-मानव बीना हृति-हीति अन्तर्धान हो गया और रह गया रूप-सम्बन्धी आग्रह, रूपक-नुमा तर्क। आज भी अगर इन विभिन्न कवियों की आठ-दस कविताएँ एक साथ, विना किसी का नाम दिये रख दी जायें, तो वह निश्चयपूर्वक वता पाना मुश्किल हो जायेगा कि किन कविनाओं का कवि कोन है? जबकि इस पीढ़ी के किसी भी प्रमुख कहानीकार का नाम, केवल कहानियाँ पढ़कर प्रबुद्ध पाठक आमानी से वता सकेगा। क्योंकि हममें से हर कहानीकार ने अपने परिवेश को अपनी तरह ग्रहण किया और अभिव्यक्ति दी है।

अजेय इत्यादि की काव्य-परम्परा ने आनेवाले कवियों का आज की कहानी की दिशा में आना किसी व्यार्थ को ग्रहण करके सम्प्रेषित करने के आग्रह के कारण नहीं विनिक अपनी उन्हीं काव्य-स्थितियों के लिए कथा का माव्यम 'आजमाने' की आन्तरिक मजबूरी या पनायनके कारण है। इस व्यर्थ में यहाँ इनका संघर्ष इकहरा और अधिक सरल है। वे भज में व्यक्तिगत और वैयक्तिक अनुभूतियों को कविता की उपमाओं, भाषा की इन्द्र-धनुष प्रेन्द्रजानिकता, या मूड़स के विस्तार, विस्फार में रखकर ही कहानी गढ़ लेते हैं...जैसा जांयन, जैसीनिया बुल्क ने स्ट्रीम ऑफ़ कान्शसेनेस बाली धुएँ और धुन्ध-भरी छिड़-प्रयान धैरी इनके नाम लिया ही था है। साली कुर्मी की आत्मा वने फुरसत से तन्तु-जान फानते रहे और जिन आनंदचकों को रचना-प्रक्रिया समझने का कभी मौका या मानस-स्तर नहीं भिना, वे उनके लिए अन्तिरोंदों से भरा नाहित्य का नया परिप्रेक्ष्य बोलते रहे।

वस्तुतः इनके लिये मंकट या प्रदन निर्क अभिव्यक्ति के हैं।^१

००

जिन तरह आज कथाकार परिवेश-दोब 'प्रगतिशीली' ने लेकर व्यक्तित्व-निर्माण के दोनों स्तरों पर उन अनुभव करना चाहता है, उनी तरह 'अभिव्यक्ति-चिन्तित कथाकारी' ने अभिव्यक्ति का सेवार, व्यंजना-भंगी, प्रभाव, अनुपात, व्यार्थ की वैयक्तिक वेगमा को भी धंशतः नीकार करके उनका मंकटर और उपयोग करता है। जैनेन्द्र और

१. "जीवन ली सारी समस्याएँ मिमटकर कवि ध्रुव्या कलाकार की सजान-प्रिया की ममत्याएँ बन गयीं।"

— ईदारनाय सिह, '६० से याद की हिन्दौ-कविता ('धर्मयुग,' ४ जुलाई, १९६५)

अन्नेय ने जीवन-दृष्टि और प्राण के स्तर पर भले ही कहानी को बहुत कम दिया हो; हृषि और शिल्प के सन्दर्भ में उनकी देन निश्चय ही अस्वीकार्य नहीं है [प्राण के स्तर पर बहुत कम से मेरा आशय केवल इतना ही है कि भविष्य की कहानी उनकी जीवन-दृष्टि और अनुभूतियों को नहीं, अनुभूतियों के वैयक्तिक (सद्वैकित्व) — व्यक्तिगत (पर्सनल) भी नहीं — कोण को ही ग्रहण करेगी।]

यह पूर्वग्रह नहीं, एक सचाई है कि अनुभूति के स्तर पर ये दूसरे वर्ग के कथाकार कुछ दे भी नहीं सकते थे — दे सकते थे, सिर्फ़ शिल्प का मँजाव, अभिव्यक्ति का सँवार।

यहाँ अपनी पहली बात को दुहराकर ही आगे चलना होगा कि जहाँ तक अनुभूतियों का प्रश्न है, एक और विवेक की कमी इस वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग कर देती है। हर व्यक्ति को अपनी अनुभूतियाँ अछूत और नदी लगती हैं — उन्हीं का आन्तरिक दबाव अभिव्यक्ति के लिए कला की कोई विद्या खोजने को प्रेरित करता है। लेकिन जीवन, या अधिक सही कहा जाय तो, परिवेश के सम्पर्क के विना ये अनुभूतियाँ वैयक्तिक, व्यक्तिगत, अकेली, आत्मन्तिक और विलक्षण होती हैं और इस इकलीपेन (यूनीफिकेंट) और ताजा भी मान लेता है। चूंकि कहानी में अनुभूतियों को जीवन-विम्बों में ही पाना होता है, इसलिए समय-समाज-परिवेश से वँधे रहकर ही ये व्यक्ति-अनुभूतियाँ महत्वपूर्ण और ताजा ही सकती हैं। कहानी की वारह-खड़ी ही अधिक ठोस और व्यावहारिक जीवन-विम्बों और स्थिति-वर्णों से बनी है; इसलिए वहाँ सूक्ष्मता, सांकेतिकता और लाक्षणिकता चाहे जितनी आ जाये, 'हवाईपन' नहीं आ पाता; नहीं आना चाहिए। कहानी के चित्र और विम्ब विषय भी होते हैं और अभिव्यक्ति भी। वे अनुभूतियों के उत्स, अनुभूतियाँ-स्वयं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के साधन, प्रभाव, परिणति सभी कुछ एक साथ हैं। यह प्रकृति कविता की प्रकृति से मूलतः भिन्न है।

आज की कविता के एक वर्ग में, काव्य-अनुभूतियों का उत्स, प्रमाण और सन्दर्भ स्वयं कवि होता है, वह उन्हें निरपेक्ष, सम्पूर्ण-सत्य मानकर ही चलता है और उनकी अभिव्यक्ति के लिए 'अप्रस्तुत' विम्बों का सहारा लेता है जो अनुभूतियों में अन्तर्भुक्त (इन्टिग्रल-पार्ट) न होकर आरोपित और बाहर से खोजकर लाये गये होते हैं। अपनी व्यक्तिगत-अनुभूतियों के लिए कवि, व्यक्तिगत तर्क और कल्पना द्वारा कहीं से भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीक लाता है और उनके संघटन से साम्य या दैप्य संकेतित करके प्रभाव को 'अनुमेय' बनाता है। शास्त्रीय भाषा में यह पद्धति अन्योक्ति पद्धति के अधिक निकट है। कवि द्वारा प्रयुक्त किसी भी अनुभूति को, किन्हीं भी प्रतीकों और अप्रस्तुतों के माध्यम से अनुमेय करने का भार चूंकि पाठक पर ही अधिक होता है, इसलिए कवि की समस्या नये अप्रस्तुतों-प्रतीकों की खोज के समय यह भी होती है कि वह उन्हें मुनिदिनति दे, प्रियाङ्क करे। निरन्तर व्यवहार से ही अप्रस्तुतों और प्रतीकों के अर्थ, आण्य और अनुमेय-अनुभूतियाँ प्रियाङ्क हो पाते हैं, इसलिए अभिव्यक्ति की द्वा अस्पष्टता से बनने के लिए या तो कवि, व्यवहृत और पूर्वतः ही मुनिदिनत अर्थ और अनुमेय अनुभूति-

बाले प्रतीक और अप्रस्तुत चुनता है, या सर्वथा नवीन अप्रस्तुतों-प्रतीकों की खोज करके निरन्तर व्यवहार से उन्हें सुनिश्चित अर्थ देता है यानी मिथक बनाता है।

व्यक्तिगत और महत्त्वपूर्ण अनुभूतियों के चुनाव के प्रश्न की ओर चूँकि यह कवि विशेष व्यान नहीं देता, इसलिए मूलतः उसकी समस्या अभिव्यक्ति के इसी संकट को रह जाती है। व्यक्तिगत में भी आज काव्योचित और अ-काव्योचित अनुभूति की सीमा-झड़ि नहीं रह गयी है, परिणामतः अभिव्यक्ति-क्षेत्र में शब्दों-प्रतीकों-अप्रस्तुतों की अनिश्चितता-अस्पष्टता तथा उन्हें प्रिसाइज करने का संघर्ष साथ-साथ ही दिखायी देता है। कवि का कार्य, नये प्रतीक खोजने, रंगों की नयी संगतियाँ पाने और उन्हें नये अर्थ देने जैसा है। लेकिन बार-बार नये रंग, छाया-प्रकाश, प्रतीकों का प्रयोग करके प्रतिभासाली चित्रकार अपने लिए भले ही उनके अर्थ सुनिश्चित कर ले; औरों के लिए शीघ्र ही ही हृदियाँ छोड़ जाता है। शायद यही कारण है कि ये दोनों कलाएँ या तो शीघ्र ही इतनी अधिक हृदियादी हो जाती हैं कि एक कलाकार दूसरे को प्रतिलिपि लगता है या इतनी प्रयोगवादी कि इनका आशय किसी अगले कवि की तुलना में ही खुल पाता है, स्वयं स्पष्ट नहीं होता; या कवि को यह कार्य करना पड़ता है स्वयं। अगर उसकी प्रयोगशीलता का अर्थ अभिव्यक्ति की अकुलाहट-भरी अस्पष्टता; और कथ्य सुनिश्चिति न होने की कैर्याटिक (घटाटोप) स्थिति है, तो परम्परावादिता बहुत अधिक सुनिश्चित अभिव्यक्ति—अप्रस्तुत-प्रतीकों—के दुहराने का ही दूसरा नाम।

कविता प्रकृत्या आत्म-सम्बोधन है! अपने आप तथा अभिव्यक्ति के माध्यम के अतिरिक्त, इस स्थिति में, कवि या तो पाठक जैसी तीसरी सत्ता के अस्तित्व से ही अनेक शब्दों में इन्कार करता रहा है, या यह सत्ता, पुराने काव्य-संस्कारों से छूटने और नये काव्य-संस्कार ग्रहण करने की वीच ही भटकती और हर समय एक तीव्र आत्म-विद्याम-हीनता से ग्रन्थित रही है। अपेक्षित ग्रहणशीलता-हीन होने, या अपने अस्तित्व-हीन होने का बोध पाठक को कवि की रचना-प्रक्रिया में प्रवेश नहीं पाने देता, कहीं रचना का हिस्सेदार नहीं रहने देता और वह हमेशा अपने को बाहरी या फ़ालतू—विना-टिकट-नमाया देखनेवाले की आशंका से धिरे पाता है। वीच-वीच में ‘प्रतिभासानी’ कवियों द्वारा अपने हीन-न्नरीय होने पर गानियाँ सुनकर अपने को और भी बेचारा महसूस करता है... कभी कोई बात पल्ले पड़ जाती है तो अपने को आवश्यकता से अधिन नन्तुपृष्ठ-यात्रावित अनुभव करके ‘प्रतिभा की महानता’ से आतंकित ही लेता है; जो कुछ हाथ आता है उसे ही अतिरिक्त गद्गद गहराई से समझने की कोशिश करना है। इधर इस तीसरे व्यक्ति—यानी पाठक के न होने की स्थिति को कवि चिन्ता या दुःख का विषय नहीं मानता। वह उसके होने या जह-भोक्ता हो पाने को कला की अनियायता भी नहीं स्वीकारता। मैं यही उसकी प्रतिभा या कला-दक्षता में सन्देह न करके एक नचार्द की ओर ध्यान लेंचुंगा: अनुभूति के स्तर पर व्यक्तिगत ही रह जाता है और ‘कालोहृं यनिरवधि विपुला च पृथिवी...’ की उन्ना में सन्तोष खोजता है।

इन कवि का यहानी की ओर आना अपनी कला की इन सीमितता और अक्षमता

के तीव्र अनुभव का ही परिणाम होता है। वात कहीं न हो तो कहना चाहूँगा : कवि, पलायन की स्थिति में ही कहानी की और आता है, अपेक्षाकृत अधिक समर्थ और पूर्ण माध्यम और युग के यथार्थ की अभिव्यक्ति की खोज उसे कहानी की ओर आने को मजबूर करती है।^१ लेकिन यह पलातक अपने साथ, व्यक्तिगत अनुभूतियों, धुंधली-सी रुमानी मनःस्थितियों और आरोपित प्रतीकों की इन्द्र-घनुपी भाषा लाना नहीं भूलता। आदत से मजबूर, यहाँ आकर वह, (कविता के सारे अनुशासन भूलकर) कहानी में ही खुलकर कविता करने लगता है। परिणामतः कहानी की प्रकृति में आन्तरिक परिवर्तन या मीलिक प्रयोग की अपेक्षा वह गतिहीन अनुभूति के अभिव्यक्ति-संकट का वही घटाटोप कुछ समय तक बनाये रखने में सफल हो जाता है और सारी कथा-चेतना को विषयान्तरित करने की चेष्टा करता है।^२ कथाकार-वेशी इन कवियों के जादू में कहानी भटक जाएँगी।

१. यदि नये कवि को केन्द्रीय मनोदिशा की व्याख्या की जाय तो वह एलियट-पाउण्ड आदि कवियों की अपेक्षा, काष्ठका, वैख्त आदि गद्य-लेखकों के 'मूड' के अधिक निकट पाया जायेगा। यहीं कारण है कि उसकी कविता आधुनिक उपन्यास की ऋतेक विशेषताओं को अपने भीतर समोती चली जा रही है... 'शायद आज के तनावपूर्ण नागरिक जीवन को उसकी निकटतम भाषा में व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक या कि कविता को आधुनिक उपन्यास की अपेक्षाकृत ठोस भूमि पर उतारा जाय और यदि नया कवि अपने युग के काव्यादर्शों से हटकर काष्ठका और वैख्त की गद्यात्मक मनोभूमि के निकट पहुँचने का प्रयास कर रहा है तो इसे कविता का अन्यथा फरण नहीं, बल्कि उसके काव्यात्मक विकास की स्वाभाविक दिशा ही मानना चाहिए। रघुवीरसहाय, श्रीकान्त वर्मा और कुछ दूसरे नदे कवियों की कविताओं को पढ़कर हम अपने को जिस परिवेश के बीच पाते हैं, उसकी ऐतिहासिक जटिलता और वस्तुगत रहस्यमयता का निकट सम्बन्ध यदि किसी के साथ जोड़ा जा सकता है तो वह अज्ञेय और शमशेर की कविताओं के साथ नहीं, बल्कि 'लन्दन की एक रात' (निमंत वर्मा) और 'हत्यारे' (अमरकान्त) जैसी कथा-कृतियों के साथ होगा।

सन् '६० के बाद की हिन्दी-कविता : केदारनाथ सिंह
'धर्मयुग', ४ जुलाई, '६५

२. अज्ञेय, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त, सर्वेश्वर की कुछ अपवाद-स्वरूप सशक्त कहानियाँ एक और रोचक अध्ययन प्रस्तुत करती हैं कि किस तरह किसी विधा की परम्परा, और विषय की माँग कभी-कभी रचनाकार की सारी सजगता और सेन्सर के दाढ़-जूद अपने को स्वापित करती है और जयशंकर प्रसाद जैसा व्यक्ति अपने सारे संस्कार दोड़कर 'गुण्डा' जैसी कहानियाँ लिखता है। विधा अपने लाष्टा-द्वितीय के दाढ़जूद अपने को 'एसटं' करती है इसका दूसरा उदाहरण शमशेर है। उनकी उदौ और हिन्दी कविताएँ दो अलग अनुशासन और विधा-संस्कार तानने रहती हैं जो एक-दूसरे पर दूकर भले ही निकल जायें; लेकिन हैं अपनी-अपनी परम्परा-

जाती है; लेकिन कुछ समय बाद ही उसे अपनी उन मूल समस्याओं से जूझना पड़ता है, जिन्हें वह बिना सुनभाये छोड़ आयी थी। हो सकता है, कवियों को भी अपने असली मोर्चे पर उसी प्रकार लौटना पड़ता हो। हाँ, कहानी में उनका अवदान, खूबसूरत अप्रासंगिक प्राकृतिक दृश्यों, घटनात्मक भावुक ट्रैजेडियों, भाषा की पच्चीकारी या व्यक्तिगत मूडों के धूंधले चिन्तन अथवा चिवाण तक ही रह जाता है, क्योंकि उनके प्रयत्न प्रायः प्रमुखतः भाषा-गित्य-सम्बन्धी ही होते हैं। “प्रबुद्ध साहित्यकार ने कहानी की दिशा में भी प्रयोग किये हैं” के अतिरिक्त मैं नहीं समझता कि अज्ञेय की अधिकांश कहानियाँ विश्व-कथा-गात्रित्य की द्वितीय-स्तरी कहानियों के साथ भी रखी जा सकती हैं, जबकि अपनी सारी हप-सम्बन्धी परम्परावादिता और प्रयोगहीनता के बावजूद यशपाल को कहीं यह सन्तोष मिल नकता है, मिलना चाहिए।

एक युग-विदेश की संवेदना कभी कविता के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त होती है, कभी कहानी के ने—प्रदृश संवेदना का है—यह दलील मुझे कई कारणों से संगत नहीं लगती। साहित्य के इतिहास में कवि ही कहानी या नाटकों की तरफ क्यों आये हैं—संवेदना की किसी भी स्थिति में कथाकार ने कविता की ओर मुड़ना क्यों आवश्यक नहीं समझा?

○ ○

कहानी और कविता की मूल प्रवृत्ति में ही अन्तर है। जो मनःस्थिति सम्पूर्ण कविता के लिए पर्याप्त है, वह अधिक-भे-अधिक कहानी के पूरे क्रेम में एक स्थिति-भर हो नकती है, या विवरण का एक डिटेल। इस मौलिक भेद को न समझकर कहानी को भी जब अभिव्यक्ति के संकट और प्रयत्न की विधा के हप में देखा जाता है तो वही कवि मनोवृत्ति प्रकट होती है जो अनुभूति को नम्पूर्ण, स्वयं सत्य, स्थिर मांगती है और अभिव्यक्ति के विभिन्न उपादान चाहती है।

अनुभूति के साथ उनका परिवेश और अभिव्यक्ति के साथ उसका पाठ्यका—कहानी-कला के तीन ग्राम हैं, क्योंकि वह आत्म-सम्बोधन नहीं, दूसरे के लिए सम्बोधन है। अनः भगवा वहाँ इस तरह नहीं होता कि अनुभूति को किन अप्रस्तुतों-प्रतीकों या भाषा-चित्रों ने अभिव्यक्ति किया जाये कि बाहर खड़ा एक ‘फालतू’ आदमी उसका अनुमान पारके रत ले-ले; बल्कि समस्या वहाँ यह होनी है कि अनुभूति और परिवेश दोनों को किन गार्थक चुने हुए विष्वासों, घटनाओं और स्थितियों द्वारा जीवित मुहावरे में अनुवादित-

में ही। हिन्दी कहानी को स्वस्य धारा ने कवि कथाकरों को अनेक बार अपने से अलग हटने को मजबूर किया है।—लेखक।

१. “धन ऐरर, इन फँफट, आँफ ऐपसेण्ट्सिटी इन पोट्टोइक्स दु सौफ़ फँॉर न्यू ह्यूमन इमोशन्स दु ऐप्सप्रेस, एण्ड इन दिस सच्च फँॉर नॉवेल्टी इन द रोंग प्लैस इट इस्पद्वर्स द परवर्स। द विजनेस आँफ द पोइट इज नॉट दु फ़ाइण्ड न्यू इमोशन्स, वट दु सूर द आर्डनरी-वन्स एण्ड, इन वकिंग दैम अप इन दु पोइट्री, दु ऐप्सप्रेस फ़ोल्टिंग ह्यूच प्रार नॉट इन ऐप्सप्रेस इमोशन्स ऐट-प्रॉल।”

—टी० एस० एलियट—‘दु डीशन एण्ड द इण्टविजुअल टैलेट’

सम्प्रेषित कर दिया जाये कि पाठक की चेतना का ही अंश वन सके, तादात्म्य या साधारणीकरण पा सके, और पाठक उत्त अनुभूति का हिस्सेदार होकर उसे अपनी संवेदना का ही एक अंग बना ले—उस जीवन को पुनः राग-बोध के स्तर पर जी ले। वह अधिक मर्त (कॉन्क्रीट) विधा है, और वहाँ अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने की प्रवृत्ति है। कविता की प्रकृति शायद उल्टी है।

कहानी के दोनों ओर समाज होता है। हर बात उसे चुने हुए ठोस, नाटकीय और प्रतिनिधि चित्रों में देखनी और उत्तने ही ठोस गतिशील चित्रों में सम्प्रेषित करनी होती है... इन चित्रों में रूप-रस-गन्ध सभी होते हैं और वे पाठक की इन्हीं संवेदनाओं से छनकर उसकी चेतना तक पहुँचते हैं। परिणामतः कहानी अधिक दूर और देर तक पाठक को अभिभूत रख सकती है। अभिव्यक्ति की चुनीती को वहाँ 'कहीं और से' प्रतीक, विम्ब छत्यादि लाकर हूल नहीं किया जा सकता। वह अन्योक्ति की अपेक्षा समाजोक्ति होने को अधिक वाध्य है, जिसमें विषय या कथ्य स्वयं ही अप्रस्तुत या प्रतीकार्थ भी ध्वनित कर सके। इसलिए उनकी अस्पष्टता या अनिश्चित अर्थ-सन्दर्भ की समस्या भी वह नहीं है जो कविता में है। कवि जब एक विम्ब या प्रतीक का दुवारा प्रयोग करता है तो वह उसका अर्थ निश्चित करता है—कहानीकार जब ऐसा करता है तो अपने विषय को दुहराता है। कवि दूसरों के प्रतीक, विम्बों का उपयोग करके भी अपनी र्मालिकता बनाये रख सकता है—कहानीकार जब ऐसा करता है तो प्रायः नकल करता है।

मैं समझता हूँ कि कहानी के सिलसिले में भी जब शैली और भाषा के स्तर पर विम्ब-प्रतीक, सांकेतिकता, संगीतात्मकता की बात की जाती है तो कहानी की इस प्रछति को न समझने का दुराग्रह ही होता है। वस्तुनः कविता के ये गुण, कहानी के अपने विशिष्ट रस-बोध के विषयान्तर हैं। आलंकारिक संगीतात्मक ध्वनियाँ, विम्ब-प्रतीकों की बीच-बीच में भाषागत आवृत्ति, उसी प्रकार कथा के रस-बोध में वाधक और विषयान्तर हो जाती हैं जैसे कहानी के बीच-बीच में तस्वीरीरें; गम्भीर नेत्रों में उद्धरण; पत्रिका के रनिंग-मैटर में वॉक्स देकर चुटकुले, नूकियाँ या आप्त-वाक्य... ये प्रमाणान्तर अपने-ग्राममें चाहे जितने सुन्दर, सार्थक और शक्तिशाली हों—मगर कथ्य की आन्तरिक मांग या स्वाभाविक प्रसंग-निसृत अन्वितियाँ न होकर आरोपित होते हैं, इसलिए रसास्वादन में कड़वी या मीठी भुजलाहट बनकर ही आते हैं। पाठक कहानी की एक विशेष स्थिति या भाव-प्रवाह के नाम तादात्म्य किये हैं कि अचानक भाषा का खूबसूरत या भीड़ा आरोपित सौन्दर्य, उसका व्यान वहाँ से तोड़कर अपनी ओर खांच लेता है और जारा सम्मोहन झटके-से टूट जाता है। 'नदी के द्वीप' में इस स्थिति का सामना पाठक को दर्जनों बार करना पड़ता है। कथा-विकास की तुष्म-जटिल स्थितियों की चुनीती से कतराकर, दूसरों की अभिव्यक्तियों को वहाँ भर देना, लेखकीय संघर्ष को गरन भले ही कर देता है; पाठक के रसास्वादन में बहुत बड़ी वाधा ने आता है। यदि उन बोंगला या अंग्रेजी पंक्तियों के किसी पाठक के अपने स्वतन्त्र आमंग (एनोनिएग्स) हैं तो ये उनके पक्के ही अपने-ग्राम उभरने लगते हैं और पाठक रेता-मुर्म की भूकंकर उनमें नो जाता है, फिर भटके-दो जागकर रेता-भुकंकर के नाम आ जाता है। इसी

प्रकार कभी-कभी कुछ शब्दों का प्रयोग भी पाठक को कथा से छिटका देता है। मुझे ठीक याद नहीं : 'नदी के द्वीप' में ही कहीं अज्ञेय ने प्रकृति-वर्णन में लिखा है : "पश्चिमी आकाश में मन्ध्या ने लालिमा ओप दी, या चाँदनी ओप दी।" इस सन्दर्भ में 'ओपना' शब्द इतना मौजूँ है कि तबीयत 'फड़क' उठती है, लेकिन साथ ही मुझे अज्ञेय की कविता की पंक्ति याद आती है : "ओप देगा व्योम श्लथ कुहासे का जाल," एक और पंक्ति है : "ओप देगी भाल तेरा……" इसके साथ ही वचन में पढ़ा विहारी का दोहा : "आतन ओप उजास" और उस पंक्ति के साथ ही तब की अनेक स्मृतियाँ, अनेक दोहे, देव-मतिराम के कवित्त……में समझता हूँ कि चाहे अज्ञेय की भाषा-सम्बन्धी नक्काशी हो या निर्मल वर्मा की तैरते विम्बों की लहियाँ—ये कथा-प्रवाह के अपने विशिष्ट रस-बोव में बाबक ही हैं, जबकि रेणु के अन्नि-चित्र, कथ्य-विम्बों को और भी सजीब नाटकीयता देते हैं।

जिस तरह कविता से, स्वर-संगीत हटाकर अर्थ की लय; संगीत से, शब्द का हटाकर नाद का शब्द, स्वर-लय; चित्रकला से, रेखाएँ और रूपाकार हटाकर भाव नेत्र बनाता—इन कलाओं की मूल-प्रवृत्ति के अन्वेषण की दिशा में, स्थूल से सूक्ष्म और जाकर इनकी आत्मा और तात्त्विक अस्तित्व को पाना होता है, उसी तरह उनी में भी भाषा के चित्रों (फिगर और स्पीच) को हटाकर, चित्रों की भाषा च और फिगर) को खोजना-निधारना, युद्ध कहानी की अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल। उनमें भाषा के चित्र जितना ही कम-से-कम व्यान बैठाएँ, उतनी ही यह चित्रों भाषा अधिक नजीब-अविकृत होगी और 'कहानी' तथा पाठक के दीच भाषा उसी पर एक अस्तित्वहीन, नेत्रिन अनिवार्य माध्यम होकर आयेगी जैसे दृश्य और दृष्टि दोनों नहीं नम्मदर का कांच……

'युद्ध कहानी' की खोज में हिन्दी में, प्रेमचन्द ने भी अधिक में जैनेन्ड्र, अमरकान्त और रामगुमार, विनी हृद तक अद्वक-यथापाल को (अंग्रेजी में हैमिंग्वे को) देखता हूँ। न्होंने अभिव्यक्ति के न्वर पर हर प्रमाणन्वर को अस्तीकारने की कोशिश की है। डिप्रनाद 'हृदयेण', प्रभाद, अनेय, निर्मल वर्मा और प्रारम्भिक कमलेश्वर-रमेश वक्षी का भाषा-विषयक अनिविक्त नेतना, स्मानी और मधुर वातावरण चाहे जितना पैदा नह दे, नेतिन कहानी की प्रकृति और न्मवोध के लिए उतनी ही अमुविधाजनक है जितनी अंहरुर वाट्लड की स्मार्ट-चुम्प-डुर्ल-वाक्यों-भरी भाषा। यही कठिनाई भाषा के भूत्यधिक आनन्दिक प्रयोगों को नेकर आती है।

नेतिन कथा की आन्यन्तरिक सीधा को पहचानकर जैनेन्ड्र, अमरकान्त और

१. नव्यजित रे ने अपने एक लेख में 'फोटोग्राफ' और फ़िल्म के सूक्ष्म अन्तर को रेतांकित करके बताया है कि 'फोटोग्राफ' में कलाकार दृश्य की सार्थक सम्पूर्णता को देखता है; फ़िल्म में सार्थक गतिरीतता को। फ़िल्म 'स्टिल्स' का संकलन नहीं, एक स्वतन्त्र कला है और 'शुद्ध फोटोग्राफर' को दृष्टि उसकी मूल-प्रकृति को गष्ट ही करती है।

रघुवीरसहाय की तरह व्यंजना को पारदर्शी बनाना लेखकीय संवेदना की तीव्रता और घनत्व से प्रेरित प्रयत्न है, और सपाट-अत्यर्थ भाषा लिंगकर उसकी 'अनगड़ता' और 'कच्चाई' को सादगी कहना चालाकी है। देखता यह है कि वया भाषा की प्रवृत्ति और विष्व, कथ्य की आन्तरिक माँग के साथ सामंजस्य पाते हैं—उसके प्रभाव में सहायक है? 'वादलों के घेरे' की सारी व्यंजना-शैली कथा के अपने आन्तरिक मूड के अनुभूप ही है—हालांकि उसकी सायास कवित्वमयता में अन्नेय की भाषावाला दोष भी वारचार उभर आता है। मैं समझता हूँ अन्नेय ने भी कहानी की मूल-प्रकृति और भाषा के सम्बन्ध को 'प्रपने-प्रने अनन्दी' में अधिक गहराई से महसूस किया है।

जीवन्त चित्र नहीं, बल्कि उनके प्रभाव को स्वर्थ निचोड़कर, चित्रात्मक भाषा द्वारा उस प्रभाव की पुनर्जैष्टि का कविसूलभ प्रयत्न करना निर्मल और रमेश वधी की अपनी धारणा ही सकती है, लेकिन काव्य-कुण्ठ की चक्कीदार भाषा को प्रभाव-सृष्टि का प्रयोग मानना लक्ष्मीनारायण लाल और शिवप्रसाद सिंह की असमर्थता ही लगती है। ताजे आम के रस की अपनी एक अलग सौंधी महक है; लेकिन उसके 'प्रभाव' को और बढ़ाने के लिए उसमें आम के रस का ऐसेन्स और ऊपर ने डाल देना उलटा प्रभाव पैदा कर सकता है। हो सकता है आम के अपने सौंधेष्ट के साथ इन वने-वनाये एनम्स की मूलभूत गन्ध का भेज ही न हो... उन कहानियों का तो कहना ही यथा, जिनमें आम के रस में खस का ऐसेन्स डालकर 'प्रभाव-सृष्टि' की जाती है... विषय की प्रकृति और माँग कुछ और है, और भाषा कोई और ही प्रभाव पैदा कर रही है।

० ०

वस्तुतः कहानी में प्रतीक, विष्व इत्यादि भाषा और शब्दों के स्तर पर नहीं; विषय-वोध और उसे ध्वनित कर सकनेवाले काव्यशिल्प के धरातल पर आते हैं। कहानी की सांकेतिकता शब्दों, या ध्वनि, लहजे की सांकेतिकता नहीं; विषय के प्रस्तुतीकरण, संघटन, कोण, निर्वाह और सब मिलाकर प्रभाव की नांकेतिकता होती है। उसमें वातावरण का संगीत नहीं, प्रभाव का संगीत होता है।

विषय-वोध से भी पहले कथाकार की समस्या अपने अस्तित्व-वोध की है, उसके प्रति उसके एप्लोच की है—जीवन और परिवेश के प्रति उसकी धारणा और दृष्टिकोण की है। कहानी तो उस सबका परिणाम और प्रतिक्रिया ही हो सकती है। इननिए अनुभव-स्रोत, ऐन्ड्रिय-वोध, अनुभूति और उसके सम्प्रेषण ने लेकर प्रभाव तक, वह पूरा एक वृत्त बनाती है—एक ऐसी संश्लिष्ट इकाई के रूप में, जिसे कहीं ने भी नोटा नहीं जा सकता। चरित्र-निप्रण, देश-काल, पात्र, कथानक या शैली के नतहीं रूपगत आधार पर तो उसे नमझ पाने गा कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

चूंकि कहानी से भी अधिक प्रयत्न जीवन को समझने, नमाहृत करने का है, इनलिए इस प्रयत्न में हर कहानीकार की अपनी धारणाएँ, अनुभव और दृष्टिकोण ही और हर सबको पेरे हैं। उनका बदलता संकार। हर कहानीकार का हृदय ने अपना अपना नरीका है, द्वारा व्यक्तित्व है। उस अनिवार्यतः नामाजिक विद्या के भाव्यमें उन स्वर्यं अपने विषय को देखना, चुनना और पकाकर पाठ्यक तक पहुँचाकर उसमें

प्रकार कभी-कभी कुछ शब्दों का प्रयोग भी पाठक को कथा से छिटका देता है। मुझे ठीक याद नहीं : 'नदी के द्वीप' में ही कहीं अज्ञेय ने प्रकृति-वर्णन में लिखा है : "पश्चिमी आकाश में मन्त्या ने लालिमा ओप दी, या चाँदनी ओप दी।" इस सन्दर्भ में 'ओपना' शब्द इतना मीजूँ है कि तबीयत 'फड़क' उठती है, लेकिन साथ ही मुझे अज्ञेय की कविता की पंक्ति याद आती है : "ओप देगा व्योम इलथ कुहसे का जाल," और और पंक्ति है : "ओप देगी भाल तेरा..." इसके साथ ही वचपन में पढ़ा विहारी का दोहा : "आनन ओप उजास" और उस पंक्ति के साथ ही तब की अनेक स्मृतियाँ, अनेक दोहे, देव-मतिराम के कवित्त...में समझता हूँ कि चाहे अज्ञेय की भाषा-सम्बन्धी नक्काशी हो या नियंत्र वर्मा की तरते विम्बों की लड़ियाँ—ये कथा-प्रवाह के अपने दिशिष्ट रस-बोध में बाधक ही हैं, जबकि रेणु के व्यनि-चित्र, कथ्य-विम्बों को और भी सजीब नाटकीयता देते हैं।

जिस तरह कविता से, स्वर-संगीत हटाकर अर्थ की लय; संगीत से, शब्द का अर्थ हटाकर नाद का शब्द, स्वर-लय; चित्रकला से, रेखाएँ और रूपाकार हटाकर भाव के नियंत्र बनाना—इन कलाओं की मूल-प्रवृत्ति के अन्वेषण की दिशा में, स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाकर इनकी आत्मा और तात्त्विक अस्तित्व को पाना होता है, उसी तरह कहानी में भी भाषा के चित्रों (फिगर ऑफ़ स्पीच) को हटाकर, चित्रों की भाषा स्पीच (फिगर) को खोजना-नियारना, शुद्ध कहानी की अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल है।^१ उनमें भाषा के चित्र जितना ही कम-से-कम व्यान बैंटाएँ, उतनी ही यह चित्रों की भाषा अधिक सजीव-अविहृत होगी और 'कहानी' तथा पाठक के बीच भाषा उसी प्रकार एक अस्तित्वहीन, नेकिन अनिवार्य माध्यम होकर आयेगी जैसे दृश्य और दृष्टि के बीच नहीं नम्बर का कांच...

'शुद्ध कहानी' की नीज में हिन्दी में, प्रेमचन्द ने भी अधिक मैं जैनेन्द्र, अमरकान्त और रामकुमार, जिन्हीं हृद नक अद्वयवाल को (अंग्रेजी में हैमिंगवे को) देखता हूँ जिन्होंने अभियासित के मन घर हर प्रमगान्तर को अस्वीकारने की कोशिश की है। नंदीग्रनाद 'हृदयेय', प्रनाद, अज्ञेय, नियंत्र वर्मा और प्रारम्भक कमलेश्वर-रमेश वक्षी की भाषा-विद्यक अनिरिक्त जेतना, वर्मानी और मधुर वातावरण चाहे जितना पैदा कर दे, नेकिन कहानी की प्रकृति और रमबोध के लिए उतनी ही असुविधाजनक है जितनी अस्तर वाल्ल यी न्याई-जून-दुर्घट-वाक्यों-भरी भाषा। यही कठिनाई भाषा के अत्यधिक अनंत्रिक प्रयोगों को लेकर आती है।

नेकिन कथा की आन्वलिक माँग को पहचानकर जैनेन्द्र, अमरकान्त और

१. मत्यजित रे ने घण्टे एक नेत्र में 'फोटोग्राफ़' और फ़िल्म के सूक्ष्म अन्तर को रेखांशित करके बताया है कि 'फोटोग्राफ़' में कलाकार दृश्य की सार्थक सम्पूर्णता लो देता है; फ़िल्म में सार्थक गतिशीलता को। फ़िल्म 'स्टिल्स' का संकलन नहीं, एक स्वतन्त्र कला है, और 'शुद्ध फ़ोटोग्राफ़' की दृष्टि उसकी मूल-प्रवृत्ति के नट ही करती है।

रघुवीरसहाय की तरह व्यंजना को पारदर्शी बनाना नेष्टकीय संबंदना की तीव्रता और घनत्व से प्रेरित प्रयत्न है और सपाट-असमर्थ भाषा लिखकर उसकी 'अनगढ़ता' और 'कच्चाई' को सादगी कहना चालाकी है। देखता यह है कि वर्ग भाषा की प्रकृति और विष्ट्र, कथ्य की आन्तरिक मांग के साथ सामंजस्य पाते हैं—उसके प्रभाव में सहायक हैं? 'वादलों के घेरे' की सारी व्यंजना-शैली कथा के अपने आन्तरिक मूड के अनुसूच ही है—हालांकि उसकी सायास कवित्वमयता में अज्ञेय की भाषावाला दोष भी वार-चार उभर आता है। मैं समझता हूँ अज्ञेय ने भी कहानी की मूल-प्रकृति और भाषा के सम्बन्ध को 'प्रपने-प्रपने त्रजनवी' में अधिक गहराई से महसूस किया है।

जीवन्त चित्र नहीं, वटिक उनके प्रभाव को स्वयं निचोड़कर, चित्रात्मक भाषा इस प्रभाव की पुनर्सृष्टि का कवि-सुलभ प्रयत्न करना निर्मल और रमेश वक्षी की अपनी धारणा हो सकती है, लेकिन काव्य-कुष्ठ की चकत्तीदार भाषा को प्रभाव-सृष्टि का प्रयोग मानना लक्ष्मीनारायण लाल और शिवप्रसाद सिंह की असमर्थता ही लगती है। ताजे आम के रस की अपनी एक अलग सीधी महक है; लेकिन उसके 'प्रभाव' को और वड़ाने के लिए उसमें आम के रस का ऐसेन्स और ऊपर ने डाल देना उलटा प्रभाव पैदा कर सकता है। हो नकता है आम के अपने सीधेपन के साथ इस बने-बनाये एनेन्स की मूलभूत गत्य का भेज ही न हो... उन कहानियों का तो कहना ही कथा, जिनमें आम के रस में तस का ऐसेन्स डालकर 'प्रभाव-सृष्टि' की जाती है... विषय की प्रकृति और मांग कुछ और है, और भाषा कोई और ही प्रभाव पैदा कर रही है।

० ०

वस्तुतः कहानी में प्रतीक, विष्ट्र इत्यादि भाषा और शब्दों के स्तर पर नहीं; विषय-व्योध और उसे व्यनित कर सकनेवाले कव्यशिल्प के धरातल पर आते हैं। कहानी की सांकेतिकता शब्दों, या व्यनि, लहजे की सांकेतिकता नहीं; विषय के प्रस्तुतीकरण, संघटन, कोण, निर्वाह और सब मिलाकर प्रभाव की सांकेतिकता होनी है। उनमें वाता-वरण का संगीत नहीं, प्रभाव का संगीत होता है।

विषय-व्योध से भी पहले कथाकार की समस्या अपने अन्तित्व-व्योध की है, उसके प्रति उनके एशोच की है—जीवन और परिवेश के प्रति उनकी धारणा और दृष्टिकोण की है। कहानी तो उस नवका परिणाम और प्रतिक्रिया ही हो सकती है। इननिए अनुभव-त्रोत, ऐन्ड्रिय-व्योध, अनुभूति और उनके सम्प्रेषण ने नेकर प्रभाव नक, वह पूरा एक वृत्त बनानी है—एक ऐसी संश्लिष्ट इकाई के रूप में, जिसे कहीं ने भी नोड़ा नहीं जा सकता। चरित्र-निवण, देश-काल, पात्र, कथानक या दीनी के सतही व्यगत आवान पर तो उन नमझ पाने का कोई प्रदर्श ही नहीं उठना।

चूंकि कहानी से भी अधिक प्रयत्न जीवन को नमझने, नमाहृत करने का है, इनलिए इस प्रयत्न में हर कहानीकार की अपनी धारणाएँ, अनुभव और दृष्टिकोण ही और इन नवकोणों से ही उनका बदलना संभव है। हर कहानीकार का इनमें ने प्रबन्ध अपना तरीका है, अपना व्यस्तित्व है। उस अनिवार्यतःभासाजिक विधा के नामने ने वरों स्वयं अपने विषय को देखना, चुनना और पकाकर पाठक तक पहुँचाना उनमें

प्रकार कभी-कभी कुछ शब्दों का प्रयोग भी पाठक को कथा से छिटका देता है। मुझे ठीक याद नहीं : 'नदी के द्वीप' में ही कहीं अज्ञेय ने प्रकृति-वर्णन में लिखा है : "पश्चिमी आकाश में मन्धा ने लालिमा ओप दी, या चाँदनी ओप दी।" इस सन्दर्भ में 'ओपना' शब्द इतना मौजूद है कि तवीयत 'फड़क' उठती है, लेकिन साथ ही मुझे अज्ञेय की कविता की पंक्ति याद आती है : "ओप देगा व्योम श्लथ कुहासे का जाल," एक और पंक्ति है : "ओप देगी भाल तेरा……" इसके साथ ही वचपन में पढ़ा विहारी का दोहा : "शानन ओप उजास" और उस पंक्ति के साथ ही तब की अनेक स्मृतियाँ, अनेक दोहे, द्वेष-मतिराम के कवित्त……में समझता हूँ कि चाहे अज्ञेय की भाषा-सम्बन्धी नक्काशी ही या निमंल वर्मा की तरते विम्बों की लड़ियाँ—ये कथा-प्रवाह के अपने विशिष्ट रस-बोध में वाधक ही हैं, जबकि रेणु के व्यनि-चित्र, कथ्य-विम्बों को और भी सजीब नाटकीयता देते हैं।

जिस तरह कविता से, स्वर-संगीत हटाकर श्र्यं की लय; संगीत से, शब्द का अर्थ हटाकर नाद का शब्द, स्वर-स्वय; चित्रकला से, रेखाएँ और रूपाकार हटाकर भाव के निय बताना—इन कलाओं की मूल-प्रवृत्ति के अन्वेषण की दिशा में, स्थूल से सूक्ष्म की और जाकर इनकी आत्मा और तात्त्विक अस्तित्व को पाना होता है, उसी तरह कहानी में भी भाषा के चित्रों (फिगर आँफ स्पीच) को हटाकर, चित्रों की भाषा स्पीच आँफ फिगर) को योजना-निधारना, युद्ध कहानी की अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल है।^१ उसमें भाषा के निय जितना ही कम-से-कम व्यान बैटाएँ, उतनी ही यह चित्रों की भाषा अधिक सजीव-अविहृत द्वारा और 'कहानी' तथा पाठक के बीच भाषा उसी प्रकार एक अस्तित्वहीन, लेकिन अनिवार्य माध्यम होकर आयेगी जैसे दृश्य और दृष्टि के बीच नहीं नम्बर का कांच……

'युद्ध कहानी' की खोज में हिन्दी में, प्रेमचन्द ने भी अधिक में जैनेन्द्र, अमरकान्त और रामानुजार, किनी हृद तक अटक-यथापाल को (अंग्रेजी में हैमिंगवे को) देखता हूँ जिन्होंने अभिव्यक्ति के न्यून पर हर प्रमगान्तर को अस्वीकारने की कोशिश की है। नंदीप्रमाद 'हृदयेन', प्रमाद, अज्ञेय, निमंल वर्मा और प्रारम्भिक कमलेश्वर-रमेश वक्षी की भाषा-गियरक अतिरिक्त चेतना, स्मानी और मधुर वातावरण चाहे जितना पैदा कर दे, लेकिन कहानी की प्रकृति और नावोध के लिए उतनी ही असुविधाजनक है जिन्हीं आंसूकर वाट्टन की स्मार्ट-चुन्न-दुर्घस्त-वाक्यों-भरी भाषा। यही कठिनाई भाषा के अत्यधिक आंनिक प्रयोगों को नेकर आनी है।

लेकिन कथा की आन्यनिक माँग को पहचानकर जैनेन्द्र, अमरकान्त और

१. नव्यजित रे ने घरने पाए नेतृ में 'फोटोग्राफ' और फ़िल्म के सूक्ष्म अन्तर को दर्शायित करके बताया है कि 'फोटोग्राफ' में कलाकार दृश्य की सार्थक सम्पूर्णता से दर्शाता है; फ़िल्म में सार्वक गतिशीलता को। फ़िल्म 'स्टिल्स' का संकलन नहीं, एक स्वतन्त्र कला है और 'युद्ध फोटोग्राफर' की दृष्टि उसकी मूल-प्रकृति को नहीं ही करती है।

रख्युवीरसहाय की तरह व्यंजना को पारदर्शी बनाना लेखकीय संवेदना की तीव्रता और अनन्तत्व से प्रेरित प्रयत्न हैं और सपाट-असमर्थ भाषा लिखकर उसकी 'ग्रनगड़ता' और 'कञ्चवाई' को सादगी कहना चालाकी है। देखना यह है कि वया भाषा की प्रकृति और विष्व, कथ्य की आन्तरिक माँग के साथ सामंजस्य पाते हैं—उसके प्रभाव में सहायक हैं? 'वादलों के घेरे' की सारी व्यंजना-शैली कथा के अपने आन्तरिक मूड के अनुहृष्ट ही है—हालांकि उसकी सायास कवित्वमयता में अज्ञेय की भाषावाला दोष भी बार-बार उभर आता है। मैं समझता हूँ अज्ञेय ने भी कहानी की मूल-प्रकृति और भाषा के नम्बन्ध को 'प्राप्ते-प्रप्ते त्रजन वी' में अधिक गहराई से महसूस किया है।

जीवन्त चित्र नहीं, वलिक उनके प्रभाव को स्वयं निचोड़कर, चित्रात्मक भाषा द्वारा उस प्रभाव की पुनर्सृष्टि का कविन्सुलभ प्रयत्न करना निर्भल और रमेश वधी की अपनी धारणा हो सकती है, लेकिन जाव्य-कुण्ठ की चक्कीदार भाषा को प्रभाव-सृष्टि का प्रयोग मानना लक्ष्मीनारायण लाल और शिवप्रसाद सिंह की असमर्थता ही लगती है। ताजे आम के रस की अपनी एक अलग सीधी महक है; नेकिन उसके 'प्रभाव' को और बढ़ाने के लिए उसमें आम के रस का एसेन्स और ऊपर से डाल देना उलटा प्रभाव पैदा कर सकता है। हो सकता है आम के अपने सीधे पन के साथ इन वने-वनाये एवं न्यून की मूलभूत गन्ध का मेल ही न हो... उन कहानियों का तो कहना ही कथा, जिनमें आम के रस में लक्ष का एसेन्स डालकर 'प्रभाव-सृष्टि' की जाती है... विषय की प्रकृति और माँग कुछ और है, और भाषा कोई और ही प्रभाव पैदा कर रही है।

० ०

वस्तुतः कहानी में प्रतीक, विष्व इत्यादि भाषा और शब्दों के स्तर पर नहीं; विषय-व्योध और उसे व्यनित कर सकनेवाले कव्यशिल्प के धरातल पर आते हैं। कहानी की सांकेतिकता शब्दों, या व्यनि, लहजे की सांकेतिकता नहीं; विषय के प्रस्तुतीकरण, संघटन, कोण, निर्वाह और सब मिलाकर प्रभाव की सांकेतिकता होती है। उनमें वाता-वरण का संगीत नहीं, प्रभाव का संगीत होता है।

विषय-व्योध से भी पहुँचे कथाकार की समस्या अपने अस्तित्व-व्योध की है, उसके प्रति उसके एग्रोच की है—जीवन और परिवेश के प्रति उसकी धारणा और दृष्टिकोण की है। कहानी तो उस सबका परिणाम और प्रतिकलन ही हो सकती है। इनलिए अनुभव-व्योत, ऐन्ड्रिय-व्योध, अनुभूति और उसके नम्रप्रेषण ने नेकर प्रभाव तक, वह पूरा एक वृत्त बनाती है—एक ऐसी संशिल्प इकाई के रूप में, जिसे कहीं ने भी नोटा नहीं जा सकता। चित्र-चित्रण, देश-काल, पात्र, कथानक या शैली के नज़दी हपगत आधार पर तो उन नमझ पाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

चूंकि कहानी से भी अधिक प्रयत्न जीवन को नमझने, नमाहन करने का है, इनलिए इस प्रयत्न में हर कहानीकार की अपनी धारणाएँ, अनुभव और दृष्टिकोण ही और इस जयको पेरे हैं। उनका बदलता नन्कार। हर कहानीकार का हृन्दन ने अनुभव अपना तरीका है, आना व्यक्तित्व है। उन अनिवार्यतःसामाजिक विषय के ना ने उन स्वयं आने विषय को देखना, चुनना और पकाकर पाठक नम पहुँचाना।

जे अर्थ पाना होता है। उसके इस प्रयत्न में सभी साभीदार हैं, क्योंकि सभी गुण हैं।

ईमानदारी से अपने अनुभवों को मसाफ़ कर हर व्यक्ति, सामाजिक और ऐतिहासिक परिपाद्वं में उनका अर्थ पाना चाहता है। अखबार पढ़ने तक में यही दृष्टि आज प्रमुख है। हम समाचार और वक्तव्यों को पढ़ते समय, उनके महीन-से-महीन संकेतों पर निगाह जमाये हुए भी, उनके पीछे के अर्थों, आशयों, शक्तियों और परिणामों को भी जानना चाहते हैं। जो केवल समाचारों और वक्तव्यों तक ही रह जाते हैं, वडे परिप्रेक्ष्य में उनके अर्थ नहीं पकड़ पाते, उन्हें हम गम्भीर और समझदार अखबार-पाठक भी नहीं मानते। इस प्रकार एक समाचार हमें दुहरे-तिहरे स्तरों पर पढ़ना होता है : एक वह जो हम पढ़ते हैं; एक या अनेक वडे स्तर वे, जिनमें उस वक्तव्य-समाचार को रखकर सारी स्थिति को आत्मसात् करते हैं। पढ़ने का यह ढंग हमें दुहरी दृष्टि देता है : जो सामने है उसके सारे डिटेल्स, सारे अर्थ, सारी व्वनियाँ पकड़ी जायें, कहीं कुछ छूट न जाये—ताकि उन सबको वडे धरातलों के सन्दर्भ में रखकर वास्तविक अर्थ निकाला जासके। इसलिए प्रस्तुत के विन्यास में भी सम्पादक को अतिरिक्त जावधानी वरतनी होती है, जिससे वडे धरातलों पर भी वही अर्थ निकलें, जो उसे अभीष्ट है।

रोज़-रोज़ दुनिया-भर के समाचार-वक्तव्य पढ़कर हम दुनिया की स्थिति ही नहीं जानते, उस दुनिया में अपनी स्थिति भी जानते रहना चाहते हैं, हमारी अपनी जीवन-प्रणाली को प्रभावित करनेवाली शक्तियों और वृत्तियों के निरन्तर सम्पर्क में रहना चाहते हैं। संवेदनाओं, अनुभूतियों और मूल्यों के धरातल पर यह काम कहानी का है। अपने ने अलग, दूसरे के दृष्टिकोण, अनुभव, धारणा, या वोध इत्यादि को जानना, अपने को जानना है, अपने नैतिक धरातल को पाना है, अपने वो आध्यात्मिक स्तरों पर अधिक सुसंस्कृत करना है। अखबार व्यक्ति को प्रबुद्ध करता है, कला मुसंस्कृत या संकार-गमृद्ध। दूसरे के मानस-जगत् में कला के माध्यम से प्रवेश करने के पीछे निरापद अनुभवों का संचयन; अपनी सीमाओं—या स्वार्थों—से उठने का प्रयत्न; जिनमा या नहानुभूति; अपनी कर्मियों से प्रेरित पूर्णता की खोज, स्वप्न-गमूर्ति या कभी-कभी केवल अपने ने पलायन की ही भावना हो सकती है; मगर कहानी में पाठक की निरन्तर उपस्थिति लेखक के नये एप्रोच या नये प्रयोगों में वाघक नहीं, जाघक ही होती है। अतः प्रयोगवर्मा होते हुए भी कहानी सामाजिक होने को बाध्य है। कुछ ने कला की सामाजिकता को कला-हीनता का पर्याय माना है; क्योंकि वहाँ कला के साथ 'नमाज' बुड़ा है, और 'नमाज' को द्युतहा-नीमारी मानने का एक घजीब 'फोटिया' हिन्दी-तथा-नमीक्षकों में प्रचलित है। मैं इसे कहानी को कविता के स्तर पर देन देने का कलावादी प्रयत्न मानना हूँ। अगर नामाजिक या लोकप्रिय होना किसी दिल्ला के ग्रन्डवर्मा होने में वाघक ही जकता हो, तो यह बात नाटकों के बारे में सबसे अधिक जागू दीनी है। जबकि हम जानते हैं; आज पिरान्देलो, ब्रैस्ट, वैकेट, आर्पर मिलार, इत्यादिओं दृग्गदि के हाथों नाटक न केवल सबसे अधिक प्रयोगीन विधा हो रही है; वर्तिक आधुनिक संवेदना को सदसे अधिक वही बहन कर रही है। और उसमें

समाज कहानी से अधिक अपरिहार्य है।

जैसाकि मैंने कहा : आज जो कहानी हम पढ़ते हैं वह केवल उसका एक स्तर है, उसके वास्तविक और विद्यिष्ट स्तर तो नेपथ्य में चलते रहते हैं। इसीलिए आज कहानी की भाषा अधिक सांकेतिक हो गयी है। वह अपने प्रतीकों, विश्वासों, ध्वनियों में बड़े और व्यापक अर्थ ध्वनित करती है तो सटीकता में कथ्य पर केन्द्रित रहती है। यही कारण है कि कहानी आज कई धरातलों पर एक साथ चलती दिखायी देती है। मोरार्जा, प्रेमचन्द्र, यशगाल की कहानियों में ये स्तर नहीं थे, ऐसा नहीं है; लेकिन वहाँ वह नव मन्त्रव्य बनकर था, कथ्य बनकर नहीं; अर्थात् कहानी के ग्रन्त में नहसा संकेतित हो उठता था—लेखक की चेतना में वर्तमान रहता था। आज वह कहानी में (परिणामतः पाठक के मन में भी) समानान्तर चलता महसूस होता रहता है।^१ कहानी के ग्रन्त की ओर आना उस स्तर को प्राप्त करने की ओर आना नहीं, बल्कि इन दोनों के अर्थवाही सम्बन्ध को पाना है। इस विधा में कुछ अत्यन्त ही सफल कहानियों के उदाहरण-स्वरूप में सॉएल बैलो और जै० डी० सीर्लिंजर की कहानियों को खबर चाहूँगा। बैलो की 'लुर्किंग फ़ॉर मिं० ग्रीन' और सीर्लिंजर की 'ए परफ़ैक्ट डे फ़ॉर बनाना-फ़िश' हो या 'टैंडी' नाम के लड़के की कहानी; हर पंचित में लगता है कि एक और भी कहानी है जो इन पंचितों के पीछे चल रही है। सारी प्रामाणिकता और सूक्ष्मता के बावजूद 'यह' कहानी 'उस' बड़ी विराट और वास्तविक कहानी का झरोखा है। मिं० ग्रीन की खोज, उस खोज का ग्रन्त और टैंडी की बुजुर्गी-विद्वत्ता-भरी बातें, चीदह वर्ष की उम्र में बड़े-बड़े डॉक्टरों, प्रोफेसरों को इण्टरव्यू देने का आत्म-विश्वास, योग और पुनर्जन्म का ज्ञान, भविष्य-कथन की वृत्ति हमारे यहाँ के किसी बच्चे में केवल 'चमत्कार-बालक' बाला कीतूहल ही जगा सकती हैं, लेकिन उस कहानी में टैंडी नमय जी किसी विराट ट्रैजेडी का परिणाम और 'टोटल हॉर' का गवाह नगता है। उमड़ी ऊँची-ऊँची बातें विस्मय, कुतूहल या आश्चर्य नहीं जगातीं—किसी ज्वानामुखी पर बैठे भोले आदमी की निष्कपट बातों जैसा दिल दहना देनेवाला आतंक जगाती हैं। अमरकान्त की कहानियाँ हिन्दी में कुछ ऐसा ही प्रभाव छोड़ जाती हैं, विशेषतः 'असमर्थ हिन्दा हाथ'।

दुहरे-तिहरे स्तरोंवाली कहानियों की एक और भंगिमा है जो शिल्प और प्रतीक से ज्ञान एक दृष्टि ही अधिक है। इस विषय में विस्तार ने बाद में कहूँगा। यहाँ केवल इतना काफ़ी है कि शिल्प की जायासता और आरोपित स्थिति की ध्वनि, कथ्य को भी अविकृत नहीं रखते देती। दो स्तरों पर चलनेवाली कहानी 'पठारका धीरज' भी है; लेकिन उसमें वास्तविकता के अनेक स्तर एक-दूसरे ने उदाहीन और अगम्पूत्त पठारों की तरह, फैले हैं। 'ओर यह हमें यही हमारा जीवन एकाधिक स्तर पर नहीं चलता ? हमारा अधिक तीव्रता के नाथ जीना, क्या एक ही स्तर पर अधिक गति या विस्तार की अपेक्षा अधिक या नये स्तरों का हठात् जागा हृग्रां वोध नहीं है ?' की यूद्धनूरुल प्रतिष्ठिति के नाम ही जब अजेय, जीवन के इन स्तरों को पठार की तरह जड़, परवाये, एक-दूसरे ने उदा-

१. 'हिन्दी-कहानी की रचना-प्रक्रिया' डा० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ २६८

नीन मान लेते हैं और यह कहते हैं : 'पठार की अपनी एक वास्तविकता है, उनको अपनी एक वास्तविकता है। दोनों समानान्तर हैं, सहजीवी हैं, संयुक्त हैं—यह विलकुल आवश्यक नहीं है कि वास्तविकता के अलग-अलग स्तर कहीं भी एक-दूसरे को काटें।' तो जिन्दगी के इन स्तरों को काव्य-अनुभूतियों की तरह गतिहीन, पथराया (जैनेन्द्रजी के शब्दों में 'शिनीभूत' ?) मान लेना है—उनके जीवन्त लचीलेपन और एक-दूसरे में गुंथे होने की ज़र्चाई में बचना है। इस प्रकार अज्ञेय की यह कहानी हमें किसी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक या तात्त्विक (सैटाफ़िजिकल) सचाई से अनुस्यूत नहीं करती—जीवन के जड़ीभूत (यिलीभूत) स्तरों के प्रति एक व्यक्ति की निहायत व्यक्तिगत तर्क-प्रणाली नामने रखती है, जो द्रष्टा की अपनी कल्पना भी हो सकती है। अज्ञेयजी जिन्हें पठार कहकर जस्टीफ़ाई करते हैं, दूसरा आदमी उन्हें ही कुतुबमीनार के एक-दूसरे पर टिके घण्ठ कह सकता था। इसी जगह में 'अपनी 'छोटे-छोटे ताजमहल' को अधिक आधुनिक कहना चाहूँगा, क्योंकि वह संवेदनाओं के जड़त्व को 'धीरज' के विलक्षणत्व से मणित नहीं करती। वह संवेदनाओं और वास्तविकता के अनेक स्तरों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके, उनकी एक-दूसरे के आर-पार जा सकने की प्रकृति, प्रभावित कर सकने या परिवेशित करने की स्थिति को प्रस्तुत करती है। ताजमहल का प्रतीक भी किसी तर्क के रूप में पेश नहीं किया गया। इस दृष्टि से अज्ञेय की ही 'जयदोल' कहानी अधिक सार्धक प्रयोग है, क्योंकि वहां वास्तविकता के स्तर खोलने के साथ-ही-साथ दो समानान्तर लेटे पठारों की नरह अमन्मृत, अप्रभावित रहते हुए ही उन स्तरों को 'देखने' जैसा दम्भ नहीं है।

जब सायाम आरोपित ही हों, तो विन प्रकार दो अलग-अलग युगों की वास्तविकताएँ एक-दूसरी के समानान्तर आकर दो युगों के मूल्यगत अन्तरिक्षों को उजागर कर जाती हैं, नारी मान्यताओं के टृट्ने की टैंजेडी को समने रख देती हैं, इसके लिए कमनेंडवर की 'राजा निरवन्निया' कहानी को पढ़ा जा सकता है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले कहा है, कहानी की वर्णन सीमाओं में टूटवार, 'कहीं ने' समानताएँ या विरोध लाना (या पात्र की मिर्क इमीलिंग वहां पहुंचा देना) मूलतः काव्य-उपमाओंवाली प्रवृत्ति है। आज कहानी की दिशा एक ही वास्तविकता के पीछे छिपे युग-वोध के अनेक स्तरों की संगति में अर्थ दोजने की है। इसके निए वास्तविकता की प्रामाणिकता और युग-वोध की आत्मीयता दोनों ही नग्नकीय अपेक्षा की अनिवार्यताएँ हैं।

० ०

वात फिर कथाकार की दृष्टि, उनकी अपेक्षा, परिवेश को ग्रहण और नामप्रेरित करने के दृष्टिकोण पर आ जानी है, क्योंकि इसके बिना आज की कहानी के रूप और दिव्यागत प्रयोगों को नमझा ही नहीं जा सकता। जिस प्रकार चेतुव के यथार्थ-वोध ने उत्तमी कहानियों को तत्कालीन शास्त्रीय कहानियों से एकदम 'नया' या अलग कर दिया, उसी प्रकार आज की कहानी की परिकल्पना या स्थापत्य-सम्बन्धी आमूल परिवर्तन को नमभने के लिए आज के लेखक का यथार्थ-वोध समझना पड़ेगा। चेतुव की कहानियों की मैं गिल्प-प्रयोग के रूप में देख ही नहीं पाता—वह तो तत्कालीन यथार्थ को देखने का उम्मती अपना बोध था जो रूप (क्रॉम्प) की चिन्ता किये बिना कहानी में प्रकट होता था।

और अनजाने ही कहानी एकदम 'नयी' हो उठी थी। कहानी ही क्यों, उसी बोध ने चेहरव के हाथों नाटक की झड़-धारणा में भी कान्ति करायी। एक ही यथार्थ के प्रति चेहरव और गोकीं दोनों अपनी-अपनी तरह प्रतिवद्ध थे और दोनों 'नये' थे; लेकिन आपन में कितने अलग पड़ गये थे। निर्वैयक्तिक-यथार्थ के प्रति वैयक्तिक ग्रोच, या वैयक्तिक-यथार्थ के प्रति निर्वैयक्तिक दृष्टि, ठीक उसी प्रकार आज भी अलग-अलग हैं। जीवन का यथार्थ एक ही है, लेकिन उसे देखने, महसूस करने के स्तर अलग-अलग हैं। ध्यान दीजिए, स्तर अलग-अलग हैं, वैयक्तिक (सद्वैयक्तिक) हैं, लेकिन कवि कायाकारों की तरह व्यक्तिगत (पर्सनल) नहीं। 'पर्सनल वर्ल्ड' का यह भ्रम (मिथ) मुझे नचाई कम, किमी पश्चिमी आलोचक से लिया गया खूबमूरत 'किलने' अधिक लगता है।

अतीत-मुक्त वर्तमान-क्षण में स्थित, आत्म-सजग व्यक्ति की नवेदना, अपने और परिवेश के अविच्छिन्न संघातों (हम्पैकट्स) के प्रति ही उने नचेत नहीं रखती—यथार्थ को देखने के सारे दृष्टिकोण, राग-बोध को ही बदल देनी है और कहानी की बुनावट, निर्वाह, और शैली-स्थापत्य जभी में गौलिक अन्तर आ जाते हैं। कहानी की सारी शब्द ही बदल जाती है—यहाँ तक कि पुराने संस्कारी पाठक के लिए पहचान नकाना ही मुश्किल हो जाता है कि यह 'कहानी' ही है या कुछ और? उनके लिए तो कहानी अभी तक छो द्यास्त्रीय तत्त्वों और प्रारम्भ, विकास, व्यन्दि, कलात्मैक और परिणति में फैला एक साहित्य-प्रकार भर है (और यह यास्त्र भी आज सौ नान पुराना हो गया है। कहानी 'पो' के यास्त्र को बहुत पहले पार कर आयी है), अनुभूतियों-नवेदनाओं की नम्रेपणीयता का प्रयोग-साध्य गाध्यम नहीं...।

लेखिन आज जहाँ लेखक का कहानी-मम्बन्थी दृष्टिकोण उसके परिवेश के अनेक तत्त्वों ने प्रभावित-प्रसिद्धित हुआ है, वही उसने अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कमियों-शक्तियों को भी पहचाना है। समाजवादी यथार्थवाद में मनुष्य के खोये व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करना और व्यक्तिवादी हीरों को नामाजिक नन्दभों में देखना भी उसे अपने लेखकीय दायित्व के ही अंग लगते हैं। समाजवादी लेखकों का परिवेश-बोध और व्यक्तिवादी लेखकों की आत्म-सजगता (सैलक-कॉन्वैनेशन नहीं, कॉन्वैनेशन ऑफ द नैलक) का नामन्दय, अपने शनुभद्रों-संस्कारों के साथ मिलकर उसकी जेतना को बनाना है। इन सबके साथ ही वह अपने युग और यथार्थ को अत्यन्त नवेदनशील सामग्री पर रहण करता है...। जीवन के निहायत 'वैयक्तिक' अनुभवों को आज के परिवेश में तटन्थना ने रखता है—इसलिए वह पहले दोनों बगों ने अधिक प्रामाणिक और विश्वनीय लगता है। परिवेश की विश्वसनीयता और अनुभूति की प्रामाणिकता का यह नामंजस्य हिन्दी-कहानी में पहली बार इस रूप में आया है।

जैनेन्द्र-ग्रन्ति की कहानियों में व्यक्ति ही इतना महान्, सारी धंकायों-प्रस्त्रों से ऊपर या कि अपनी हर 'व्यक्तिगत' अनुभूति को वह महत्वपूर्ण मानता था, इसलिए वही उसे 'प्रामाणिक' भी लगती थी। अपने व्यक्तिगत मूढ़स के हम्प्रैयात्म को ही वह कहानी का बातावरण बनाकर चला देता था और यह 'बातावरण' उस अनुभूति—एक रस्यमय ज्योतिर्वलय से मण्डित कर देता था। कहानी नव मुक्त-भ

ऐसोसियेशन्स—की चेतना-प्रवाही शैली में उतारा गया, मूड का चिन्ह ही होती थी... दूसरे शब्दों में, अचेतन का रिपोर्टरि, या जनोविश्वलेपणीय भंगिमा में लिखा गया मनः-स्थिति का संस्मरण। ये लेखक, सामाजिक घटनाओं के रिपोर्टरि या परिस्थितियों के संस्मरण लिखनेवालों ने अपने को अलग और ऊँचा रखते थे। कहानी के व्यपरात गठन की जड़ता को तोड़ने और उसे मुक्त सहज-प्रवाही बनाने में इस शैली ने ही महत्वपूर्ण योग दिया। लेकिन इसमें न कोई अर्थ पाने का आग्रह था, न दृष्टि खोजने का... वह एक ऐसा प्रवाह था जिसे जब चाहे काट दीजिए, जब तक चाहे बहने दीजिए...

युद्ध और उथल-पुथल के दिनों में जहाँ जीवन की और सारी मूल्य-मान्यताएँ दूरी; वहीं कहानी की व्यपरात जड़ता (या एक्ज़ेंटनेस) को आन्तरिक स्तर पर एक और सुर-रियलिस्टिक धारा के इन चेतना-प्रवाही लेखकों ने तोड़ा तो दूसरी और बाहरी अनुशासन को इम्प्रैशनिस्टिक रिपोर्टरी लेखकों ने... ये दोनों परिवर्तन इतने आकस्मिक ढंग से समानान्तर और एक साथ ही हुए कि कहानी की शास्त्रीय परिभाषाएँ तेज़ी से छोटी और ओछी पड़ गयी... तब हिन्दी कहानी एक नया मोड़ लेने के लिए दृष्टिपात्र लगी। यहाँ यह चिलकुल नहीं भूलना चाहिए कि कला या जीवन के मूल्यों का टूटना तो परिणाम था, कारण नो यथार्थ को प्रामाणिक स्तर पर ग्रहण करने की अकुलाहट थी... एक अन्तर्वेतना की खुदंदीन से व्यक्ति के भीतरी गहराओं में यथार्थ की प्रामाणिकता पाना चाहता था, नो दूसरा बाहरी दर्यन के चश्मे से...

इन दोनों प्रवृत्तियों ने कहानी के जिस परम्परागत रूप को तोड़ा उस पर भी दृष्टिपात्र कर नेना आवश्यक है।

युद्ध ने पहले के अपेक्षाकृत स्थिर यथार्थ में 'समस्यावादी' कहानियों का दोल-वाला या और इसमें भी दो कथा-दृष्टियाँ थीं।

प्रेमचन्द्र, यशपाल, अश्व और इलाचन्द्र जौशी में अपनी कला-चेतना तथा दृष्टिकोण का गत्तर ज़हर है; नेकिन प्रायः उनका यथार्थ-बोध और उसे प्रस्तुत करने का तरीका कहीं समान है... सहज-मानवीय, गंधीवादी सुधारात्मक दृष्टि से प्रेमचन्द्र; तीन दौदिक मासकंवादी दृष्टि से यशपाल; व्यक्तिगत अनुभवों, निरीक्षणों की निर्वेयकितक दृष्टि से अश्व, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और प्रायः फॉर्मडीय भनोविज्ञान की दृष्टि से इलाचन्द्र जौशी, पहाड़ी—प्रपने आस-पास के यथार्थ का निर्माण करते हैं। पढ़ी-सुनी या गुनी हुई कोई सूक्ष्म उन्हें आड़िया देती है और अपने अनुभवों, स्मृति और कल्पना से, चरिय, परिस्थितियाँ और उनके नाटकीय सम्बन्धों को 'बना' कर ये लोग शास्त्रीय दृष्टि से परस्पर कहानियाँ गढ़ देते हैं। इन सबके दृष्टिकोण अलग हैं, कलात्मक घरात्मन अलग हैं, और उपनिधियाँ-प्रभाव भी कम-ज्यादा हैं; लेकिन विषय की अवधारणा

१. "मैं प्रायः अपने विषय का स्पष्टीकरण करनेवाली घटनाओं की कल्पना कर लेता हूँ, किर घटना के लिए परिस्थितियों की और उनके अनुकूल पात्रों की। ध्यान इस बात का जहर रखता है कि मेरी रचना वास्तविक जान पड़े।" यशपाल—'कहानी'; विशेषांक, १६५५।

और रचना-प्रक्रिया में कहीं एक समानता है। इनके लिए आइडिया पहले आता है और उसके अनुसृप जीवन 'बना' लिया जाता है, उसके तर्कसंगत भोड़ गढ़ लिये जाते हैं, प्रभाव जाथ लिया जाता है।

वे मान्यताएँ, विचार या आइडिया, समाज के सुधार या संकान्ति-वाल में सचेत लेखक के लिए 'समस्या' का रूप लेकर आते हैं। दूसरे ने बहुत से लेखक भूमि नहीं होगी कि पिछले कुछ दिनों तक किसी कहानी का ज़िक्र आते ही दो सबाल पूछे जाते थे—“संक्षेप में उसकी कहानी क्या है?” या “उनका रेण्टल आइडिया क्या है?” जिस प्रकार घटना-प्रधान कहानियों के युग में कहानी का नारांग जानकर पता लगा लिया जाता था, उसी प्रकार नमस्या-युग में बताया जाता था—“समस्या यह है कि मान लीजिए, लड़कियों ने छेड़खानी करनेवाला एक छोकरा दूर ने ही लड़कियों का झूण्ड देखकर फ़िकरे करता है। अब उन लड़कियों में उसकी एक बहन ही सकती है।” (यशपाल की कहानी '८०।१००') या “इज़ज़त को नाक माननेवाले की नैतिकता किसनी नहीं है कि वह नाक को ही इज़ज़त मानने लगता है, वह भी उसके अभिधार्थ में। उन तर्क ने यह 'नाक' ऐसी सुविधा या दिक्षावे की ओज़ ही नहीं कि जब चाहे लगा लीजिए, जब चाहे उतारकर रख लीजिए।” इन आइडिया के लिए नकली दातों की तरह यशपाल को नकली नाक की भी कल्पना करती पड़ी ('हूँरी नाक')।

आइडिया अध्ययन के निचोड़ ने आदा हो या जीवन के—उसे ही केन्द्र बनाकर चतुरेवाले को जीवन ने सामनी एक ही द्वाधार पर लेती पड़ती है, और वह है “मान लीजिए कि...” या “वह भी ही नकता है...” और वह नारी प्रक्रिया कहानी को दृष्टान्त कथाओं के अधिक निकट ले ग्राती थी।

“वह भी ही नकता है” ही उन समय का व्यार्थ था और इसी “भी हो नकता है” के पंख लगाकर कथाकार जहाँ चाहे जा नकता था, चाहे जिन लोगों की कहानियाँ लिख नकता था। अपने आइडिया या समस्या को चाहे वह बांद्र-युग का जामा पहनाकर प्रस्तुत कर दे, नाहे मध्य-युग का। पृष्ठभूमि के रूप में इन्द्राहावाद, लवनऊ का मध्य-वर्षीय घर भी ही नकता है, लन्दन-पैरिस का कोई प्लार्टेनेट भी। आइडिया पकाकर उसके अनुरूप पात्र, परिस्थिति और समय का सुनाव हो जाता था और जारी कहानी यह तरह रख दी जाती थी कि वह आइडिया अपने-आप ही ध्वनित या रेखांकित हो जाये। और हैनरी, मोपासा, मॉम-निकाय की थे आइडिया-समस्या या सूक्ष्मनूलक वीद्धिक प्रेरणा ने जिसी गर्वी कहानियाँ शास्त्रीय दृष्टि से बहुत नटीक, परकैट और प्रत्यक्ष क होती थीं। हिन्दी की पहली अधिकांश शक्तिनाली कहानियाँ ग्रायः इसी विधा में जिसी गर्वी।

व्यार्थ के प्रति इन एग्रोन में कहानियाँ भेजे ही बहुत परफैक्ट बन जायें। ऐसा जल्द यिद्यवनीयता का जभाव बराबर पाठक को शंकारूप रखता था। व्यार्थ यह न रोकन और सम्प्रेषित नहीं, निर्मित होता था, घटनाओं के भोड़ कल्पित होते थे। चारों दिशाएँ नीय हैं तो उसको गति या परिणति देतेवाली घटनाएँ या घटनाओं दो जिताने गयी हैं गढ़े जाते थे। घटनाएँ प्रामाणिक हैं तो नरिय उनके प्रति नर्मानित कठपुत्रागा ही जा-

दा। इस सारी प्रक्रिया में ये कल्पना-संघटित चरित्र, स्थितियाँ इत्यादि कुछ ऐसे मशीनी हो उठते थे कि कहानी फ़ंडुल और पेरेवुल के बीच भटकती थी। वर्हा अपने और केवल अपने परिवेश के प्रति नवेदनात्मक लगाव कम, बीचिक दायित्व अधिक था।

उस अप्रामाणिकता को चरित्रों के स्तर पर व्यक्तिवादी और परिस्थितियों के धरानल पर नमाजबादी लेखकों ने बैठेज किया। अर्थात् ये भीतरी और बाहरी रिपोर्टज़-संस्करण-नेटवर्क (जो अधिकार्य 'मैं' शैली में लिखते थे), यथार्थ को अधिक प्रामाणिक होने ने प्रस्तुत करते नमय इनी बीचिक दृष्टि या स्तोव-रिजिडिटी के खिलाफ़ विद्रोह करते हैं और कहानी का परम्परागत रूप टूटने लगता है। कारण यह या कि युद्ध और उनके आगे-नीचे आंख खोलनेवाले लेखकों के लिए यथार्थ, बीचिक धरानल पर नहीं; नवेदनात्मक धरानल पर—व्यक्तिगत अनुभव बनकर आया या और उस कल्पना-प्रस्तुत यथार्थ के नकलीयता ने उड़ाकर ये अपने अनुभव का ही यथार्थ प्रस्तुत कर सकते हैं...''परिस्थितियाँ इन तेजी से बदल रही थीं कि एक उनमें वह गया था और दूसरा अपने घन्दरबो गुफ़ाओं में छिपा बैठा था। ऐसे नमय में 'अपना अनुभव' ही तदसे मुरक्कित और विद्वन्नीय भी लगता है। चाहें तो वह भी कह लें कि यह 'अपना अनुभव' एक नवेदनयील मानन की प्रतिक्रिया, पहले की अविवृत्तनीयता तथा अप्रामाणिकता के खिलाफ़ बैठेज तो था ही, मज़बूरी और दृष्टि की नीमा भी थी।

'अनुभव-नन्दन' के लेखकों को एक और भी बात राज नहीं आती थी: परिस्थितियों के दृढ़ परिवर्तन ने इनना अवकाश भी नहीं दिया। कि कहानी एक चमत्कार या 'दाढ़ नैप वॉलिंग' दिया ही बनी नहै और उनका यात्रा कहानी के प्राण की भी उसी नगद मानकर रख दे तैसे संस्कृत व्याकरण ने संस्कृत भाषा को ही दफ़ना दिया। इस प्रकार कहानीने पचास के नमय में जीवन के नामे परम्परागत पैटर्न के भाव-भाय कहानी-कविता की नीकें भी विद्यर गयीं...''

○ ○

और यही दे देवा-व्यापी परिवर्तन आये जिनकी द्याया में आज की कहानी ने नाम स्नी—यही स्वप्नमंग, विद्वान्मान, ननानित और नार 'उदात्त' मूल्यों का विवरण दूर हुआ...''

शुगरी-पिच्चरी परम्परागत कहानियों ने इस कहानी की जी असल्तोप थे उन्हें एक बार फिर लोट्टवद रूप में दूहरा नेता आवश्यक है:

● नवेदना, अनुभूति, अनुभव ने विचार या दर्शन की ओर अग्रसर न होकर निरक्षित कियार या दर्शन के लिए इनकी भीज या निर्माण में अधिक विद्वास करता था।

● शारदिया, शृणित या विचार वाहर ने निये हुए, आरोपित या उधार के थे—ये अपने मुग की पीड़ा और यथार्थ-दोष ने भीषे निकाले गये नर्तीजे (टिटकयास) नहीं थे। नर्तीविद्वनेष्य, दर्शन, राजनीति या विचार की किसी किनाब ने उन्हें दे लिया जाता था और उनकी व्याप्ता के लिए भैंटर या नामग्री जुटाने की चिन्ता की जाती थी।

● इस माननिय-नैयारी के बाद निराक नीचता था कि उनका यह आइडिया किन पात्रों, किन मुग, रिम नमाज और किन परिस्थितियों में नदने अधिक कन्विनियन लगेगा,

और इसी हिसाब से उन्हें चुन या गढ़कर अपना किस्सा फैला लेता था और अन्त में अपने इस पूर्व-निश्चित आड़दिया को भटके ने निकालकर, जाहूगर के गोते की तरह पाठकों के सामने रख देता था। उसके हाथ का कमाल देखकर पाठक 'मुख्य' हो जाते थे, रो उठते थे या प्रसन्न हो जाते थे और कहानी उन्हें तात्कालिक प्रतिक्रिया के एक अप्रत्याधित घटक में विभोग, कुदू द्या चिन्तित छोड़ जाती थी, कुछ प्रश्न उठा जाती थी।

● इस प्रक्रिया में यथार्थ या तो उस लेखक को 'समस्या' लगता था या निर्जीव मिट्टी का लींदा, जिसके मनचाहे खिलने वाये जा सकते थे। स्थितियों के जोड़-तोड़, पात्रों के व्यवहार, भावनाओं के संघर्ष और भाषा के प्रयोग की कुछ हड्डियाँ बन गयी थीं और लेखक उन्हें ही आजमाकर मनचाहा प्रभाव पैदा कर देता था... शोपित, निरीह, अनन्तर्यामों के प्रति दिया; स्त्रियों, देशवासीओं के ग्रन्ति करणा; बूढ़ों, अपाहिजों के प्रति श्रद्धा... ददा न दे जकने पर बेटी-बेटे द्या पत्नी का मर जाना, प्रेम-तिकोन, प्रेमी या प्रेमिका की बेवफाई और मजदूरी, प्रेम के नाम पर त्याग—जिन्दगी की ऐसी सच्चाई हैं जो आज भी हैं और कहानीकार को खींचती हैं; लेकिन इन्हें ब्रगर स्थानुभूति की ताजगी की बजाय केवल कथा-मीड़ों के भटकों, लटकों या कथा-हड्डियों की तरह इन्हें भाल किया जायेगा तो या तो भूमिलाहट होगी या अपने ठगे जाने का अहमान। उन्हें पढ़कर आज पाठक अपने को उसी धोम-आक्रोश में पाता है जिनमें अधिकांश हिन्दी फिल्मों का दर्शक...

● कहानी में ये हड्डियाँ उन समय आती हैं जब आड़दिया या नमस्या के निः, घटनाओं, स्थिति-परिमितियों, पात्रों और भावनाओं का 'सामादीकरण' कर दिया जाता है—उसके मूल्य रंगों को पकड़ने का धीरज और अन्तर्दृष्टि नहीं होती और लेखक जल्दी-ने-जल्दी आड़दिया को घटित कर देना चाहता है।

हिन्दी का अपना कथा-नाहिय चूंकि अधिक यथार्थग्रही रहा है, इसलिए यह धारा आज वही या तो बहुत ही धीम है या उन लेखकों के हाथ में है जिन्हें लेखन के क्षेत्र में गम्भीरता से नहीं लिया जाता। लेकिन हिन्दी में आनंदवाली उर्दू और वंगला की कहानियाँ आज भी आमू-उच्छ्वास के मुर्वाट की आड में कहानी की उसी प्रवृत्ति का फिर से निर्यात कर रही हैं जौर तिर्ण या लधीनारायण लाल जैसे लेखक—जो मातृत्य-पीड़ित प्रेमिकाओं की यातना के लटकों या अन्य कथा-पनिपाटियों (धीर्मंटिक कन्वेन्यन) को कहानी कहते हैं—अजब संकट में पड़ जाये हैं। हाँ, इस दिया में वैगला-कहानी अपने सेवार के कारण 'मुर्लनि' का आडम्बर च्छा करके 'बाजार' में छा गयी है, उर्दू-कहानी उसके मुकाबले अधिक अनगढ़, कूड़ है, और अभी तक 'शव्या हुजूर' के न्योये वैभव या किसी अनवर, यूसुफ की या बेवफाइयाँ ही लिख रही हैं। वैगला कहानियाँ घटनागत भावु-पता और उर्दू कहानियाँ जदान की खूबसूरती में इस खोजनेपन को छिपा ले जाती हैं। भावुकता की अपनी अलग हड्डियाँ हैं और वैगला और उर्दू की सचेत पीटी आज उनी नाफ़-नाफ़ महामूस कर रही हैं। दीपेन बन्धोपाध्याय ने मार्च, '६४ के 'शानोंम' में प्रकाशित अपने नेच में, स्पष्ट शब्दों में ताराशंकर, गजेन्द्र मिश्र, प्रेमेन्द्र मिश्र, अर्जेन्द्र मिश्र, विमलमिश्र, आमापूर्णा देवी, बानीराय के खिलाफ़ आवाज उठायी है।

'किल्सागो' हैं, गम्भीर कथा-लेखक नहीं। ठीक यही स्वर 'धर्मयुग' में प्रकाशित अनवर अर्जीम के नेहव में उद्दू की स्थापित कथा-पीढ़ी के प्रति है। मैं भी यही समझता हूँ कि ब्रैंगला दृत्यादि के इन 'नफल' लोकप्रिय लेखकों का कहानी के प्रति जो रखैया है वह इन्हें अधिक-ने-अधिक नामरसेट मॉम बना छोड़ेगा, विश्व के गम्भीर लेखकों का ज़िक्र करते समय जिनका प्रायः ज़िक्र नहीं किया जाता—कम-से-कम ऐसे लेखकों में तो उसके लिए कोई जगह ही नहीं है, जो मानव-नियति के साथ अपने को अनुबद्ध पाते हैं। इस लेखन के लिए अंग्रेजी में एक शब्द है—'पॉट-वॉयलर', बाजार की माँग पर घड़ाघड़ तैयार किया गया मान।

००

वस्तुतः आज का लेखक मानता है कि कहीं से भी, कोई भी आइडिया लेकर उने किमी भी युग या परिस्थिति में किट नहीं किया जा सकता। हर आइडिया, विचार या दर्शन कहीं विशेष परिस्थिति, युग, स्थान की ही उपज होती है। उसे बौद्धिक जिग्नान ने पाकर घटित नहीं किया जा सकता। व्यवित और परिवेश की संवेदना में, उनके जीवन-प्रवाह में रहते हुए ही उने पाया जा सकता है। कहानी में 'शाश्वत-तत्त्व' का यही सापेक्ष अर्थ है कि देश-काल की सीमाओं में जो एक जगह भोगा जाता है, वही दूसरी जगह नभव और सम्प्रेष्य भी है। लेकिन जो दूसरे स्थान-समय में सम्भव और अनुमेय हो, वही आज यहाँ भी संवेद्य हो—विलकूल ज़रूरी नहीं है।

पुणानी परम्परा के लेखकों ने जीवन और समाज को और, स्थापित नैतिक मूल्यों को लेकर तुछ ईमानदार नवाल उठाये थे, समस्याएँ रखी थीं, संवेदनात्मक प्रभाव पैदा किये थे और जो जीवन देखा था उने कथा-तन्त्र में भटकों की तरह प्रयुक्त किया था। उनमें स्थापित जीवन का प्रवाह—और कथा-प्रवाह—सोड़ और समाप्ति पाता था।

आवश्यकता आज उम भोगे जानेवाले यथार्थ को भटकों और भलकियों में देनाने की नहीं; बल्कि उनमें नये अनुभव-प्रसंगों के रूप में प्रस्तुत करने की है, क्योंकि जो वान्तविकता कल तक नींका देती थी, जिसके दर्शन-मात्र से कुछ आस्थाएँ-भावनाएँ दून या दिग्ज जानी थीं, कहानी का प्रारम्भ और अन्त वन जाती थीं, वे या तो आज जीवन का नीजगर्ना यथार्थ हो गयी हैं, अथवा जीवन ने तय कर दिया है कि वे कभी यथार्थ नहीं होंगी।

मगर याद ही पुणाना नवाल उठना है कि अनुभव-प्रसंग कौन-से? यथार्थ कौन-ना? जिन यादमी अपनी चेतना में उत्तरकर पाता है वह, या बाहर समाज में फैला है वह? किंतु, या भीतर और बाहर के यथार्थ को अपने परिप्रेक्ष्य ने काढकर आइडिया के रूप में भलगाहे दंग से छाला जा सकता है? “और तीस साल बाद...” दिल्ली की नगरों पर एक पागल भयळ रहा था, जो हर अनें-जानेवाले ने पूछता था—“तुमने मेरी कलापा रेती है?” जैसी सज्जन-छलांगों ने भावनात्मक ‘प्रभाव’ पैदा करके क्या प्रामाणिक अनुभूतियों की एकनिविति और यथार्थ की रक्षा की जा सकती है? और क्या यही भय है कि ‘कमला’ को गोकर आदमी ‘पागल’ ही हो जाये? जो सचाई हम देखते हैं यह तो यह है कि अपने नारे ‘ईमानदार, एकनिष्ठ प्यार’ के दावजूद, ‘कमला’ की

खोकर नायक प्रायः पागल नहीं होता—अपनी कमी को भरने के दूसरे साधन खोज नेता है, या किसी लड़की की सारी जिन्दगी से खेलकर अपनी 'प्रीड़त' के क्षणों में उसे वेवकूफी मानता है, उस 'जाल' से वच निकलने का सन्तोष पाता और दोस्तों में बैठकर दोबी बधारता है (ग्रमरकान्त की कहानी 'पलाश के फूल')। तर्क के लिए मेरे सामने एक भोला-सा चेहरा आता है—“अगर प्यार सच्चा है तो आदमी को पागल हो ही जाना चाहिए।” और वह भोला चेहरा उस व्यक्ति का है जो अपनी कमला को खोकर विमला के साथ परम-सुखी है। हो सकता है, हजार में से एक पागल भी हो जाता हो; लेकिन हजार में एक की—और वह भी सम्भावना पर—कहानी क्यों हो? क्या हजार में नी सी नियानवे की कहानी नहीं हो सकती? ये नी नी नियानवे या तो नमय के प्रवाह में सब-कुछ भूल जाते हैं या मन में हल्का-सा दर्द पाते हुए चुपचाप जीवन को स्वीकार कर लेते हैं। उनकी जिन्दगी में तो कोई लांटरी नहीं चूलती। निश्चय ही कहानीकार के लिए वहुत बड़ा प्रश्नोभन और भावनाओं के नाटक का छाय है, जब एक आदमी की जिन्दगी में लांटरी चूलती है; लेकिन यह विषय भी कन सार्वभाषिक और कम नाटकीय नहीं है कि किस तरह हजारों लोग जिन्दगी-भर रुक्कद-टिकट, कॉस्टर्ड भरते रहते हैं, हथेलियाँ दिखाते और अङ्गूष्ठियाँ पहनते रहते हैं, किसी लांटरी खुलने की उम्मीद में घिसटते रहते हैं और लांटरी करनी नहीं चूलती ('भावनेहार')—भीष्म साहनी, 'मिं भाटिया'—मीहन राकेश, 'नविष्यवक्ता'—राजेन्द्र यादव), गोली खाकर मर जानेवाला आदमी ही शहीद नहीं होता, शहीद वह भी होता है (और नी-सी नियानवे वही होते हैं) जो अपनी सारी महत्वाकांक्षाओं को दफनाकर अपने की 'मार' लेता है (श्रीलाल शुक्ल की कहानी, 'शहीद')। अपवाद घटनाएँ-दुर्घटनाएँ, अपवाद अनुभूतियाँ और अनुभव-प्रसंग, अपवाद व्यक्ति (हीरो) ही कहानी क्यों बनाएँ, विलकुल ही सामान्य लोग, अपनी और आसपास की सामान्य घटनाएँ और सामान्य अनुभूतियाँ क्यों न कहानी बनें? हर आदमी की कहानी उतनी ही सशक्त, नाटकीय और अर्थपूर्ण कहानी है—वह चाहे जितना सामान्य और लघु क्यों न हो...

इस प्रकार सरल, सामान्य स्थितियों और लघु-मानव का (हीन-मानव का नहीं) जो शान्दोलन कविता में '५०-'६० के बीच में हिन्दी में आया, कहानी में उसकी चेतना '४०-'५० के बीच ही आ गयी थी और विना आकस्मिक मोड़ों, दुर्घटनाओं, संयोगों वाले निहायत ही साधारण लोगों की कहानियाँ, वर्ग-संघर्ष के घटनापूर्ण कैनवास पर रखकर, समाजादी लेखक लिख रहे थे—अगर वहाँ दुर्घटनाएँ और घटनाएँ थीं तो वे देश के ऐतिहास, या ऐतिहासिक घटनास्था की थीं। सामान्य व्यक्ति की यह चेतना व्यक्तिवादियों में भी थी। लेकिन एक के सामने सामान्य और अपवादहीन वास्तविकता के लिए 'अर्केल' आदमी की विलक्षण, विचित्र अनुभूतियाँ और मन के स्तर-प्रस्तर हो गये थे, और दूसरे के लिए साधनहीन, शोषित, उपेक्षित मानव की ऐतिहासिक महत्ता। और दोनों को चूंचि प्राण-भ में न्यायित अपवाद व्यक्ति अर्थात् हीरो और अपवाद परिस्थितियों (संयोगों) के गिराफ़ लड़े होना था—इसलिए अपने-अपने नायकों को लेकर उनका लहजा बकील का होना पा और दोनों अपने-अपने नायकों में उन्हीं महानताओं की खोज और प्रतिष्ठ

करते थे जिसका उन्होंने पहले नायक में विरोध किया था।

यथार्थ की इस संचेतना में एक जिन्दगी की स्लाइस को ऊपर से नीचे की तरफ काटता था तो दूसरा विस्तार की तरफ। अपने अनुभवों और प्रभावों से बाहर गये बिना, इक अतीत की ओर जाना कहानी का विकास मानना या तो दूसरा भविष्य की ओर... इक के लिए कहानी संस्मरण-स्मृति थी तो दूसरे के लिए दिवा-स्वप्न या स्वप्नाशा... इक भिंडे अपनी कहानी लिख सकता था तो दूसरा अपने सिवाय हरेक की। 'पर्सनल ऐसे' निखना छोड़कर नव नोग कहानी लिखने लगे थे, वही उसका रूप था...

उन दोनों कथाकारों की दिक्कत यह थी कि जिस वर्तमान और जिस यथार्थ की ओज में इन्होंने पुरानी विद्या को झुठलाया—अपवाद (एक्सेप्शनल) से सामान्य (कॉमन) की ओर मुँह किया था, वही वर्तमान यथार्थ और भी अनदेखा ही रह गया। जिस क्षण और अविनित से बाहर और भीतर, आगे और पीछे, लम्बाई और गहराई में, व्यक्ति और समाज में, इतिहास-सत्य और अनुभूत-सत्य की ओर, स्मृति और स्वप्न के क्षेत्रों में ये यात्राएँ होती थीं—वे क्षण और व्यक्ति दोनों ही नगण्य या निमित्त हो उठे थे। न उस क्षण का कोई अर्थ था, न उस व्यक्ति का कोई व्यक्तित्व। दोनों ही यात्रा-प्रारम्भ के बढ़ाने थे। ऐसे चिह्न थे जो इंट से भी बनाये जा सकते थे और पेड़ से भी। 'भविष्य का अनन्त विस्तार' और 'अतीत का अज्जन भण्डार' अपने आगे कोई सीमा-रेखा नहीं मान रहा था, इगलिए कहानी का रूप भी दीला हो गया—वह कहाँ से शुरू होकर कहाँ नमाप्त होगी, कोई भी नहीं जानता था। "जिन्दगी की क्या कोई मर्यादा और सीमा है?" का तर्क साध या और जिधर कहानी वह जानी थी, वही उसकी दिशा हो जाती थी। जहाँ जिन्दगी न्यक्ती थी वही कहानी का आरम्भ या अन्त था। व्यक्ति के अतीत की ओज में देखर की फाँसी की रात कहानी का आरम्भ है, तो समाज के भविष्य की ओज ने निकले (देखदेही) न्यना की मृत्यु कहानी का अन्त। यहाँ गहराई और विस्तार की, दिशा और कान की यात्राएँ भी द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार यथार्थ पहले गढ़ा जाता था, फिर विशेषज्ञित हो गया। गृन्वना-सूत्र व्यक्ति या प्रवृत्ति ही रह गये। गठन औभी भी, अपेक्षित था।

अपने यथार्थ-वोध और कहानी के इस रूप-प्रयोग के साथ-साथ, दोनों वर्ग एक और सूचि का निर्माण कर रहे थे। कुलीन, धीरोदात्त नायकों की भीतरी विकृतियों और गुणाओं को शहीदों की तरह स्वीकार करना ही या अकुलीनों-उपेक्षितों में धीरोदात्त नायकों के गुणों को प्रतिष्ठा; दोनों वर्ग धीरोदात्तों की नामन्ती नैतिक मान्यताओं को ही स्वीकार कर रहे थे। 'मनुष्य की महानता' का अर्थ सामन्ती नायक की महानता या चरित्र-गुण, शील और उन्हीं नैतिक मूल्यों की खोज या उनका एकदम वहिपकार हो गया था। चित्त, धीन, प्रेम, त्याग, उदारता, दया इत्यादि को मूल्यों के रूप में नहीं, हृदियों की तरह ही उपेक्षान्यों स्वीकार कर निया गया था। 'नमस्त्या' उन्हें एक वर्ग ने उड़ा-कर दूसरे वर्ग में ले आने की थी। जिस तरह हताह नामन्त कहता है: 'अपनी सारी दोन्हां जो मैं गुरु फूंक दूँगा; नैकिन तुम्हें नहीं दूँगा।' उनीं तरह वर्ग भी मानो कहता था कि मैं अपनी महानता और उपलब्धियों को तुड़ अपने ही द्वायों नोड़ दूँगा, दूसरों में

उनकी प्रतिष्ठा को स्वीकार रहीं कहेंगा । उधर मानो दूसरा कहता था : 'महानता का कोई गुण तुम्हारे पास नहीं रहेगा, उसे तुम्हारे सिवाय सबको वाँट दिया जायेगा ।' लगता था जैसे महानता के गुणों को जड़, निर्जीव और परिवर्तनीय मानकर उनके लिए छीन-झपटी हो रही थी । सामन्तों, पूजीपतियों की अच्छी वातें, अच्छी चीजें छीनकर शोपितों में वाँट देनेवाले नारे का ही यह 'सांस्कृतिक हृप' आ और सर्वहारा या शोपित और शूद्र जनेऊ-पूजा और छुआछूत का पालन करके 'उच्च' बन रहे थे । 'उनसे भाड़-फ़ानूस, क़ालीन-परदे, बन-दौलत छीनकर हम भोंप़डियों में सजा देंगे' की दृष्टि महानता को भी ऐसी ही जड़ वस्तु मान बैठी थी और वह भूल गयी थी कि हर वर्ग और युग की नैतिक मान्यता, नैतिक महानता अलग-अलग ही नहीं होती, बदलती भी रहती है । शील, विवाह, नैतिकता, सैक्स के बारे में या तो प्रगतिशीलों की अपनी कोई धारणा ही नहीं थी (मैं केवल भारत की बात कह रहा हूँ) : और एक अजब उच्छृंखलता का भाहील था, या फिर वही आर्य-समाजी सामन्ती नैतिकता ही उनकी अपनी भी मूल्य-संहिता थी । शील, विवाह, परिवार, व्यक्ति की पुरानी मर्यादाओं को दाश्वत-मूल्य स्वीकार करके ऐ 'नारी-मुक्ति' का आनंदोलन चला रहे थे । और यह सब श्रीद्योगीकरण की नयी परिस्थितियाँ आते ही छिन्न-भिन्न होने लगीं ॥

इन कुछ झड़ियों और विन्दुओं से आज की कहानी का 'आनंदोलन' शुरू होता है ।

○ ○

नौजवान लोगों के पास कोई अतीत नहीं है, और भविष्य उनसे छीन लिया गया है । न वे भविष्य के यूटोपियन सपनों में भाग सकते हैं, न अतीत के पूर्णश्वैकीय संस्कार में । वर्तमान उनके लिए आशा और अतीत में छलांग लगाने का निमित्त बनकर नहीं, ऐसी अनिवार्यता बनकर आया है, जिससे कोई छुटकारा नहीं है । बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ की थीं, मधुरतम यादों में खोये रहे थे, लेकिन वर्तमान को झुठनाया नहीं जा सका । अब अगला-पिछला, वर्तमान को नमस्ते के लिए आये तो आये । हर प्राचीन झूठ था और हर भविष्य एक 'छानवा'... चाहर और भीतर कोई दर्शन, कोई संस्था, कोई व्यवस्था, कोई आदर्श नहीं—इननिए कहीं और से 'दृष्टि' लेकर अपनी समस्या को हल कर लेने का भी नवाल नहीं है ।

यों नये लोगों—विदेषकर श्रीकान्त वर्मा इत्यादि—ने भी बाहर से अस्तित्व-वादी दृष्टि लेकर 'अपनी स्थितियों' पर कहानियाँ लिखी ज़रूर हैं, मगर यह भी वही 'भाड़ी' (श्रीकान्त वर्मा) है, जिसमें नार्कर्मवादी और व्यक्तिवादी दोनों उलझे रह गये थे । युग का स्वर जिन लोगों ने बनता है, उनके सामने दीवार है और कोई खिड़की खुले आसाना या फैले नागर की ओर नहीं खुलती । उन्हें अपनी कोई परछाई भी दिखाई नहीं देती, और विना परन्दाज्यों के ये लोग, राष्ट्रीय-अल्टराष्ट्रीय द्वावरों में घुटते चले जा रहे हैं । वडे-वडे निर्णायिकाएँ और नृजनों में इनके लिए कोई जगह नहीं है और नामने 'कोई लक्ष्य ऐसा नहीं है जिस पर इनका भाग व्यक्तित्व खिचे धनुष की प्रत्यंचा की नरहत तन उठे ।' निर्माण तथा नृजन की यह इच्छा 'अपने ने बड़ा' कोई आधार, उदात्तीकरण का कोई गवाध न पाकर अपने में ही लौट आयी है । सारी निमृद्धा अपने मूल-उत्स, मैक्स-

अर्ज पर ही केन्द्रित हो गयी है और अधिकांश कहानियाँ वडे सृजनों से तोड़े और फेंके गये लोगों की सैक्स-केन्द्रित कहानियाँ ही लगती हैं। वहाँ वे अपने होने का आश्वासन खोजते हैं। यहाँ भी पुरानी नीतिकता का कोई बन्धन, मर्यादा का कोई पुराना अंकुश नहीं है, क्योंकि वे सब पुराने ढोंग और ढाल हैं। नये व्यक्ति को ऐसे किसी भी 'पूर्वग्रह' में विश्वास नहीं है, परिणामतः सैक्स के चित्रण अधिक संकोचहीन और इनहिविशन्स-मुक्त हो गये हैं, और उन्हें विद्रोह के रूप में नहीं, स्थिति के रूप में ही अधिक लिया जा रहा है—गाहनपूर्वक और जिन्दगी की वर्त कहकर। मुझे वडा अजव लगता है जब यहाँ पर भी 'एनील-ग्रनील' की समस्या को लेडी चैटलीज़-लवर, लोलिता, वैल आँफ लोनली-नेन, पेटन-जेन या फँनीहिल के सन्दर्भों में सुलझाया जाता है।

चारों जिम्मेदारियों, जावाहदेहियों से मुक्त संवेदनशील व्यक्ति सामनेवाले क्षण ने ही चिपका है। आज व्यक्ति, समाज में उत्तरने का माध्यम और क्षण, पीछे लौट जाने का निमित्त भी नहीं रह गया—क्योंकि कम-उम्र के लोगों के लिए 'खूबसूरत यादों' का कोई ऐसा धरणस्थल भी तो नहीं है। धीम-पचीस साल के अतीत में ऐसा कुछ भी तो महान्, स्मरणीय, आकर्पक नहीं है—सिवाय कुछ किशोर ऐडवेन्चरों के, जो आज वडे नहीं लगते हैं। वर्तमान की विभीषिका से भागकर मुँह छिपाने के लिए वह अतीत बहुत ही नाकामी लगता है... भविष्य का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। वर्तमान की मूल्यहीन विभीषिका को मम्पुर्णतः स्वीकार और वाकी सबको सम्पूर्णतः अस्वीकार कर देने के सिवाय कोई चारा नहीं है। अतः कहानी का अनुभूति और समय-क्षेत्र सिमट गया है और दोनों जगहों पर वह वर्तमान और केवल वर्तमान की कहानी रह गयी है...

लेकिन 'नदी के द्वीप' की तरह कटे-छेटे इकलौते वर्तमान व्यक्ति की कहानी नहीं, आस-गास के सम्बन्धों, राष्ट्रीय-आन्तरराष्ट्रीय घातों-प्रतिघातों, भीतरी-वाहरी दबावों, अपने हर सम्पर्क-सम्बन्ध के विचारों को निरन्तर महसूस करके जीनेवाले व्यक्ति की यह द्वार्देश्यं परिणाम भी है और दूसरे में उन परिणामों को जन्म देनेवाला कारण भी। इसनिं आज कहीं कोई सलनायक नहीं है। पहले लोगों ने जब नायक को खत्म किया था तो समाज या व्यवस्था को सलनायक बनाया था। ('नदी के द्वीप' में चन्द्रमाधव के रूप में एक विचारधारा सलनायक है) आज हीरो और विलेन दोनों शायद हैं, या एक ही व्यक्ति दोनों हैं। वह अधूरा यथार्थ नहीं, अच्छाई-युराई को एक साथ मिलाकर—नमूरून्, प्रविभाज्य वास्तविकता की स्वीकृति है।

स्थितियों ने कहानी के प्रारम्भ और अन्त भी बदल दिये हैं। किसी एक जिन्दगी को स्वीकार करके उसके लिए जीने और मरने से कहानी का अन्त और आरम्भ नहीं होता; बल्कि चुनने और न चुनने के दृम्य, या चुन लेने की मजबूरी और उसके बीच के नीचे इटटाने से कहानी बनती और बढ़ती है जो कहीं-कहीं विरोधहीन समर्पण की दिशनि तक या गयी है। यह चुनाव जीविका का भी है और जीवन-सम्पर्कों का भी... आदमी जारी है, नदी जाने को फ़ालतू और मिस-फ़िट पाता है। अपने दर्द को श्रेष्ठता भोगना और इन भोगने की प्रविष्टा में अकेला होता चला जाता है—लगता है जैसे एक आदमी दूरांत की समझता ही नहीं। हरेक दूरांत के लिए अन-समझा और विरादरी-

वाहर है। वह जनाकीर्ण रेगिस्ट्रान में अकेला और अजनवी है और इस अकेले-अजनवी-पने से धुट या ऊवकर भीड़ में भी भाग जाना चाहता है। औद्योगीकृत शहरों की ओर दीड़ता है और 'वापसी' के इस प्रयत्न में कहाँ 'अलग' पड़ता जाता है। यह कशमकश और छटपटाहट ही आज की कहानी का 'द्वन्द्व' है, मूल थीम है। आदमी अपने आप से डरता भी है और अपने को समझना भी चाहता है...

सामने की दीवार और भीतरी छटपटाहट के बीच उसकी स्थिति क्या है? उसे कैसे समझा और समझाया जा सकता है? इस व्यक्तिगत उलझन (एनिमा) को कैसे सम्प्रेषणीय बनाया जायें, क्योंकि अब इसे अपने तक ही रख पाना असम्भव हो गया है? क्या अपनी वात को कोई ऐसा कोण दिया जा सकता है कि वात अपनी भी हो और युग की भी? क्योंकि चाहे जितनी व्यक्तिगत वात हो, है तो इसी युग में। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि वह अपने प्रस्तुत अर्थ में विशिष्ट और अद्वितीय होते हुए भी प्रतीकार्थ में सवकी हो, व्यक्तिगत दर्द का एक सामाजिक और युगपरक अर्थ भी हो! क्या कथ्य में से ही प्रतीकों की खोज और रेखांकन नहीं किया जा सकता? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कहानी के प्रासंगिक—रिलैवेण्ट—डिटेल्स ही घटन्यार्थ में बड़े और युग के पूरे परिवेश को भी छुएँ?

इस धारणा ने प्रतीकों और सांकेतिकता के प्रति भी लेखक के दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया है।

स्टीनबेक की कहानी 'साँप', अजेय की कहानी 'साँप' या 'हीलीबोन की बत्तें', पहाड़ी की 'हिरना की आँखें' इत्यादि या तो फ़ॉयडीय प्रतीक हैं, या कम-से-कम उन्हें समझने के लिए फ़ॉयड के स्वप्न और प्रतीक की प्रतिपत्ति को जानना अपेक्षित है, वरना इन कहानियों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में, इन प्रतीकों की परिकल्पना को वाहर से लाकर गूंथा गया है।

दूसरी ओर जैनेन्द्र की 'पाजेव', कमलेश्वर की 'साँप' या राजेन्द्र यादव की 'नेत-खिलौने' के प्रतीक, कथ्य के ही अविच्छिन्न भाग हैं और उनके अर्थ समझने के लिए कहानी को ही ध्यान से पढ़ने और जिन्दगी को जानने के अतिरिक्त किसी दर्शन या मनोवैज्ञानिक प्रतिपत्ति को नहीं समझना पड़ता। 'पाजेव' का प्रारम्भ-वाक्य है: "वाजार में एक नयी तरह की पाजेव चली है..." उनकी कड़ियाँ आपस में लचक के साथ जुड़ी रहती हैं कि पाजेव का मानो निज का आकार कुछ नहीं है, जिस पाँव में पड़े उसी के अनुकूल ही रहती हैं।" यह पाजेव उस 'भूठ' का प्रतीक है जिसकी एक के बाद दूसरी कड़ी पाँव में पड़ती ही चली जाती है। सार्व की 'दीवार' के प्रतीक को समझने के लिए, कहीं-न-कहीं अस्तित्ववाद के दर्शन को समझने की जरूरत है, हालाँकि दीवार कहानी की अनिवार्य स्थिति भी है। लेकिन राकेश की 'मलवे का मालिक', 'आखिरी नामान,' निर्मल की 'परिन्दे', मनू की 'चड़मे', 'जँचाई', रघुवीरसहाय की 'सेव', निवप्रसाद सिंह की 'अन्धकूप' इत्यादि कहानियों के प्रतीकों को कहीं वाहर से समझने नहीं जाना पड़ता।

प्रतीक की सांकेतिक सार्थकता, बड़ी वात को संकेत और व्यंजना द्वारा स्पष्ट

कर सकना, पूरे परिवेश को ध्वनित कर सकने की शक्ति और सम्प्रेषण की सार्वभौमिकता—स्थिति को समझने, उसकी गहराई या घनत्व (इन्टेन्सिटी) के संवेदन में सहायता जहर देती है; लेकिन गतिशील यथार्थ को समझने का जो प्रयत्न अज्ञेय ने 'शरणदाता', अभरकान्त ने 'जिन्दगी और जोंक', कमलेश्वर ने 'राजा निरवंसिया', 'नीली भील' में किया है वह प्रतीक के प्रयोग की दृष्टि को बदलने में भी सहायक है। 'राजा निरवंसिया' में दो युगों की संवेदनाओं को एक ही अन्विति में प्रस्तुत करने के प्रयत्न में, प्रतीक की सार्यकता को कमलेश्वर 'माँ कहानी सुनाया करती थी' कहकर बाहर से ही लाता है, अभरकान्त की 'छिपकली' की तरह प्रतीक कहानी का अपस्थिर्य भाग नहीं, अन्तर्मुक्त स्थिति नहीं है।

प्रतीक की शक्ति और प्रभाव स्वीकारते हुए भी; उसकी अपनी एक सीमा है। उससे एक स्थिति और कथ्य स्पष्ट होकर रह जाते हैं, सन्दर्भ के अन्वेषण की दिशा में गति नहीं आ पाती। बल्कि कहना यह चाहिए कि प्रतीक वहाव को बांधकर ही अपने अर्थ स्थापित कर पाते हैं। प्रतीक की यह सीमा रमेश वक्षी की कहानियों में बहुत अधिक स्पष्ट है; जहाँ इस तरीके को मैनरिज्म—रुदि—की हड़ तक स्वीकार कर लिया गया है, वहाँ प्रतीक रह-रहकर रूपक और अन्योक्ति बनने लगते हैं—यथार्थ उनके हिसाब से मरोड़ा जाने लगता है। उस स्थिति में प्रतीक, कथ्य के सन्दर्भ में स्थितियाँ उजागर करने या उन्हें संगति देने नहीं आते, पुराने लेखक के आइडिया की तरह पहले प्रतीक आते हैं फिर उनके लिए कहानी, स्थितियों की कल्पना कर ली जाती है। प्रतीक कहानी ने नहीं निकलता, कहानी उसके लिए निकाली जाती है और प्रकारान्तर से प्रतीक ही कथ्य हो जाते हैं। नाटकों में 'मादा कैटस' इसका उदाहरण है।

कहानी में प्रतीक बहुत भटकानेवाले (मिस-गार्डिंग) भी हैं और वात को बहने, स्पष्ट करने, सम्प्रेषित करने का सशक्त माध्यम भी। बूनिन की कहानी 'जिण्ठलमैन फॉम सैनफ़ान्सिस्ट्स' में मरा हुआ आदमी, मनुष्य की मरी आत्मा और जहाज पूँजीवादी जन्मता का प्रतीक है और आज के युग की विराट्तम ट्रैब्ली की विभीषिका को जिस तरह प्रस्तुत कर देता है, मैं नहीं समझता इतनी बड़ी वात को किसी और तरह भी कहा जा सकता था। वह कहानी की एक अनिवार्य अन्विति भी है और कहानी की गति उससे कहाँ लगती भी नहीं। हैमिरवे की कहानी 'स्लोज ओफ़ किलिमंजारो' या जॉवस की 'द हैंड' में वर्क की पृष्ठभूमि केवल वातावरण ही नहीं बनाती, एक और बहुत बड़ी वात भी कहती है और वह वात यिन प्रतीक का माध्यम अपनाये कहना शायद सम्भव नहीं था। कथा का उपजीव्य बन जाने के झूठते और बाहरी सीमाओं के बावजूद प्रतीक ही एक ऐसा विधान है जिसमें दूर तक चले जाते प्रभावों और परिणतियों को व्यंजित किया जा सकता है और पाठक प्रस्तुत के कथ्य की विराट्ता को स्वर्यं, सायास प्राप्त करने की अनुष्टुप्ति भूमूल करता है। कहानी, वोध के कई स्तरों पर घटती हुई लगती है। प्रतीक के अर्थ को आत्मसात करना, चलती हुई रेल की (जिसमें अपना जीवन भी जिया जा सकता है) गिरुकी सोनकर लहराते सागर का विस्तार, हिमानी चीटियों के गर्वोन्नत भास, नैप्टस्टेप्स को स्वर्यं दोजने और उनमें अभिभूत होने की अनुभूति को जीना है।

इस प्रकार के प्रतीक-विवान की न्यूट्री यह भी है कि पाठक को पकड़ से यदि प्रतीक चूक, जाये तब भी कहानी के भाव-बोध और आस्वादन में बाधा नहीं पहुँचती—नहीं पहुँचनी चाहिए। इसमें खतरा यही होता है कि कहानी इतनी प्रतीक सापेक्ष न हो जाये कि या तो युक्ति-हीन स्थितियों का अभीतिक अम्बार लगे या बाकी सारी कहानी प्रलैट होकर रह जाये। 'पाजेव' का प्रतीकार्थ समझे विना भी उसे एक अत्यन्त सफल मनोवैज्ञानिक कहानी की तरह पढ़ा जा सकता है। धायद आज तक वह कहानी इसी तरह पढ़ी भी जाती रही है। हैमिरवे की 'ओलटमैन एण्ड द सी', स्टीनवैक की 'द पल्स', टामस मान की 'ब्लैक स्वान' इत्यादि कहानियां प्रतीक समझ में आये विना भी पर्याप्त रोचक और सशक्त कहानियों की तरह पढ़ी जा सकती हैं।

मगर जैनेन्द्र की 'नीलम देश की राजकन्या', पार लागरविस्ट की 'नरक ले जानेवाली लिफ्ट' और काप्का जैसे लोगों की कहानियां इतनी अधिक प्रतीकाधित हैं कि विना उन्हें समझे वे जादू की कहानी या फँण्टेसी ही लगती हैं। अच्छा-ज्ञासा आदमी सोये और जागकर पाये कि वह कीड़ा बन गया है (मैटामार्कोसिन), या आदमी ऐसे द्वीप में जा-पहुँचे जहाँ तरह-तरह की यन्त्रणादायक मशीनों का आविष्कार होता हो (पीनल सैटिलमेंट) ... ये कहानियां कम और रूपक अधिक हैं और इतनी छूट लेने पर हर असम्भाव्य घटना को प्रतीक बनाकर चला दिया जाता है। विना बायुयान इत्यादि के आदमी का पक्षियों की तरह उड़ना पहले एक किशोर-कल्पना थी, फिर स्वप्न-नीवेन्स का एक दृश्य हुआ और आज आप 'चारू-चन्द्रलेस' की तरह किसी भी आदमी को उड़ाकर आसानी से बता सकते हैं कि यह प्रतीक है। काप्का की बात करते हुए मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अवधारणात्मक यथार्थ की दृष्टि से मैं उसे संसार का मयकततम लेखक मानता हूँ। मगर उसकी कमज़ोरी यह है कि रचना को समझने के लिए (या उससे भी पहले) काप्का की मानसिकता या यथार्थ-बोध को समझना ज़रूरी है। यानी काप्का की कहानी खुद काप्का को समझने के बाद ही अपनी सम्पूर्णता में सम्प्रेरित हो पाती है।

बहुत अधिक प्रतीकाग्रह अप्रस्तुत के नाम पर प्रस्तुत को एकदम प्रलैट, नीरस, युक्तिहीन और असम्भाव्य बना देता है। भगवतीचरण वर्मा के 'सीमा और सामर्थ्य' उपन्यास में रानी को आज की सत्ता का प्रतीक बनाकर उसे प्राप्त करनेवालों की जो स्थिति और व्यक्तित्व बनाये गये हैं वे हास्यास्पद, अवैज्ञानिक और असम्भाव्य हैं—यह स्थिति उपन्यास के अन्तिम दृश्य में सवाले अधिक स्पष्ट है। प्रतीकों का यह बलाराइ-सेगन जैनेन्द्र की 'विज्ञान' जैसी कहानी में भी स्पष्ट है।

इस तरह देखा जाये तो दुनिया की हर चीज ही प्रतीक है। कहानी का कोई भी पात्र अपने आपमें कुछ नहीं होता, किसी-न-किसी का प्रतीक होता है। बल्कि असंख्य मध्यवर्गीयों की एकरस जटोजहृद का प्रतीक हो जाता है और वस पर लटकते हुए जाना आज की गति में श्रापाधापी मचाते तन्तुलन दोजने का। जब मेज़, मकान, पेड़-पौधे नभी प्रतीक हो जाते हैं तो अपना नह, अर्थ और व्यक्तित्व जो देते हैं—हम उन्हें उनके अपने रूप में न देखकर, किसी बड़े और 'अपने पार' को व्यंजित करने के माध्यम के

रूप में ही देखना पसन्द करते हैं, देखकर भी उन्हें नहीं देखते। इस प्रक्रिया में ध्वन्यार्थ अस्पष्ट और प्रतीक ऐस्ट्रैट कहते चले जाते हैं...एक ही प्रतीक इतने ध्वन्यार्थ देने लगता है कि कथ्य का पता लगाना मुदिकल हो जाता है। तब अनेक प्रतीक मिलाने की दूसरी प्रक्रिया शुरू होती है, अर्थ-निश्चिति की दिशा में प्रतीकों के कवि-मुलभ सम्मिश्रण-प्रयोग होते हैं और अच्छी-खासी कहानी क्रौसवर्ड पहेली बन जाती है। निर्मल वर्मा की 'जनती भाड़ी' और मोहन राकेश की 'म्लास-टैक' पढ़ लीजिए। 'म्लास-टैक' में पूरी स्थिति, गति ग्लास-टैक में तैरनी मधुलियों के जीवन का प्रतीक है, फिर हर पात्र स्वतन्त्र रूप से ग्लास-टैक है जिसमें अनेक मधुलियाँ कुलबुलाती हैं और सारी कहानी शून्यवाद की ऐसी पहेली है जिसमें ग्लास-टैक में से ग्लास-टैक घटाओ तो ग्लास-टैक ही हाथ आता है, हाथ नहीं आती तो वह पीड़ा, दर्द और घुटन जिनके लिए ग्लास-टैकों की यह सारी क्षतार लगायी गयी है। लगभग उसी भूमि पर लिखी गयी दूधनाथ सिंह की कहानी 'आइसवर्ग' या शानी की 'एक नाव के यात्री', मुझे लगता है, उस दर्द को अधिक प्रभविष्णुता से अभिव्यक्त करती हैं।

० ०

हिन्दी की आज की कहानी को प्रतीकों ने निश्चय ही सार्थक कलात्मकता और साकेतिकता प्रदान की है। अन्तर्जंगत के लक्ष्यहीन बहुते यथार्थ को लक्ष्य; और वहि-जंगत की नव्योन्मुख दौड़ती वास्तविकता को गहराई दी है। यथार्थ—कथानक—पहले गहा जाना था, फिर उनकी प्रतिक्रिया में विश्रृतलित हो गया—अब उसे सार्थक गठन देने का थेय भी प्रतीकों को ही दिया जायेगा।

हाँ, प्रतीकों का महत्व इतना ही नहीं, इससे कुछ अधिक भी है। उनकी लाक्षणिक प्रकृति ने जहाँ गम्भीर अर्थवत्ता को पकड़ने और उनके सम्प्रेषण के 'साधारणी-करणता' की दिशा में अनेक प्रयोग करने का नीरब दिया, वहाँ व्यक्ति के अपने अनुभवों से तटस्थ होकर देखने की निर्वेचितकता भी दी। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि प्रतीक-पद्धति ने हम आपनी संवेदनाओं, अनुभवों से हटकर उन्हें दूसरे आदमी की निगाह से देता है, उन्हें परिष्कार देते हैं और अनजाने ही यह 'दूसरे की निगाह' पाठक के भागारणीकरण की भमल्या को भी हल कर देती है। उनके अधूरे और नाकाफ़ीपन तो पाठक अपनी कल्पना में पूरा कर लेता है और जो कुछ उपलब्ध होता है वह उसे दृष्टि-संस्कार देता है, उसके अपने राग-बोध का अंग ही जाता है।

बस्तुतः आज की कहानी में प्रतीक हैं क्या? मैं जानता हूँ ऐसा सीधा-सा सवाल करके कोई सीधा-सादा जवाब पकड़ा देना बेहद खतरनाक है, लेकिन शास्त्रीय दृष्टि से रेगा जाय तो शब्द और अधार भी प्रतीक ही हैं। पहले हर बात पूरे-पूरे चित्रों में कही जाती थी, अब नहीं: चित्रों से रेगाएँ कम होती गयीं और अनावश्यक टिटेल्स छोड़कर ऐसी आवश्यक और प्रतिनिधि रेगाओं के नुनाव की प्रक्रिया शुरू हुई जिसमें पूरा चित्र घरनित किया जा सके। पाठक के संस्कार में पूरा चित्र था ही, केवल उने याद कराने के लिए लियों नंकेन या प्रतीक की आवश्यकता थी। क्रमगः वे रेगाएँ और भी नूड्म और छोटी हुईं—परं कर कि कगानन्तर में तीर्य उनके पौद्धे के संकेतित चित्रों को

अनावश्यक समझकर भूलते गये और वे रेखाएँ ही उनके लिए अभिधा हो वैठीं। प्रतीक अपने अर्थ खो वैठे। उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता हो गयी और अनेक अक्षर मिलकर फिर किसी वस्तु का संकेत देने लगे और वस्तुएँ शब्दों के प्रतीकों से व्यंजित होने लगीं। निराकार भावों को संकेत देने की प्रक्रिया में वस्तुएँ स्वयं ही इन भाषा-प्रतीकों को सूक्ष्म करने लगीं।

इस जटिल विश्लेषण में न पड़ कर यह कहा जा सकता है कि कहानी मूलतः चित्रों की ही भाषा है—मनुष्य की आदिम भाषा। पहले चित्र ठोस वस्तुओं के होते थे, आज वे बेहद संश्लिष्ट हो गये हैं। घटनाओं, स्थितियों, भावनाओं, संवेदनाओं, विचारों के सरल-जटिल चित्र होते हैं। इसीलिए पहले के चित्र रेखाओं, स्वरों, अभिनय से बनते थे—आज कहानी में शब्दों से चित्र या विम्ब बनते हैं। चित्रकार के रेखा और रंग को ही लेखन में भाषा और उसकी शक्ति कहते हैं। चूंकि भाषा द्वारा व्यंजित ये चित्र घटनाओं, स्थितियों, व्यक्तियों, अनुभूतियों के होते हैं, इसीलिए आज भी हम इन्हें 'देख' सकते हैं। 'फिक्शन एण्ड द अनकॉन्शस' में साइमन ओ' लेसर का तो कहना यह है कि कहानी की भाषा ही उन चित्रों की भाषा है जिन्हें 'देखा जा सकता है'। चित्र चाहे कितनी ही सूक्ष्म-संवेदनाओं के क्यों न हों, कहानी के माध्यम से हम उन्हें 'देख' सकते हैं। शायद इसीलिए कथा को किसी ने 'जेवी-नाटक' कह डाला है।

वहरहाल, इन्हीं चित्रों की किन्हीं विशिष्ट रेखाओं को, अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए प्रस्तुत विम्बों को जब अतिरिक्त अर्थों से संयुक्त कर दिया जाता है तो वे घुलकर प्रतीक बनने लगते हैं; और जब सारे चित्र का विधान ही इस आशय से होता है तो रूपक। 'कामायनी' या आन्द्रेजीद की कहानियों की तरह कभी यह किया सचेत और जान-वृभक्तर होती है, कभी अनजाने। कभी रचनाकार द्वारा होती ही नहीं। युगबोध के सन्दर्भ में कभी बाद का पाठक स्वयं अपनी ओर से ही उनके अतिरिक्त अर्थों को खोज निकालता है, या आरोप कर लेता है। मुझे नहीं पता, भगवतीचरण वर्मा ने कभी जाने-अनजाने 'चित्रलेखा' के पात्रों को इस प्रकार के अर्थ देने चाहे थे या नहीं—लेकिन आज आसानी से बीजगुप्त को प्रवृत्ति और कुमारगिरि को निवृत्ति का प्रतीक मानकर चित्रलेखा को इन दोनों के बीच भटकते 'मन' का रूपक दिया जा सकता है। जब हम सारी कथा को इस कोण से देखते हैं तो तीनों पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र के डिटेल्स घुलकर निराकार हो जाते हैं और अपने पार वे तत्कालीन मानस के नैतिक-द्वन्द्व को व्यंजित करते, एक बहुत बड़ी बात कहने लगते हैं। 'लेडी चेटलीज लवर' का लकवा-मारा सर चैटली, देखते-देखते असमर्थ-अशक्त अभिजात वर्ग का प्रतीक बन जाता है, गेम्कीपर मेलर सर्वहारा वर्ग का और मनुष्य की चिर-युवा जीवनी-शक्ति कोनी, उसी के पास शरीर-सुख की आध्यात्मिक तृप्ति पाती है... इस प्रकार युग की सबसे बदनाम अनैतिक-अश्लील कृति, युग का सबसे सा-र्थक रूपक बनने लगती है।

सात् करके, उन्हें पात्रों, स्थितियों में फैलाकर तटस्थ-भाव से देखने-समझने और पाठक तक पहुँचाने का प्रयाम है। अपने राग-बोध को अलग-अलग नाम-रूपधारी व्यक्तियों, स्थितियों में फैलाना, उन्हें अपने से तोड़कर सामने रख लेना है; उन्हें समझना और अनुशासित कर लेना है। इस प्रक्रिया की व्यक्तिगत अनुभवों से गुज़रने के साथ-साथ निर्व्यक्तिक दृष्टि ने उन्हें देखने-समझने का दृढ़ भी कह सकते हैं। व्यक्तिगत अनुभवों के अन्वेषण की दिशा में अधिक ग्रहणशील, संवेदनशील होते और उन्हें निर्व्यक्तिक दृष्टि ने देखने में अधिक नज़र बनाने की प्रशिक्षण-क्रिया भी है—अपने से ऊपर उठने का प्रयत्न और बोध दोनों। जिन संवेदना-चित्रों से लेखक उन अनुभवों-अनुभूतियों को पाना है, उन्हें अधिक नमूद्ध-सम्पादित और सार्थक करके, अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से अनुशासित करके, इस प्रकार सम्प्रेषित करता है कि दूसरे के लिए भी संवेदनीय बन जायें। या कहें कि वह 'दूसरा' ही इस निर्व्यक्तीकरण की प्रेरणा है। अतः पाठक के लिए फ़हानी पढ़ना उस अनुभव को अपने भीतर घटित होते हुए पाना और स्वयं उससे होकर गुज़रना भी है। अपने अनुभव को अधिक-से-अधिक सम्प्रेषणीय बनाने के लिए लेखक को भाषा में लेकर स्थितियों तक अधिक-न्यै-अधिक अपने की इन्द्रिय-संवेद बनाना पढ़ता है, ऐसे ही चित्रों में वान कहनी होनी है। परिणामतः आज पाठक के बल घटनाओं को समझता, वातावरण को देखता या चरित्रों को पढ़ता ही नहीं, पात्रों की संवेदना को अपनाकर, निचुएश्यन्त और परिवेद को अपने भीतर घटते हुए 'देखता है'। 'परिन्दे', 'नीली भील', 'थही सच है', या 'वादलों के घेरे' जैसी वातावरण-प्रधान कहानियों को भी पाठक जानता-भर नहीं, जीता भी है। उस सारे वातावरण को अपने भीतर जागा हुआ पाता है, नये मिरे से अपनी संवेदनाओं ने द्यानकर राग-बोध का अंग बनाता है—अपने-आपको अतिशमित करके, दूसरे की काया में, दूसरे के जीवन-परिवेद को जीता है।'

परिवेद और घटनाओं ने असम्पूर्कत व्यक्ति यातो स्थित-प्रक्ष होता है या पागल, और व्यक्ति से अन्य परिवेद-घटनाएँ मूचनाएँ होती हैं या आँकड़े। ऐतिहासिक दौर में गुज़रते हर व्यक्ति के भीतर मे पूरा-का-न्पूरा इतिहास गुज़रता है—वह इतिहास कोई भी हो। यही बोध ने नमूद्ध व्यक्ति को उसकी सम्पूर्ण सिचुएशन, या जीवन-परिवेद में पफ़ड़ना, उसकी व्यंगता या नारंकता को रेखांकित करना ही आज की कहानी का काम्य

१. 'फ़यासार यदि सचमुच जीवन का गहरा और व्यापक ज्ञान रखता है तो वह प्रसंग-स्थिति में वह मनुष्य की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को ही महत्त्व नहीं देगा, वरन् उस स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले जो वस्तु-सत्य हैं उनको दननेवाले तत्त्वों पर अर्यात् व्यवित्-स्थभाव की विशेषताओं, वास्तविकता की पेचीदगियों और अब तक चलते आये इन सबके विषास-प्रम पर, इन सब पर, अवश्य ही ध्यान देकर इस प्रसंग-त्विति के यस्तु-सत्य के ताने-याने (फ़तात्मक प्रभावशाली स्पृ में, भोड़े ढंग से नहीं) प्रस्तुत करेगा। और इस प्रकार व्यवित्-समस्या को मानव-समस्या बनापार एक व्यापकतर पाइवंभूमि में उसे उपस्थित करेगा। वैसा करना चाहिए।

—गजानन माधव मुखितदोष ('एक साहित्यिक की डायरी,' पृष्ठ १०८)

हो सकता है। मैं इसे ही युग का राग-वोध या आज कला का ऐतिहासिक दायित्व कहना चाहूँगा।

इस गहरे दायित्व से प्रतिवर्द्ध कहानी का ध्यान बहुत कम उसके रूप और प्रकार की रूढ़ियों की ओर है। उसकी वर्णन-शैली पत्रात्मक है या आत्मकथात्मक, वह डायरी है या विवरण, वह अपनी टेक्नीक में एप्टी-स्टोरी है या एट्ट्रैक्ट-स्टोरी—ये सब रूप हैं और जो लोग रूप (फॉर्म) लिखते हैं उन्हें रैडीमेड कपड़ों की दूकान खोल लेनी चाहिए। जब जिस चीज़ का फैशन आ जाये, वही उनके शो-केश की शीभा बढ़ाये। भोक्ता के जीवन-वोध के लिए ये सब बड़ी ऊपरी सतह पर आ-प्रकट होनेवाले परिणाम हैं—इसीलिए आज एक तो इस प्रकार के प्रयोग, प्रयोग के लिए हो ही नहीं रहे, और हों भी तो कहानी की प्रकृति से इनका सम्बन्ध बहुत ही कम है। कहानी की प्रकृति आज विवरणात्मक, रूपात्मक नहीं, संवेदनात्मक (इन्वोकेटिव) है। व्यक्ति और परिवेश के जीवन्त सम्बन्ध-क्षण को स्पन्दनशील और सार्थक सिचुएशन्स के रूप में प्रस्तुत कर देना, अपने अनुभव की प्रामाणिकता को वरकरार रखते हुए उनकी सीमितता को लांघना भी है। वह लेखक के लिए निर्वैयक्तीकरण और अनुभूति के अनुशासन की प्रक्रिया, या अपने व्यक्तित्व की मुक्ति और विसर्जन ही नहीं; पाठक की संवेदनाओं का विस्तार और संस्कार भी है—उसके व्यक्ति-जगत् में कुछ और अनुभूत-इकाइयों की अभिवृद्धि भी है।

जिन्हें आज की कहानी से यह शिकायत है कि वह व्यक्तिगत कुण्ठा का चिट्ठा रह गयी है, उन्हें एक अन्य वात की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। पहली अधिकांश कहानियों के नायक 'मैं' हुआ करते थे, और वह 'मैं' प्रायः लेखक ही हुआ करता था। आज की कहानियाँ फिर से तृतीय-पुरुष की कहानियाँ हैं, लेकिन इस तृतीय-पुरुष का व्यक्तित्व 'मैं'-जैसा ही अधिकारी और प्रामाणिक है—हालांकि हमेशा यह 'वह' लेखक स्वयं ही नहीं होता। इधर समकालीन कहानी के नाम पर इतिहास-चक्र को फिर पीछे लौटाया जा रहा है और कहानियों का तृतीय-पुरुष 'वह' अनिवार्यतः लेखक 'मैं' ही का प्रक्षेपित रूप, और सिचुएशन, लेखक का ऐसा व्यक्तिगत मूड है जिसमें वह कविता न लिखकर कहानी लिखने बैठ जाता है। जैसाकि हम देख आये हैं—आज की कहानी इसी लीक के विरुद्ध एक विद्रोह थी। इस कहानी का 'वह' अगर 'मैं' हो भी तो उसे अपने से दूर खड़ा करके बताना कि देखो—'वह' 'मैं' हूँ—कहानी की सारी दृष्टि में आधारभूत परिवर्तन का सूचक है। वह 'क' जो हार गया है; वह 'ख' जो घुट-घुटकर खिलर रहा है; वह 'ग' जो आस-पास की हर पवित्रता, आस्था, नैतिकता, विश्वास की रुढ़ि को तोड़ देना चाहता है; वह 'घ' जो दुराचारी है, भ्रष्ट है, चोर है; वह 'प' जो रिश्वत लेता है, अपरेटर-टाइपिस्ट लड़की की मजबूरी भोगता है; वह 'त' जो पति को 'धोखा' देती है; वह 'न' जो वर्ध्य जिन्दगी में कहीं न हो और मन के सुख का एक पल नोंच लेना चाहती है—'वह' कोई भी हो, 'न' ही ही हूँ—शायद हम सब हैं।

यह स्वर भट्की, नैतिकता विहीन, थकी, भविष्यहीन, दिनांक लिखने वाले का भी हो सकता है, नाम उसे कोई भी दिया जा सकता है; लेकिन

किया जा सकता कि यह 'कनफ़ेशन' करनेवाले व्यक्ति की उदात्त निष्ठा और लल-कारते साहस की ईमानदार आत्मा का स्वर है। श्राव्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक 'महानता' के हर सेतु के बीच में ही विश्वासघात कर देने पर, इस भूठ और फ़रेव के दंश से अपने-आपको मुक्त कर लेना बहुत बड़ी यातना से गुज़रना है, बड़ी ही तकलीफ़देह प्रक्रिया है... इस व्यक्ति की मजबूरी को सिर्फ़ सहानुभूति चाहिए...

नहीं, सहानुभूति फिर एक को अपने से छेंचा स्वीकार करने और उससे करुणा की बांधा लगती है और वह उसे और भी चिढ़चिढ़ाती है... 'तुम मुझे क्या सहानुभूति दोगे? तुम खुद भी तो उन्हें टूटे सेतुओं के शिकार हो!' उसे चाहिए, सिर्फ़ एक टिप्पणीहीन मह-अनुभूति... अनक्रिटीकली आइडैण्टीफ़ाइड अण्डस्टैंडिंग...

यह 'वह' 'मैं' ज़हर है; लेकिन सबसे अपने कपड़े बचाता, हर कीचड़ से बच-बचकर चलता, आस-पास की बदबू-कुरुपता से भुंभलाया, नाक पर रुमाल रखे, भौंहें ने, अपनी 'विशिष्टताओं' को संभालता-धोयित करता, कार से उत्तरकर जल्दी-जल्दी नाड़ के दरवाजे तक की दूरी, या किसी मन्दिर की सीढ़ियाँ तय करता 'मैं' नहीं। वह रामनामी मुरक्कान में भुक-भुककर सबके गले मिलता, एक आँख फ़ोटोग्राफ़र : रखे, हँस-हँसकर कम्बल, दूध, दिक्षा, शान्ति और परलोक वाँटता भेड़िया 'मैं' भी है—इन दोनों के दंश का नामूर भोगता, स्थिति से अन्तिम रूप से निराश, अपनी यति की आँखों में आँखें ढालता 'वह' है जो कल तक 'बेचारा वह' था और आज 'मैं' वह के कनफ़ेशनल आत्म-विश्वास के साथ अपनी छोटी-से-छोटी, ओछी-से-ओछी और छटी-ने-छटी बात को आपस में सचाई और भोलेपन के साथ कह ढालता है। बड़ी-दी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातों को भेजता है; लेकिन उन्हें कोई महत्व नहीं देता। 'करें तो उन्हें करने दो। न उनकी बातें हमें दूरी हैं; न उनसे हमारा भाग्य बँधा।' जैंची-जैंची बातें बोलना 'उनकी' आदत है। वे खुद जानते हैं कि जो कुछ वे कहते, उनका आग्रह उत्तर्व नहीं है। यह तो सिर्फ़ हमें फुसलाने की एक नयी शब्दावली है। नके पाग प्रेस और गाइकोफ़ोन हैं, इसलिए उनकी बातें तो हमारे आकाश में मैंडरायेंगी।; लेकिन अपनी यातना को तो हमें स्वयं ही भोगना है। सिवाय उस यातना में अभिधि करने के वे हमारी कोई भी मदद नहीं कर पायेंगे—नहीं करेंगे। हमें उनकी कोई जात नहीं दूरी। राष्ट्रीय-प्रन्तरीष्ट्रीय संकट की धोपणाएं, चीन और पाकिस्तान के खिले, इंग्लैण्ड और मिट्टिन-ईस्ट के खगड़, क्यूबा की माफ़त हस और अमेरिका की गीचातानी, पूर्व और पश्चिमी जर्मनी, हस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद—सभी के स्वर ऊपर जात्यों ने मैंदराते हैं और कोल-वार के नस-न्तोड़ दबाव, कोलाहल के कान-फोड़ तुम्हीणक में हमें तो एक ही बात पता है—किसी भी दिन कोई बम जान-बूझ-पर दा गलती से फटेगा और कुछ करोड़ लोग मुक्ति-लाभ करेंगे—ही सकता है उनमें हम भी हों; कि अनन्ती बार के बजट में फिर कुछ नये दंक्ष लग जायेंगे, जोहैं जाठ से नहर गाये गत हो जायेगा, चुनावों की आपाधापी होगी, फिर कभीशन बैठेंगे, किसी-अमोम्प भाष्ट मन्त्री को बचाने के लिए गून-पसीना एक कर दिया जायेगा, दफ़तरों से रहस्य और प्रादर्श गुपचाप चिनक जायेगे, न्याय-नियम को घोटकर कुछ को शील्ड किया

जायेगा, प्रधानमन्त्रित्व-पद के लिए जोड़-तोड़ होंगे, किसी 'चुके हुए' की वकवास को 'अकादमी पुरस्कार मिलेगा, हर अपराधी और अयोग्य सोर्स और प्रभाव खोज लेगा'... और कहीं दूर गोलियाँ चलती रहेंगी...' कराह-कराहकर रोते आदमियों की चीखें हमारे कानों तक आती रहेंगी...' अस्तित्व की माँग करनेवाले वियतनामी, अमेरिकन टैंकों और जैटों के नीचे कुचले जाते रहेंगे...' फिर उन सबके ऊपर मखमली कालीन विछा दिये जायेंगे और फिर बल्वोंवाली झंडियों के द्वारों से क्वीन ऐलिज़ाबेथ पधारेंगी, रेडियो रनिंग कमेण्टरी देगा...' लेकिन हम उस सबको स्विच-ऑफ करके किसी क्रिकेट की कमेण्टरी सुन रहे होंगे, किसी रेस्टराँ में ट्रिवस्ट देख रहे होंगे, किसी प्रेमिका के साथ 'सुख' का एक क्षण छीन रहे होंगे...' लेकिन यह सब ऊपर-ही-ऊपर होगा। नीचे वही मजवूरी, असहायता, भविष्यहीनता, असुरक्षा...' हाँ, इस सबको सहने का एक परत बोझ और आत्मा पर बढ़ जायेगा...'

इस 'वह' को अपनी तादात्म्यता के साथ देखना, और 'मैं' को 'वह' की तटस्थिता से आँकना आज की कहानी की बहुत महत्वपूर्ण विशेषता है। शायद यह दृष्टिकोण परिस्थिति की विभीषिका को इस हृद तक स्वीकार कर लेने पर ही आता है जहाँ विसर्जन और समर्पण के सिवाय कोई रास्ता ही न बचे। लेकिन यहाँ यह कहना बड़ा मुश्किल है कि यह व्यक्तित्व का खंडित हो जाना है, या खंडित व्यक्तित्व के मूल, अविच्छिन्न अन्तर्सूत्रों को पा लेना है। यहाँ अनायास ही सार्व की कहानी 'दीवार', और नाटक 'विना परछाइयों के लोग' का ध्यान ज़रूर आता है। स्थिति की भयावहता, लाचारी को नियति की हृद तक स्वीकार कर लेना, कैसे एक-एक आदमी को तोड़-तोड़कर 'मैं'-'मैं', और 'मैं' 'वह' में बाँट देता है, किस तरह 'वह' फाँसी या मृत्यु की तरफ बढ़ता है और कैसे 'वह' इस बढ़ते हुए 'मैं' को दूर खड़ा होकर देखता है, और यों अपने-आपको अपने से तोड़ पाना कितना मुश्किल है, कैसी भीषण शारीरिक-मानसिक यातना का परिणाम है—कुछ तो इसी प्रक्रिया में ढह जाते हैं। शायद आज की स्थिति की भयावहता को ये दोनों रूपों एक सार्वभौमिक रूपक देती हैं और अपने सन्दर्भ में लगता है जैसे हमारी सारी पीढ़ी को कहीं ऐसी घाटी में भटकाकर ले आया गया है, जहाँ मौत के सिवाय कोई रास्ता ही नहीं है। व्यवस्था का एक राक्षस है जो रोज हममें से एक-दो को ले जाकर अपना भोजन बना लेता है...' इस यन्त्रणा के मुकाबले यही मुकित वरेण्य लगती है कि कोई हमें खरीद ले; नौकरी, पुरस्कार, स्कॉलरशिप की गोलियाँ मारकर अपने ड्राइंग-रूमों, दफ्तरों में हमारे भुस-भरे चेहरे सजा ले, ताकि हर आने-जानेवाले 'हम' प्रशंसा कर सकें—कैसी स्वाभाविक भराई है, कैसी 'जीवित' आँखें हैं...'

हैर्मिग्वे की 'अपराजेय' के मैटाडोर की तरह लड़ते-लड़ते इस स्थिति को तिल-तिल स्वीकारने जैसी असहायता भी तो हममें शायद नहीं रह गयी है...' यह तो बन्द देश में पड़े चूज़ों का निष्क्रिय सीझन है...'

काश, अपने-आपको मारने का या जान-बूझकर अपने को मरने के लिए छोड़ देने का अपराध-बोध इस स्थिति की दूसरी नियति न होती तो मैं इसे 'नियतिवाद'

कहकर छुट्टी पा लेता”

० ०

हमने इसी जीवन-बीघ के सन्दर्भ खोजे हैं, अपने-ग्रापमें और अपने से बाहर, इसी अपराध-भाव—गिल्ट—को युग की पीठिका में देखना चाहा है और यही हमारी कहानी का कथ्य है। लेकिन हमारे बाद आनेवाली कथा-पीढ़ी के कुछ लोगों ने उन सन्दर्भों और उन सामाजिक सूत्रों की खोज भी छोड़ दी है और कहानी गति तथा सन्दर्भ ने कटी हुई जड़ अनुभूति की उस अन्ध-सीमा पर आ गयी है, जहाँ आज की कविता खड़ी है। “‘वह’ होते हुए भी हमारे ‘मैं’ का एक व्यक्तित्व था, एक सामाजिक परिवेश था, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य था; मगर इन लोगों का ‘वह’ उस नाम और व्यक्तित्वहीन छाया की प्रतिव्यवनि है जो अब अनुगूण भी नहीं पैदा करती। इसके अतिरिक्त इसमें न कविता की तरह बाहर कहीं से प्रतीक लाकर अभिव्यक्ति का प्रयत्न है, और न अपने कथ्य को ही प्रतीक की सार्वक-सामर्थ्य देकर अनुभूति को अनुशासित, परिभाषित करने की छटपटाहट” मनुष्य और परिणामतः कला के लिए शायद इससे भीषण संकट-विन्दु योई भी नहीं रहा—कभी भी नहीं रहा।

० ०

और इस विन्दु पर कहानी के किसी भी अगले भोड़ को भविष्यवाणी नहीं की जा सकती—शायद जीन के भी किसी भविष्य की और इंगित नहीं किया जा सकता। सामान्यतः नियतिवादी व्यक्ति में ज्योतिष और हस्तरेखाओं द्वारा वर्तमान की दीवार तोड़कर भविष्य को भाँक नेने की आकुल प्रवृत्ति होती है—वह चाहे जितनी तकहीन, असंगत और अन्धविद्यास पर आधारित ही क्यों न हो, लेकिन यह तो उस तरह का नियतिवाद भी नहीं है; क्योंकि किसी भविष्य का अस्तित्व ही नहीं लगता जिसकी

१. “‘नई कहानी’ में श्राधूनिन मानव (इसका भत्तलव चाहे जो लीजिए, प्रगतिवादी अर्थ मत लीजिए) की जा विचित्र मनोदशा है उसको अगर आप उसके सारे सन्दर्भों से काटकर, उसके सारे बाह्य सामाजिक-पारिवारिक इत्यादि सम्बन्धों से काटकर, उस मनोदशा को मानो अधर में लटकाकर—चित्रित करेंगे तो मनोदशा के नाम पर (कहानी में) एक घुन्घ समा जायेगा : कहानी में शागर सिर्फ़ भीतरी घुन्घ हो और सिर्फ़ वही वह रहे और उसी की इतनी प्रधानता हो कि वस्तु-तत्त्वों के संबंदनात्मक चित्रों का प्रायः लोप हो जाय तो आप वही गलती करेंगे जो (मेरे दायरे से) ‘नयी कविता’ ने की। कविता की कला कथा की कला से अधिक अमृतं तो वंसे ही होती है, इसलिए सम्भवतः उसमें वे बातें खप भी जाती हैं। किन्तु कहानी में यह चाहता हूँ कि साहित्य में मानव की पूर्ण सूति (फिर वह जंसी भी हो) स्वापित की जाय। तभी हम अपनी भलक उसमें देता सकेंगे। अगर नयी कहानी—या फोई कहानी—वैसा नहीं करती तो मेरे दायरे से यह उचित नहीं है। मैं तो सिर्फ़ एक खतरे की ओर आपका ध्यान दिला रहा हूँ।”

—गजानन मापदं मुक्तिवोध (‘एक साहित्यिक की दायरी’, पृष्ठ १०६)

भलक पा-लेने की अकुलाहट हो... हथेली पढ़ने का कोई अन्धविश्वास भी नहीं है। जो है, भूत और भविष्य के बीच निरन्तर भिचता-घुटता चला जाता वर्तमान-क्षण ही है...
○ ○

हाँ, एक अन्धविश्वास है और वह है जीने का अन्धविश्वास। शायद जीवन से चिपके रहने का अन्ध मोह, उसे न छोड़ सकने की प्राकृतिक मजबूरी... साँस लेते और छोड़ते रहने का लाचार दंड—शायद इसी को कुछ लोग 'जीवन के प्रति आस्था' कहते हों; लेकिन अपने मूल रूप में यह जीवन की उसी आदिम-इन्स्टिंक्ट से जा चिपकना है जो मरने नहीं देती... हर अवस्था और दुर्गति में भी छलती रहती है—पहले आशा-वनकर, फिर आशाहीन असहायता वनकर। तब यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि आदमी जोंक की तरह जिन्दगी से चिपका है या जिन्दगी जोंक वनी आदमी को पी रही है: अमरकान्त ने कहानी 'जिन्दगी और जोंक' में 'जीवन के प्रति आस्था' का जो दिल दहला देनेवाला रूप रखा है, वही शायद इस स्थिति की एक सीमा है... यहाँ आदमी पश्चु के स्तर पर जिन्दगी को ग्रहण कर लेने के सिवाय कुछ भी नहीं कर सकता...
○ ○

लेकिन आदमी का इस स्तर पर उत्तर आना ही शायद तनाव का चरम-विन्दु होता है, जहाँ या तो वह मारनेवाले कारणों के बीच, मरने की राह न देखकर पहले ही आत्महत्या कर लेता है, गोलों से फटते जहाज से कूदकर गोलियों का शिकार हो जाता है, आग-लगे वायुयान में जल मरने से पहले ही हजारों फीट नीचे धरती पर छलांग लगा लेता है—और या वेहद डैस्परेट, हताश होकर फिर से नयी सामूहिक जीवन-स्थितियों की रचना करता है, नयी नीति और नैतिकता की नींवें डालता है। यह उसकी जीवन के प्रति हीरोइक आस्था न सही, मजबूरी और लाचारी ही सही...
○ ○

और मुझे लगता है आज हमारी नयी कहानी जहाँ आ गयी है, वह उसका समाप्त होना नहीं है, आगे गति न हो पाने के कारण विखर जाना है... किसी वडे प्रारम्भ के बन्द दरवाजों पर सिर पटककर साँस तोड़ देना है... शायद जिन्दगी भी किसी ऐसे ही बन्द प्रारम्भ की दहलीज़ पर आ गयी है... मगर जिन्दगी और कहानी को दरवाज़ा तो खोजना ही होगा। इस वर्तमान को किसी-न-किसी भविष्य तक तो खींचना ही होगा, उस आशा को तो प्राप्त करना ही होगा जो अनागत है, अगले जीवन और अगली कहानी की थीम है... यानी आनेवाली कहानी इस 'टर्मिनस' (राजेन्द्रसिंह वेदी) से लौटने की कहानी होगी—जीवन में सहभागी या शरीक होने की कहानी होगी। इसके सिवा कोई चारा या विकल्प भी नहीं है। क्योंकि यही वह विन्दु होता है जहाँ पीछे खिसकते-खिसकते आप दीवाल तक जा पहुँचते हैं, मगर फिर कोई रास्ता न पाकर दीवाल से ही पीठ टिकाकर 'साँड़' को सींगों से पकड़ने की मजबूरी चुनते हैं !
○ ○

मुझे नहीं पता, इस नयी दुनिया के अन्वेषक और स्थाप्ता को इतिहास क्या कहना चाहेगा—विश्वामित्र... या ब्रह्मा ? वह खलनायक वनकर उठेगा या नायक ? आज तो सचमुच, विश्वासपूर्वक यह जानना भी असम्भव है कि इन दोनों में खलनायक कौन है ?

जिन्दगी और जोंक

मुहल्ले में जिस दिन उसका आगमन हुआ, सबेरे तरकारी लाने के लिए बाजार जाते समय मैंने उसको देखा था। शिवनाथ वावू के घर के सामने, सड़क की दूसरी ओर स्थित खण्डहर में, नीम के पेड़ के नीचे, एक दुबला-पतला काला आदमी, गन्दी-लुंगी में लिपटा चित्त पड़ा था, जैसे रात में आसमान से टपककर बेहोश हो गया हो अथवा दक्षिण भारत का भूला-भट्का साधु निश्चिन्त स्थान पाकर चुपचाप नाक से हवा खींच-खींचकर प्राणायाम कर रहा हो।

फिर मैंने शायद एक-दो बार और भी उसको कठपुतले की भाँति डोल-डोलकर सड़क को पार करते या मुहल्ले के एक-दो मकानों के सामने चक्कर लगाते या बैठकर हाँफते हुए देखा। इसके अलावा मैं उसके बारे में उस समय तक कुछ नहीं जानता था।

रात के लगभग दस बजे खाने के बाद बाहर आकर लेटा था। चैत का महीना, हवा तेज़ चल रही थी। चारों ओर घुप अँधियारा। प्रारम्भिक भपकियाँ ले ही रहा था कि 'मारो-मारो' का हल्ला सुनकर चौंक पड़ा। यह शोरगुल बढ़ता गया। मैं तत्काल उठ बैठा। शायद आवाज़ शिवनाथ वावू के मकान की ओर से आ रही थी। जल्दी से पाँव चप्पल में डाल उधर को चल पड़ा।

मेरा अनुमान ठीक था। शिवनाथ वावू के मकान के सामने ही भीड़ लगी थी। मुहल्ले के दूसरे लोग भी शोरगुल सुनकर अपने घरों से भागे चले आ रहे थे। मैंने भी तर घुसकर देखा और कुछ चकित रह गया। खण्डहर का वही भिखर्मंगा था। शिवनाथ वावू का लड़का रघुवीर उस भिखर्मंगे की दोनों बाँहों को पीछे से पकड़े हुए था और दो-तीन व्यक्ति आँख मूँद तथा उछल-कूदकर उसे बेतहाशा पीट रहे थे। शिवनाथ वावू तथा अन्य लोग उसे भयजन्य क्रोध से आँखें फाड़-फाड़कर घूर रहे थे।

भिखर्मंगा नाटा था। गाल पिचके हुए, आँखें धूंसी हुईं, और छाती की हड्डियाँ साफ़ बाँस की खपचियों की तरह दिखायी दे रही थीं। पेट नांद की तरह फूला हुआ। मार पड़ने पर वह बेतहाशा चिल्ला रहा था, "मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ..."

"साला छूँटा हुआ चोर है, साहब!" शिवनाथ वावू मेरे पास सरक आये थे, "पर यह हमारा-ग्रापका दोष है कि आदमी नहीं पहचानते। गरीबों को देखकर हमारा-ग्रापका दिल पसीज जाता है और मौका-दे-मौका खुद्दी-चुन्नी, साग-सत्तू दे ही दिया जाता है। आपने तो इसको देखा ही होगा, मालूम होता था महीनों से खाना न मिला है, पर कौन जानता था कि साला ऐसा निकलेगा। हरामी का पिल्ला..."

फिर भित्तिमंगे की ओर मुड़कर गरज पड़े, “वता साले, साढ़ी कहाँ रखी है ? नहीं वह मार पड़ेगी कि नानी याद आ जायेगी ।”

उनका गला जोर से चिल्लाने के कारण किंचित् बैठ गया था, इसलिए सम्भवतः घटकर वह चुप हो गये। पीटनेवालों ने भी इस समय पीटना बन्द कर दिया था, लेकिन शिवनाथ वात्रु के वक्तव्य से रामजी मित्र का शोहदा पहलवान लड़का शम्भु अत्यधिक प्रभावित मालूम पड़ा। वह अभी-अभी आया था और शिवनाथ वात्रु का वयान समाप्त होते ही आव देखा न ताव, भीड़ में से आगे लपक, जूता हाथ में ले गन्दी गालियाँ देते हुए भित्तिमंगे को पीटना शुरू कर दिया ।

“एक-डेढ़ हपते से मुहल्ले में घाया हुआ है,” शिवनाथ वात्रु जैसे निश्चिन्त होकर फिर बोले, “लालची कुत्तों की तरह इधर-उधर धूमा करता था, सो हमारे घर में दया आ गयी। एक रोज उसे बुलाकर उन्होंने कटोरे में दाल-भात-तरकारी खाने को दे दी। वस वया था, परक गया। रोज आने लगा। खैर, कोई बात नहीं थी, आपकी दया से ऐसे दो-तीन भर-भित्तिमंगे रोज ही खाकर दुआ दे जाते हैं। यह घर में आने लगा तो मौका पढ़ने पर एकाथ काम भी कर देता था, अब यह किसको पता था कि आज यह घर से नयी साढ़ी चुरा लेगा ।”

“आपको ठीक से पता है कि साढ़ी इसी ने चुरायी है ?”

मेरे इस प्रश्न से वे बिगड़ गये। बोले, “आप भी खूब बात करते हैं ! यही पता लग गया तो चोर कौसा ? मैं तो खूब जानता हूँ कि ये सब चोरी का माल होशियारी से दिपा देते हैं और जब तक इनकी कड़ी पिटाई न की जाय, कुछ नहीं बताते। अब यही समझिए कि क़रीब नौ बजे साढ़ी गायब हुई। जमुना का कहना है कि उसी समय उसने इसको किसी सामान के साथ घर से निकलते हुए देखा। फिर मैं यह पूछता हूँ कि आज दस बर्ष से मेरे घर का दरखाजा इसी तरह खुला रहता है, लेकिन कभी चोरी नहीं हुई। आज ही कोन-सी नयी बात हो गयी कि वह आया नहीं और मुहल्ले में चोरी-बदमाशी शुरू हो गयी। अरे, मैं इन सालों को खूब जानता हूँ ।”

वह भित्तिमंगा अब भी था तेज मार पड़ने पर चिल्ला उठता, “मैं वरई हूँ, वरई हूँ, वरई हूँ . . .” स्टैट था कि इतने लोगों को देखकर वह काफ़ी भयभीत हो गया था और अपने समर्थन में कुछ न पाकर बेतहाया अपनी जाति का नाम ले रहा था, जैसे हर जाति के नोग चोर हो सकते हैं, लेकिन वरई करई नहीं हो सकते ।

नये नोग अब भी था रहे थे। वे ओव और उत्तेजना में आकर उसे पीटते और फिर भीड़ में मिल जाते। और जब लगातार भार पड़ने पर भी उसने कुछ नहीं बताया तो नोग आमतः यक गये। कुछ लोग वहाँ से सकरने भी लगे। किसी ने उसे पेड़ में दांफने प्रीत किसी ने पुनिस के नुपुरं लगाने वी सलाह दी। मैं भी कुछ ऐसी ही सलाह देकर गिरजाना चाहता था कि शिवनाथ वात्रु का मैलता लड़का योगेन्द्र दीड़ता हुआ घाया और प्राने पिनाजी को घलग ले जाते हुए पुण-फुण कुछ बातें दीं।

फट देट याद शिवनाथ वात्रु जब वापस आये तो उनके चेहरे पर हवादयों-सी उष रही थीं। एक-दो धार इधर-उधर तया भौंग चेचारे की तरह देखने के बाद वह

बोले, “अच्छा इस बार छोड़ देते हैं। साला काफ़ी पा चुका है, आइन्दा ऐसा करते चेतेगा।”

लोग शिवनाथ वालू को बुरा-भला कहकर रास्ता नापने लगे। मैंने उनकी ओर मुसकराकर देखा तो मेरे पास आकर भेंपते हुए बोले, “इस बार तो साड़ी घर में ही मिल गयी है, पर कोई बात नहीं। चमार-सियार डॉट-डपट पाते ही रहते हैं। अरे, इस पर क्या पड़ी है, चोर-चाई तो रात-रातभर मार खाते हैं और कुछ भी नहीं बताते।” फिर वार्षी आर्ख को खूबी से दबाते हुए दाँत खोलकर हँस पड़े, “चलिए साहब, नीच और नींबू को दबाने से ही रस निकलता है।”

कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि उस दिन की पिटाई के बाद भी खण्डहर का वह भिखर्मंग मुहल्ले में टिके रहने की हिम्मत कैसे कर सका? हो सकता है, उसने सोचा हो कि निर्दोष छूट जाने के बाद मुहल्ले के लोगों का विश्वास और सहानुभूति उसको प्राप्त हो जायेगी और दूसरी जगह उसी अनिश्चितता का सामना करना पड़ेगा।

चाहे जो हो, उसके प्रति मेरी दिलचस्पी अब और बढ़ गयी थी। मैं उसको खण्डहर में बैठकर कुछ खाते या चुपचाप सोते या मुहल्ले में डग-डग सरकते हुए देखता। लोग अब उसको कुछ-न-कुछ दे देते। बचा हुआ वासी या जूठा खाना पहले कुत्तों या गाय-भैंसों को दे दिया जाता, परन्तु अब औरतें बच्चों को दौड़ा देतीं कि जाकर भिखर्मंगे को दे आयें। कुछ लोगों ने तो उसको कोई पहुँचा हुआ साधु-महात्मा तक कह डाला।

और धीरे-धीरे उसने खण्डहर का परित्याग कर दिया और आम सहानुभूति एवं विश्वास का आश्चर्यजनक लाभ उठाते हुए, जब वह किसी-न-किसी के ओसारे या दालान में जमीन पर सोने-बैठने लगा तो लोग उससे हल्के-फुल्के काम भी लेने लगे। दया-माया के मामले में शिवनाथ वालू से पार पाना टेढ़ी खीर है, किन्तु भिखर्मंग उनके दरवाजे पर जाता ही न था।

लेकिन एक दिन उन्होंने किसी चुभ मुहूर्त में उसे सड़क से गुजरते समय संकेत से अपने पास बुलाया और तिरछी नज़र से देखते हुए, मुसकराकर बोले, “देख वे, तूने चाहे जो भी किया, हमसे तो यह सब देखा नहीं जाता। दर-दर भटकता रहता है। कुत्ते-सूअर का जीवन जीता है। आज से इधर-उधर भटकना छोड़, आराम से यहीं रह और दोनों जून भरपेट खा।”

पता नहीं, यह शिवनाथ वालू के स्नेह से सम्भव हुआ या डर से, पर भिखर्मंग उनके यहाँ स्थायी रूप से रहने लगा। उन्हीं के यहाँ उसका नामकरण भी हुआ। उसका नाम गोपाल था, लेकिन शिवनाथ वालू के दादा का नाम गोपालसिंह था, इसलिए घर की औरतों की जबान से वह नाम उतरता ही न था। उन्होंने उसको ‘रजुआ’ कहना आरम्भ किया और धीरे-धीरे यहीं नाम सारे मुहल्ले में प्रसिद्ध हो गया।

किन्तु रजुआ के भाग्य में बहुत दिनों तक शिवनाथ वालू के यहाँ टिकना न लिखा था। बात यह है कि मुहल्ले के लोगों को यह कठई पसन्द न था कि केवल दोनों जून भोजन पर रजुआ शिवनाथ वालू की सेवा करे। जब भगवान् ने उनके बीच एक नीकर भेज ही दिया था तो उस पर उनका भी उतना ही अधिकार था और उन्होंने मौका देख

फिर भिखर्मंगे की ओर मुड़कर गरज पड़े, “वता साले, साढ़ी कहाँ रखी है ? नहीं वह मार पड़ेगी कि नानी याद प्रा जायेगी ।”

उनका गला जोर से चिल्लाने के कारण किंचित् बैठ गया था, इसलिए सम्भवतः घककर वह चूप हो गये । पीटनेवालों ने भी इस समय पीटना बन्द कर दिया था, लेकिन शिवनाथ बाबू के बक्तव्य से रामजी मिश्र का शोहदा पहलवान लड़का शम्मु अत्यधिक प्रभावित मालूम पड़ा । वह अभी-अभी आया था और शिवनाथ बाबू का बयान समाप्त होते ही आब देखा न ताव, भीड़ में से आगे लपक, जूता हाथ में ले गन्दी गालियाँ देते हुए भिखर्मंगे को पीटना शुरू कर दिया ।

“एक-डेढ़ हफ्ते से मुहल्ले में धाया हुआ है,” शिवनाथ बाबू जैसे निश्चन्त होकर फिर बोले, “लालची कुत्तों की तरह इधर-उधर धूमा करता था, सो हमारे घर में दया आ गयी । एक रोज उसे बुलाकर उन्होंने कटीरे में दाल-भात-तरकारी खाने को दे दी । वस क्या था, परक गया । रोज आने लगा । खैर, कोई बात नहीं थी, आपकी दया से ऐसे दो-तीन भर-भिखर्मंगे रोज ही खाकर दुआ दे जाते हैं । यह घर में आने लगा तो भौका पहने पर एकाध काम भी कर देता था, अब यह किसको पता था कि आज यह घर से नयी साढ़ी चुरा लेगा ।”

“आपको ठीक से पता है कि साढ़ी इसी ने चुरायी है ?”

मेरे इस प्रश्न से वे विगड़ गये । बोले, “आप भी खूब बात करते हैं ! यही पता लग गया तो चोर कैसा ? मैं तो खूब जानता हूँ कि ये सब चोरी का माल होशियारी से छिपा देते हैं और जब तक इनकी कड़ी पिटाई न की जाय, कुछ नहीं बताते । अब यही समझिए कि क़रीब नी बजे साढ़ी गायब हुई । जमुना का कहना है कि उसी समय उसने इसको किसी सामान के साथ घर से निकलते हुए देखा । फिर मैं यह पूछता हूँ कि आज दस वर्ष से मेरे घर का दरवाजा इसी तरह खुला रहता है, लेकिन कभी चोरी नहीं हुई । आज ही कौन-सी नयी बात हो गयी कि वह आया नहीं और मुहल्ले में चोरी-बदमाशी शुरू हो गयी । अरे, मैं इन सालों को खूब जानता हूँ ।”

वह भिखर्मंगा अब भी तेज मार पड़ने पर चिल्ला उठता, “मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ...” स्पष्ट था कि इतने लोगों को देखकर वह काफ़ी भयभीत हो गया था और आगे समर्थन में कुछ न पाकर बेतहाशा अपनी जाति का नाम ले रहा था, जैसे हर जाति के नोग चोर हो सकते हैं, लेकिन बरई कतई नहीं हो सकते ।

नये नोग अब भी आ रहे थे । वे क्रोध और उत्तेजना में श्राकर उसे पीटते थ्रीर फिर भीड़ में मिल जाते । और जब लगातार मार पड़ने पर भी उसने कुछ नहीं बताया तो नोग शामाह घक गये । कुछ लोग वहाँ ने सकरने भी लगे । किसी ने उसे पेड़ में दौबाये और लिंगी ने पुनिम के नुपुर रसने वी सलाह दी । मैं भी कुछ ऐसी ही सलाह देकर जिमाना चाहता था कि शिवनाथ बाबू का मैनला लड़का योगेन्द्र दौड़ता हुआ आगा और अपने पिनाजी को अलग ने जाते हुए कुम-कुम कुछ बातें बोलीं ।

कष्ट दें बाद शिवनाथ बाबू जब बापस आये तो उनके चेहरे पर हूवार्दाँ-सी उड़ नहीं थीं । पक्कन्दो धान इधर-उधर तथा मैनी और बेचारे की तश्ही देखने के बाद दह-

बोले, “अच्छा इस बार छोड़ देते हैं। साला काफी पा चुका है, ग्राइन्डा ऐसा करते चेतेगा।”

लोग शिवनाथ वाबू को बुरा-भला कहकर रास्ता नापने लगे। मैंने उनकी ओर मुसकराकर देखा तो मेरे पास आकर झेपते हुए बोले, “इस बार तो साड़ी घर में ही मिल गयी है, पर कोई बात नहीं। चमार-सियार डॉट-डपट पाते ही रहते हैं। अरे, इस पर क्या पड़ी है, चोर-चाई तो रात-रातभर मार खाते हैं और कुछ भी नहीं बताते।” फिर बायीं आँख को खूबी से दबाते हुए दाँत खोलकर हँस पड़े, “चलिए साहब, नीच और नींबू को दबाने से ही रस निकलता है।”

कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि उस दिन की पिटाई के बाद भी खण्डहर का वह भिखर्मंगा मुहूले में टिके रहने की हिम्मत कैसे कर सका? हो सकता है, उसने सोचा हो कि निर्दोष छूट जाने के बाद मुहूले के लोगों का विश्वास और सहानुभूति उसको प्राप्त हो जायेगी और दूसरी जगह उसी अनिश्चितता का सामना करना पड़ेगा।

चाहे जो हो, उसके प्रति मेरी दिलचस्पी अब और बढ़ गयी थी। मैं उसको खण्डहर में बैठकर कुछ खाते या चुपचाप सोते या मुहूले में डग-डग सरकते हुए देखता। लोग अब उसको कुछ-न-कुछ दे देते। बचा हुआ वासी या जूठा खाना पहले कुत्तों या गाय-भेंसों को दे दिया जाता, परन्तु अब औरतें बच्चों को दौड़ा देतीं कि जाकर भिखर्मंगे को दे आयें। कुछ लोगों ने तो उसको कोई पहुँचा हुआ साधु-महात्मा तक कह डाला।

और धीरे-धीरे उसने खण्डहर का परित्याग कर दिया और आम सहानुभूति एवं विश्वास का आश्चर्यजनक लाभ उठाते हुए, जब वह किसी-न-किसी के शोसारे या दालान में जमीन पर सोने-बैठने लगा तो लोग उससे हल्के-फुल्के काम भी लेने लगे। दया-माया के मामले में शिवनाथ वाबू से पार पाना टेढ़ी खीर है, किन्तु भिखर्मंगा उनके दरवाजे पर जाता ही न था।

लेकिन एक दिन उन्होंने किसी शुभ मुहूर्त में उसे सड़क से गुजरते समय संकेत से अपने पास बुलाया और तिरछी नजर से देखते हुए, मुसकराकर बोले, “देख वे, तूने चाहे जो भी किया, हमसे तो यह सब देखा नहीं जाता। दर-दर भटकता रहता है। कुत्ते-सूअर का जीवन जीता है। आज से इधर-उधर भटकना छोड़, आराम से यहीं रह और दोनों जून भरपेट खा।”

पता नहीं, यह शिवनाथ वाबू के स्नेह से सम्भव हुआ या डर से, पर भिखर्मंगा उनके यहाँ स्थायी रूप से रहने लगा। उन्हीं के यहाँ उसका नामकरण भी हुआ। उसका नाम गोपाल था, लेकिन शिवनाथ वाबू के दादा का नाम गोपालसिंह था, इसलिए घर की औरतों की जबान से वह नाम उत्तरता ही न था। उन्होंने उसको ‘रजुआ’ कहना आरंभ किया और धीरे-धीरे यही नाम सारे मुहूले में प्रसिद्ध हो गया।

किन्तु रजुआ के भाग में बहुत दिनों तक शिवनाथ वाबू के यहाँ टिकना न लिखा था। बात यह है कि मुहूले के लोगों को यह कतई पसन्द न था कि केवल दोनों जून भोजन पर रजुआ शिवनाथ वाबू की सेवा करे। जब भगवान् ने उनके बीच एक नौकर भेज ही दिया था तो उस पर उनका भी उतना ही अधिकार था और उन्होंने मौका देख-

कर उसको अपनी सेवा करने का अवसर देना आरम्भ कर दिया। वह शिवनाथ बाबू के किसी काम से जाता तो रास्ते में कोई न-कोई उसको पैसे देकर किसी काग की फरमाइश कर देता और यदि वह आनाकानी करता तो सम्बन्धित व्यक्ति बिछड़कर कहता, “साला, तू शिवनाथ का गुलाम है? वह क्या कर सकते हैं? मेरे यहाँ बैठकर खाया कर, वह क्या खिलायेंगे, वासी भात ही तो देते होंगे।”

रजुआ शिवनाथ बाबू से अब भी डरता था, इसीलिए उनसे छिपाकर ही वह अन्य लोगों का काम करता। किन्तु उसको पीटने का और व्यक्तियों को भी उतना ही अधिकार था। एक बार जमुनालाल के लड़के जंगी ने रजुआ से तीन-चार आने की लकड़ी लाने के लिए कहा और रजुआ फ़ौरन आने का वायदा करके चला गया। पर वह शीघ्र न आ सका, क्योंकि शिवनाथ बाबू के घर की ओरतों ने उसे इस या उस काम में वाँध रखा। बाद में वह जब जमुनालाल के यहाँ पहुँचा तो जंगी ने पहला काम यह किया कि दो यष्पद उसके गाल पर जड़ दिये, फिर गरजकर बोला, “सूअर, धोखा देता है? कह देता नहीं आऊँगा। अब आज मैं तुमसे दिन-भर काम कराऊँगा, देखें कौन साला रोकता है। आखिर हम भी मुहल्ले में रहते हैं कि नहीं।”

श्रीर सचमुच जंगी ने उससे दिन-भर काम लिया। शिवनाथ बाबू को सब पता लग गया, लेकिन उनकी उदार व्यावहारिक चुद्धि की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता, क्योंकि उन्होंने चूं तक नहीं की।

ऐसी ही कई घटनाएँ हुईं, पर रजुआ पर किसी का स्थायी अधिकार निश्चित न हो सका। उसकी सेवाओं की उपयोग-सम्बन्धी स्तीचातानी से उसका समाजीकरण हो गया। मुहल्ले का कोई भी व्यक्ति उसे दो-चार रुपये देकर स्थायी रूप से नीकर रखने को तैयार न हुआ, क्योंकि वह इतना शक्तिशाली क़तई न था कि चौबीस घंटे नीकर की महान् जिम्मेदारियाँ सम्भाल सके। वह तेजी के साथ पचीस-पचास गगरे पानी न भर तकता था, बाजार से दौड़कर भारी सामान-सौदा न ला सकता था, अतएव लोग उससे छोटा-मोटा काम ले लेते और इच्छानुसार उसे कुछ-न-कुछ दें देते। अब न वह शिवनाथ बाबू के यहाँ टिकता और न जमुनालाल के यहाँ, क्योंकि उसको कोई टिक नहीं देता। इसको रजुआ ने भी समझ लिया और मुहल्ले के लोगों ने भी। वह अब किसी व्यक्ति-विदेष का नहीं, बल्कि सारे मुहल्ले का नौकर हो गया।

रजुआ के लिए छोटे-मोटे कामों की कमी न थी। किसी के यहाँ खा-पीकर वह बाहर की चौकी या जमीन पर सो रहता और सबेरे उटता तो मुहल्ले के लोग उसका मुंह जोहते। नीकर-चाकर किसी के यहाँ बहुत दिनों तक टिकते नहीं थे और वे भाग-भागकर रिये चलाने लगते था किसी मिल या कारखाने में काम करने लगते। दो-चार व्यक्तियों के यहाँ ही नीकर थे, अन्य परों में कहार पानी भर देता, लेकिन वह गगरों के हिसाब से पानी देना और यदि एक गगरा भी अधिक दे देता तो उसका मेहनताना पाई-पाई बगूत कर लेता। ऐसे हिति में रजुआ का आगमन जैसे भगवान् का वरदान था।

लोग उसके छोटा-बड़ा काम लेकर इच्छानुसार उसको मजदूरी चुका देते। यदि उसने कोई छोटा काम दिया तो उसे वासी रोटी या भात या नुना हुआ चना या सूत-

दे दिया जाता और वह एक कोने में बैठकर चापुड़-चापुड़ खा-फाँक लेता। अगर कोई बड़ा काम कर देता तो एक जून का खाना मिल जाता, पर उसमें अनिवार्य रूप से एकाध चीज़ वासी रहती और कभी-कभी तरकारी या दाल नदारत होती। कभी भात-नमक मिल जाता, जिसे वह पानी के साथ खा जाता। कभी-कभी रोटी-अचार और कभी-कभी तो सिर्फ तरकारी ही खाने या दाल पीने को मिलती। कभी खाना न होने पर दो-चार पैसे मिल जाते या मोटा पुराना कच्चा चावल या दाल या चार-छः श्रालू। कभी उधार भी चलता। वह काम कर देता और उसके एवज़ में फिर किसी दिन कुछ-न-कुछ पा जाता।

इसी बीच वह मेरे घर भी आने लगा था, क्योंकि मेरी श्रीमतीजी बुद्धि के मामले में किसी से पीछे न थीं। रजुआ आता और काम करके चला जाता। एक-दो बार मुझसे भी मुठमेड़ हुई, पर कुछ बोला नहीं।

कोई छुट्टी का दिन था। मैं बाहर बैठा एक किताब पढ़ रहा था कि इतने में रजुआ भीतर आया और कोने में बैठकर कुछ खाने लगा। मैंने घूमकर एक निगाह उस पर डाली। उसके हाथ में एक रोटी और थोड़ा-सा अचार था और वह सूअर की भाँति चापुड़-चापुड़ खा रहा था। बीच-बीच में वह मुसकरा पड़ता, जैसे कोई बड़ी मंज़िल सर करके बैठा हो।

मैं उसकी ओर देखता रहा और मुझे वह दिन याद आ गया, जब चोरी के अभियोग में उसकी पिटाई हुई थी। जब वह खाकर उठा तो मैंने पूछा, “क्यों रे रजुआ, तेरा घर कहाँ है?”

वह सकपकाकर खड़ा हो गया, फिर मुँह टेढ़ा करके बोला, “सरकार, रामपुर का रहनेवाला हूँ!” और उसने दाँत निपोर दिये।

“गाँव छोड़कर यहाँ क्यों चला आया?” मैंने पुनः प्रश्न किया।

क्षणभर वह असमंजस में मुझे खड़ा ताकता रहा, फिर बोला, “पहले रसड़ा में था, मालिक !”

जैसे रामपुर से सीधे बलिया आना कोई अपराध हो। उसके लिए सम्भवतः ‘क्यों’ का कोई महत्व नहीं था, जैसे गाँव छोड़ने का जो भी कारण हो, वह अत्यन्त सामान्य एवं स्वाभाविक था और वह न उसके बताने की चीज़ थी और न किसी के समझने की।

“रामपुर में कोई है तेरा?” मैंने एक-दो क्षण उसको गौर से देखने के बाद दूसरा सवाल किया।

“नहीं मालिक, वाप और दो वहनें थीं, ताऊन में मर गयीं।” वह फिर दाँत निपोरकर हँस पड़ा।

उसके बाद मैंने कोई प्रश्न नहीं किया। हिम्मत नहीं हुई। वह फौरन् वहाँ से सरक गया और मेरा हृदय कुछ अजीब-सी धृणा से भर उठा। उसकी खोपड़ी किसी हलवाई की ढूकान पर दिन में लटकते काले गैस लैम्प की भाँति हिल-डुल रही थी। हाथ-पैर पतले, पेट अब भी हँड़िया की तरह फूला हुआ और सारा शरीर निहायत गन्दा

एवं दृष्टिरः... मेरी इच्छा है, जाहर दीवी से वह हूँ कि इसने कोई कान न लिया करो, वह रोगी है... किर बाल गया, क्योंकि इसने भेजा ही बाल था। मैं जानता था कि दौकानों की चित्तनी चिल्लत दी और रजुआ के रहने से इन्हाँ आशम ही गया था कि मैं हर पहली बारीब दो राशन, मसाला आदि खरीदकर महीन-मर के लिए निष्पत्त हो जाना।

००

“इन्हिनाँ चिल्लादाद ! बहाना गान्ही की जै !”

कृष्ण महीने के बाद एक दिन वह मैं अपने लमरे में दैदा था कि मूले रजुआ के नाम सामने और किर ‘ही-ही’ हैंने दी आवाज़ मुनाफी दी।

मैं चौका और मैंने नुता, आँगन में फूँफूकर वह जोर से वह रखा है “मतिकाइन, थोड़ा नमक हुआ, चान्दनी निभिर हे वहाँ से रोटियाँ निल गयी हैं, बाल बनाऊँगा।”

मेरी पत्नी चूल्हे-बौके में जली हूँ थी। उसने कृष्ण दैदा बाद उसको नमक देते हुए पूछा, “रजुआ, सब बनाना, तुम्हें नहाये हूँ तेर कितने दिन ही गये ?”

“विद्धी बी विद्धी नहाना है न, मनिकाइनजी !” वह नमक सेशर बोला और हैंसते हुए नाम गया।

मैं लमरे में दैदा वह नव मूल रखा था। नमकतः उसको मेरी उपस्थिति का जान न था, अल्पा वह ऐसी बातें न करता। लेकिन वह बात जाल थी कि अब वह मूलने में जल गया है। उसको जानेसीने की चित्ता नहीं है। इन्हाँ ही नहीं, अब वह मूलने-सर ने वह पा रखा है। लोग अब उसने हैसी-भद्राक भी करने लगे हैं और उसे नारीदंड जाने का किंचित् साक भी भय नहीं। यक्षय यहाँ वह बात थी और वह स्त्रियाँ में विश्वनेत ने जान उठाने हुए हीठ हो गया था। इसीलिए उसने अपने आगमन वीं मूलना देने के लिए चारतीतिक नारे सामाये थे, जैसे वह कहना चाहता है कि मैं हैसी-भद्राक का विषय हूँ, लोग मूलने भद्राक करें, जिससे मेरे हृदय में हिम्मत और दाढ़न देवे।

मूले बदा ही आवर्द्ध हुआ। लेकिन कृष्ण ही दिन बाद मैंने उसी एक और हृदय देवी, जिससे मेरे अनुमान की पुष्टि होती थी।

मादेकान दस्तर ने आ रहा था कि बीचदराम के गोदे के पास मैंने रजुआ थी आवाज़ मूली। परिमा की घ्याँ दर्तन बोल रही थी और उसके पास सहा रजुआ देढ़ा चुंड करके दीन रहा था, “मताम हो नौजी, समाचार है न !” अन्त में बेमतलब ‘ही-ही’ हुमरे नहा।

परिमा दी वह ने पीछा मूली चाटते हुए मुनाया, “इर हो पापी, समाचार पूछने का क्या ही मूल है ? चला जा, नहीं तो दूढ़ दी काली हाँड़ी चलाकर वह माहेसी दि सारी लर्देगी...” यहाँ उसने एक गले मूलादरे लट्टेमाल लिया।

लेकिन, मालूम नहीं है कि रजुआ इतने ही से खुदा ही गया, क्योंकि वह मूल फैलाकर हैं परा और किर हुस्तन उसने दोर्नीन चार निरक्षे और भटका देते हुए पर्सी रिस्तरातिली नामायी देखे पाल चला हुआ गया। अचानक सिर उठाकर दीर्घी-दीर्घी

कर उठता है।

फिर तो यह उसकी आदत हो गयी। सारे मुहल्ले की छोटी जातियों की औरतों से उसने भीजाई का सम्बन्ध जोड़ लिया था। उनको देखकर वह कुछ हल्की-फुल्की छेड़-खानी कर देता, जिसके उत्तर में उसे आशानुकूल गालियाँ-फिड़कियाँ सुनने को मिल जातीं, और तब वह गधे की भाँति ढीचूं-ढीचूं कर उठता।

कुएं पर पहुंचकर वह किसी औरत को कनखी से निहारता और अन्त में पूछ देता, “यह कौन है? अच्छा, बड़की भौजी हैं। सलाम, भौजी। सीताराम, सीताराम, राम-नाम जपना, पराया माल अपना!” इतना कह वह दुष्टापूर्वक हँस पड़ता।

वह किसी काम से जा रहा होता, पर रास्ते में किसी औरत को बर्तन माँजते या अपने दरवाजे पर बैठे हुए या कोई काम करते हुए देख लेता तो एक-दो मिनट के लिए वहाँ पहुंच जाता, वेहया की तरह हँसकर कुशल-क्षेम पूछता और अन्त में फिड़की-गाली सुनकर किलकारियाँ मारता हुआ वापस चला जाता। बीरे-बीरे वह इतना सहक गया कि नीची जाति की किसी जवान स्त्री को देखकर, चाहे वह जान-पहचान की हो या न हो, दूर से ही हिचकी दें-देकर किलकर लगता।

मेरी तरह मुहल्ले के श्रन्य लोगों ने भी उसके इस परिवर्तन पर गौर किया था, और सम्भवतः इसी कारण लोग उसे रजुआ से ‘रजुआ साला’ कहने लगे। अब कोई बात कहनी होती, कितने गम्भीर काम के लिए पुकारना होता लोग उसे ‘रजुआ साला’ कहकर बुलाते और अपने काम की फ़रमाइश करके हँस पड़ते। उनकी देखा-देखी लड़के भी ऐसा ही करने लगे, जैसे ‘साला’ कहे विना रजुआ का कोई अस्तित्व ही न हो। और इससे रजुआ भी बड़ा प्रसन्न था, जैसे इससे उसके जीवन की अनिश्चितता कम हो रही हो और उस पर अचानक कोई संकट आने की सम्भावना संकुचित होती जा रही हो।

और अब लोग उसे चिढ़ाने भी लगे।

“क्यों वे रजुआ साला, शादी करेगा?” लोग उसे छेड़ते। रजुआ उनकी बातों पर ‘स्त्री-स्त्री’ हँस पड़ता और फिर अपनी आदत के अनुसार सिर को ऊपर की ओर दोतीन बार झटके देता हुआ तथा मुँह से ऐसी हिचकी की आवाज निकालता हुआ, जो अधिक कड़वी चीज खाने पर निकलती है, चलता बनता। वह समझ गया था कि लोग उसे देखकर खुश होते हैं और अब वह सड़क पर चलते, गली से गुज़रते, घर में घुसते, काम की फ़रमाइश लेकर घर से निकलते और कुएं पर पानी भरते समय जोरोंसे चिल्ला-कर उस समय के प्रचलित राजनीतिक नारे लगाता या कबीर की कोई ग़लत-सलत बानी बोलता या किसी सुनी हुई कविता या दोहे की एक-दो पंक्तियाँ गाता। ऐसा करते समय वह किसी की ओर देखता नहीं, बल्कि टेढ़ा मुँह करके जमीन की ओर देखता हुआ मुँह फैलाकर हँस जाता, जैसे वह दिमाग की आँखों से देख रहा हो कि उसकी हरकतों को बहुत-से लोग देख-सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं।

० ०

सायंकाल दफ्तर से आने और नाश्ता-पानी करने के बाद में प्रायः हवालोरी करने निकल जाता हूँ। रेलवे लाइन पकड़कर वाँसडीह की ओर जाना मुझे सबसे अच्छा

लगता है। सरयू पार करके गंगाजी के किनारे घूमना-टहलना कम आनन्ददायी नहीं है, लेकिन उसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वरसात में दोनों नदियाँ बढ़कर समुद्र का रूप ले लेती हैं और जाड़े में इतने दलदल मिलते हैं कि जाने की हिम्मत नहीं होती। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मुझे देर हो जाती है या अधिक चलने-फिरने की कोई इच्छा नहीं होती और स्टेशन के प्लेटफार्म का ही चक्कर लगाकर वापस लौट आता हूँ।

पन्द्रह-वीस दिन बाद एक दिन सायंकाल स्टेशन के प्लेटफार्म पर टहलने गया। स्टेशन के फाटक से प्लेटफार्म पर आने के बाद मैं वायीं तरफ जी० आर० पी० की चौकी की ओर बढ़ चला। किन्तु कुछ क़दम ही चला था कि मेरा ध्यान रजुआ की ओर गया, जो मुझसे कुछ दूर आगे था। वह भी उधर ही जा रहा था। मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि शहर के काफ़ी लोग दिशा-मैदान के लिए कटहरनाला जाते थे, जो स्टेशन के पास ही बहता है। मैं धीरे-धीरे चलने लगा।

पर रजुआ कटहरनाला नहीं गया, बल्कि जी० आर० पी० की चौकी के पास कुछ ठिठकर सड़ा हो गया। अब मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। क्या वह किसी मामले में पुलिसवालों के चक्कर में आ गया है? मेरी समझ में कुछ न आया और उत्सुकतावश मैं तेज़ चलने लगा। आगे बढ़ने पर स्थिति कुछ-कुछ समझ में आने लगी।

चौकी के सामने एक बैच पर बैठे पुलिस के दो-तीन सिपाही कोई हँसी-मजाक कर रहे थे और उनमें थोड़ी ही दूरी पर नीचे एक नंगी श्रीरत बैठी हुई थी। वह श्रीरत और कोई नहीं, एक पगली थी, जो कई दिनों से शहर का चक्कर काट रही थी। उसको मैंने कई बार चौक में तथा एक बार सरयू के किनारे देखा था। उसकी उम्र लगभग नीम वर्ष होगी और वह बदसूरत, काली तथा निहायत गन्दी थी। वह जहाँ जाती, कुछ लफंगे लड़के 'हा-हू' करते उसके पीछे हो जाते। वे उसको चिढ़ाते, उस पर ईट फेंकते और जब वह तंग आकर नीखती-चिल्लाती भागती तो लड़के उसके पीछे दौड़ते।

रजुआ उस पगली के पास ही बहा था। वह कभी शंकित आंखों से पुलिसवालों को देखना, फिर मुह फैलाकर हँस पड़ता और मूटर-मटर पगली को ताकते लगता। परन्तु पुलिसवाले सम्भवतः उसकी ओर ध्यान न दे रहे थे।

मूर्ख बटी शर्म मालूम हुई, किन्तु मैं इतना समीप पहुँच गया था कि अचानक पूमकर लौटना नम्बद न हो सका। असली बात जानने की उत्सुकता भी थी। मैं शून्य ही धोर देखता हुआ आगे बढ़ा, लेकिन लाल कौशिश करने पर भी दृष्टि उधर चली ही जाती।

रजुआ पायद पुलिसवालों की लापरवाही का फायदा उठाते हुए आगे बढ़ गया था और नीचे भुकाकर शत्यन्त ही प्रशन्न होकर हँसते हुए पुचकारती आवाज में पूछ रहा था, "क्या है पागलचाम, भात खाओगी?"

उसने मैं पुलिसवालों में से एक ने बढ़कर प्रश्न किया, "कौन है वे साता, चन्दा बन, नहीं तो मारने-मारते भूसा बना दूँगा!"

रजुआ बहाँ से धोका हट गया और हँसते हुए बोला, "मालिक, मैं रजुआ हूँ।"

"भाग जा सालि, यिद्द भी तरह न मालूम कहाँ से आ पहुँचा!" सम्भवतः दूसरे

सिपाही ने कहा और फिर वे सभी ठहाका मारकर हँस पड़े ।

मैं अब काफ़ी आगे निकल गया था और इससे अधिक मुझे कुछ सुनायी न पड़ा । मैं जल्दी-जल्दी प्लेटफ़ार्म से बाहर निकल गया ।

किन्तु, मामला यहीं समाप्त नहीं हो गया । घर आकर मैंने आँगन में चारपाई डाल, बड़ी मुश्किल से आधा घंटा आराम किया होगा कि मेरी पत्नी भागती हुई आयी और कुछ मुसकराती हुई तेजी से बोली, “अरे, जरा जल्दी से बाहर आइए तो, एक तमाचा दिखाती हूँ । हमारी कसम, जरा जल्दी उठिए ।”

मैं अनिच्छापूर्वक उठा और बाहर आकर जो दृश्य देखा उससे मेरे हृदय में एक ही साथ आश्चर्य एवं धृणा के ऐसे भाव उठे जिन्हें मैं व्यक्त नहीं कर सकता । रजुआ स्टेशन की नंगी पगली के आगे-आगे आ रहा था । पगली कभी इधर-उधर देखने लगती या खड़ी हो जाती तो रजुआ पीछे होकर पगली की ग्रंगुली पकड़कर थोड़ा आगे ले जाता और फिर उसे छोड़कर थोड़ा आगे चलने लगता तथा पीछे धूम-धूमकर पगली से कुछ कहता जाता । इसी तरह वह पगली को सड़क की दूसरी ओर स्थित क्वार्टरों की छत पर ले गया । ये क्वार्टर मेरे मकान के सामने दूसरी पट्टी पर बने थे और वे एक-दूसरे से सटे थे । उनकी छतें खुली थीं और उन पर मुहल्ले के लोग जाड़े में धूप लिया करते और गर्मी में रात को लावारिस लफंगे सोया करते थे ।

तभी रजुआ नीचे उत्तरा, किन्तु पगली उसके साथ न थी । हम लोगों की उत्सुकता वढ़ गयी थी कि देखें, वह आगे क्या करता है । हम लोग वहीं खड़े रहे और रजुआ तेजी से स्टेशन की ओर गया तथा कुछ ही देर में बापस भी आ गया । इस बार उसके हाथ में एक दोना था । दोना लेकर वह ऊपर चढ़ गया और हम समझ गये कि वह पगली को खिलाने के लिए बाजार से कुछ लाया है ।

इसके बाद दो-तीन दिन तक रजुआ को मैंने मुहल्ले में नहीं देखा । उस दिन की घटना से हृदय में एक उत्सुकता वनी हुई थी, इसलिए एक दिन मैंने अपनी पत्नी से पूछा, “क्या बात है, रजुआ आजकल दिखायी नहीं देता । अब यहाँ नहीं आता क्या ?”

पत्नी ने थोड़ा चौंककर उत्तर दिया, “अरे, आपको नहीं मालूम, उसको किसी ने बुरी तरह पीट दिया है और वह वरन की वहू के यहाँ पड़ा हुआ है ।”

“क्यों, क्या बात है ?” मैंने अपनी उत्सुकता प्रकट किये विना धीमे स्वर में पूछा ।

पत्नी ने मुसकराकर बताया, “अरे, वही बात है । रजुआ उस पगली को छत पर छोड़ नरसिंह वाबू के यहाँ काम करने लगा । नरसिंह वाबू की स्त्री बताती हैं कि वह उस दिन बड़ा गम्भीर था और काम करते-करते चहककर जैसे किलकारी मारता है, वैसे नहीं करता था । उसकी तबीयत काम में नहीं लगती थी । वह एक काम करता और मौका देख कोई बहाना बनाकर क्वार्टर की छत पर जाकर पगली का समाचार ले आता । नरसिंह वाबू की स्त्री ने जब उसे खाना दिया तो उसने वहाँ भोजन नहीं किया, बल्कि खाने को एक कागज में लपेटकर अपने साथ लेता गया । उसने वह खाना खुद थोड़े खाया, बल्कि उसको वह ऊपर छत पर ले गया । रात के करीब ग्यारह बजे की बात है । रजुआ जब ऊपर पहुँचा तो देखा कि पगली के पास कोई दूसरा सोया है । उसने आपत्ति की तो

उसको उस लफगे ने खूब पीटा और पगली को लेकर कहीं दूसरी जगह चला गया ।”

“तुम्हें वह सब कैसे मालूम हुआ ?” मेरा हृदय एक अनजान क्रोध से भरा आ रहा था ।

“वरन की वह बता रही थी ।” पत्नी ने उत्तर दिया और श्रकारण ही हँस पड़ी ।

° °

वहुत दिन हो गये थे । गर्मी का मौसम था और भयंकर लू चलना शुरू हो गयी थी । छत पर मार खाने के चार-पाँच दिन बाद रजुआ फिर मुहल्ले में आकर काम करने लगा था । लेकिन उसमें एक जवर्दस्त परिवर्तन यह हुआ कि उसका स्त्रियों के साथ घेड़खानी करके गधे की भाँति हिलकना-किलकना बन्द हो गया ।

“रजुआ ने आजकल दाढ़ी बयों रख छोड़ी है ?” मैंने पत्नी से पूछा ।

रजुआ की बात छिड़ने पर मेरी बीबी अवश्य हँस देती । मुसकराकर उसने उत्तर दिया, “आजकल वह भगत हो गया है । वरन की वह को उसके कृत्य की सजा देने को उसने दाढ़ी बढ़ा ली है और रोजाना शनीचरी देवी पर जल चढ़ाता है ।”

मेरे प्रश्नसूचक दृष्टि से देखने पर पत्नी ने अपनी बात स्पष्ट की, “बात यह है कि रजुआ पिछले कुछ महीनों से रात को वरन की वह के यहाँ ही सोता था और उससे बुग्रा का रिश्ता भी उसने जोड़ लिया था । रजुआ दो-चार आने जो कुछ कमाता, वह अपनी बुग्रा के यहाँ जमा करता जाता । वह बताता है कि इस तरह करते-करते दस रुपये तक इकट्ठे हो गये हैं । एक बार उसने वरन की वह से अपने रुपये माँगे तो वह इन्कार कर गयी कि उसके पास रजुआ की एक पाई भी नहीं । रजुआ के दिल को इतनी चोट लगी कि उसने दाढ़ी रख ली । वह कहता है कि जब तक वरन की वह को कोड़न फूटेगा, वह दाढ़ी न मुड़ायेगा । इसी काम के लिए वह शनीचरी देवी पर रोज जल भी चढ़ाता है ।”

शनीचरी देवी का जहाँ तक सम्बन्ध है, मुझे अब खायाल आया । शनीचरी अपने गमाने वी एक प्रचण्ड डोमिन थी । ताढ़का की तरह लम्बी-तगड़ी और लड़ने-भगड़ने में उस्ताद । वह किसी से भी नहीं डरती थी और नित्य ही किसी-न-किसी से मोर्चा लेती थी । एक बार किसी लड़ाई में एक डोम ने शनीचरी की खोण्डी पर एक लट्ठ जमा दिया, जिससे उसका प्राणान्त हो गया । लेकिन एक-डेढ़ हफ्ते बाद ही उस डोम के चेचक निकल आयी और वह मर गया । लोगों ने उसकी मृत्यु का कारण शनीचरी देवी का प्रक्रोप समझा । डोमों ने शदा में उसका चूतरा दना दिया और तब से वह छोटी जातियों में शनीचरी माता या शनीचरी देवी के नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी ।

मैं गुण नहीं बोला, मैंकिन पत्नी ने सम्भवतः कुछ उदास स्वर में कहा, “उसको आजकल योऽप्ता बुझार रहता है । उसका विद्वास है कि वरन की वह ने उस पर जादू-टोना कर दिया है । वह रहता है कि शनीचरी वहुत चलती देवी हैं । और, एक महीने में वरन पी वह फूट-फूटकर मरेगी ।”

पता नहीं, उनका ज्वर टूटा कि नहीं । मैंने जानने की कोशिश भी नहीं की । बीमार तो वह सदा ही का था । सोचा, शायद उत्तर दिया हो, क्योंकि काम तो वह उसी

तरह कर रहा था। हाँ, बीच में उसके चेहरे पर जो चुस्ती और खुशी चमक-चमक उठती, वह तिरोहित हो गयी थी। न वह उतना चहकता था, न उतना बोलता था। अपेक्षाकृत वह अधिक गम्भीर और सुस्त हो गया।

उसकी रुचि धर्म की ओर मुड़ गयी और शनीचरी देवी की मन्त्र मानते वह अच्छा-भला भगत बन बैठा।

मेरे घर के सामने सड़क की दूसरी ओर ब्वार्टर में एक पंडितजी रहते हैं। यों तो वह लकड़ियाँ बेचते हैं, लेकिन साथ-साथ सत्तू-नमक-तेल वर्ग रह भी रखते हैं। फलस्वरूप उनके यहाँ इके-तांगेवालों और गाड़ीवानों की भीड़ लगी रहती है, जो पंडितजी के यहाँ से सत्तू लेकर अपनी भूख मिटाते हैं और उनकी दूकान के छायेदार नीम के नीचे पाँच-दस मिनट विश्राम करते हुए ठट्टा-मज़ाक भी करते हैं। रात को वहाँ उनकी मजलिस लगती है।

उस रात गर्मी इतनी थी कि आँगन में दम घुटा जा रहा था। मैं खाने के पश्चात् चारपाई को घसीटते हुए लगभग सड़क के किनारे ले गया। उमस तो यहाँ भी थी, पर अपेक्षाकृत शान्ति मिली।

मुझे लेटे हुए अभी दो-चार मिनट ही बीते होंगे कि पंडितजी की दूकान से आती हुई आवाज सुनायी पड़ी, “तो का हो रज्जू भगत, गोसाईजी का कह गये हैं? महाबीरजी समुन्दर में कूदते हैं तो ताड़का महरानी का कहती हैं?”

“सुनो-सुनो,” प्रश्नकर्ता की वात के उत्तर में रजुआ (शायद वह भगत कहलाने लगा था) तत्काल जोश से ऐसे बोला, जैसे आशंका हो कि यदि वह देर कर देगा तो कोई दूसरा ही बता देगा—“बजरंगबली बड़े जबर थे। वह समुन्दर में कुछ दूर तक तौर लेते हैं तो उनको ताड़का महरानी मिलती हैं। ताड़का महरानी अपना रूप दिखाती हैं तो बजरंगबली-किससे कम हैं? ये मियाँ एड़े तो हम तुम से ड्यौढ़े, बजरंगबली भी उतने ही बड़े हो जाते हैं। इसके बाद ताड़का महरानी और बड़ी हो जाती हैं तो बजरंगबली मच्छर बनकर ताड़का महरानी के कान से बाहर निकल आते हैं।”

“तो ए रज्जू भगत, गान्ही महात्मा भी तो जेहल से निकल आते हैं?” किसी दूसरे ने पूछा।

रजुआ ने और जोर से बताया, “सुनो-सुनो, गान्ही महात्मा को सरकार जब जेहल में डाल देती है तो एक दिन क्या होता है कि सभी सिपाही-प्यादा के होते हुए भी गान्ही महात्मा जेहल से निकल आते हैं और सबकी आँखों पर पट्टी बँधी रह जाती है। गान्ही महात्मा सात समुन्दर पार करके जब देहली पहुँचते हैं तो सरकार उन पर गोली चलाती है। गोली गान्ही महात्मा की छाती पर लगकर सौ टुकड़े हो जाती हैं और गान्ही महात्मा आसमान में उड़कर गायब हो जाते हैं।”

इसके पूर्व महात्मा गांधी की मृत्यु का ऐसा दिलचस्प किस्सा मैंने कभी नहीं सुना था, यद्यपि गांधीजी की हत्या हुए चार वर्ष गुजर गये थे।

उसकी दाढ़ी जैसे-जैसे बढ़ती गयी, रजुआ के धर्म-प्रेम का समाचार भी फैल गया। निचले तबके के लोगों में अब वह ‘रज्जू भगत’ के नाम से पुकारा जाने लगा। बड़े लोगों में भी कोई-कोई हँसी-मज़ाक में उसको इसी नाम से सम्बोधित

उनके कहने पर वह शरमाकर हँसते हुए चला जाता, पर छोटी जातियों के समाज में वह कुछ-न-कुछ ऐसी कह गुजरता जो सबसे अलग होती। अक्सर उनकी मजलिसें रात को पंडितजी की दूकान के आगे जमतीं और रजुआ उनसे राम-सीताजी की चर्चा करता, भूत-प्रेत, वरनडीह के भहत्व पर प्रकाश डालता और फाइ-फूक, मन्त्र-जप की महत्ता समझता। वे नाना प्रकार की शंकाएँ प्रकट करते और रजुआ उनका समाधान करता।

लेकिन इतनी धार्मिक चर्चाएँ करने, शनीचरी देवी पर जल चढ़ाने तथा दाढ़ी रखने के बाबजूद उसकी मनोव्याप्ति पूरी न हुई।

० ०

शाम को दफ्तर से लौटा ही था कि बीबी ने चिन्तातुर स्वर में सूचना दी, “अरे, जानते नहीं, रजुआ को हैजा हो गया है।”

उन दिनों गर्मी अपनी चरम सीमा पर थी और गड्ढे तथा बमधुलिस की गली में, जो शहर के अत्यधिक गन्दे स्वान थे, हैजे की कई घटनाएँ हो गयी थीं। मुझे ग्राम्य नहीं हुआ, यद्योंकि रजुआ को हैजा न होता तो और किसको होता।

“जिन्दा हूं या मर गया?” मैंने उदासीन स्वर में पूछा।

भैरी पत्नी ने अपसोस प्रकट करते हुए कहा, “क्या वतायें, मेरा दिल छटपटा-कर रह गया। वहीं खण्डहर में पड़ा हुआ है। कै-दस्त से पस्त हो गया है। लोग वताते हैं कि ग्राम-एक घंटे में मर जायेगा।”

“कोई दवा-दारू नहीं हुई?”

“कौन उसका सगा बैठा है, जो दवा-दारू करता। शिवनाय बाबू के यहाँ काम कर रहा था, पर जहाँ उसको एक कै हुई कि उन लोगों ने उसको अपने यहाँ से खदेड़ दिया। फिर वह रामजी मिश्र के श्रोसारे में जाकर बैठ गया, लेकिन जब उन लोगों को पता लगा तो उन्होंने भी उसको भगा दिया। उसके बाद वह किसी के यहाँ नहीं गया, जाकर खण्डहर में पड़े के नीचे पड़ गया।”

मैंने जैसे व्यंग्य किया, “तुमने अपने यहाँ क्यों न बुला लिया?”

पत्नी को यह आशा नहीं थी कि मैं ऐसा प्रदन करूँगा, इसलिए स्तम्भित होकर मुझे देखने लगी। अन्त में बिगड़कर बोली, “मैं उसे यहाँ बुलाती, किसी बात करते हैं आप? मेरे भी बाल-बच्चे हैं, भगवान् न करे, उनको कुछ हो गया तो?”

मैं हँस पड़ा, किर लठ लड़ा हुआ। “जरा देख आऊं,” दरवाजे की ओर बढ़ता हुआ बोला।

“धापके पैरों पटती हैं, उसको छुइएगा नहीं और झटपट चले आइएगा।” पत्नी गिर्जिहाने लगी।

जब मैं खण्डहर में पहुँचा तो दो-तीन व्यक्ति सड़क के किनारे खड़े होकर रजुआ की निहार रहे थे। वे मुहुर्ले के नहीं, बल्कि रास्ते चलते मुसाफिर थे, जो रजुआ की दफा देखने वालमेंष्य दया एवं उत्सुकता ने वहाँ खड़े हो गये थे।

“रजुआ?” मैंने निकट पहुँचकर दृश्या।

लेकिन उसको किसी वात की सुध-वुध न थी। वह पेड़ के नीचे एक गन्दे अँगोछे पर पड़ा हुआ था और उसका शरीर कै-दस्त से लथपथ था। उसकी छाती की हड्डियाँ और उभर आयी थीं, पेट तथा आँखें पिचककर धूंस गयी थीं और गालों में गड़हे बन गये थे। उसकी आँखों के नीचे भी गहरे काले गड़हे दिखाई दे रहे थे और उसका मुँह कुछ खुला हुआ था। पहले देखने से ऐसा मालूम होता था कि वह मर गया है, लेकिन उसकी साँस धीमे-धीमे चल रही थी।

मैं कुछ निश्चय न कर पा रहा था, क्या किया जाय कि मालूम नहीं कहाँ से शिवनाथ बाबू मेरी बगल में आकर खड़े हो गये और धीरे से उन्होंने अपनी सम्मति भी प्रकट की, “ही कान्ट सरवाइव—यह वच नहीं सकता।”

मैंने तेज़ दृष्टि से उनको देखा। शिवनाथ बाबू पर तो मुझे गुस्सा आ ही रहा था, लेकिन अपने ऊपर भी कम झुँभलाहट न थी। कभी जी होता था कि जाकर घर बैठ रहूँ, जब और लोगों को मतलब नहीं तो मुझे ही क्या पढ़ी है। लेकिन उसे यों अपनी आँखों के सामने मरते हुए नहीं देखा जाता था। पर मैं लसका इलाज भी क्या करवा सकता था? मैं लगभग सी रुपये वेतन पाता था, इसके अलावा महीने का अन्तिम सप्ताह था, मेरे पास एक भी पाई नहीं थी। पर उसे अस्पताल भी तो भिजवाया जा सकता है? अचानक मन में विचार कींद्रा, मेरी झुँभलाहट जैसे अचानक दूर हो गयी और मैं घूमकर तेजी से अस्पताल रवाना हो गया।

अस्पताल पहुँचकर मैंने सम्बन्धित अधिकारियों को सूचित किया। वहाँ से अस्पताल की मोटर गाड़ी पर बैठकर मैं स्वयं साथ आया। रजुआ की साँस अब भी चल रही थी। अस्पताल के दो भेहतरों ने, जो साथ आये थे, उसको खींचकर गाड़ी पर लाद दिया। जब गाड़ी चली गयी तो मैंने सन्तोष की साँस ली जैसे मेरे सिर से कोई बड़ा बोझ हट गया हो।

सबकी यही राय थी कि रजुआ वच नहीं सकता, परन्तु वह मरा नहीं। यदि अस्पताल पहुँचने में थोड़ा भी विलम्ब हो गया होता तो वेशक काल के गाल से उसकी रक्षा न हो पाती। अस्पताल में वह चार-पाँच दिन रहा, फिर वहाँ से वरखास्त कर दिया गया।

किन्तु उसकी हालत बेहद खराब थी। वह एकदम दुवला-पतला हो गया था। मुश्किल से चल पाता और जब बोलता तो हाँफने लगता। न मालूम क्यों, वह अस्पताल से सीधे मेरे घर ही आया। यद्यपि मेरी पत्नी को उसका आना वहुत बुरा लगा, लेकिन मैंने उससे कह दिया कि दो-चार दिन उसे पड़ा रहने दे, फिर वह अपने-आप ही इधर-उधर आने-जाने तथा काम करने लगेगा।

वह चार-पाँच दिन रहा, खाने को कुछ-न-कुछ पा ही जाता। वह कोई-न-कोई काम करने की कोशिश करता, पर उससे होता नहीं। किसी को घर में बैठकर मुफ्त खिलाना मेरी श्रीमतीजी को वहुत बुरा लगता था, परन्तु सबसे बड़ा भय उनको यह था कि उसके रहने से घर में किसी को हैजा न हो जाय।

और एक दिन घर आने पर रजुआ नहीं दिखाई पड़ा। पूछने पर बीवी ने बताया

कि वह अपनी तदीयत में पता नहीं कब कहीं चला गया।

वह कहीं गया न था, बल्कि मुहल्ले ही में था। लेकिन अब वह बहुत कम दिखाई पड़ता। मैंने उसको एक-दो बार सड़क पर पैर घिसट-घिसटकर जाते हुए देखा। सम्भवतः वह अपना पेट भरने के लिए कुछ-न-कुछ करने का प्रयत्न कर रहा था।

और किर एक दिन मैंने उसे खण्डहर में पुनः पड़ा पाया।

विवनाथ बाबू अपने दरवाजे पर बैठ अपने शरीर में तेल की मालिश कर रहे थे। मैंने उसने जाकर नमस्कार करते हुए प्रश्न किया, “रजुआ खण्डहर में क्यों पड़ा हुआ है? उसे किर हैजा हुआ है क्या?”

विवनाथ बाबू बिगड़ गये, “गोली मारिए साहब, आखिर कोई कहाँ तक करे? अब माले को खुजली हूई है। जहाँ जाता है, खुजलाने लगता है। कौन उससे काम कराये! किर काम भी तो वह नहीं कर सकता। साहब, अभी दो-तीन रोज की बात है, मैंने कहा एक गगरा पानी ला दो। गया जहर, लेकिन कुएं से उत्तरते समय गिर गये बच्चे। पानी तो खराब हुआ ही, गगरा भी टूट-पिचक गया। मैंने तो साफ़-साफ़ कह दिया कि मेरे घर के ग्रन्दर पैर न रखना, नहीं तो पैर तोड़ दूँगा। शरीरों को देखकर मुझे भी दया-माया सनाती है, पर अपना भी तो देखना है।”

मैं कुछ नहीं बोला और चूपचाप घर लौट आया। इस बार मेरी हिम्मत नहीं हुई कि जाकर उसे देखूँ या उसमे हालचाल पूछूँ।

घर आकर मैंने पत्नी से पूछा, “तुमने रजुआ से कुछ कहा-सुना तो नहीं था?” मुझे शक था कि बीवी ने ही उसको भगा दिया होगा और इसीलिए वह मेरे घर नहीं आता। मेरी बात सुनकर श्रीमती अचकचाकर मुझे देखने लगीं, किर तिनककर बोलीं, “क्या करती, रोग को पालती? कोई मेरा भाई-बच्चु तो नहीं।”

मैं क्या कहता?

रजुआ यो भयंकर खुजली हो गयी थी, लेकिन उसने मुहल्ला नहीं छोड़ा। वह ग्रन्दर खण्डहर में बैठकर अपने शरीर को खुजलाता रहता। खाने की आशा में वह इधर-उधर चकर भी लगाता। कभी-कभी वह मेरे घर के सामने लकड़ीवाले पंडित के यहाँ आता और पंडितजी बोडा सत्तू दे देते। मैंने भी एक-दो बार अपने लड़के के हाथ गाना भिजवा दिया। उस तरह उसके पेट का पालन होता रहा। उसका चेहरा भयंकर हो गया था—एकदम पीला और हाम-पैर जली हुई रस्सी की तरह ऐंठे हुए। वह बाहर कम ही निकलता और जब निकलता तो उसको देखकर एक ग्रीष्म दहशत-सी लगती, जैसे कोई नर-फ़काल चल रहा हो।

○ ○

यामाड़ चढ़ गया था और बरसात का महला पानी पड़ चुका था। शनिवार का दिन, सबंदेर समझग थाठ बैंज में दमतर का काग लेकर बैठ गया। लेकिन तदीयत लगी नहीं। दाहर नाली में बर्दा का पानी पूरे बैग से दोड़ रहा था और शरीर पर पुरवाई के भींके प्लान गते, जिसने मैं एक मधुर मुस्ती का ग्रनुभद कर रहा था। मैंने तालम मेज पर चर थी और मुर्गी पर तिर टेकाकर ऊंधने लगा।

यदि एक ग्राहट ने चाँका न दिया होता तो मैं सो भी जाता । मैंने आँखें खोलकर बाहर झाँका । बाहर ओसारे में खड़ा एक तेरह-चौदह वर्ष का लड़का कमरे में झाँक रहा था । लड़के के शरीर पर एक गन्दी धोती थी और चेहरा मैला था ।

मुझे सन्देह हुआ कि वह कोई चोर-चाई है, इसलिए मैंने डपटकर पूछा, “कौन है रे, क्या चाहता है ?”

लड़का दुबककर कमरे में घुस आया और निघड़क बोला, “सरकार, रजुआ मर गया । उसी के लिए आया हूँ ।” अन्त में हँस पड़ा ।

“मर गया ? कव मरा ? कहाँ मरा ?” मैंने साश्चर्य मुँह बाकर एक ही साथ उससे कई प्रश्न किये ।

लड़के ने फिर हँसते हुए कहा, “हाँ, सरकार, मर गया । मालिक, इस कारड पर उसके गाँव एक चिट्ठी लिख दीजिए ।”

मैंने इसके आगे रजुआ के सम्बन्ध में कुछ न पूछा । मैं अचानक डर गया कि यदि मैंने मामले में अधिक दिलचस्पी दिखायी तो हो सकता है कि मुझे उसकी लाश फूँकने का भी प्रवन्धन करना पड़े ।

लड़के के हाथ में एक पोस्टकार्ड था, जिसको लेते हुए मैंने सवाल किया, “इस पर क्या लिखना होगा ? उसके गाँव का क्या पता है ?”

“मालिक, रामपुर के भजनराम वरई के यहाँ लिखना होगा । लिख दीजिए कि गोपाल मर गया ।” लड़के की आवाज़ कुछ ढीठ हो गयी थी ।

“गोपाल !”

“जी, वहाँ तो उसका यही नाम है ।”

मैंने पोस्टकार्ड पर तेज़ी से मज्जमून तथा पता लिखा और पत्र को लड़के के हवाले कर दिया ।

मैं लड़के से पूछना चाहता था कि तू कौन है ? रजुआ कहाँ मरा ? उसकी लाश कहाँ है ? परन्तु मैं कुछ नहीं पूछ सका जैसे मुझे काठ मार गया हो ।

सच कहता हूँ, रजुआ की मृत्यु का समाचार सुनकर मेरे हृदय को अपूर्व शान्ति मिली, जैसे दिमाग़ पर पड़ा हुआ बहुत बड़ा बोझ हट गया हो । उसको देखकर मुझे सदा धृणा होती थी और कभी-कभी यह सोचकर कष्ट होता था कि इस व्यक्ति ने सदा ऐसे प्रयास किये, जिससे इसको भीख न माँगनी पड़े । और उसको भीख माँगनी भी पड़ी है तो इसमें उसका दोष कर्तव्य नहीं रहा है । मैंने उसकी दशा देखकर कई बार क्रोधवश सोचा है कि यह कम्बख्त एक ही मुहल्ले से क्यों चिपका हुआ है ? धूम-धूमकर शहर में भीख क्यों नहीं माँगता ? मुझे कभी-कभी लगता है कि वह किसी का मुहताज़ न होना चाहता था और इसके लिए उसने कोशिश भी की जिसमें वह असफल रहा । चूँकि वह मरना न चाहता था, इसलिए जोंक की तरह जिन्दगी से चिमटा रहा । लेकिन लगता है, जिन्दगी स्वयं जोंक-सरीखी उससे चिमटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अन्तिम बूँद तक पी गयी ।

रजुआ को मरे तीन-चार दिन हो गये थे। सारे मुहल्ले में यह समाचार उसी दिन फैल गया था। मुहल्लेवालों ने अफसोस प्रकट किया और शिवनाथ वाडू ने तो यहाँ तक कह डाला कि जो हो, आदमी वह ईमानदार था।

रात के करीब आठ बजे थे और मैं अपने बाहरी ओसारे में बैठा था। आसमान में वादल छाये थे और सारा बातावरण इतना शान्त था जैसे किसी पड़्यन्त्र में लीन हो। बगल की चौकी पर रखी धुधली लालटेन कभी-कभी चकमक कर उठती और उसके चारों ओर उड़ते पतंगे कभी कमीज के अन्दर घुस जाते, जिससे तबीयत एक असह्य खीझ से भर उठती।

मैं भीतर जाने के उद्देश्य से उठा कि सामने एक छाया देखकर एकदम डर गया। रजुआ की धक्का का नर-कंकाल भीतर लाला आ रहा था। सच कहता हूँ यदि मैं भूत-प्रेत में विश्वास करता तो चिल्ला उठता, “भूत-भूत !” मैं आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। नर-कंकाल धीरे-धीरे घिसटता बढ़ा आ रहा था। यह तो रजुआ ही था—ठठरी मात्र ! क्या वह जिन्दा है ?

वह मेरे निकट आ गया। सम्भवतः मेरी परेशानी भाँपकर बोला, “सरकार, मैं मरा नहीं हूँ, जिन्दा हूँ।” अन्त में वह सूखे होंठों में हँसने लगा।

“तब वह लड़का क्यों आया था ?” मैंने गम्भीरतापूर्वक प्रश्न किया।

उसने पहले दाँत निपोर दिये, फिर बोला, “सरकार, वह गुदड़ी वाजार के बचन-गाम का लड़का है। मैंने ही उसको भेजा था। बात यह हुई सरकार, कि मेरे सिर पर एक कीवा बैठ गया था। हज़ुर, कीवे का सिर पर बैठना बहुत श्रनसुभ माना जाता है। उसने मौप्रत आ जानी है।”

“फिर गाँव पर चिट्ठी लिखने का क्या मतलब ?” मेरी समझ में अब भी कुछ न आया था।

उसने समझाया, “सरकार, यह मौग्रतवाली बात किसी सगे-सम्बन्धी के यहाँ लिख देने से मौग्रत टल जाती है। भजनराम वरई मेरे चाचा होते हैं। मालिक, एक और दारउ है, उस पर लिख दें, सरकार कि गोपाल जिन्दा है, मरा नहीं।”

मैंने पूछना चाहा कि तू क्यों नहीं आया, लड़के को क्यों भेज दिया। लेकिन यह शब्द व्यर्थ था। सम्भवतः उसने सोचा हो कि उसका मतलब कोई न समझे और लोग बात को भजाक समझकर कहीं दुरदुरा न दें।

मैंने पोस्टकार्ड लेन्ऱर उस पर उसकी छच्छानुसार लिख दिया।

पोस्टकार्ड लौटाते समय मैंने उसके चेहरे को ऊर से देखा। उसके मुख पर मौत की भीषण द्याया नाच रही थी और वह जिन्दगी से जोंक की तरह चिमटा था—लेकिन जोंक वह था या जिन्दगी ? वह जिन्दगी का खुन चूस रहा था या जिन्दगी उसका ?—मैं तथ न कर पाया।

उषाप्रियंवदा

मछलियाँ

विजी सड़क के किनारे खड़ी है। पतझर की सुनहरी, रंगभरी शाम सड़क और इमारतों पर छायी हुई है। पूर्व से रह-रहकर हवा आती है जिससे विजी की हल्की, पारदर्शी नायलॉन की साड़ी पर छपे फूल धीरे-धीरे हिलते हैं। सारे दिन के बाद जूँड़ा हीला हो, नीचे गर्दन पर टिका है और वैम्बूकिलप का एक सिरा मांस में निरन्तर चुभ रहा है।

विजी अकेली नहीं है, पास ही नटराजन भी खड़ा है। पर विजी ने नटराजन की ओर से मुँह फेर लिया है। क्योंकि विजी की आँखों में आँसू हैं। विजी नहीं चाहती कि नटराजन जाने कि वह रो रही है। तीन महीनों के बाद लौटकर विजी ने जो समाचार सबसे पहले सुना, वह यह था कि नटराजन शीघ्र ही मुकी, नयनतारा मुकर्जी, से विवाह करने जा रहा है। कहाँ वह डायन, कहाँ वेचारा नटराजन !

विजी चाहती है कि इस बात का बुरा न माने कि नटराजन को मुकी अच्छी लगती है, कि मुकी ने विजी को निमन्त्रण नहीं दिया है, कि स्वयं नटराजन ने अब तक एक बार भी नहीं पूछा है, विजी, तुम आओगी न ? अगर पूछे तो विजी को वह सब कहने का अवसर मिले जो हृदय में कल से उमड़-घुमड़ रहा है।

शाम को सड़क पर आवा-जाही बहुत बढ़ जाती है। लाल बत्ती के बदलने पर दोनों सावधानी से सड़क पार करने लगे। कुछ दूर चलने पर भीड़ और रोशनियोंवाली सड़क अचानक ही अँधियारी और उदास दीखने लगती है। अब नटराजन को विजी का चेहरा स्पष्ट नहीं दिखायी देता। यहाँ खड़े होकर वह विजी का सिर अपने सीने से लगा लेना चाहता है, क्योंकि उसका उदास-सा, दुःखी चेहरा नटराजन से नहीं देखा जाता। पर वह स्वयं जानता है कि वह ऐसा नहीं करेगा। नटराजन को अपने संयम पर गर्व है, और उसके मन में यह सन्तोष है कि उसने कभी विजी के सम्मुख अपनी भावनाओं को नहीं व्यक्त किया। जो अभी तक विजी से गोप्य रखा है, उसे अब कहने की ज़रूरत भी क्या !

० ०

विजी का घर पहले आता है। वह वहाँ एक पल ठिठकी और बोली, “आओ, एक कप कॉफी पीकर चले जाना !”

विजी के स्वर में आग्रह न था, आत्मीयता भी न थी, पर कुछ था अवश्य, नटराजन जाते-जाते रुककर खड़ा हो गया।

मुकी को पता लगेगा तो वह बहुत बुरा मानेगी। विजी और मुकी में लम्बी अनवन है। विजी तो मुकी का नाम तक नहीं सुन सकती। पर नटराजन अभी तो स्वतन्त्र है।

उसने देखा कि विजी दरवाजे के ताले में चावी डालकर धूमाते हुए मुड़कर देख रही थी कि वह आता है या नहीं।

“श्रद्धा,” नटराजन ने कहा।

विजी ने दरवाजा खोला, अन्दर जाकर बत्ती जलायी।

“आओ,” अपने पर्स को मेज पर रखते हुए विजी ने कहा।

नटराजन ने कमरे के मध्य में खड़े होकर चारों ओर नज़र दौड़ायी, दीवार पर एयर इंडिया का पुराना क्लेण्टर, मेक्सिकन वास्टेट के शेडवाला लम्प, सोफे पर छोट का बही खोल।

“चाय पियोगे या कॉफी ?” विजी ने पूछा और उत्तर की आशा में विमनस्क भाव से खड़ी रही।

“कॉफी ही तो कॉफी, नहीं तो एक गिलास पानी से काम चलेगा।”

“लगता है कि मीठा बोलना भूल गये हो।”

“कौन ? मैं कि तुम ?”

“मैंने तो मीठा बोलना जाना ही कब था। मीठा तो वह बोलती है...” विजी ने कहते-कहते अपने को रोक लिया, और रसोई की ओर चली गयी।

कमरे से रसोई का दरवाजा दीखता है। नटराजन ने कुर्सी से थोड़ा-सा धागे उठेंगकर पूछा, “कौन ?”

विजी रसोई में अन्दर हो गयी, जिससे नटराजन को न दीख सके। तब नटराजन ने कुछ स्वस्ति-सी अनुभव करते हुए पैर फैलाकर सामने रखी मेज पर टिका दिये। रसोई में से पानी गिरने वाली भर-भर आवाज आ रही थी। खिड़की के प्लास्टिक परदों के उस पार कुछ नहीं दीखता। अमरीका के इस शहर में, विजी नाम की लड़की के घर में अकेले थे ठे नटराजन को इस समय, कुछ भी असंगत नहीं लगता। वह भूल-सा जाता है कि कुछ ही दिन बाद वह एक दूसरी लड़की से विवाह करने जा रहा है। जैसे उसने अपनी भाव-नायों-विचारों को अलग-अलग कदमों में बांट दिया है। छः साल से वह विदेश में रहते-रहते ऊब गया है, पर भारत में पसन्द की नौकरी न मिलने से यहीं कुछ वर्ष और रहना होगा। उसने मुझी से विवाह करने का निश्चय बहुत ठंडी तरह सोचने-विचारने के बाद किया है। मुझी उसे कुछ मायनों में अच्छी लगती है, मुझी के मन में नटराजन के लिए धारद है। दोनों जानते हैं कि विवाह का दायित्व वे अच्छी तरह निवाह सकेंगे।

पर यह सब विजी को कैसे समझाया जाये !

कमरे में धी गर्म किये जाने की सुगन्ध भर ढठी, फिर डेर-सी प्याज मधुखन में ढोढ़ दी गयी।

“विजी, या बना रही हो ?” नटराजन ने आवाज ऊची करते हुए पूछा।

स्टेनलेस स्टील वी कलटी हाथ में पकड़े विजी ने रसोई से थोड़ा-सा इधर आकर कहा, “यों ही कुछ थोड़ा-सा।”

“मिलनी बार बताया कि पहले सरसों के दाने चटका लिया करो, प्याज पहले आनने ने दे दीक नहीं चटकते,” नटराजन कहते-कहते कुर्सी से थोड़ा-सा उठा, फिर

बैठ गया ।

आज वह विजी का अतिथि है, रसोई में जाकर बीच में श्रङ्गंगा लगाना उसके लिए योग्यन नहीं है । वे दिन नहीं हैं जबकि एपार्टमेण्ट मनीश और नटराजन का था, और रसोई में उसका आधिपत्य । मनीश को दक्षिणी भोजन अच्छा लगता है, यह जानकर विजी ने सोत्साह नटराजन की शिष्या बनना स्वीकार कर लिया था । विजी ने जैसे पूर्ण रूप से मनीश की रुचियों के अनुसार ढालना आरम्भ कर लिया था । उन दिनों विजी रह-रहकर हँसा करती थी और उसकी उज्ज्वल, तरल आँखों से आनंदरिक उल्लास की आभा भरती थी । अब तो उसके गोरे चेहरे पर कलौंस आ गयी है, हँसी जैसे होंठों को हल्के से छूकर लौट जाती है ।

विजी दो तश्तरियों में उपमा ले आयी और मेज पर रखकर काँफी लेने वापस लौट गयी । नटराजन की एक्सपर्ट आँखें देख रही हैं कि प्रिपरेशन ठीक नहीं है, सूजी कहीं-कहीं जल गयी है, पर काँफी लाकर विजी ने तश्तरी उसे दी तो वह चुपचाप खाने लगा । विजी ने स्वधं भी दो चम्मच उपमा छाकर तश्तरी रख दी और कहा, “ठीक नहीं बना न ?”

उस क्षणांश में जैसे पहलेवाली प्रफुल्ला, हासिनी विजी इस क्लान्त मुख में झाँक गयी ।

“नहीं तो, अच्छा है,” नटराजन ने कहा । उसे लगा कि जैसे इस बीच विजी ने अपने को थोड़ा-सा और दूर हटा लिया है । दोनों के बीच की दूरी, अनकही बातों की दीवार बढ़ती जा रही है ।

विजी ने काँफी का प्याला उसकी ओर बढ़ाया । नटराजन ने प्याला थामते हुए, चातावरण को यथासाध्य सहज बनाने के प्रयत्न में पूछा, “वार्षिगटन में कैसा लगा विजी ? यहाँ कब तक रहने का इरादा है ?”

“वार्षिगटन में मैंने एक नाटक देखा था, जो बहुत पसन्द आया । ‘छोटी मछली, चड़ी मछली,’ जिसमें चड़ी मछली छोटी मछलियों को निगलती रहती है । तब से कभी-कभी सोचती हूँ कि क्या छोटी मछली उलटकर बार भी नहीं कर सकती ?” कहकर वह अनमनी-सी हँसी, “तुम नहीं समझोगे, बहुत उलझी-बिखरी मानसिक प्रक्रिया होती जा रही है मेरी ।”

“धर में सब ठीक है ? पिता, भाई-बहन ?”

विजी ने इस प्रश्न पर चकित आँखें उठायीं और कहा, “वे लोग मुझे चिट्ठी ही कहाँ लिखते हैं ?”

“तुमने उन्हें सूचना नहीं दी ?”

“इतना लड़भिड़कर, इतने गर्व के साथ चली आयी थी । यह किस मुख से लिखती कि शादी टूट गयी है ! मनीश का जी मुझसे भर गया है !”

विजी की बात में हल्की-सी कड़वाहट है । नटराजन नहीं चाहता कि यह बाँ आगे बढ़े । विजी और मनीश के विवाह न करने में मुकी का जितना हाथ रहा है, से छिपा नहीं । इस नाटक का वह आद्योपान्त दर्शक रहा है ।

“योङी काँफी श्रीर दोगी, विजी ?” उसने पूछा ।

बाहर ओवेरा गाढ़ा हो गया है । कमरे में लैम्प शेड की भिस्फरियों से निकलकर दीवार पर गिरता प्रकाश अच्छा दीक्षता है ।

विजी ने अपने बालों में श्रटका किलप तिकालकर मेज पर रख दिया श्रीर सिर को धीरे-धीरे कई झटके दिये, जिससे बाल पूरे खुल जायें ।

“श्रीर तुम कैसे हो ?”

“ठीक हूँ । श्रीर तुमने समाचार तो सुना ही होगा ?” नटराजन ने हल्के से पूछा । पर झगड़ने का मूड़ श्रव विजी पर नहीं था । वह एकाएक असीम थकान से भर उठी । दायीं बांह फैलाकर उसने सोफे पर टिका दी ।

“हाँ ।”

विजी के स्वर से नटराजन को कुछ अन्दाज़ न हुआ कि विजी की क्या प्रतिक्रिया है । पर विजी ने सायास आँखें पूरी खोलकर पूछा, “अच्छा नटराजन, तुम्हें वह वहुत पसन्द है ? वहुत अच्छी लगती है ? उसके बिना रह नहीं सकते ?”

नटराजन चौंक गया । एकाएक कुछ उत्तर न दे पाकर वह विजी को देखता रह गया ।

“जानती हूँ, जानती हूँ,” विजी ने कहा, “उसकी आँखें लम्बी-लम्बी हैं, वह सोफे-स्टिकेटेड है, कार चलाती है, अंग्रेजी में कविता लिखती है, पीली मछलियाँ पालती है । वह सभी को अच्छी लगती है, तुम्हें, मनीष को, सबको……”

पहले विजी का कण्ठ रुद्ध हुआ, फिर ढेर-से आँसू आँखों में उमड़ आये । पर वह कहती गयी, “मैं उसके आगे क्या हूँ ? अत्यन्त क्षुद्र-उपेक्षणीय……मुझे तो तुम निमन्त्रण पाने तक का अधिकारी भी नहीं समझते……”

नटराजन उठकर विजी के पास बैठ गया, “कैसी पागलपन की-सी बातें कर रही ही, विजी ? तुम्हें क्यों नहीं बुलायेंगे ? मुझी आजकल वहुत विजी है, इसी से निमन्त्रण भेजने में देर ही गयी होगी ।”

○ ○

नटराजन कह रहा है श्रीर मन-ही-मन अपने को घिक्कार रहा है । क्यों उसमें स्पष्ट बात कहने का साहस नहीं है ! अनेक बार चाहने पर भी मुँह से विजी को न जता नका कि वह उसके लिए कितनी प्रिय है ! छ: वर्षों के छस दीर्घ प्रवास में अनेक युवतियों ने परिचय हुआ, पर विजी के मात्र नैकट्य से उसमें जो प्रतिक्रियाएँ होती थीं, वह नटराजन के लिए एक नया ही अनुभव था । पूरी तरह जानते हुए कि विजी मनीष की बागदत्ता है, कि कुछ ही महीनों बाद दोनों विवाह कर लेंगे, नटराजन को विजी के बारे में सोचना भला लगता था । दिन-भर अपने को काम में व्यस्त रखने पर भी यह आशा मन में जगी रहती कि शाम को शायद विजी मनीष से मिलने आये । मनीष के पास उन दिनों पैसों पी बहुत तंगी थी, इसलिए विजी को अधिक धुमाने-फिराने के बजाय वह सन्देश एप्स्टेन्ट में बैठकर बीयर पीते श्रीर संगीत सुनते हुए नुजारता था । विजी इधर-उधर अत्यन्त दास-भाव से मंडराती थी, और नटराजन दोनों के श्रक्षेपन में बाधक न दन अपने

कमरे में लेटा पुस्तक पढ़ता हुआ, दीवार के उस पार विजी की हँसी सुना करता था, और एक सुगन्धि-सी सारे घर में छायी रहती थी।

पर वे दिन अब नहीं हैं। नटराजन अब बैठकर उन खोये गये दिनों की याद में सिर नहीं धुनेगा।

अगले सप्ताह वह नयनतारा मुकर्जी नाम की एक सोफेस्टिकेटेड लड़की से शादी करेगा, मनीश और विजी के साथ जिस दायरे में घिर गया था, उसे काट फेंकेगा। मुकी फाइन आर्ट्स की छात्रा है, वह ताँचे के पात्र गढ़ती है, चित्र बनाती है। नटराजन ने विवाह से पंहले ही अपने बैंक के एकाउण्ट में उसका नाम भी चढ़वा दिया है, और उसे पूरी छूट दे दी है। मुकी की राय से एक नयी एपार्टमेण्ट विलिंग की पाँचवीं मंजिल पर तीन कमरों का फ्लैट ले लिया गया है। मुकी ने डेनिश पद्धति का फर्नीचर आर्डर किया है, और उसकी एक मित्र परदे बना रही है। मुकी ने अपने को नये घर को सजाने में व्यस्त कर लिया है। नहीं, मुकी के साथ घर जमाकर रहना नटराजन को बुरा नहीं लगेगा। पर यहाँ बैठे-बैठे, मन में बैदगा की एक खरोंच बाकी है, यह पास बैठा, रुदिता विजी मन में जितनी अपनी है, वह शायद मुकी कभी न होगी। विजी के प्रति इन भावनाओं में एक पागल रन-सा है जो मुकी, मनीश अच्छी तरह जानते हैं, नहीं स्वीकारती है तो विजी। मनीश के लिए उसके मन में अब भी वही, बिना शिकायत उतना ही प्यार है, जितना पहले था। नटराजन एक दर्शक रहा है, उसे इससे अधिक प्राप्त न होगा।

नटराजन एकाएक कठोर हो आया। ऐसी छिन्न, दलित तो विजी कभी न थी। बन्धु-वान्धवों से दूर, सुबह से शाम तक परिश्रम के बाद अकेले सन्ध्या और रात बिताते हुए विजी को कैसा लगता होगा, इसका नटराजन कुछ-कुछ अनुमान लगा सकता था। और ऐसी साधना मनीश के लिए! मनीश, जिसने कि एक दिन बहुत ठंडे, अनासक्त भाव से नटराजन से कह दिया था: 'विजी के लिए मेरे मन में अब कुछ नहीं बचा। वह बहुत सीधी, नरल, अनकाम्प्लिकेटेड लड़की है। मुझे वाँध सके, सन्तुष्टि दे सके ऐसी मानसिक गहराइयाँ नहीं हैं उसमें। मुझे पत्ती चाहिए तो मुकी-जैसी कलात्मक, स्फूर्तिदायक, इण्टेलेक्चुअल।' फिर मुकी भी उसे न वाँव सकी।

"विजी, रोओ मत," नटराजन ने कहा।

"कितना चाहती हूँ कि दृढ़ बनूँ, पर फिर न जाने क्यों बहुत दुर्वल हो आती हूँ, और आँसू नहीं स्कते..."

"विजी, तुम अब भी..."

"हाँ, नटराजन, मनीश कहा करता था कि प्यार चुक जाता है, भावनाएँ मर जाती हैं। अक्सर मोचती हूँ कि मुझमें ऐसा क्यों नहीं होता। मैं क्यों निर्मम, कठोर नहीं हो पाती! मुकी मुझ पर हँसती थी—मेरे भारतीय संस्कारों पर, मुझे इस पर लज्जा नहीं है कि मैं उसकी तरह ग्राधुनिक नहीं हूँ..." विजी कुछ याद आने पर चुप हो गयी। कुछ देर वह दीवार को एकटक ताकती रही, फिर उसने आँखें पोंछकर, भौंपी-नी मृद्द-कान हँस्तों पर लाकर कहा, "न जाने क्यों तुम्हें सम्मुख पाकर मैं बिखरने लगती हूँ—जो कुछ मन की तहों में छिगा-छिपाकर रखती हूँ, तुम्हारे आगे चीव-चीवकर कहना चाहती

हूँ ! ” यहाँ अधिक बैठे रहना नटराजन को असहनीय प्रतीत होने लगा । वह उठ खड़ा हुया और कुर्सी पर पड़ा अपना कोट पहनते हुए कुछ तलखी से बोला, “इसकी चिन्ता न करो, विजी । मैं हमेशा हरेक की बातें सुनने को उद्यत हूँ ।”

जैसे नटराजन एक बहुत कन्वीनियण्ट व्यक्ति है, जिससे सभी अपने-अपने मन की बात कह लेते हैं । पर उसके अन्दर भी तो कुछ है जो काटता रहता है, हर समय धूनता रहता है ।

कमरे से बाहर आकर ठंडी हो आयी । रात में नये घर की ओर चलते हुए नटराजन की आँखों के ग्रामे विजी का आहत, दयनीय हो आया चेहरा धूमता रहा । फिर अपने ऊपर आकोश भी, कि जो स्वयं ही आहत है, उसे और दुःखी करने से क्या कायदा ! अगर चुपचाप उसकी बात सुन लेता तो क्या जाता ! पर साथ ही मन में थोड़ी-सी झुंभलाहट, खूब झकझकर कर विजी को जगा देने की इच्छा, कि मनीश अब नहीं लीटेगा । फिर वह क्यों उसके नाम को पकड़े बैठी है ! मनीश ने तो कभी जरा भी विजी की मुविधा या मुँह का खाल नहीं किया । एक ही मकान में मनीश के साथ रहकर उसके स्वभाव व प्रवृत्तियों से अच्छी तरह परिचय हो गया था । और यह मनीश-सा लापरवाह अवित ही कर सकता था कि लगातार पश्च लिखकर विजी को भारत से बुलाये, और उसके पहुँचने से पहले ही प्रतीक्षा करने से ऊब अकेला मैं किसको चल दे । उसके जाने के बाद नटराजन घर में अफेला रह गया था, एक सोयी-सी दीपहर में फोन बजने लगा, और एक डरी-भी, रुग्नीभी आवाज मनीश को पूछने लगी । मनीश को अब भी अनेक आवाजें पूछा करनी थीं, पर इस बार जो कुछ नटराजन ने सुना, उससे वह कुछ क्षण स्तब्ध बैठा रह गया । फिर जल्दी-जल्दी कपड़े बदल, गराज से कार निकालकर एयरपोर्ट की ओर जाते हुए नटराजन को लगता रहा कि कहीं कुछ गड़बड़ी है । मनीश की मंगेतर भारत में है, दोनों की कॉलेज से मैंश्री रही है, यह उसे मालूम था । पर वह यहाँ अचानक आ पहुँचयी, इसका उमेर अनुमान भी न था । फिर, मनीश की आधिक स्थिति भी अभी विवाह कर गृहस्थी बसाने की न थी ।

एयरपोर्ट पहुँचकर नटराजन ने लाउंज के द्वार पर खड़े होकर चारों ओर देखा । अनग हटकर एक कुर्सी पर बैठी विजी महज ही दृष्टि में ग्रा गयी । पास जाकर अपना परिचय देते हुए नटराजन को विमय का दूसरा भटका-सा लगा । जिस स्मार्ट सेट में मनीश रहता था, उससे विजी भिन्न थी । उसके बस्त्र, केश-विन्यास और फिभक्टे हुए स्वर में, इपट निम्न मध्यवर्गीयता थी ।

नटराजन ने उससे कुछ मिनटों तक क्या बातें कीं, यह उसे स्वयं याद नहीं । पर उनका सार यह था कि वह चिन्तित न हो, नटराजन उसके रहने का प्रबन्ध कर देगा, और शाम दो बजे फोन पर मनीश ने बातें कर ले, और फिर जैसा भी कुछ निचय हो । यद्य सब लाते हुए नटराजन को गोरे चेहरे पर दो बड़ी-बड़ी तरल, विद्वास-भरी आँखों का ही ज्ञान रहा । उसी क्षण उसके मन में उस पर ढाँह करने, उसे कभी कोई कप्टन होने देने की भादना जग्म आयी । विजी उसके साथ आकर कार में बैठ गयी और कार जब गहर बी ओर चली तो विजी अपने को संयत न कर सकी, नटराजन की ओर पीछे

करते हुए दायीं और थोड़ा-सा मृडकर बैठ गयी और बांहों पर सिर रखकर रोती रही। किंतनी दुबली-पतली असहाय-सी लग रही थी तब। नटराजन के मन में मनीश के प्रति अत्यन्त क्रोध उमड़ आया। बांद में, जब-जब भी विजी का पक्ष ले, मनीश से लड़ा, मनीश ने विद्रूप भरी हँसी से कहा, “विजी को तुम चाहते हो न, इसी से उसका दुःख तुमसे नहीं सहा जाता।”

मनीश के कनान चने जाने के बाद नटराजन के मन में एक बहुत छोटी-सी आशा जगी थी। पर वह शीघ्र ही जान गया था कि विजी उसे सदा एक करुणामय मित्र की तरह समझती है। प्रेमी या पति वह कभी नहीं हो सकता।

००

नया घर अभी भी तरतीब में नहीं सजा है। कमरे के बीच में, कुर्सी पर मुकी बैठी है, और सामने-मेज पर झुकी हुई लिफाफों पर पते लिख रही है। नटराजन दर-वाजे से टिक्कर खड़ा हो जाता है और मुकी को कुछ देर ताकता है। मुकी ने वादामी रंग की रेशमी साड़ी पहन रखी है, गले में बड़े-बड़े अंगढ़ मनकों की लम्बी काली माला है, बिना बांहों का व्लाउज़, गोल चिकनी साँवली बांहें। नटराजन को देखकर मुकी ने क़लम रख दी और हल्की-सी मुसकराहृष्ट उसके चेहरे पर फैल गयी। कमरे में बैठने को कुछ नहीं है, केवल एक कुर्सी है, जिस पर मुकी बैठी है। पूरे कमरे में अँधेरा-अँधेरा-सा है, प्रकाश का एक वृत्त मेज पर है—लिफाफे के ऊपर।

“क्या अब तक लैव में थे !” मुकी ने पूछा। मुकी अपेक्षाकृत मन्द स्वर में बोलती है, पर वह अस्वाभाविक नहीं लगता। नटराजन आकर मेज के पास खड़ा हो गया। मुकी की आँखें सचमुच लम्बी हैं, पलकों पर, बरौनियाँ जहाँ उगती हैं; शायद प्राई-लाइनर से खींची गयी काली रेखा है, बरौनियाँ धनी हैं, और आँखों पर छायी-सी हैं। माथे से ऊपर सेंवारे गये बाल कानों को पूरा ढँके हुए हैं। होंठ बहुत फीके गुलाबी। पर यह सब कुछ मुकी पर वहुत फवता है। मुकी के व्यक्तित्व में ठहराव है, जो कुछ वह सोचती है, उसे आवेदित रखती है। विजी की तरह तुरन्त विचलित या खुली हुई नहीं है।

नटराजन ने चाहा कि वह विजी और मुकी की तुलना करना छोड़ दे। पर वह ऐसी आदत बन गयी है कि सहज नहीं टूटती।

नटराजन ने एक निमन्त्रण-पत्र उठा लिया और कहा, “तुमने विजयलक्ष्मी को निमन्त्रण भेज दिया ?”

उसकी आँखें मुकी के चेहरे पर स्थिर हैं। पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

“अभी नहीं भेज पायी हूँ।”

नटराजन ने निमन्त्रण-पत्र लिफाफे में डालते हुए कहा, “यह मैं रखे ले रहा हूँ। कल दे दूँगा।”

मुकी ने हाथ बढ़ाया और लिफाफा नटराजन से ले लिया, “तुम क्या कर्ज करोगे ! मैं ही भेज दूँगी।” बात खत्म हो गयी। मुकी को यह प्रसंग अच्छ्य लगान या नहीं, नटराजन के पास यह जानने का कोई साधन नहीं था।

००

उसने खाली कमरे में एक चक्कर लगाया। अभी नया फर्नीचर नहीं आया है। मुकी अपने पुराने पलैंट में थोड़ा-थोड़ा सामान लाती जा रही है। शयनकक्ष में बक्स, कितावें, कैनवसें दीवार के किनारे-किनारे रखी हुई हैं। रसोईघर में उपहार-रूप में आया तमाम सामान इकट्ठा हो गया है। मुकी हर काम बड़ी निष्ठा और चाव से कर रही है, पर नटराजन क्यों अपने को इस उत्साह में नहीं डुबा पाता। प्यार की बातें दोनों के दीच कभी नहीं हुई, यद्यपि काफी समय दोनों ने साथ बिताया है—धूमने-फिरने, पार्टी-वाजी और उत्सवों में जाने में। मृकी ने कभी न प्यार मांगा, न प्यार देने का वायदा किया। जैसे दोनों ने ही यह सहज भाव से ग्रहण कर लिया कि विवाह के बाद सब ठीक हो जायेगा। पर जब नटराजन के मन में कुछ संशय जाग उठा है। विजी अब भी मन क्लो वाँधे हुए है, शायद मुकी भी मनीश को मिस करती हो। नटराजन को अपने बारे में अभी नहीं है, मनीश को स्वियां सहज ही आकर्षक पाती हैं, नटराजन दुबला-पतला, मझोले कद का, बहुत-कुछ स्वैज प्रवृत्ति का युवक है। कम बोलता है, अपने में सिमटा-धिरा रहता है। मुकी को रिभा सके, ऐसा ही ही क्या! नटराजन ने देखा, मुकी हाय का काम छोड़कर उसे एकटक देख रही है। नटराजन ने थोड़ा-सा मुस्कराकर, अपने विचारों पर आवरण-सा डालते हुए पूछा, “तुम कब से यहाँ पर हो?”

“शाम से ही आ गयी थी। वच्ची हुई कितावें पैक कर ली थीं, नीचे कार में ही हैं अभी।”

“मैं ने आता हूँ,” नटराजन चलने को तैयार हुआ।

“नहीं, रहने दो। जब तक यहाँ शेल्फ नहीं है, तब तक बक्स में रहने से कोई हर्ज़ नहीं।”

“कब आ रही हैं शेल्फ़ ?”

“इस सप्ताह के अगत तक। परदे भी तब तक बन जायेंगे,” मुकी कुर्सी पीछे दिरवाती हुई ढठ खड़ी हुई और लिफाफे इकट्ठे कर बड़े-से पर्स में डाल दिये। फिर वह नटराजन के पास आकर खड़ी हो गयी और खिलूकी के पार देखने लगी। रात के समय बाहर देखने को रम्य कुछ भी नहीं है, दूर तक फैला काला, प्रगाढ़ अंधेरा है, और फिर बहुत दूर विजलियों की एक लम्बी धूमिल पांत।

मुकी के इतने निकट होने पर उससे किसी महेंगे सेंट की सुगम्ब आती है। नटराजन भी नहीं है।

मुकी ने पूछा, “मुझे मेरे घर तक छोड़ने चलोगे?”

“चलो।”

मुकी ने कार की चाबी नटराजन के हाथ में पकड़ा दी और दोनों साथ ही दरवाजे तक शाने, और जब तक नटराजन ने ताला बन्द किया, मुकी तिरछी-सी खड़ी उसकी प्रतीक्षा करती रही।

नटराजन की कार बाहर ही सटी थी, नटराजन मुकी को उसके घर तक पहुँचा-कर लौटने लगा। मुकी ने उत्तरते हुए एक बार खाने के लिए रुकने की कहाना भा, पर उसे अनुबिधा नहीं, यह बहुत नटराजन ने अश्वीकार कर दिया। मुकी अन्दर चली गयी,

और नटराजन ने एक अँधेरी सड़क पर कार मोड़ दी। अभी नींद नहीं आयेगी, यह जान-कर उसका मन अपने घर लौटने का नहीं हुआ। सड़क सुनसान थी, और तीव्र गति से दौड़ती कार की खिड़की से तेज हवा अन्दर आ रही थी। दायीं ओर मुड़ने पर क़ब्रगाह है, और विजी को कई बार इस ओर सैर के लिए ला चुका है। प्रारम्भ में विजी और मुकी कितनी अच्छी मित्र थीं। विजी को एयरपोर्ट से लाकर मुकी के पास ही छोड़ गया था। पर मनीश को मुकी से प्यार है, यह जान विजी विक्षिप्त-सी हो गयी थी। उसने रोते हुए मुकी की बनायी पैरेंटिंग दीवारों से उतारकर फाड़ डाली थीं, उसके गढ़े हुए वर्तन जमीन पर पटक दिये थे, और जब मनीश की वर्जना का उस पर कोई असर नहीं हुआ तो उसने विजी को तड़ातड़ दो चाँटे मार दिये थे। तब नटराजन और न देख सका, मनीश को अलग करते हुए उसने विजी को पकड़ लिया था। विजी शिथिल गात उसकी पकड़ से सरकर भूमि पर बैठकर रो उठी थी।

मुकी यह सब सुनकर रसोई से निकली थी, और उसके चेहरे का भाव अब भी नटराजन के मन पर अंकित है।

शाम की शुरुआत ठीक हुई थी। मुकी और विजी ने उन दोनों को भोजन पर चुलाया था।

मनीश और विजी को बैठक में छोड़कर मुकी रसोईघर में चली गयी और नटराजन ने साथ जाकर उसकी सहायता करनी चाही। मुकी ने कहा, “यहाँ सब ठीक है, नटराजन। सिर्फ़ सलाद बनाना है, वह मैं कर लूँगी। तुम तब तक बीयर क्यों नहीं पीते?”

बैठक में जाकर मनीश और विजी के एकान्त में बाधक न बनने के लिए नटराजन टीरेस पर चला गया, जहाँ न चाहते हुए भी उनके वार्तालाप का कुछ ग्रंथ उसके कानों में पड़ता रहा। शायद विजी ने कहा कि यहाँ आकर अभी तक विवाह न होने के कारण उसकी काफ़ी बदनामी हो रही है।

मनीश का उत्तर वह सुनन सका, पर अचानक ही चीखने, भगड़ने और चीजों के फेंके जाने के स्वर से नटराजन चौंककर कमरे की ओर झपटा। परिचित, भीरु विजी प्रचण्ड, दुर्दमनीय बन गयी थी। बाद में नटराजन द्वारा भक्खोरे जाने पर उसने चौंककर आँखें खोलीं, जैसे होश में आयी हो। फिर उसकी आँखों से भर-भर आँसू गिरने लगे, और उसने कहा, “मैं यहाँ एक पल भी न रह सकूँगी, मुझे कहीं और ले चलो।”

समझा-बुझाकर नटराजन ने उसे जाकर शैया पर लेटने को बाध्य किया। विजी का चेहरा ऐसा हो आया था कि उसके अन्दर का सारा प्रकाश बुझ गया हो। वह बिना प्रतिवाद किये शयनकक्ष में चली गयी। नटराजन जब विजी को अन्दर भेजकर मुड़ा तो देखा मुकी भूमि पर से फटे कागज के टुकड़े इकट्ठा कर रही है। फिर उसने ताँबे का दीपाधार उठाया, जो मेज के नीचे जा पड़ा था, और उसमें पड़ गये गड्ढों को बार-बार छूने लगी।

मनीश इस बीच जा चुका था।

“इस संबंध के लिए आप मुझे ही दोषी ठहरा रहें होंगे?” नटराजन को अपनी

ओर देखते पा मुकी ने कहा । फिर वह उठकर खड़ी हो गयी और बोली, “अगर मनीश को मैं विजी से अच्छी लगती हूँ तो इसमें मेरा क्या दोप ? आप ही बताइए, यदि मैं विजी से अधिक आकर्षक और सोफेस्टिकेटेड हूँ, तो क्या यह कोई अपराव है ?”

मुकी की इस बात पर नटराजन ने चकित हो उसको देखा । पर यह सब बहुत स्पष्ट दो टूक भाव से कहा गया था, इसमें न दम्भ था, न अहंकार । मुकी शायद कुछ लोगों को विजी से अच्छी लगे, रंग साँवला है, पर आँखें लम्बी, होंठ सुगढ़, देहयाप्ति सानुपात । उठने-बैठने में एक लचक, चारों ओर एक व्यक्तित्व वैशिष्ट्य का आभास ।

“मनीश और मेरी रुचि मिलती है । वह लेखक, मैं कलाकार... विजी इच्छा नाइस गर्ल, मगर उसमें मनीश-से व्यक्ति को आजन्म पकड़ बांधने को है ही क्या ?”

मुकी कभी भी उद्देलित नहीं होती, उसके स्वर में एक ठंडापन है । वह विजी की तरह केवल एक गृहिणी मात्र बनकर सन्तुष्ट नहीं रह सकेगी ।

पर इसके बाद जब विजी जबर और सर्दी के कारण बीमार हो गयी, तब मुकी ने ही एम्बुलेन्स बुलाकर उसे यूनिवर्सिटी-अस्पताल में भेजा ।

० ०

अगली सुबह विजी के लिए गुलाब का एक फूल खरीदकर नटराजन उसे देखने गया ।

विजी अनिश्चित भाव से थोड़ा मुसकरायी, नटराजन उसे कुत्रिम रोप से देखने लगा ।

कुछ देर दोनों चूप रहे, तकिये के सिरहाने टिकी विजी हाथों में गुलाब की लम्बी ढण्डी घुमाती रही, फिर पतली-सी आवाज में बोली, “एक काम कर दोगे ?”

“कहो ।”

“कहो एक छोटा-सा, सस्ता-सा एपार्टमेण्ट हूँड दो । मैं उस डायन के साथ नहीं रहूँगी ।”

आगे इस पर बात नहीं हुई, इधर-उधर की छोटी-छोटी निरर्यक बातों में समय बीत गया । दोनों ही ओर एक तनाव-सा था । नटराजन चलने को उठा तो विजी ने पूछा, “नटराजन, वो... मनीश कैसे हैं ?”

“टीक है,” कहते हुए नटराजन ने भुककर उसके बाल घणघपा दिये ।

आगले दो दिन एपार्टमेण्ट हूँडते हुए बोते, इसी बीच लाइनेरी जाकर भी कुछ लोगों से मिल गया । भारतीय भाषाओं की पुस्तकों की कैटेलोगिंग करने के लिए एक जगह पाली थी, वहाँ विजी काम करे, इसका प्रवन्ध किया, और फिर लाइनेरी के पास ही एक छोटा-सा एपार्टमेण्ट भी मिल गया । एक कमरा, छोटी-सी रसोई, बाथरूम ।

० ०

विजी के अस्पताल से लौटने से पहले ही नटराजन ने उसका सामान बहाँ पहुँचा दिया । सामान मुकी ने पैक कर दिया था । वह नटराजन के साथ आकर चीजें टीक कर गयी । बाजार जो थोड़ा ज़रूरी सामान—फत, दूध, मक्कल आदि लाकर रेफिजरेटर में रख दिया । फिर उदास-सी दीवार पर एयर इंटिया का एक कैलेप्टर लगा दिया ।

न चाहते हुए भी नटराजन को लगा, मुकी भली है, मुकी उदार है। और इसी से मन में थोड़ी-सी श्रद्धा जागी।

विजी ने लौटकर पहली बार अपना नया घर देखा। कुछ देर चुपचाप खड़ी रही, किर कहा, “तुमने सामान जमाने की क्यों जहमत की?”

“वह तो मुकी आकर ठीक कर गयी थी। मुझे कुछ नहीं करना पड़ा।”

“ओ,” विजी ने कहा, और दूध की बोतल सिक में उलट दी।

“विजी?”

“मेरे सामने फिर उसका नाम न लेना, नटराजन!” विजी ने कहा।

○ ○

इसी स्मृति से जुड़ा एक और प्रसंग है।

नटराजन प्रायः विजी की ओर चला जाता था। चाहता कि उसे किसी भी तरह उलझाये रखे, जिससे विजी का अधिक सोच-विचारकर अपने को दुःखी करने का मौका न मिले। कभी उसे सिनेमा ले जाता, और यदि समय हुआ तो तीस-बत्तीस मील दूर वार्षिगटन, विशेषकर जब मार्च-ग्रैंड में वहाँ चेरी के फूल खिलने लगे। पहली बार विजी ने गहरे नीले रंग की साड़ी पहनी थी, उस पर हेर सारे आड़े, तिरछे, सीधे, सफेद हाथी छपे हुए थे। उस साड़ी के गहरे नीलेपन ने विजी के चेहरे का गोरापन बढ़ा दिया था, और वह बहुत कोमल अनछूर्डी-सी लग रही थी। बाद में जब भी कभी विजी को बाहर जाते देखा तो उसी साड़ी में। फिर वह साड़ी आँखों में चुभने-सी लगी, और मन में रह-रहकर प्रश्न उठने लगा, कि विजी शादी की तैयारी में सूटकेस भर जो साड़ियाँ लायी थीं, उनमें से क्यों नहीं पहनती!

एक दिन उत्तर रहा गया। हँसी में पूछ बैठा, “जब देखता हूँ, यही साड़ी पहने दीखती हो। बहुत अच्छी लगती है क्या?” विजी ने दीर्घ, समतल दृष्टि से देखते हुए हल्के-से उत्तर दिया, “बाकी साड़ियाँ मुकी ने रख ली हैं। किराया बाकी था।”

कुछ पल चुप रहकर नटराजन ने पूछा, “मुझे क्यों नहीं बताया तुमने?”

विजी चुप रही।

नटराजन ने कुछ आगे झुककर कहा, “विजी, तुम अब भी मुझसे दुराव-सा रखती हो। मैं तो चाहता हूँ कि तुम्हारे हर दुःख, हर चिन्ता का भागीदार बन सकूँ। मेरे पास जो कुछ भी है, वह तुम अपना ही समझो…”

विजी, जो अब तक बैठी पोटोर्मक नदी के उस पार एयरपोर्ट की विजिलियाँ देख रही थी, अत्यन्त व्रस्त हो उठी। एक झटके के साथ खड़े होते हुए उसने कहा, “आगे कुछ मत कहो, नटराजन। मैं तुम्हसे विनती करती हूँ।”

नटराजन कुण्ठित हो चुप हो गया।

उसके बाद विजी जैसे खो गयी। नटराजन ने अपने को काम में व्यस्त कर लिया और विजी लाइब्रेरी के वेसमेण्ट में कहीं छिप गयी, नटराजन की दृष्टि से ओझल। जून में मनीश सामान वाँध-वृद्धकर कनाडा चला गया, और विजी वार्षिगटन, लाइब्रेरी आँकड़े कॉम्प्रेस में काम करने। अकेले घर में गर्मी बिताते हुए नटराजन को लगता कि अब जिधर

में थी कि यदि नटराजन ने फिर यह प्रसंग छेड़ा तो कह देगी कि उसे सब कुछ स्वीकार है ।

पर यहाँ आकर जाना कि मुकी ने एक बार फिर उसे पराजित कर दिया है निमन्त्रण तक बैठ गये हैं, और विजी अपने को इन भूठे स्वप्नों में बहलाती रही विनटराजन को वह बहुत, बहुत अच्छी लगती है, कि नटराजन उससे फिर कुछ अवश्य पूछेगा ।

ग्रव मुकी की गर्दन पकड़कर उसे भींचने की इच्छा होती है, मन होता है कि उसकी काँकी में जहर मिलाकर पिला दे, उसके एपार्टमेण्ट में आग लगा दे और सिल्वर की तहों में लेटी मुकी लपटों में घिर जाये और उसकी चीखें धुएँ और चटखती लकड़ियों में खो जायें ।

विजी ने माथे पर हाथ रख लिया, जैसे इत विचारों पर प्रतिवन्ध लगा देगी पर मुकी के लिए जो वर्त-भाव है रोम-रोम में भिद गया है । उसे कम-से-कम अपने से नहीं छिपाया जा सकता । विजी चाहती है कि कुछ ऐसा कर सके जिससे मुकी तड़पकर रह जाये, जिससे बहुत-बहुत दिनों तक उसके मुख पर हँसी न आये, और वह ऊँचा, दर्पण भरा सिर नीचे झुक जाये । नटराजन के कहने से वह मुकी के पास रहने को तैयार तो हो गयी थी, पर उस पहली ही बैंट में वह जान गयी थी कि मुकीने एक दृष्टि डालकर उसे हेय जानकर त्याग दिया है । विजी को मुकी में ऐसा विशिष्ट तो कुछ न दिखायी दिया । साधारण रंग-रूप, कटे हुए बाल कानों को पूरा ढंके हुए थे, और अकेले घर में भी बहुमूल्य साड़ी पहने थी । और तब विजी अपने को बहुत शैबी, बहुत हल्का-सा अनुभव करने लगी । बाद में जाना कि मुकी के पिता अत्यन्त धनिक थे, और उसकी सारी शिक्षा विदेश में हुई थी । तीन साल अमरीका में रहकर भी उच्चारण इंग्लिश था । वह 'फेजथ्री' काँकी हाउस में गयी, रात तक बैठी रहती थी, ऊँची साहित्यिक बातें करती थी और अंग्रेजी में कविताएँ लिखनी थी, जो कि कभी-कभी भारत में छप जाती थीं । विजी अपने स्वभाव के झेप्पन पर कभी-कभी लज्जित हो आती, और अपनी भारतीयता पर मुकी और उसके मित्रों के व्यंग्य से कभी-कभी छिपकर रो लेती । वह स्मार्ट या आधुनिक नहीं है, यह जानती थी, होती भी कैसे, बी० ए० तक तो शहर के कॉलेज में पढ़ी, एम० ए० में पहली बार लड़कों के साथ क्लास में बैठना हुआ । तब भी सब लड़कियाँ झुण्ड बनाकर क्लास में जातीं, साथ-साथ बैठतीं और इकट्ठे ही लौट आतीं ।

मनीश से परिचय तो मौसी के घर हुआ, और उन्होंने भी जैसे आँखें बन्द कर लीं और दोनों के मिलने-जुलने पर रोक न की । शायद सोचती होंगी कि मृत बहन की लड़की इसी तरह ठिकाने लगे । वैसे घर में किसी को कोई चिन्ता न थी । सगाई की रस्म ऐसे ही हुई थी, न इधर से कोई आया, न उधर से ।

मनीश के यहाँ चले आने के बाद भी पत्र-व्यवहार होता रहा, और एक साल बाद अपने लौट आने की बाजाय उसने विजी को बुला भेजा तो विजी ने अपनी माँ के गहने मौसी के द्वारा ही विकवाकर आने का प्रवन्ध किया था । पिता नाराज हुए दे,

विमाता मुनमूनाथी थीं, पर गहने नाना के दिये हुए थे, इसलिए किसी का वश न चला। पर यहाँ पहुँचने पर पाया कि मनीश मेविसको गया हुआ है। यह बात विजी को बहुत खटकी थी, पर करती भी वया ! उन लम्बे, कार्यहीन दिनों को नटराजन ही ने भर दिया था। अपनी लंबे से छुट्टी पाकर रोज ही उसे सेर के लिए ले जाता, कभी-कभी वाणिगटन में पूरा दिन बीत जाता। तब मुक्ती ने अजीब, वहकी-वहकी बातें करना शुरू कर दी।

एक दिन बोली, “विजी, मनीश लौटने पर पायेंगे कि उनकी भावी पत्नी को उनके मिथ ने हड्डप लिया है।”

“क्या ?” विजी ने अचक्काकर पूछा।

“कैसी भोली हो ! उनकी आँखें नहीं देखतीं, तुम्हारे चेहरे से हटती नहीं हैं। नटराजन की तो लंबे वी और वे थे। किसी लड़की से मतलब न था। अब रोज वाणिगटन की मैर होती है, कभी लिकन मेमोरियल घुमाया जा रहा है, कभी जेफरसन !” मुक्ती उस समय कैनवस पर रंग लगा रही थी, ब्रश को थोड़ा-सा हवा में उठाकर बोली, “और विजी, यदि तुम्हारी जगह मैं होती ता दोनों में नटराजन को ही छुनती। छः साल ने यहाँ हैं, पी-एच० डी० हैं, इंडिया जाकर जोरदार नौकरी मिलेगी, यहाँ भी आठ हजार तो मिल रहे होंगे। मनीश के पास तो एक टूटपूँजिया फेलोशिप ही है।”

विजी ने कुछ देर कुछ भी न कहते बना, फिर उसने कहा, “कैसी बातें करती हों, मुक्ती, नटराजन मेरे लिए वडे भाई के समान हैं। मैं उन्हें इसी दृष्टि से देखती हूँ।”

मुक्ती हँसने लगी। ब्रश रखकर उसने श्रांगे भूल श्रांगे बालों को पीछे करते हुए कहा, “तुमने भी क्या वही संकुचित गली-मुहल्लेवाली बात कही। नटराजन तुम्हारे भाई कैने हो गये, वह मैंसूर के हैं, तुम पटना से आयी हो ? तुममें और नटराजन में केवल एक रिता है, तुम एक सुन्दर, स्वस्थ युवती हो और वह एक ऐसे युवक हैं जिन्हें तुम घच्छी लगती हों। ऐसी सिन्चुएशन में मालूम, वया होगा ?”

“वस मुक्ती, मुझे कुछ नहीं सुनना। मुझे और मेरी मान्यताओं को तुम अलग दौड़ दो।” विजी ने बुरा मानते हुए कहा।

और अब यह विवाह होने जा रहा है, उसमें निश्चय ही नटराजन से अधिक उसके वेतन तथा भविष्य की सम्भावनाओं का स्थायल किया होगा मुक्ती ने, विजी को यह दृढ़ विवाह है। पर दृढ़ तो इस बात का है कि नटराजन कैसे मूँह हो गया, वया वह मुक्ती की घसलियन नहीं जानना !

विजी ने उठाकर चाय का पानी स्टोव पर रख दिया, और हथेली पर दो एस्प्रिन्ट की टिकिया रख उन्हें कुछ देर देखती रही। पटना में जब-कुछ बैसा ही होगा, विमाता का बुद्धवृद्धना, पिता की नम्बी चुप्पियाँ या थोक्स, भू-भलाहट-भरा स्वर छोटी बहन का रेटियो के साथ किलमी गीत गाना। क्या किसी बो उसकी, विजयलद्धी की, कभी भी याद न आती होगी ? इन डेढ़ सालों में कितनी दूर आ गयी है वह, मुट्ठकर देखने ने मन में ऐसा अस्तर्याना भर जाता है कि वया कभी जिन्दगी इससे भिन्न भी थी ? अब तो लाटद्रेरी का देसमेण्ट है, और किताबों के ऊँचे-ऊँचे हेत हैं। कभी-कभी

काम करते हुए कुछ याद आ जाता है, मनीश की वाँहों की कसी पकड़, उसका मुसकराना, और कभी-कभी वह कूर शब्द। तब विजी यहाँ से कहीं दूर चली जाना चाहती है, वह जानती है कि बापस लौटना असम्भव ही-सा है, कहाँ से आयेंगे किराये के पैसे, और किस मुंह से पिता की देहरी पर जाकर खड़ी होगी! कहीं और नौकरी कर सब ती है, पर जैसे विजी के अन्दर की समस्त शक्ति रिस गयी है। उस छोटी-सी रसोई में खड़ी विजी-सोचती है कि औरों की तरह सहज, सरल जीवन क्यों नहीं हुआ उसका! कब अजाने ही कुछ ऐसा घट गया जिससे वह औरों से अलग छिटक गयी! यदि मनीश पर विश्वास न किया होता तो शायद इस दशा तक न पहुँचती, यदि मुकी-सी कुटिलता आती तो भी आज अकेले यों अपने से न दून्दू करना पड़ता।

चाय का पानी उबलने लगा।

००

एन्जाइम लैब से लाइनेरी तक पहुँचने में सात-आठ मिनट लगते हैं, पर पौने-पांच बजे लैब से निकलकर यहाँ पहुँचने तक नटराजन ने पन्द्रह मिनट लगा दिये, और तब पाया कि विजी अभी-अभी लाइनेरी की सीढ़ियाँ उतर रही हैं।

नटराजन को देखकर वह थोड़ा-सा मुसकरायी और आकर लाल बत्ती के पास खड़ी हो गयी। आठ बंटे कड़े श्रम के बाद मुख क्लान्त हो ही जाता है, पर उसके व्यवहार में कल-जैसी रुखाई न थी। अधिक बातें न हुईं, और सड़क पार कर दोनों अपनी गली में आ गये। विजी का घर पहले आया और पिछले दिन की तरह फिर काँफी के लिए पूछा गया। स्वीकृति देकर नटराजन जब अन्दर आया तो एकाएक उसके मस्तिष्क में कोंध गया कि यदि विजी ने काँफी के लिए न पूछ उसे उसके रास्ते चले जाने दिया होता तो वहुत बुरा लगता।

नटराजन विजी के पीछे-पीछे रसोई तक चला गया और बोला, “एक प्रार्थना है।”

“क्या?” विजी के प्रश्नभरे नेत्र उसके मुख पर ठिठक गये।

“आज खाने को कुछ न बनाना।”

उसके कहने के ढंग पर विजी थोड़ा-सा हँस दी, नटराजन को वह हँसी उजली-धूप-सी सुखद लगी।

“बहुत बुरा बना था न? फिर भी तुमने खा लिया।”

विजी की रसोई इतनी छोटी है कि दो लोग खड़े नहीं हो सकते। सिक में एक प्लेट पर पानी गिर रहा था। विजी ने काँफी नापकर परकोलेटर में डालते हुए कहा, “तुम चलकर बैठो, मैं अभी आयी।”

नटराजन बापस लौट आया।

कुछ देर में जब विजी लौटकर आयी तो दृटी हुई मैत्री पुनरुत्थापित हो गयी है, ऐसा-सा कुछ भाव उसके मुख पर था। नटराजन ने मेज पर पैर टिका लिये थे, उन्हें समेट लिया और कहा, “तुम्हारे किसी काम में बाधा तो नहीं दे रहा हूँ, विजी?”

“न,” विजी ने अपनी साड़ी की सलवटें चिकनी-सी करते हुए कहा, “व्यस्त तो तुम होगे आजकल।”

“कुछ विदेष नहीं। अगले सप्ताह छूटी पर जाने से पहले लैव में थोड़ा काम किए टाना है, वस। एपार्टमेण्ट तो ठीक हो गया है, फर्नीचर आने पर जमाना बाकी है।”

विजी कल ने अधिक रिलैक्स्ड लग रही है। उसने हरे रंग की, बिना किनारे की सूती साड़ी पहन रखी है, वह इधर काफी दुबली हो गयी है, चेहरे पर पीलापन-सा है, पलकें घनी हैं और उनके नीचे तरल आँखें चमकती हैं।

वह उमे एकटक देखता रहा।

“गक बान कहूँ, बुरा तो न मानोगे ?” विजी ने पूछा।

रमोई में कॉफी पश्कोलेटर खुद-बुद करने लगा और कॉफी की सुगन्ध पूरे कमरे में द्या गयी।

“कहो।”

“बहुत आनन्दित, उत्सुक ढूँढ़े-में नहीं दिखायी देते, कुछ अनमने, कुछ उदास-से नज़र आते हो ?”

नटराजन चाँक गया, मैंभलने के लिए कुछ क्षण लेता हुआ बोला, “जैसा कि तुम दीखती थी उन दिनों ? उल्लभित, निरन्तर मुसकराती हुई ?”

विजी रमोई में जाकर पश्कोलेटर ले आयी और मेज पर रखती हुई बोली, ‘‘अब सोचती हूँ कि वे भी क्या दिन थे ! कितने सप्तने, कितनी उमर में ! कितनी नादान, कितनी विश्वास-भरी ! इन डेट वर्षों में कितनी पक गयी हूँ, जैसे दस वर्ष जी लिये हों।’’

“तुम्हें अकेले रहना अच्छा लगता है ?”

“अकेले रहना तो, नटराजन, किमे अच्छा लगता है ! कभी खिन्न हो जाती हूँ, दोबार से मिर टकराना चाहती हूँ, फिर अपने को संभाल भी लेती हूँ, इसी में किसी उपलब्ध वी चेट्टा करती हूँ।”

नटराजन को लगा, विजी सचमुच बड़ी ही ग्रामी है। पहले तो रह-रहकर हँसती थी, और निरर्थक बातें करती थी।

“अच्छा नटराजन, तुमने बताया नहीं, तुम इस विवाह से प्रसन्न हो ?”

पूछ तो लिया, पर उसी क्षण विजी को लगा कि इतना उद्घृत, व्यक्तिगत प्रश्न उने न पूछना चाहिए। जैसे रह-रहकर भूल जाती है कि नटराजन के जीवन में एक नया आयाम आ गया है, वह मुकी का पति बनने जा रहा है। विजी उसके लिए अब कुछ नहीं है, कभी कुछ थी, अब वह मात्र परिचिता है। अब मुकी उसके जीवन के समग्र अनुभवों की गंगिनी बनेगी।

“हाँ, विजी।”

“मुकी सचमुच बड़ी भली, बहुत अच्छी है,” विजी ने कहा।

नटराजन ठाठाकर हँस पड़ा, “छल-क्षण तुमसे नहीं निभता, विजी, मुकी की प्रधांसा करने का प्रयत्न न करो। मैं जानता हूँ कि तुम उसकी परछाई तक से धूणा करती हो। पाठ्यचंपे हैं कि मुझे तुमने अब तक घर से बाहर बयों नहीं किया !”

विजी का चेहरा अप्रतिम हो गया, “क्या लोग बदलते नहीं ? धारणाएँ नहीं बदल सकती ?”

“ओ विजी, यू आर सो स्वीट। अच्छा, कॉफ़ा दोगी या नहीं ?”

विजी के पास से उठकर नटराजन अपने घर आया। आलमारी में थोड़े-से, आवश्यक कपड़े छोड़ उसने बाकी चीजें सूटकेस में रखीं, और फिर मुकी को उसके घर फोन किया। खाली घर में घंटी बजती रही। नटराजन ने जान लिया कि वह नये घर में होगी।

वह लिफ्ट में ऊपर जाने के बजाय सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। उसने पाया कि वह सीटी वजा रहा था। दरवाजा खटखटाने पर मुकी ने खोला, वह भी गहरे हरे रंग की सूती साड़ी पहने थी, पर उसकी साड़ी में चौड़ा लाल वार्डर था जिसमें जरी के तारों का घना काम था।

“मैंने लैब में फोन किया था, पर तुम नहीं थे,” मुकी ने कहा।

नटराजन एक पल रुका, फिर बोला, “विजयलक्ष्मी मिल गयी थी, उसके साथ कॉफ़ी पीने चला गया था।”

मुकी दरवाजे के पास से हट आयी, बोली, “शेल्फ़े आ गयी हैं, मैं कितावें लगा रही थी।”

नटराजन ने कोट उठाकर कुर्सी पर डाल दिया, मुकी की दृष्टि उस पर पा उसने कोट उठाकर टाँग दिया, और कुछ हँसता-सा बोला, “अभी से डिसिप्लिन करने लगीं ?”

नटराजन का मन हल्का-सा है, वह जान-बूझकर नहीं सोचेगा कि इसका कारण क्या है ? पर फिर भी जान रहा है कि आज विजी हँसी थी, खुली-खुली थी। विजी की हँसी मन को भाती है। चाहता है कि विजी पहले की तरह हँसा करे। विजी प्रसन्न रहे।

किताबों को बक्सों से निकालकर मुकी ने फशं पर फैला दिया था, वह उठाउठाकर नटराजन को देने लगी और नटराजन उन्हें जमाने लगा। सात खानों की शेल्फ़ है, दोबार को पूरा ही ढँक लिया है, जब सारी किताबें करीने से रख जायेंगी सो कमरा भरा-भरा लगेगा।

मुकी एक कपड़े से किताबों की धूल पोछती जा रही है।

“तुम्हारी साड़ी धूल से अट जायेगी, मुकी। लाओ, मैं साफ़ करूँगा।”

“पुरानी ही तो है,” मुकी ने कहा।

तीन खाने भर चुकने के बाद दोनों बक्सों पर बैठकर सुस्ताने लगे।

“कमरे में गर्मी-सी हो रही है। बाहर थोड़ा-सा ठहलने चलोगे ?”

“चलो !”

कमरे में बत्ती जलती छोड़ दोनों बाहर निकल आये। नीचे पहुँचकर लगा कि शाम सचमुच ठंडी और मोहक है। सड़क की बत्तियाँ बहुत चमकीली और पेड़ चुप, सामोश।

नटराजन ने पूछा, “कार पर थोड़ी दूर चलोगी, मुकी ?”

“अच्छा।”

नटराजन ने दरवाजा खोला और मुकी बैठ गयी। नटराजन बायीं सीट पर आ बैठा, और कार स्टार्ट की। बिना जाने उसने कार क़ब्रगाह की ओर मोड़ दी।

कार में मुक्की के सेंट की नुगन्व है ।

दीर्घ मौत को तोड़ते हुए नटराजन ने पूछा, "मुक्की, क्या तुम्हें यह सब सच लग रहा है ?"

मुक्की गद्दन मोड़ बाहर देखने लगी, जैसे इस बात का उत्तर नहीं देना चाहती ।

नटराजन को हरी साड़ी में लिपटी मुक्की सच नहीं लगती । उसने आज तक मुक्की का स्वर्ण नहीं किया है, इस समय हाथ बढ़ाकर खुली वाँह छूना चाहता है, जैसे यह जानने को फि क्या उसकी त्वचा उतनी ही उण्ठ और चिकनी है, जैसी कि मनीश कहा करता था ।

कुछ समय पहले तक मन में भरी हुई अनजान-सी खुशी तड़ककर टूट गयी ।

नटराजन के मन में ग्रन्थरज-सा भर आया कि वह बगल में इस नितान्त अपरिचित को बैठाकर कहाँ और किसलिए ले जा रहा है ? क्या उसके मन में मुक्की के लिए सचमुच कहीं ममत्व या स्नेह छिपा है या यह विवाह चौंतीस साल के जीवन का श्रेकलापन दूर करने के निमित्त ही किया जा रहा है ? पास बैठी नवनजारा मुकर्जी के बारे में वह क्या जानता है ? नटराजन ने आकुल होकर पूछता चाहा—तुम क्या हो, मुक्की, तुम्हारा सत्यरूप क्या है ? तुमने मुझसे विवाह करना थयों स्वीकार किया ? क्या सत्ताइसवें वर्ष में तुम्हें एक पति बी कमी महसूस हुई ? या मेरे लिए तुम्हारे मन में इस आदर के अतिरिक्त और भी कुछ है ? क्या तुम बैंसी ही लोभी, स्वार्थी, धुन्हुन हो जैसाकि विजी ने तुम्हें विप्रित दिया ? क्या तुम उतनी ही सहज प्राप्य हो जैसा अवज्ञा से मनीश कहा करता था ?"

"बी केयरफुल," मुक्की ने कहा । सँकरी सङ्केत पर सामने से एक कार आती दिखायी दी और नटराजन ने अपनी कार जल्दी से बायों और मोड़ी तो कार सङ्केत छोड़ कोकरीली नूमि पर उत्तर आयी । सामनेवाली कार तेजी से गुजर गयी । नटराजन फिर सङ्केत पर आ गया, और कुछ देर बाद याद आया कि मुक्की ने बात का कोई उत्तर नहीं दिया है ।

° °

विजी उस रात न सो सकी, न उससे अगली रात । और नटराजन विजी को अपनी लैंब में आया पा चौंक उठा । हाथ का बीकर मेज पर रखकर वह लैंब से बाहर निकल आया और बोला, "क्यों, विजी, खेरियत तो है ?"

"कुछ समय होगा तुम्हारे पास ?" विजी ने पूछा ।

"हाँ," और विजी कुछ कहे, इस प्रतीक्षा में खड़ा रहा । फिर बोला, "आओ, कौंकी लाउन्ज में चलें । वहाँ इस समय कोई न होगा ।"

विजी चुपचाप साथ चल दी ।

"कौंकी लोगी ?"

"नहीं, कोकारोला ।"

नटराजन ने मधोन में पेसे ढाककर दो बोतलें निकालीं और फिर दबकन खोल-कर विजी के पास लग दी ।

"मैं इयाद भूमिका नहीं बौद्धगी, नटराजन । दो दिन से नगातार सोच रही हूँ कि इम जिन्दगी का क्या बहुल ? समझ नहीं पाती," विजी ढाककर नटराजन का मूस

ताकने लगी। फिर एकदम कह डाला, “नटराजन, मुझे एक हजार डालर चाहिए। मुझसे अब यहाँ एक दिन भी न रहा जायेगा। मैं वापस जाना चाहती हूँ। कुछ भी हो, वह अपना देश है, वे लोग मेरे अपने हैं। दे सकोगे, नटराजन ?”

विजी ने उसके चेहरे पर अपनी उत्सुक, कातर आँखें जमा दीं।

“तुम इतनी जलदी कैसे जा सकोगी ?”

“मैंने पता लगा लिया है, मुझे प्लेन पर जगह मिल जायेगी।”

“न्यूयार्क से लन्दन ?”

“नहीं, पहले मैं कनाडा जाना चाहती हूँ।”

“ओ !” नटराजन ने कहा।

“मालूम नहीं कब तुम्हें यह वापस कर सकूँगी, पर मुझे और कोई उपाय नहीं दीखता।”

“पर विजी, तुम पूरी तरह श्योर हो न ?”

विजी ने सिर हिलाकर जताया कि हाँ। विजी का हठ नटराजन को मालूम है।

नटराजन ने जेव से चेकवुक निकाली और पन्द्रह सौ डालर का चेक लिखकर उसे दे दिया।

“नटराजन……” विजी ने कुछ कहना चाहा।

“अगर कुछ और ज़रूरत हो तो बताना, विजी। मॉण्ट्रियल कब जाओगी ?”

“कल शाम। पर तुम एयरपोर्ट मत आना। अकेले ही जाना चाहती हूँ।”

पर नटराजन उसे एयरपोर्ट ले गया। विजी चुप थी, शायद वह भी वह दिन याद कर रही थी जबकि मनीश के स्थान पर नटराजन उससे यहाँ मिलने आया था।

“एक बात कहना चाहती हूँ, नटू,” विजी ने जहाज पर चढ़ने से कुछ क्षण पहले कहा, “मेरे प्रति बहुत अनुदार मत हो जाना। थोड़ी-सी करुणा……” और उसका गला भर आया।

उसे पहुँचाकर लौटते हुए नटराजन को लगता रहा कि उसके जीवन में कभी न भर सकनेवाले अनेक अभाव हो गये हैं। साथ ही थोड़ा-सा धीरज कि हर समय विजी की उपस्थिति दंश देने को न रहेगी।

फिर नटराजन को याद आया कि अब तो कुल तीन ही दिन बीच में रह गये हैं। शनिवार को कुछ मित्रों ने उसे और मुकी को भोज पर दुलाया है, रविवार को लैंब के मित्र मिलकर नटराजन के लिए स्टैग पार्टी दे रहे हैं, और सोमवार को साढ़े चार बजे सिविल सेरेमनी ही है। फिर उसी रात प्लेन लेकर मेन चले जायेगे, और वहाँ दस-एक दिन वितायेंगे। मुकी के लिए उसकी माँ ने लाल बनारसी साड़ी, शंख की चूँड़ियाँ, कुंकुम भेजा है। वहाँ पहनेगी। इस बीच फर्नर्नर आ गया है, करीने से रख भी गया है। घर भरा-पूरा लगता है। रसोई अत्यन्त आधुनिक है, सफेद और हल्की पीली, मुकी ने पाँत-के-पाँत चमकदार स्टेनलेस स्टील के वर्तन सजा दिये हैं। रेफिजरेटर में कुछ बीयर की बोतलें रख दी हैं। सब-कुछ साफ-सुथरा, चमकता हुआ, नया। नटराजन को मन में थोड़ा-सा विस्मय है, मुकी घर-गृहस्थी में इतनी रुचि लेगी, इसकी उसे आशा न थी।

एयरपोर्ट से नटराजन अनमने भाव से अपने प्लैट में लौट आया। थोड़ी चीजें दैक करनी थीं, पर उन्हें बैसा ही छोड़कर वह कमरे में बैठा रहा। विजी जाते-जाते भी एक बार मनीय में मिलने का मोहन न छोड़ सकी। इस बैट से उसे थोड़ी यातना ही और मिलेगी।

पर नटराजन जानता है कि विजी के अन्दर बल का एक स्रोत है, वह दृढ़ती है, विखरती है पर अपने को संभाल लेती है। नहीं तो कोई और लड़की इन परिस्थितियों में पागल हो गयी होती।

सात बजे नटराजन ने उठकर स्नान किया, धुले कपड़े पहने, और फिर मुकी को लेकर कहीं बाहर भोजन करने के विचार से उसकी ओर चल दिया। सोच रहा था कि उस्थाया के अन्त तक मुकी को बता देगा कि विजी चली गयी है। सदा के लिए। अब उसका नाम-नियान, उसकी छाया तक दोनों के बीच में नहीं रहेगी। एक सूटकेस लेकर विजयलक्ष्मी आयी थी, और केवल वही लेकर लौट गयी, पर साथ ही कितनी वेदना का भार भी।

मुकी के घर ताला बन्द था, नटराजन पैदल ही नये घर बौं और चल पड़ा। जो रंग-भरे पत्ते पेड़ों पर ढाये थे, जैसे दो-तीन दिनों में ही भर गये थे, और इस समय पैरों के नीचे आकर दीन, आर्त स्वर कर रहे थे, और वे सारे ऊंचे पेण, अपनी काली बाँहें उठाये अपनी नमना में असहाय-मे खड़े थे।

नीचे ने लिपट लेकर ऊपर तक पहुँचते हुए भी नटराजन यह निश्चय न कर सका कि वह मुकी को विजी के जाने का समाचार किस प्रकार देगा। कोई निकट का आत्मीय बो गया है ऐसे, या फिर ठंडे, निविकार भाव से—मुकी, विजी चली गयी है।
० ०

अपनी चारी ने ताला खोल नटराजन ने दरवाजा अन्दर ठेला। कमरे में आकर उसने पाया कि मुकी नये सोफे पर ओंधी लेटी है, दायीं बाँह शिथिल-सी नीचे लटक रही है, वायीं को मोड़कर उस पर चेहरा गड़ाये है और उसका पूरा शरीर रह-रहकर हिल रहा है।

“मुकी !” उसने बहुत चिन्तित हो आये स्वर में पुकारा।

मुकी ने सिर उठाकर उसे देखा फिर तेजी से वायीं औंगुली से औंगुली निकालकर उसकी ओर फेंकती हुई बोली, “यह लो अपनी औंगूठी और चले जाओ यहाँ से ! मैं तुमसे योनना तक नहीं चाहनी !”

इस अप्रत्याधित घटना से नटराजन कुछ क्षण को स्तब्ध खड़ा रहा। फिर उसने भुक्तान भुक्ती के कम्बे पलट लिये, “क्यों, मुकी, क्यों ?”

मुकी ने उत्तर नहीं दिया। उसके शरीर में तड़पती मछली की तरह एक लहर दौड़ गयी।

नटराजन ने उसके कम्बे छोड़कर भुक्तान कम्बे पर गिरी औंगूठी उटा ली और मुकी की दैर्घ्यी मुट्ठी को न्योक्कर उसमें औंगूठी ठूसता हुआ बोला, “ऐसी आसानी ने मुझे न छोड़काया नहीं पायीगी, मुकी ! मुझे बताओ न, इसने दुख की क्या बात है ?”

मुकी वेग से उठकर बैठ गयी। सारे दिन रोने से उसकी आँखें फूँटकर लाल हो आयी थीं, और चेहरे पर गहरी अशान्ति थी।

“मुझसे पूछते हो ? क्या स्वयं जानते नहीं ? मुझे तो रह-रहकर यही आँसता है कि तुम इतने भूठे, चालवाज कैसे हो सके ! पूरी गर्मी तुम वाशिंगटन उससे मिलने जाते रहे, और मुझसे एक बार भी नहीं बताया ! मैं यहाँ फर्नीचर आँडर कर रही थी, परदे बना रही थी, तुम वहाँ सैर कर रहे थे !”

“तुमसे यह किसने कहा ?” नटराजन ने धीर कण्ठ से पूछा।

“जाने से पहले विजी मेरे पास आयी थी। जिसे सदा से उसने नफरत की, उसे यह बताये विना कैसे चली जाती ! उसी ने बताया, कि तुमने उसे पन्द्रह सौ डालर दिये हैं, डॉक्टर के पास जाने और इंडिया लौट जाने के लिए। पहले मैंने उस पर विश्वास नहीं किया। मुझे खयाल भी न था कि तुम इतना आगे बढ़ जाओगे। पर…पर आज फर्नीचर की दूकान से फोन आया कि मैंने जो चेक उन्हें दिया, वह बैंक से वापस लौट आया, कि वहाँ पर्याप्त धन नहीं है। तब मुझे लगा कि…” मुकी का स्वर टूट गया और एक बार फिर भावनाओं की बाढ़ से उसकी आँखों में आँसू भर आये।

“विजी के सारे अत्याचार मैंने चुप होकर सहे। सोचती थी कि वह पागल है, और नादान है। मनीष ने केवल विजी से पिण्ड छुड़ाने के लिए मेरा नाम बीच में चसीटा, इस पर मेरा उससे झगड़ा भी हुआ। मुझसे विवाह का प्रस्ताव करके भी तुम उससे चुपचाप मिलते रहे, तब भी मैंने कुछ नहीं कहा। सोचती थी कि एक बार जब मेरे निकट आकर पहचान लोगे, तो उसे भूल जाओगे। सोचा था कि तुम्हें इतना सुख दूँगी…” एक लम्बी सिसकी।

“मुकी, मेरी बात भी तो सुनो।”

“न। अब कुछ नहीं सुनूँगी। मैं भी बहुत मानिनी हूँ, नटराज। बहुत दर्प मेरे अन्दर भी है। और मैंने बहुत धीरज रखा, पर अब मैं और नहीं सह सकूँगी। गो अवे ! यह विवाह नहीं होगा। मैं किस प्रकार तुम्हें आदर और श्रद्धा से देख सकूँगी ! मुझे तुम्हारा धन नहीं चाहिए था। मेरे पिता के पास बहुत धन है। मैं समझती थी कि तुम छल-कपट से ऊपर अत्यन्त विशाल हो, और इसीलिए, मन-ही-मन प्रारम्भ से ही तुम्हें चाहती आयी थी।” वाहर रात झुक आयी है, कमरे में सन्नाटा है, केवल नयनतारा का पतला, टूट-टूट जाता उठता-गिरता स्वर है। इतने दिनों से जो कुछ अन्तर्रतल में प्रचल्न रखा, वह सब एकबारंगी फूटकर बाहर आना चाहता है।

नटराजन उसके पास, सब-खुछ सुनता, चुप बैठा है। मुकी के शब्दों ने उसे हिला दिया है। वह समझ नहीं पा रहा है कि विजी ने चलते-चलते ऐसा क्यों किया ? उसे प्रतीक्षा है मुकी के थककर चुप हो जाने की, तब वह धीर शब्दों में अपनी बात कहेगा। मन में आशा की नहीं-सी रेखा है कि शायद नयनतारा उसकी बात पर विश्वास कर ले।

मेरा दुश्मन

वह इस समय दूसरे कमरे में बैठोश पड़ा है। आज मैंने उसकी शाराव में कोई चीज़ मिला दी थी, कि खाली शाराव वह शरवत की तरह गट-गट पी जाता है, और उस पर कोई खास असर नहीं होता। आँखों में लाल ढोरे-से भूलने लगते हैं, माये की शिकाने पसीने में भीगकर दगक उठती हैं, होठों का जहर और उजागर हो जाता है, और यस—होशीहवास बदस्तूर क्रायम रहते हैं।

हेरान हूँ कि यह तरकीब मुझे पहले कभी क्यों नहीं सूझी थी हो, और मैंने कुछ सोचकर इसे दबा दिया हो। मैं हमेशा कृष्ण-न-कृष्ण सोचकर कई बातों को दबा जाता हूँ। आज भी मुझे अन्देशा तो या कि वह पहले ही धूंट में जायका पहचानकर मेरी चोंगी पकड़ लेगा। लेकिन गिलास खत्म होते-होते उसकी आँखें बुझने लगी थीं और मेरा होसता बढ़ गया था। जी मैं आया था कि उसी क्षण उसकी गरदन मरोड़ दौ, लेकिन किर नतीजों की कल्पना से दिल दहलकर रह गया था। मैं समझता हूँ कि हर बुज़दिल श्रादमी की कल्पना बहुत तेज़ होती है, हमेशा उसे हर चतरे से बचा ले जाती है। किर भी हिम्मत बांधकर मैंने एक बार सीधे उसकी ओर देखा जरूर था। इतना भी क्या कम है कि साधारण हालात में मेरी निगाहें सहमी हुईं-सी उसके सामने इधर-उधर फड़फड़ाती रहती हैं। साधारण हालात में मेरी स्थिति उसके सामने बहुत असाधारण रहती है।

हीर, श्रव उसकी आँखें बन्द हो चुकी थीं और तिर भूल रहा था। एक और लुटकाकर गिर जाने से पहले उसकी बाँहें दो लदी हुई ढीली टहनियों की सुस्त-सी उठान के साथ भी श्रोर उठ आयी थीं। उसे इस तरह लाचार देखकर ध्रुम हुआ था कि वह दम तोड़ रहा है।

लेकिन मैं जानता हूँ कि वह भूजी किसी भी क्षण उछलकर खड़ा हो सकता है। होया सेंभालने पर वह कुछ कहेगा नहीं। उसकी ताक़त उसकी खामोशी में है। दातें वह उस जमाने में भी बहुत कम किया करता था, लेकिन श्रव तो जैसे विलकूल गूँगा हो गया ही।

उसकी रूँदी श्रवहेलना की कल्पना-मात्र से मुझे दहशत हो रही है। कहा न कि मैं एक बुज़दिल इन्द्रान हूँ।

यैसे मैं न जाने कैसे समझ बैठा था कि इतने श्रसे की श्रलहृदगी के बाद श्रव में उसके आतंक से पूरी तरह शाजाद हो चका है। इसी खुशफ़हमी में शावद उस रोज़ उसे मैं अपने साथ ले आया था। शावद मन में कहों उस पर शोब गाठने, उसे नीचा दिताने

की दुराशा भी रही हो। ही सकता है कि मैंने सोचा हो कि वह मेरी जीती-जागती खूब-सूखत बीवी, चहकते-मटकते तन्दुरुस्त वच्चों, और आरास्ता-पैरास्ता आलीशान कोठी को देखकर खुद ही मैंदान छोड़कर भाग जायेगा, और हमेशा के लिए मुझे उससे निजात मिल जायेगी। शायद मैं उस पर यह सावित कर दिखाना चाहता था कि उससे पीछा छुड़ा लेने के बाद किस खुशगवार हृदय तक मैंने अपनी जिन्दगी को सँभाल-सँवार लिया है।

लेकिन ये सब लँगड़े वहाने हैं। हक्कीकत शायद यह है कि उस रोज़ मैं उसे अपने साथ नहीं लाया था, वल्कि वह खुद ही मेरे साथ चला आया था, जैसे मैं उसे नहीं बल्कि वह मुझे नीचा दिखाना चाहता हो। जाहिर है कि उस समय यह वारीक बात मेरी समझ में नहीं आयी होगी। मौके पर ठीक बात मैं कभी नहीं सोच पाता। यही तो मुसीबत है। वैसे मुसीबतें और भी बहुत हैं, लेकिन उन सबका जिक्र यहाँ बेकार होगा।

खैर, माला के सामने उस रोज़ मैंने इसी किस्म की कोई लँगड़ी सफाई पेश करने की कोशिश की थी और उस पर कोई असर नहीं हुआ था। वह उसे देखते ही विफर उठी थी। सबसे पहले अपनी बेवकूफी और सारी स्थिति का अहसास शायद मुझे उसी क्षण हुआ था। मुझे उस कमबख्त से, वहीं घर से दूर, उस सड़क के किनारे किसी-न-किसी तरह निवट लेना चाहिए था। अगर अपनी उस सहभी हुई खामोशी को तोड़कर मैंने अपनी तमाम मजबूरियाँ उसके सामने रख दी होतीं, माला का एक खाका-सा खींच दिया होता, साफ़-साफ़ उससे कह दिया होता—देखो गुरु, मुझ पर दया करो और मेरा पीछा छोड़ दो—तो ज्याद वहीं हम किसी समझीते पर पहुँच जाते। और नहीं तो वह मुझे कुछ मोहल्त तो दे ही देता। छूटते ही दो मोरचों को एक साथ सँभालने की दिक्कत तो पेश न आती। कुछ भी हो, मुझे उसे अपने घर नहीं लाना चाहिए था। लेकिन अब यह सारी समझदारी बेकार थी। माला और वह एक-दूसरे को यूँ घूर रहे थे जैसे दो पुराने और जानी दुश्मन हों। एक क्षण के लिए मैं यह सोचकर आश्वस्त हुआ था कि माला सारी स्थिति खुद सँभाल लेगी, और फिर दूसरे ही क्षण मैं माला की लानत-मलामत की कल्पना कर सहम गया था। बात को मजाक में घोल देने की कोशिश में मैंने एक खास गिलगिले लहजे में—जो मेरे पास ऐसे नाजुक मौकों के लिए सुरक्षित रहता है—कहा था, डार्लिंग ! जरा रास्ता तो छोड़ो, कि हम बहुत लम्बी सैर से लौटे हैं, जरा बैठ जायें तो जो सज्जा जी मैं आयें, दे देना।

वह रास्ते से तो हट गयी थी, लेकिन उसके तनाव में कोई कमी नहीं हुई थी, और न ही उसने मुझे बैठने दिया था। साथ ही उस मुरदार ने मेरी तरफ यूँ देखा था जैसे कह रहा हो—तो तुम बाक़ई इस औरत के गुलाम बनकर रह गये हो। और खुद मैं उन दोनों की तरफ यूँ देख रहा था जैसे एक की नज़र बचाकर दूसरे से कोई साज़िशी सम्बन्ध पैदा कर लेने की ख्वाहिश हो।

फिर माला ने मौका पाते ही मुझे ग्लग ले जाकर डॉटना-डपटना चुरू कर दिया था—मैं पूछती हूँ कि यह तुम किस आवारागर्द को पकड़कर साथ ले आये हो? जरूर कोई तुम्हारा पुराना दोस्त होगा? है न! इत्ते वरस शादी को हो चले; लेकिन तुम अभी तक वैसे-के-वैसे ही रहे। मेरे वच्चे उसे देखकर बया कहेंगे? पड़ोसी-क्या

सोचेंगे ? अब कुछ बोलोगे भी ?

मैं हीरान था कि क्या बोलूँ ! माला के सामने मैं बोलता कम हूँ, ज्यादा समय तोलने में ही वीत जाता है, और उसका मिजाज और विगड़ जाता है। वैसे उसका गुस्सा बजा था। उसका गुस्सा हमेशा बजा होता है। हमारी कामयाब शादी की दुनियाद भी इसी पर कायम है—उसकी हर बात हमेशा सही होती है, और मैं अपनी हर गलती को चुपचाप और फ़ौरन कवूल कर लेता हूँ। ऊपर से वह कुछ भी क्यों न कहे, उसे मेरी फ़रमावरदारी पर पूरा भरोसा है। बीच-बीच में महज़ मुझे खुश कर देने के खाल में वह इस किस्म की शिकायतें ज़रूर कर दिया करती है—तुम्हें न जाने हर मामूली-से-मामूली बात पर मेरे खिलाफ़ ढट जाने में क्या मज़ा आता है ? मानती हूँ कि तुम मुझसे कहीं ज्यादा समझदार हो, लेकिन कभी-कभी मेरी बात रखने के लिए ही सही…

मुझे उसके ये झूठे उलाहने बहुत पसन्द हैं, गो मैं उनसे ज्यादा खुश नहीं हो पाता। फिर भी वह समझती है कि इनसे मेरा अम बना रहता है, और मैं जानता हूँ कि वासडोर उसी के हाथ में रहती है। और यह ठीक ही है।

तो माला दांत पीसकर कह रही थी—अब कुछ बोलोगे भी ? मेरे बच्चे पार्क से लौटकर इस मनहूस आदमी को बैठक में बैठा देखेंगे, तो क्या कहेंगे ? उन पर क्या असर होगा ? उफ़, इतना गन्दा आदमी ! सारा घर महक रहा है। बताओ न, मैं अपने बच्चों से क्या कहूँगी ?

अब जाहिर है कि मैं माला को कुछ भी नहीं बता सकता था। सो मैं सिर कुछाये खड़ा रहा, और वह मुँह उठाये बहुत देर तक बरसती रही।

वैने यहाँ यह साफ़ कर दूँ कि वे बच्चे माला अपने साथ नहीं लायी थी। वे मेरे भी उतने ही हैं जितने कि उसके, लेकिन ऐसे मोकों पर वह हमेशा 'मेरे बच्चे' कहकर मुझसे उन्हें यूँ ग़लग कर निया करती है, जैसे कोई कीचड़ से लाल निकाल रहा हो। कभी-कभी मुझे इस बात पर बहुत दुःख भी होता है, लेकिन फिर ठंडे दिल से सोचने पर महसूस होता है कि यारीरिक सचाई कुछ भी हो, रुहानी तौर पर हमारे सभी बच्चे माला के ही हैं। उनके रंग-ढंग में मेरा हिस्सा बहुत कम है। और यह ठीक ही है, क्योंकि अगर वे मुझ पर जाते तो उन्हें भी मेरी ही तरह सीधा होने में न जाने कितनी देर लग जाती। मैं युझ हूँ कि उनका भविष्य खूब रोशन है और उस रोशनी में मेरा हाथ वस एतना ही है कि मैं उनका क्लानूनी, और यायद जिस्मानी बाप हूँ, उनके लिए पैसे कमाता हूँ, और दिलोजान से उनकी माँ की सेवा में दिन-रात जुटा रहता हूँ।

सौर ! कुछ देर यूँ ही सिर नीचा किये खड़े रहने के बाद आखिर मैंने निहायत आजिजाना आवाज में कहना युह किया था—अरे भई, मैं तो उस कमबख्त को ठीक तच्छ ने पहचानना भी नहीं, उमने दोस्ती का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। अब अगर रास्ते में दोई आदमी मिल जाये तो…

न जाने मेरे क़िरकरे या अन्त योग्य रहोता ! यायद होता भी कि नहीं। लेकिन माला ने थीन में दी पांव पटाकार कह दिया—झूठ, सरासर झूठ !

यह कहाहर यह अन्दर चली गयी, और मैं कुछ देर तक और वहीं सिर नीचा किये

खड़ा रहने के बाद वापस उस कमरे में लौट आया, जहाँ बैठा वह बीड़ी पी रहा था और मुस्करा रहा था, जैसे सब जानता हो कि मैं किस मरहले से गुज़रकर आ रहा हूँ।

० ०

अब हुआ दरग्रसल यह था कि उस शाम माला से, कुछ दूर अकेला घूम आने की इजाजत माँगकर मैं यूँ ही—विना मतलब घर से बाहर निकल गया था। आमतौर पर वह ऐसी इजाजतें आसानी से नहीं देती, और न ही मैं माँगने की हिम्मत कर पाता हूँ। विना मतलब घूमना उसे बहुत बुरा लगता है। कहीं भी जाना हो, किसी से भी मिलना हो, कुछ भी करना या न करना हो, मतलब का साफ़ और सही फ़ैसला वह पहले से ही कर लेती है। ठीक ही करती है। मैं उसकी समझदारी की दाद देता हूँ। वैसे घर से दूर अकेला मैं किसी मतलब से भी नहीं जा पाता। माला की सोहवत की कुछ ऐसी आदत-सी पड़ गयी है, कि उसके विना सब सूना-सूना-सा लगता है। जब वह साथ रहती है तो किसी किस्म का कोई ऊल-जलूल विचार मन में उठ ही नहीं पाता, हर चीज़ ठोस और वामतलब दिखायी देती है। अन्दर की हालत ऐसी रहती है जैसे माला के हाथों सजाया हुआ कोई कमरा हो, जिसमें हर चीज़ करीने से पड़ी हो, वेक्षायदगी की कोई गुंजायश न हो। और जब वह साथ नहीं होती, तो वही होता है जो उस शाम हुआ, या फिर उसी किस्म का कोई और हादसा, क्योंकि उससे पहले वैसी बात कभी नहीं हुई थी।

तो उस शाम न जाने किस धुन में मैं घर से बहुत दूर निकल गया था। आमतौर पर घर से दूर रहने पर भी मैं घर ही के बारे में सोचता रहता हूँ। इसलिए नहीं कि घर में किसी किस्म की कोई परेशानी है। गाड़ी न सिर्फ़ चल रही है, बल्कि ख़ूब चल रही है। वागडोर जब माला-जैसी औरत के हाथ हो, तो चलेगी नहीं तो और करेगी भी क्या? नहीं, घर में कोई परेशानी नहीं—अच्छी तनखावाह, अच्छी बीबी, अच्छे बच्चे, अच्छे वारसूख दोस्त, उनकी बीवियाँ भी ख़ूब हट्टी-कट्टी और अच्छी, अच्छा सरकारी मकान, अच्छा खुशनुमा लॉन, पास-पड़ोस भी अच्छा, महँगाई के बावजूद दोनों बक्त अच्छा खाना, अच्छा विस्तर, और अच्छी विस्तरी जिन्दगी। मैं पूछता हूँ, इस सबके अलावा और चाहिए भी क्या एक अच्छे इन्सान को। फिर भी अकेला होने पर घरेलू मामलों को बार-बार उलट-पलटकर देखने से बैसा ही इत्मीनान मिलता है, जैसा किसी भी सेहत-मन्द आदमी को बार-बार आईने में अपनी सूरत देखकर मिलता होगा। मेरा मतलब है कि बक्त अच्छी तरह कट जाता है, ऊवं नहीं होती। यह भी माला के ही सुप्रभाव का फल है नहीं तो एक ज़माना था कि मैं हरदम ऊब का शिकार रहा करता था।

हो सकता है कि उस शाम दिमाग़ कुछ देर के लिए उसी गुजरे हुए ज़माने की ओर भटक गया हो। कुछ भी हो, मैं घर से बहुत दूर निकल गया था, और फिर अचानक वह मेरे सामने आ खड़ा हुआ था।

महसूस हुआ था जैसे मुझे अकेला देखकर घात में बैठे हुए किसी खतरनाक अजनवी ने ही रास्ता रोक लेना चाहा हो। मैं ठिठककर रुक गया था। उसकी सुती हुई आँखों से फ़िसलकर मेरी निगाह उसकी मुस्कराहट पर जा टिकी थी, जहाँ अब मुझे उसके साथ विताये हुए सारे गर्दग्रालूद ज़माने की एक टिमटिमाती हुई-सी

दिवायी दे रही थी। महसूस हो रहा था कि वरसों तक रूपोश रहने के बाद फिर मृके पकड़कर किसी के सामने पेश कर दिया गया हो। मेरा सिर इस पेशी के ख्याल से दबकर भुक्त गया था।

कुछ, या शायद कितनी ही, देर हम सड़क के उस नंगे और आवारा श्रृंधेरे में एक-दूसरे के झवण खड़े रहे थे। अगर कोई तीसरा उस समय देख रहा होता, तो शायद समझता कि हम किसी लाश के सिरहाने खड़े कोई प्रार्थना कर रहे हैं, या एक-दूसरे पर झपट पड़ने ने पहले किसी मन्त्र का जाप।

वैने यह सच है कि उसे पहचानते ही मैंने माला को याद करना शुरू कर दिया था, कि हर संकट में मैं हमेशा उसी का नाम लेता हूँ। साथ ही वहाँ से दूम दबाकर माग उठने की छवाहिंश भी मन में उठती रही थी। एक उड़ती हुई-सी तमन्ना यह भी हुई थी कि बापस घर लौटने के बजाय चुपचाप उस कमबृत के साथ हो लूँ, जहाँ वह ले जाना चाहे चला जाए, और माला को खबर तक न हो। इस विचार पर तब भी बहुत चोंका था, और अभी तक हैरान हूँ, क्योंकि आखिर उसी से पीछा छुड़ाने के लिए ही तो मैंने माला दो गोद में पनाह ली थी। अगर आज से कुछ बरस पहले मैंने उसके खिलाफ बगावत न की होनी तो...लेकिन उस भागने को बगावत का नाम देकर मैं अपने-आपनो धोया दे रहा हूँ, मैंने सोचा था, और मेरा मुँह शर्म के भारे जल उठा था। मेरा मुँह श्रवसर एम आग में जलता रहता है।

उम हरागजादे ने जरूर मेरी सारी परेशानी को भाँप लिया होगा। उससे मेरी कोई कमज़ोरी छिपी नहीं, और उससे भागकर माला की गोद में पनाह लेने की एक चर्ची बजह रही थी। उसकी हँसी में मुझे सूखे पनों की हैथतनाक खट्टखट्टाहट सुनायी दे रही थी, और उम खट्टखट्टाहट में उसके माथे में गुजारे हुए जगाने की बेशुमार यादें आपस में टकरा रही थीं। वड़ी मुस्किल ने आँख उठाकर उसकी ओर देखा था। उसका हाथ मेरी तरफ बढ़ा हुआ था। मैं विदकर दो कदम पीछे हट गया था, और उसकी हँसी और ऊँची हो गयी थी। कने हाँ पांतों से मैंने डराकी आँखों का सामना किया था। अपना हाथ उसके खुरदरे हाथ में देते हुए और उसकी सासों की बदबूदार हरारत अपने चेहरे पर भेलते हुए, मैंने महसूस किया था जैसे इतनी मुहूर्त आजाद रह लेने के बाद फिर अपने-आपको उसके हवाले कर दिया हो। अधीक बात है, इस ऐहतास से जितनी तालसीक मुझे होनी चाहिए थी, उतनी हुई नहीं थी। शायद हर भगोड़ा मुजरिम दिन से यही नाहता है कि कोई उने पकड़ ले।

पर पहुँचने तक कोई बात नहीं हुई थी। अपनी-अपनी खामोशी में लिपटे हुए हम धीमे-धीमे जल रहे थे, जैसे कन्धों पर कोई लाश उठाये हुए हों।

० ०

गो, जब माला की टॉट-टपट मुन लेने के बाद, मुँह बनाये, मैं बापस बैठक में सौंठा, तो बहु बदजात मजे में बैठा बीड़ी पी रहा था। एक क्षण के लिए अग्र हुआ, जैसे बहु कमरा उसी का हो। फिर कुछ सेभालकर, उससे नजर मिलाये दिना, मैंने कमरे की सूची तिड़कियां योल दीं, पंसे को और तेज कर दिया, एक मुँझलाई हुई ठोकर से

उसके जूतों को सोफे के नीचे धकेल दिया, रेडियो चलाना ही चाहता था कि उसकी फटी हुई हँसी सुनायी दी और मैं वेवस हो उससे दूर हटकर चुपचाप बैठ गया।

जी मैं आया कि हाथ वाँधकर उसके सामने खड़ा हो जाऊँ, सारी हँकीकत सुनाकर कह दूँ—देखो दोस्त, अब मेरे हाल पर रहम करो, और माला के आने से पहले चुपचाप यहाँ से चले जाओ, वरना नीजा बहुत बुरा होगा।

लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं। कहा भी होता तो सिवाय एक और जहरीली हँसी के उसने मेरी अपील का कोई जवाब न दिया होता। वह बहुत जालिम है, हर बात की तह तक पहुँचने का क्रायल, और भावुकता से उसे सख्त नफरत है।

उसे कमरे का जायज्ञा लेते देख मैंने दबी निगाह से उसकी ओंर देखना बुझकर दिया। टाँगें समेटे वह सोफे पर बैठा हुआ एक जानवर-सा दिखायी दिया। उसकी हालत बहुत खस्ता दिखायी दी, लेकिन उसकी शक्ति अब भी मुझसे कुछ-कुछ मिलती थी। इस विवार से मुझे कोप्त भी हुई, और एक अजीब क्रिस्म की खुशी भी महसूस हुई। एक ज़माना था जब वही एकमात्र मेरा आदर्श हुआ करता था, जब हम दोनों घंटों एक साथ घूमा करते थे, जब हमने बार-बार कई नौकरियों से एक साथ इस्तीके दिये थे, कुछेक से एक साथ निकाले गये थे, जब हम अपने-आपको उन तमाम लोगों से बेहतर और ऊँचा समझते थे जो पिटी-पिटाई लकीरों पर चलते हुए अपनी सारी ज़िन्दगी एक बदनुमा और रिवायती घरौंदे की तामीर में बरबाद कर देते हैं, जिनके दिमाग़ हमेशा उस घरौंदे की चहारदीवारी में कँद रहते हैं, जिनके दिल सिर्फ़ अपने बच्चों की किलकारियों पर ही झूमते हैं, जिनकी बेबकूफ़ दीवियाँ दिन-रात उन्हें तिगनी का नाच नचाती हैं, और जिन्हें अपनी सफेदपोशी के अलावा और किसी बात का कोई गम नहीं होता। कुछ देर मैं उस ज़माने की याद में डवा रहा। महसूस हुआ, जैसे वह फिर उसी दुनिया से एक पैसाम लाया हो, फिर मुझे उन्हीं बीरानों में भटका देने की कोशिश करना चाहता हो, जिनसे भागकर मैंने अपने लिए एक फूलों की सेज सँवार ली है, जिस पर माला करीब हर रात मुझसे मेरी फरमावरदारी का सबूत तलब किया करती है, और जहाँ मैं बहुत सुखी हूँ।

वह मुसकरा रहा था, जैसे उसने मेरे अन्दर भाँक लिया हो। उसे इस तरह आसानी से अपने ऊपर काबिज होते देख मैंने बात बदलने के लिए कहा—कितने रोज यहाँ ठहरोगे?

उसकी हँसी से एक बार फिर हमारे घर की सजी-सँवरी फिजा दहल गयी, और मुझे खतरा हुआ कि माला उसी दम वहाँ पहुँचकर उसका मुँह नोच लेगी। लेकिन यह खतरा इस बात का गवाह है कि इतने बरसों की दासता के बावजूद मैं अभी तक माला को पहचान नहीं पाया। थोड़ी ही देर मैं वह एक बहुत खूबसूरत साड़ी पहने, मुसकराती-इठलाती हुई हमारे सामने आ खड़ी हुई। हाथ जोड़कर बड़े दिन-फ्रेव अन्दाज में नमस्कार करती हुई बोली—आप बहुत थके हुए दिखायी देते हैं, मैंने गरम पानी रखवा दिया हूँ, आप 'वाज' कर लें तो कुछ पीकर त... खाना तो हम लोग देर से ही खायेंगे।

मैं बहुत सुश हुआ, और मामला माला ने अपने हाथ में ले लिया था, और मैं यूँ ही परेशान हो रहा था। मन हुआ कि उठकर माला को चूम लूँ। मैंने कनिखियों से उस हरामजदै की तरफ देखा। वह वाकई सहमा हुआ-सा दिखायी दिया। मैंने सोचा, अब अगर वह खुद-व-खुद ही न भाग डाला, तो मैं समझूँगा कि माला की सारी समझ-सीधी और घ-रंग बेकार है। कितना लुत्फ आये अगर वह कमबढ़त भी भाग लड़ा होने के बजाय माला के दाँब में फौंस जाये, और फिर मैं उससे पूछूँ—अब वता, साले, अब वात समझ में आयी? मैंने आँखें बन्द कर लीं, और उसे माला के इर्द-गिर्द नाचते हुए, उस पर किंदा होते हुए, उसके साथ लेटे हुए देखा। एक अजीब राहत का एहसास हुआ। आँखें खोलीं तो वह गुसलखाने में जा चुका था, और माला भुकी सोफे को ठीक कर रही थी। मैंने उसकी आँखों में आँखें ढालकर मुसकराने की कोशिश की, लेकिन फिर उसकी तरी हुई सून्त से घबराकर नजरें भुका लीं। जाहिर था कि उसने अभी मुझे माफ़ नहीं दिया था।

नहाने वह बाहर निकला, तो उसने मेरे कपड़े पहने हुए थे। इस बीच माला ने बीश्र निकाल ली और उसका गिलास भरते हुए पूछ रही थी—आप खाने में मिर्च कम लेते हैं या ज्यादा? मैंने बहुत मुश्किल से हँसी पर कावू किया—उस साले को खाना ही कब मिलना होगा, मैं तो च रहा था, और माला की हँशियारी पर खुश हो रहा था।

बुद्ध देर हम बैठे पीते रहे, माला उससे घुल-मिलकर बातें करती रही, उससे छोट-छोटे सवाल पूछती रही—आपको यह शहर कैसा लगा? बीश्र ठंडी तो है न? आप अपना सामान कहाँ छाड़ आये?—और वह बगलें झाँकता रहा। हमारे बच्चों ने आकर अपने 'घंगाल' को ग्रीट किया, बारी-बारी उसके घुटनों पर बैठकर अपना नाम बर्ग-रह बनाया, पक्क-दो गाने गाये, और फिर 'गुड नाइट' कहकर अपने कमरे में चले गये। माला नी भीठी बातों में यूँ लग रहा था जैसे हमारे अपने ही हल्के का कोई बेतकललुक दोस्त बुद्ध दिनों के निष द्वारा पास आ छहा हो, और उसकी बड़ी-सी गाड़ी हमारे दरवाजे के सामने खड़ी हो।

मैं बहुत सुय था, और जब माला साना लगदाने के लिए बाहर गयी, तो उस शाम पहली बार मैंने बंधक उस कमीने की तरफ देखा। वह तीन-चार गिलास बीश्र के पी चूला था, और उसके चेहरे की जर्दी बुद्ध कम हो चुकी थी। लेकिन उसकी मुसकराहट में माला के बाहर जाते ही फिर वही जहर और चैलेज आ गया था, श्रीर मुझे महसूस हुआ जैसे यह कह रहा हो—बीती तुम्हारी मुझे पसन्द है, लेकिन बेटे! उसे खबरदार कर दो, मैं इतना पिलपिला नहीं गिरना वह समझती हूँ।

एक धन के निष फिर मेरा जांध कुछ दीला पड़ गया। लगी जैसे बात इतनी आसानी से गुमजानेवाली नहीं। याद आया कि सुबमूर्त और दोस औरतें उस जमाने में भी उंग बहुत पसन्द थीं, लेकिन उनका जानू ज्यादा देर तक नहीं रखता था। फिर भी, मैंने सोचा, दान धर मेरे हाथ ने निकल गयी है और सिवाय इन्हाजार के मैं और कुछ नहीं रख सकता था।

गाना उमरों बहुत उम्दा बना था और याने के बाद माला शुद्ध उसके

कमरे तक छोड़ने गयी थी। लेकिन उस रात मेरे साथ माला ने कोई बात नहीं की। मैंने कई मजाक किये, कहा—नहा-धोकर वह काफी अच्छा लग रहा था, क्यों? वहुत छोड़-चाड़ की, कई कोशिशें कीं कि सुलहनामा हो जाय, लेकिन उसने मुझे अपने पास फटकने नहीं दिया। नींद उस रात मुझे नहीं आयी, फिर भी अन्दर से मुझे इत्मीनान था कि किसी-न-किसी तरह माला दूसरे रोज उसे भगा सकने में ज़रूर कामयाब हो जायेगी।

लेकिन मेरा अन्दाज़ गलत निकला। माना कि माला वहुत चालाक है, वहुत समझदार है, वहुत मनमोहिनी है, लेकिन उस हरामजादे की ढिठाई का भी कोई मुक़ा-बला नहीं। तीन दिन तक माला उसकी खातिर-तवाज़ा करती रही। मेरे कपड़ों में वह अब दिलकुल मुझ-जैसा हो गया था, और नज़र यूँ आता था जैसे माला के दो पति हों। मैं तो सुवह-सवेरे गाड़ी लेकर दफ़्तर को निकल जाता था, पीछे उन दोनों में न जाने क्या बातें होती थीं। लेकिन जब कभी उसे मौक़ा मिलता, वह मुझे अन्दर ले जाकर डॉटने लगती—अब यह मुरदार यहाँ से निकलेगा भी कि नहीं! जब तक यह घर में है, हम किसी को न तो बुला सकते हैं, न किसी के यहाँ जा सकते हैं। मेरे बच्चे कहते हैं कि इसे बात करने तक की तमीज़ नहीं। आखिर यह चाहता क्या है।

मैं उसे क्या बताता कि वह क्या चाहता है। कभी कहता—थोड़ा सब्र और करो, अब जाने की सोच ही रहा होगा। कभी कहता—क्या बताऊँ, मैं तो खुद शर्मिन्दा हूँ। कभी कहता—तुमने खुद ही तो उसे सिर पर चढ़ा लिया है। अगर तुम्हारा बरताव रुखा होता तो...

माला ने अपना बरताव तो नहीं बदला, लेकिन चौथे रोज अपने बच्चों-सहित घर छोड़कर अपने भाई के यहाँ चली गयी। मैंने वहुतेरा रोका, लेकिन वह नहीं मानी। उस रोज वह कमबख्त वहुत हँसा था, ज़ोर-ज़ोर से, बार-बार।

००

आज माला को गये पाँच रोज़ हो गये हैं। मैंने दफ़्तर जाना छोड़ दिया है। वह किर अपने असली रंग में आ गया है। मेरे कपड़े उतारकर उसने फिर अपना वह मैला-सा कुर्ता-पाज़ामा पहन लिया है। कहता कुछ नहीं, लेकिन मैं जानता हूँ कि वह क्या चाहता है—यह मौक़ा फिर हाथ नहीं आयेगा! वह चली गयी है, बेहतर यही है कि उसके लौटने से पहले तुम भी यहाँ से भाग चलो। उसकी चिन्ता मत करो, वह अपना इन्तजाम खुद कर लेगी।

और आज आखिर मैं उसे थोड़ी देर के लिए बेहोश कर देने में कामयाब हो गया हूँ। अब मेरे सामने दो ही रास्ते हैं। एक यह कि होश आने से पहले मैं उसे जान से मार डालूँ। और दूसरा यह कि अपना ज़रूरी सामान बाँधकर तैयार हो जाऊँ और ज़यूँ उसे होश आये, हम दोनों फिर उसी रास्ते पर चल दें, जिससे भागकर कुछ बरस पहले मैंने माला की गोद में पनाह ली थी। अगर माला इस समय यहाँ होती तो वह कोई तीसरा रास्ता भी निज़ाल लेती। लेकिन वह नहीं है, और मैं नहीं जानता कि मैं क्या करूँ।

वादलों के घेरे

मूवाली का इस छोटी-सी काटेज में लेटा-लेटा मैं सामने के पहाड़ देखता हूँ। पानी-भरे, सूखे-सूखे वादलों के घेरे देखता हूँ। बिना आँखों के भटक-भटक जाती धुन्ध के निष्फल प्रयास देखता हूँ और फिर लेटे-लेटे अपने तन का पतझार देखता हूँ। सामने पहाड़ के रुखे हरियाले में रामगढ़ जाती हुई पगडण्डी मेरी बाँह पर उभरी लम्बी नस की तरह चमकती है। पहाड़ी हवाएँ मेरी उखड़ी-उखड़ी साँस की तरह कभी तेज, कभी हीले, इस खिड़की से टकराती हैं; पलंग पर विछो चहर और ऊपर पड़े कम्बल से लिपटी मेरी देह चूने की-सी कच्ची तह की तरह घुल-घुल जाती है और वरसों के ताने-वाने से बुनी मेरे प्राणों की घड़कनें हर क्षण बन्द हो जाने के डर में चूक जाती हैं।

मैं लेटा रहता हूँ और सुबह हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ शाम हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ रात झुक जाती है। दरवाजे और खिड़कियों पर पड़े परदे मेरी ही तरह दिन-रात, सुबह-शाम, अकेले मीन-भाव से लटकते रहते हैं। कोई इन्हें भरे-भरे हाथों से उठाकर कमरे की ओर बड़ा नहीं आता। कोई इस देहरी पर अनायास मुसकराकर खड़ा नहीं हो जाता। रात, सुबह, शाम वारी-दारी से मेरी शैया के पास घिर-घिर आते हैं और मैं अपनी इन कीकी आँखों से अँधेरे और उजाले को नहीं, लोहे के पलंग पर पड़ अपने-ग्रापको देखता हूँ, अपने इस छूटते-छूटते तन को देखता हूँ। और देखकर रह जाता हूँ। आज इस तरह जाने के सिवाय कुछ भी मेरे वक्ष में नहीं रह गया। सब अलग जा पड़ा है। आते कन्धों से जुड़ी अपनी बाँहों को देखता हूँ, मेरी बाँहों में लगी वे भरी-भरी बाँहें कहाँ हैं...कहाँ हैं वे मुगन्ध-भरे केश, जो मेरे वक्ष पर विछ-विछ जाते थे? कहाँ हैं वे रस-भरे अधर जो मेरे रस में भीग-भीग जाते थे? सब था, मेरे पास सब था। वस, मैं आज-सा नहीं था। जीने का संग था, सोने का संग था और उठने का संग था। मैं धुले-धुले सिरहाने पर सिर डालकर सोता रहता और कोई हीले से चमककर कहता—उठोगे नहीं...भोर हाँ गयी।

आँखें बन्द किये ही हाथ उस मोहभरी देह को घेर लेते और रात के बीते धगों को सूख लेने के लिए अपनी और झुकाकर कहते—इतनी जल्दी वयों उठती हो...“

हली-सी हँसी...और बाँहें खुल जातीं। आँखें खुल जातीं और गृहस्थी पर सुबह हो जाती। फूलों की महक में नादता लगता। धुने-ताजे कपड़ों में लिपटकर गृहस्थी की मालकिन अधिकार-भरे संयम से सामने बैठे रात के सपने साकार कर देती। प्याले में दूध उँडेलती

उन अंगुलियों को देखता । क्या मेरे वालों को सहला-सहलाकर सिहरा देनेवाला स्पर्श इन्हीं की पकड़ में है ? आँचल को थामे आगे की ओर उठा हुआ कपड़ा जैसे दोनों ओर की मिठास को संभालने को सतर्क रहता । क्षण-भर को लगता, क्या गहरे में जो मेरा अपना है, यह उसके ऊपर का आवरण है या जो केवल मेरा है, वह इससे परे, इससे नीचे कहीं और है । एक शिथिल मगर वहती-वहती चाह बिभीर कर जाती । मैं होता, मुझसे लगी एक और देह होती । उसमें मिठास होती, जो रात में लहरा-लहरा जाता ।

और एक रात मुवाली के इस क्षयग्रस्त अँधियारे में आती है । कम्बल के नीचे पड़ा-पड़ा मैं दबा की शीशियाँ देखता हूँ और उन पर लिखे विज्ञापन देखता हूँ । धूंट भरकर अब इन्हें पीता हूँ, तो सोचता हूँ, तन के रस रीत जाने पर हाड़-मांस सब काठ हो जाते हैं, मिट्टी नहीं कहता हूँ, क्योंकि मिट्टी हो जाने से तो मिट्टी से फिर रस उभरता है, अभी तो मुझे मिट्टी होना है ।

कैसे सरसते दिन थे ! तन-मन को सहलाते-वहलाते उस एक रात की मैं आज के इस शून्य में टटोलता हूँ । सर्दियों के एकान्त मीन में एकाएक किसी का आदेश पाकर मैं कमरे की ओर बढ़ता हूँ । बल्ब के नीले प्रकाश में दो अवखुली यकी-थकी पलकें ज़रा-सी उठती हैं और बाँह के घेरे तले सोये शिशु को देखकर मेरे चेहरे पर ठहर जाती हैं । जैसे कहती हों—तुम्हारे आलिगन को तुम्हारा ही तन देकर सजीव कर दिया है । मैं उठता हूँ, ठंडे मस्तक को अधरों से छूकर यह सोचते-सोचते उठता हूँ कि जो प्यार तन में जगता है, तन से उपजता है, वही देह पाकर दुनिया में जी भी आता है ।

पर कहीं एक दूसरा प्यार भी होता है जो पहाड़ के सूखे वादलों की तरह उठ-उठ आता है और विना वरसे ही भटक-भटककर रह जाता है । वर्षों दीते । एक बार गर्मी में पहाड़ गया था । बुआ के यहाँ पहली बार उन आँखों-सी आँखों को देखा था । बुपाती सुवह थी । नाश्ते की मेज से उठा, तो परिचय करवाते-करवाते न जाने क्यों बुआ का स्वर ज़रा-सा अटका था... साँस लेकर कहा—मिन्नी से मिलो, रवि, दो ही दिन यहाँ रहेगी । —बुआ के मुख से यह फीका परिचय अच्छा नहीं लगा । वह कुछ बोली नहीं, सिर हिलाकर अभिवादन का उत्तर दिया और ज़रा-सी हँस दी । उस दूर-दूर लगने-वाले चेहरे से मैं अपने को लौटा नहीं सका । उस पतले, किन्तु भरे-भरे मुख पर कसकर वाँधे धुंधराले वालों को देखकर मन में कुछ ऐसा-सा हो आया कि किसी के गहरे उल्लंघन की सज्जा अपने को दे डाली गयी है ।

सब उठकर बाहर आये, तो बुआ के बच्चे उस दुबली देह पर पड़े आँचल को खींच स्नेहवश उन बाँहों से लिपट-लिपट गये—मन्नो जीजी । मन्नो जीजी... बुआ किसी काम से अन्दर जा रही थी, खिलखिलाहट सुनकर लौट पड़ी । बुआ का कठिन, बँधा और खिचाचावट को छिपानेवाला चेहरा मैं आज भी भूला नहीं हूँ । कहाँसे वच्चों को छुड़ाती, ठंडी निगाह से मन्नो को देखती हुई थी—जी—जाग्रो मन्नो, कहीं धूम आग्रो । तुम्हें उलभा-उलझाकर तो के ॥

—माँ की घुड़की आँखों-ही-आँखों में समझकर बच्चे एक और हो गये। बुआ के खाली हाथ जैसे भेंपकर नीचे लटक गये और मन्नो की बड़ी-बड़ी आँखों की घनी पलकें न उठीं, न गिरीं, वस एकटक बुआ की ओर देखती गयीं…

बुआ इस संदोच से उवरी, तो मन्नो धीमी गति से फाटक से बाहर हो गयी थी। कुछ समझ लेने के लिए आग्रह से बुआ से पूछा—कहो तो बुआ, बात क्या है?

बुआ अटकी, फिर भिजकर बोली—बीमार है, रवि, दो वर्ष सैनेटीरियम में रहने के बाद शब्द सेठजी ने वहीं काटेज ले दी है। साथ घर का पुराना नौकर रहता है। कभी अकेले जी ऊब जाता है, तो दो-चार दिन को शहर चली जाती है।

—नहीं, नहीं, बुआ। —मैं धक्का खाकर जैसे विश्वास नहीं करना चाहता।

—रवि, जब कभी चार-छः महीने बाद लड़की को देखती हूँ, तो भूख-प्यास सब सूख जाती है।

मैं बुआ की इस सच्चाई को कुरेद लेने को कहता हूँ—बुआ, बच्चों को एकदम अलग करना ठीक नहीं हुआ, पल-भर तो रुक जाती।

बुआ ने बहुत कड़ी निगाह से देखा, जैसे कहना चाहती हो—तुम यह सब नहीं समझोगे और अन्दर चली गयी। बच्चे अपने खेल में जुट गये थे। मैं खड़ा-खड़ा बार-बार सिगरेट के धुएं से अपने तन का भय और मन की जिज्ञासा उड़ाता रहा। उलझा-उलझा-सा मैं बाहर निकला और उतराई उतरकर भील के किनारे-किनारे हो गया। सड़क के साथ-साथ इस ओर छाँध थी। उच्छल-उच्छल आती पानी की लहरें कभी धूप से रुपहली हो जाती थीं। देवी के मन्दिर के आगे पहुँचा, तो रुका, जंगले पर हाथ टिकाये भील में तीकाग्रों की दीड़ देखता रहा। बलिष्ठ हाथों में चप्पू थामे कुछ युवक तेज रफ्तार से तालीताल की ओर जा रहे हैं, पीछे की कश्ती में अपने तन-मन से देखवर एक प्रौढ़ वैठे ऊँघ रहे हैं। उसके पीछे बोट-क्लव की किश्ती में विदेशी युवतियाँ…फिर और दो-चार पालवाली नौकाएँ…

एकाएक किश्ती में नहीं, जैसे पानी की नीची सतह पर वही पीला चेहरा देखता हूँ, वही बड़ी-बड़ी आँखें, वही दुवली-पतली वर्णहें, वही बुआ के घरवाली मन्नो। दो-चार बार मन-ही-मन नाम दोहराता हूँ, मन्नो, मन्नो, मन्नो…मैं ऊँचे किनारे पर खड़ा हूँ और पानी के साथ-साथ मन्नो वही चली जा रही है। खिचे ऊँधराले बाल, अनभी पलकें…पर बुआ कहती थी बीमार है, मन्नो बीमार है।

जंगले पर से हाथ उठाकर बुआ के घर की दिशा में देखता हूँ। चीना की चोटी अपने पहाड़ी संयम से सिर उठाये सदा की तरह सीधी खड़ी है। एक ढलती-सी पथरीली ढलान को उसने जैसे हाथ से याम रखा है और मैं नीचे इस सड़क पर खड़े-खड़े सोचता हूँ कि सब-कुछ रोज़-जैसा है, केवल मन से उभर-उभर आती वे दो आँखें नयी हैं और उन दो आँखों के पीछे की वही बीमारी…जिसे कोई छू नहीं सकता, कोई उवार नहीं सकता।

घर पहुँचा, तो बुआ बच्चों को लेकर कहीं बाहर चली गयी थी। कुछ देर ड्राइंग-रूम में बैठा-बैठा बुआ के सुधङ्ग हाथों द्वारा की गयी सजावट देखता रहा। कीमती

चादलों के घेरे

फूलदानों में पगायी गयी पहाड़ी भाड़ियाँ सुन्दर लगती थीं। कैविनट पर बड़ी फ्रेम में लगे सपरिवार चित्र के आगे खड़ा हुआ, तो बुआ के साथ खड़े फूफा की ओर देखकर सोचता रहा कि बुआ के लिए इस चेहरे पर कौन-सा आकर्षण है, जिससे वँधी-वँधी वह दिन-रात, वर्ष-मास अपने को निभाती चली आती है। पर नहीं, बुआ ही के घर में होकर यह सोचना मन के शील से परे है...

भिभक्कर ड्राइंग-रूम से निकलता हूँ और अपने कमरे की सीढ़ियाँ चढ़ जाता हूँ। सिगरेट जलाकर भील के दबिखनी किनारे पर खुलती खिड़की के बाहर देखने लगता हूँ। हरे पहाड़ों के छोटे-बड़े आकारों में टीन की लाल-लाल छतें और बीच-बीच में मटियाली पगड़ियाँ। बुआ खाने तक लौट आयेंगी और मन्तो भी तो... देर तक टन-टन के साथ नौकर ने खाने के लिए अनुरोध किया।

—खाना लगेगा, साहिव ?

—बुआ कब तक लौटेंगी ?

—खाने को तो मना कर गयी हैं।

कथन के रहस्य को मैं इन अर्थहीन-सी आँखों में पढ़ जाने के प्रयत्न में रहता हूँ। —और जो मेहमान हैं ?

नौकर तत्परता से झुककर—आपके साथ नहीं, साहिव। वह अलग से ऊपर खायेंगी।

मैं एक लम्बी साँस भरकर जले सिगरेट के टुकड़े को पैर के नीचे कूचल देता हूँ। शायद साथ खाने के डर से छुटकारा पाने पर या शायद साथ न खा सकने की विवशता पर। इस दिन खाने की मेज पर अकेले खाना खाते-खाते क्या सोचता रहा था, आज तो याद नहीं। वस इतना याद है, कॉटे-छुरी से उलझता बार-बार मैं बाहर की ओर देखता था।

मीठा कौर मुँह में लेते ही घोड़े की टाप सुनायी दी, ठिठककर सुना—सलाम, साहिव।

धीमी मगर सधी आवाज—दो घण्टे तक पहुँच सकोगे न ?

—जी, हुजूर।

सीढ़ियों पर आहट हुई और अपने कमरे तक पहुँचकर खत्म हो गयी। खाने के बरतन उठ गये। मैं उठा नहीं। दोवारा काँफ़ी पी लेने के बाद भी वहाँ बैठा रहा। एकाएक मन में आया कि किसी छोटे-से परिचय से मन में इतनी द्विधा उपजा लेना कम छोटी दुर्बलता नहीं है। आखिर किसी से मिल ही लिया हूँ तो उसके लिए ऐसा-सा क्यों हुआ जा रहा हूँ।

घण्टे-भर बाद मैं किसी की पैरों चली सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ा जा रहा था। खुले द्वार पर परदा पड़ा था। हैले से थाप दी।

—चले आइए।

परदा उठाकर देहरी पर पाँव रखा। हाथ में कश्मीरी शाल लिये मन्तो अटैचे के पास खड़ी थी। देखकर चौंकी नहीं। सहज स्वर में कहा—आइए—और सोफे पर

फैले कपड़े उठाकर कहा—वैठिए।

वैठते-वैठते सोचा, वुआ के घर-भर में सबसे अधिक सजा और साफ़ कमरा है। नया-नया फर्नीचर, कीमती परदे और इन सबमें हलके पीले कपड़ों में लिपटी न्हो। श्रच्छा लगा।

वात करने को कुछ भी न पाकर बोला—आप लंच तो...

—जी, ले चुकी हूँ। —और भरपूर मेरी और देखती रही।

मैं जैसे कुछ कहलवा लेने को कहता हूँ—बुआ तो कहीं बाहर गयी हैं।

सिर हिलाकर मन्नो शाल की तह लगाती है और सूटकेस में रखते-रखते कहती है—शाम से पहले ही नीचे उतर जाऊँगी। बुआ से कहिएगा, एक दिन को आयी थी। —बुआ तो आती ही होंगी।

इसका उत्तर न शब्दों में आया, न चेहरे पर। कहते-कहते एक बार रुका, फिर न जाने कैसे आग्रह से कहा—एक दिन और नहीं रुक सकेंगी?

वह कुछ बोली नहीं। बन्द करते सूटकेस पर झुकी रही।

फिर पल-भर बाद जैसे स्नेह-भरे हाथ से अपने बालों को छुआ और हँसकर कहा, क्या करूँगी यहाँ रहकर? मुवाली के इतने बड़े गाँव के बाद यह छोटा-सा शहर मन को भाता नहीं।

वह छोटी-सी खिलखिलाहट, वह कड़वाहट से भरे का व्यंग्य, आज इतने बर्पों के बाद भी, मैं वैसे ही खिलकुल वैसे ही सुन पाता हूँ। वही शब्द हैं, वही हँसी है और वही पीली-सी सूरत...

हम संग-संग नीचे उतरे थे। मेरी बांह पर मन्नो का कोट था। नौकर और माली ने झुककर सलाम किया और अतिथि से इनाम पाया। साईंस ने धोड़े को थप-थपाया।

—हृजूर, चढ़ेंगी?

उड़ी-उड़ी नजर उन आँखों की बांह पर लटके कोट पर अटकी।

—पैदल आऊँगी। धोड़ा आगे-आगे लिए चलो।

चाहा कि धोड़े पर चढ़ जाने के लिए अनुरोध करूँ, पर कह नहीं पाया। फाटक से बाहर होते-होते वह पल-भर को पीछे मुड़ी, जैसे छोड़ने के पहले घर को देखती हो। फिर एकाएक अपने को सेंभालकर नीचे उतर गयी। राह में कोई भी कुछ बोला नहीं।

टैक्सी खड़ी थी, सामान लगा। ड्राइवर ने उन कठिन क्षणों को मानो भाँपकर कहा—कुछ देर है, साहिव?

मन्नो ने इस बार कहीं देखा नहीं। कोट लेने के लिए मेरी और हाथ बढ़ा दिया। वह कार में बैठी। कुली ने तत्परता से पीछे से कम्बल निकाला और धुन्नों पर ढालते हुए कहा—कुछ और, मैम साहिव?

धूंधराली छाँह ढीली-सी होकर सीट के साथ जा टिकी। धुन्नों पर पतली-पतली-सी विवर बांहें फैलाते हुए धीरे से कहा—नहीं, नहीं, कुछ और नहीं। धन्यवाद।

अधवुले काँच में अन्दर भाँका। मुख पर थकान के चिह्न थे। बाँहों में मछली-

बादलों के घेरे

मुखी कंगन थे। आँखों में क्या था, यह मैं पढ़ नहीं पाया। वह पीली, पतभड़ी दृष्टि-उन हाथों पर जमी थी, जो कम्बल पर एक-दूसरे से लगे मौन पड़े थे।

कार स्टार्ट हुई। मैं पीछे हटा और कार चल दी। विदाई के लिए न हाथ उठे न अधर हिले। मोड़ तक पहुँचने तक पीछे के शीशे से सादगी से बंधा वालों का रिवन देखता रहा और देर तक वह दर्दीले धन्यवाद की गूँज सुनता रहा—नहीं, नहीं, कुछ और नहीं।

वे पल अपनी कल्पना में आज भी लौटाता हूँ, तो जी को कुछ होने लगता है। उस कार को भगा ले जानेवाली सूखी सड़क से धूमकर मैं ताल के किनारे-किनारे चला जा रहा हूँ। अपने को समझाने-दुझाने पर भी वह चेहरा, वह बीमारी मन पर से नहीं उतरती। रुक-रुककर, थक-थककर जैसे मैं उस दिन घर की चढ़ाई चढ़ा था, उसे याद कर आज भी निढ़ाल हो जाता हूँ। घर पहुँचा। वरामदे में से कुली फर्नीचर निकाल रहे थे। मन धक्का खाकर रह गया। तो उस मन्त्रों के कमरे की सजावट, सुख-सुविधा, सब किराये पर बुआ ने जुटाये थे। दुपहर में बुआ के प्रति जो कुछ जितना भी अच्छा लगा था, वह सब उल्टा हो गया।

आगे बढ़ा, तो द्वार पर बुआ खड़ी थी। सन्देह से मुझे देख और पास होकर फीके गले से कहा—रवि, मुँह-हाथ धो डालो, सामान सब तैयार मिलेगा वहाँ, जल्दी लौटोगे न, चाय लगते को ही है।

चुपचाप बाथ-रूम में पहुँच गया। सामान सब था। मुँह-हाथ धोने से पहले गिलास में ढँककर रखे गर्म पानी से गला साफ़ किया। ऐसा लगा किसी की घुटी-घुटी जकड़ में से बाहर निकल आया हूँ। कपड़े बदलकर चाय पर जा वैठा। बच्चे नहीं, केवल बुआ थी। बुआ ने चाय उँडेली और प्याला आगे कर दिया।

—बुआ।

बुआ ने जैसे सुना नहीं।

—बुआ, बुआ!—पल-भर के लिए अपने को ही कुछ ऐसा-सा लगा कि किसी और को पुकारने के लिए बुआ को पुकार रहा हूँ। बुआ ने विवश हो आँखें ऊपर उठायीं। समझ गया कि बुआ चाहती हैं, कुछ कहूँ नहीं, पर मैं नहीं रुका।

—बुआ, दो दिन की मेहमान तो एक ही दिन में चली गयी।

बुआ चम्मच से अपनी चाय हिलाती रही। कुछ बोली नहीं। इस मौन से और भी निर्दयी हो आया।

—कहती थीं, बुआ से कहना मैं एक ही दिन को आयी थी।

इसके आगे बुआ जैसे कुछ और सुन नहीं सकी। गहरा लम्बा श्वास लेकर आहत आँखों से मुझे देखा—तुम कुछ और नहीं कहोगे, रवि—और चाय का प्याला वहीं छोड़ कमरे से बाहर हो गयी।

उस रात दीरे से फूफा के लौटने की बात थी। नीकर से पूछा, तो पता लगा, दो दिन के बाद आने का तार आ चुका है। चाहा, एक बार बुआ के कमरे तक हो आऊँ, पर संकोचवश पाँव उठे नहीं। देर बाद सीढ़ियों में अपने को पाया, तो सामने मन्त्रों-

का खाली कमरा था। आगे बढ़कर विजली जलायी, सब खाली था, न परदे, न फर्नीचर—न मन्त्रो—एकाएक अँगीठी में लगी लकड़ियों को देख मन में आया, आज वह यहाँ रहती, तो रात देर गये इसके पास यहाँ बैठती और मैं शायद इसी तरह जैसे अब यहाँ आया हूँ, उसके पास आता, उसके...

यह सब क्या सोच रहा हूँ, क्यों सोच रहा हूँ...

किसी अनदेखे भय से घबराकर नीचे उतर आया। खिड़की से बाहर देखा, अँधेरा था। सिरहाना खींचा, विजली बुझायी और विस्तर पर पड़े-पड़े भुवाली की वह छोटी-सी काटेज देखता रहा, जहाँ अब तक मन्त्रों पहुँच गयी होगी।

—रवि।

मैं चाँका नहीं, यह बुआ का स्वर था। बुआ अँधेरे में ही पास आ बैठी और हीले-हीले सिर हिलाती रही।

—बुआ।

बुआ का हाथ पल-भर को थमा। फिर कुछ झुककर मेरे माथे तक आ गया। रुधे स्वर से कहा—रवि, तुम्हें नहीं, उस लड़की को दुलराती हूँ। अब यह हाथ उस तक नहीं पहुँचता...

मैं बुआ का नहीं, मन्त्रों का हाथ पकड़ लेता हूँ।

बुआ देर तक कुछ बोली नहीं। फिर जैसे कुछ समझते हुए अपने को कड़ा कर बोली—रवि, उसके लिए कुछ भत्ता भी सोचो, उसे अब रहना नहीं है।

मैं बुआ के स्पर्श-तले सिहरकर कहता हूँ—बुआ, मुझे ही कौन रहना है?

आज वर्षों बाद भुवाली में पड़े-पड़े मैं असंख्य बार सोचता हूँ कि उस रात मैं अपने लिए यह क्यों कह गया था? क्यों कह गया था वे अभिशाप के बोल, जो दिन-रात मेरे इस तन-मन पर से सच्चे उतरे जा रहे हैं? सुनकर बुआ को कंसा लगा, नहीं जानता। वह हाथ खींचकर उठ बैठी। रोशनी की ओर पूरी आँखों से मुझे देखकर अविश्वास और भर्त्सना से बोली—पागल हो गये हो, रवि! उसके साथ अपनी बात जोड़ते हो। जिसके लिए अब कोई राह नहीं रह गयी, कोई और राह नहीं रह गयी।

फिर कुर्सी पर बैठते-बैठते कहा—रवि, तुम तो उसे सुवह-शाम तक ही देख पाये हो। मैं वर्षों से उसे देखती आयी हूँ और आज पत्थर-सी निष्ठुर हो गयी हूँ। उसे अपना बच्चा ही करके मानती रही हूँ, यह नहीं कहूँगी। अपने बच्चों की तरह तो अपने बच्चों के सिवाय और किसे रखा जा सकता है। पर जो कुछ जितना भी था, वह प्यार, वह देखभाल सब व्यर्थ हो गये हैं। कभी छुट्टी के दिन उसकी बोडिंग से आने की राह तकती थी, अब उसके आने से पहले उसके जाने का क्षण मनाती हूँ और डरकर बच्चों को लिये घर से बाहर तिकल जाती हूँ।

बुआ के बोल कठिन हो आये।

—रवि, जिसे बचपन के मोहवश कभी डराना नहीं चाहती थी, आज उसी से डरने लगी हूँ। उसकी बीमारी से डरने लगी हूँ।—फिर स्वर बदलकर कहा—तुम्हारा-ऐसा जीवट मुझमें नहीं कि वह हूँ, डरती नहीं हूँ—बुआ ने यह कहकर जैसे मुझे टटोला

“...और मैं विना हिने-इले चुपचाप लेटा रहा।

बुआ असमंजस में देर तक मुझे देखती रही। फिर जाने को उठी और रुक गयी। इस बार स्वर में आग्रह नहीं, चेतावनी थी—रवि, कुछ हाथ नहीं लगेगा। जिसके लिए सब राह रुकी हों, उसके लिए भटको नहीं।

पर उस दिन बुआ की बात मैं समझा नहीं, चाहने पर भी नहीं।

अगली सुबह चाहा कि धूम-धूमकर दिन बिता दूँ। घोड़ा दौड़ाता लड़ियाकोटा पहुँचा और उन्हीं पैरों लौट आया। घर की ओर मुँह करते-करते न जाने क्यों, मन को कुछ ऐसा लगा कि मुझे घर नहीं, कहीं और पहुँचना है। चढ़ाई के मोड़ पर कुछ देर खड़ा-खड़ा सोचता रहा और जब ढलती दुपहरी में तल्लीताल की उत्तराई उत्तरा, तो मन के आगे सब साफ़ था।

मुझे भुवाली जाना था।

बस से उत्तरा। अड्डे पर रामगढ़ के लाल-लाल सेवों के द्वेर देखकर यह नहीं लगा कि यही भुवाली है। बस में सोचता आया था कि वहाँ घुटन होगी, पर चीड़ के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से लहराती हवाएँ बह-बह आती थीं। छाँह ऊपर उठती है, धूप नीचे उत्तरती है और भुवाली मन को अच्छी लगती है। तन को अच्छी लगती है। चौराहे से होकर पोस्ट अॉफिस पहुँचा। काटेज का पता लिया और छोटे-से पहाड़ी बाजार में होता हुआ ‘पाइन्स’ की ओर हो लिया। खुली-चौड़ी सड़क के मोड़ से अच्छी-सी पतली राह काटेज की ओर जाती थी। जंगले के नीचे देखा, अलग-अलग खड़े पहाड़ों के बीच की जगह पर एक खुली-चौड़ी घाटी बिछी थी। तिरछे सीधे, छोटे-छोटे खेत किसी के घुटने पर रखे कसीदे के कपड़े की तरह धरती पर फैले थे। दूर सामने दक्खिन की ओर पानी का ताल धूप में चाँदी के थाल की तरह चमकता था।

इस पहली बार भुवाली आने के बाद मैं एक बार नहीं, कई बार यहाँ आया। लौट-लौटकर यहाँ आया, पर उस आने-जैसा आना तो फिर कभी नहीं आया। मैं चलता हूँ, चलता हूँ और कुछ सोचता नहीं हूँ। न यह सोचता कि मन्नों के पास जा रहा हूँ, न यह सोचता हूँ कि मैं जा रहा हूँ। बस चला जा रहा हूँ। पेड़ के तने पर लिखा है, ‘पाइन्स’। लकड़ी का फाटक खोलता हूँ और गमलों की कतारों के साथ-साथ बरामदे तक पहुँच जाता हूँ। कार्पेट पर हौले-हौले पांच रखता हूँ कि कम आवाज हो। द्वार खटखटाता हूँ और झुकी कमर पर अनुभवी चेहरा इधर बढ़ा आता है। जान लेता हूँ कि यही पुराना नौकर है।

—घर में हैं?

—विटिया को पूछते हो, बेटा?

मैं सिर हिलाता हूँ।

—विटिया नीचे ताल को उतरी थीं, लौटती ही होंगी।

मैं बाहर खुले में बैठा-बैठा प्रतीक्षा करता हूँ। मन्नों अब आ रही है, आनेवाली है, आती ही होगी।

थककर फाटक की ओर पीठ कर लेता हूँ। जब यह सोचूँगा कि वह देर से

आयेगी, तो वह जल्दी आयेगी ।

घोड़े की टाप सुन पड़ती है । अपने को रोक लेता हूँ और मुड़कर देखता नहीं ।

—वावा ।—पुकार का-सा स्वर । लगा कि दो आँखें मेरी पीठ पर हैं । उठा ।

बढ़कर मन्नो की ओर देखा, आँखों में न आश्चर्य था, न उत्कण्ठा थी, न उदासीनता थी । बस, मन्नो की ही आँखों की तरह वे दो आँखें मेरी ओर देखती चली गयी थीं ।

—वावा ।—वूँडा नौकर लपककर घोड़े के पास आया और लाड़ के-से स्वर में बोला—उतरो विटिया, बहुत देर कर दी ।—और हाथ आगे बढ़ा दिया ।

मन्नो सहारा लेकर नीचे उतरी ।—तनिक अम्मा को तो बुलाओ, वावा, मेरा जो अच्छा नहीं ।

—सुख तो है, विटिया ।

चिन्ता का यह स्वर सुनकर विटिया जरा-सा हँस दी, फिर रुककर लम्बी सींस भरकर बोली—अच्छी-भली हूँ, वावा, बड़ी अम्मा से कहो, बिछौना लगा दे ।

वावा ने विटिया के लिए कुर्सी खींच दी । फिर सहमकर पूछा—विटिया, लेटोगी ?

—हाँ, वावा ।

इस बार मन्नो ने वावा की ओर देखा नहीं, जैसे कोई अपराध बन आया हो; फिर मेरी ओर भुक्कर कहा—क्या बहुत देर हुई ?

—नहीं ।—मैं सिर हिलाता हूँ, पर आँखें नहीं ।

इस बार भिन्नक से नहीं, अधिकार से पूछता हूँ—क्या जी अच्छा नहीं ?

मन्नो ने पलभर को थकी-थकी पलकें मूँद लीं और कुछ बोली नहीं ।

बूढ़ी दासी दौड़ी-दौड़ी शाल लिये आयी और कत्थों पर ओढ़कर जैसे अपने को ही दिलासा देने के लिए कहा—मन्नो, ख्याली क्यों घबराने लगी । अभी सब ठीक हुआ जाता है । इनके लिए चाय भेजूँ ?

मन्नो एकदम कुछ कह नहीं पायी । फिर कुछ सोचकर बोली—अम्मा, पूछ देखो । पियेंगे तो नहीं ।

मैं कुछ ठीक-ठीक समझा नहीं । व्यस्त होकर कहा—नहीं, नहीं, मुझे अभी कुछ भी पीना नहीं है ।

मन्नो ने जैसे न सुना, न मुझे देखा ही ।

फिर जैसे अम्मा को मेरे परिचय की गम्भीरता जताने के लिए पूछा—चाची तो अच्छी है ? अभी चाचा लौटे तो न होंगे ?

अम्मा झट समझ गयी, मन्नो की चाची के यहाँ से आया हूँ । बोली—वेटा, आने की खबर देते, तो मन्नो के लिए कुछ मँगवा लेती ।

—बड़ी माँ, अन्दर जाकर देखो न, मैं थकी हूँ, यब बैठूँगी नहीं ।

मैं लज्जित-सा बैठा रहा । कुछ फल ही लिये आता ।

मन्नो कुछ देर मेरे चेहरे पर मेरा मन पड़ती रही, फिर धीमे से ऐसी बोली, मानो मुझसे नहीं, अपने से कहती हो—यहाँ न कुछ लाना ही अच्छा है, न कुछ ले ही

जाना...•

मैं अपनी नासमझी पर पछताकर रह गया ।

मन्नो अन्दर चली, तो साथ ही लिया । कम्बल उठाकर वड़ी माँ ने विटिया को लिटाया, वाल ढीले करते-करते माथे को छुआ और मेरे लिए कुर्सी पास खींचकर बाहर हो गयी ।

—मन्नो...•

मन्नो बोली नहीं । दुबली-सी बाँह तनिक-सी आगे की ओर...•फिर एकाएक कुछ सोचकर पीछे खींच ली...•आज जब स्वयं भी मन्नो-सा बन गया हूँ, सी बार अपने को न्यौछावर कर उसी क्षण को लौटा लेना चाहता हूँ । मैं कुर्सी पर बैठा-बैठा क्यों उस बाँह को छू नहीं सकता था ? क्या उस हाथ को सहला नहीं सकता था ? उमड़ते मन को किसी ने जैसे जकड़कर बहीं, उस कुर्सी पर ठहरा लिया था ।

क्या था उस किझक के में ? क्या था उस किझकनेवाले मन में ? रहा होगा, यही भय रहा होगा, जो अब मुझसे मेरे प्रियजनों को दूर रखता है । उस रात जब जाने गो उठा था, तो आँखों का मोह पीछे बाँधता था, मन का भय आगे खींचता था । और नव जलदी-जलदी चलकर डाक-वँगले में पहुँच गया, तो लगा कि मुक्त हो गया हूँ, क्षण-तण जकड़ते बन्धन से मुक्त हो गया हूँ । उस अभागी रात में जो मुक्ति पायी थी, वह युझे कितनी फली, चाहता हूँ आज एक बार मन्नो देखती तो !

रात-भर ठीक से सो नहीं पाया । बार-बार नींद में लगता कि भुवाली में हूँ । भुवाली में सोया हूँ, वही 'पाइन्स' का बड़ी-बड़ी खिड़कियोंवाला कमरा है । मन्नो के ऊलंग पर लेटा हूँ और पास पड़ी कुर्सी पर बैठी-बैठी मन्नो अपनी उन्हीं दो आँखों से युझे निहारती है । मैं हाथ आगे करता हूँ और वह थोड़ा-सा हँसकर सिर हिला जाती है—नहीं, इसे कम्बल के नीचे कर लो । अब इसे कौन छुएगा ?

—मन्नो !

मन्नो कुछ कहती नहीं, हँस भर देती है ।

रातभर इन दुःस्वप्नों में भटकने के बाद जगा, तो बुग्रा दीख पड़ी ।—कुछ अंथ नहीं लगेगा, रवि ।

उस सुवह फिर मैं रुका नहीं, न डाक-वँगले में, न भुवाली में । वस के अड्डे र पहुँचां, तो धूप में बुझी-बुझी भुवाली मुझे भयावनी लगी । एक बार जी को टोला—'पाइन्स'...•नहीं...•नहीं...•कुछ नहीं...•लौट जाओ ।

घर पहुँचकर बुग्रा मिली । कड़ी चेतावनीवाला रिचार्ड-रिचार्ड चेहरा था । भरपूर भेजे देखकर जैसे साँस रोके पूछा—कहाँ थे कल ?

—रानीखेत तक गया था, बुग्रा ।

—कह तो जाते ।

मैं न जाने किस उलझन में आया था । कहा—कहने को, बुग्रा, था क्या ?

दोपहर में फूफा मिले । कल लौटे थे और सदा की तरह गम्भीर थे । खाना तो उन्हें देखता रहा । एकाएक उन्हें प्लेट पर से आँखें उठाकर बुग्रा की ओर देखते

हुए देखा, तो सचमुच में जान गया कि फूफा के भाई अवश्य ही मन्त्रों के पिता होंगे। दृष्टि में वही ठहराव था, वही अचंचलता थी।

फूफा ने खाने पर से उठते-उठते उलझे-से स्वर में मुझसे पूछा—रवि, बुआ तुम्हारी लखनऊ तक जाना चाहती हैं, पहुंचा आ सकोगे?

—जी, सकूँगा।

मैं, बुआ और वच्चे नैनी से नीचे उत्तर रहे हैं। मैं पीछे की सीट पर बैठा-बैठा विदा हो जाने की आकस्मिकता को सिगरेट के धुएँ में भूल जाने का प्रयत्न करता हूँ। चौड़े भोड़ से बस नीचे की ओर मुड़ी। खिड़की से बाहर देखा, तो पहाड़ की हरियाली में वही कलवाली मुवाली की सफेदी दीख रही थी।

० ०

काठगोदाम से लखनऊ। एक रात बुआ की ससुराल रुककर बुआ से विदा लेने गया, तो बुआ ने पूछा—लौट जाने की सोचते हो, रवि, कुछ दिन यहाँ रुको।

—नहीं, बुआ।

बुआ इस ‘नहीं’ को एकाएक स्वीकार नहीं कर सकी। पास बिठाकर कुछ देर देखती रही। फिर स्नेह से कहा—कहाँ जाओगे…?

—बुआ, कुछ पता नहीं।

बुआ कुछ कहना चाहती थी, पर कह नहीं पा रही थी। कुछ रुकते-रुकते कहा—रवि, तुम्हारे फूफा तो तुम्हारे बापस नैनी लौटने को कहते थे।

—नहीं, बुआ। अब तो दक्षिण जाऊँगा, पिताजी के पास।

बुआ को जैसे विश्वास न हुआ। कुछ याद-सी करती बोली—रवि, इस बार तुम्हें नैनी में अच्छा नहीं लगा।

—नहीं, नहीं, बुआ।

बुआ चाहती थी, मुझसे कुछ पूछे। मैं चाहता था, बुआ से कुछ कहूँ; पर किसी से भी शब्द जुड़े नहीं।

स्टेशन पर जाने लगा, तो बुआ के पांच छूए। बुआ बहुत बड़ी नहीं है मुझसे। पिताजी की सबसे छोटी मौसिरी वहन होती है, पर दिल में कुछ ऐसा-सा लगा कि बुआ का आशीर्वाद चाहता हूँ।

बुआ हैरान हुई, फिर हँसकर बोली—रवि, तुमने पांच छूए हैं, तो आशीर्वाद जरूर दूँगी… बहुत सुन्दर वहू पाओ।

मैं न हँसा, न लजाया। बुआ चुप-सी रह गयी। जिस नटखट भाव से वह कुछ कह गयी थी, उसे मानो अनदेखे संकोच ने धेर लिया।

टिकट लिया, कुली के पास सामान छोड़ प्लेटफार्म पर धूमने लगा। आमने-सामने कोई गाड़ी नहीं थी। लाइनों पर विछेखालीपन ने उलझे मन को एकाएक खोल दिया। जो कुछ भी सोच रहा था, सोचता चला गया। मन न मुवाली पर अटका, न ‘पाइन्स’ पर, न मन्त्रो पर। पिछला सब बीत गया लगा। बुआ का आशीर्वाद कल्पना में मुखर आया। घर होगा, घर की रानी होगी, मैं होऊँगा…

बुआ का आशीर्वाद भूठ नहीं निकला। सच में ही मेरा घर बना। सुन्दर घरनी आयी, उसे मैं ही व्याहकर लाया। पर उस दिन जहाँ का टिकट ले लिया था, वहाँ की गाड़ी मुझे खींचकर उस प्लेटफार्म पर से ले जा नहीं सकी।

गाड़ी आ लगी है। कुली सामान लगाता है और मैं बाहर खड़े-खड़े देखता हूँ—
मुसाफिर, कुली, सामान, बच्चे, बूढ़े…

“साहिव, गाड़ी छूटने में दस मिनट हैं।”

मैं अपनी घड़ी देखता हूँ, और सिर हिला देता हूँ कि मैं जानता हूँ।

कुली फिर एक बार अन्दर जाकर असवाव ऊपर-नीचे करता है और साफा ठीक करते हुए बाहर निकलकर कहता है—हरी बत्ती हो गयी है, साहिव।

बत्ती की ओर देखता हूँ और देखता चला जाता हूँ, वही कद है, वही दुबली-पतली देह, वही धुला-धुला-सा चेहरा, वही… वही…

आवेश से कहता हूँ—कुली, सामान उतार लो।

—साहिव।

—जलदी करो, जलदी।

कुली फिर मेरे सामान के साथ है। टिकट वापस कर नया ले लिया। स्टेशन से फल के टोकरे बैंधवाये, चाय पी और बरेली के लिए गाड़ी में जा बैठा। जहाँ मुझे जाना है, वहाँ जाकर हटूंगा, जब मैं नहीं रुकता हूँ तो मुझे कौन रोकेगा? क्यों रोकेगा?

००

घर में आगे लॉन में बैठा सर्दियों की ढलती धूप में अलसा रहा हूँ। अन्दर से माँ निकली और पास बैठते हुए कहा—वेटा, इस बार छुट्टी में आ ही गये तो ठहर जाओ। बार-बार इन्कार करना अच्छा नहीं लगता।

माँ की बात सुनकर मैं सयाने वेटे की तरह हँसता हूँ और मन-ही-मन सोचता हूँ कि माँ कितना ठीक कहती है। अपनी नौकरी पर रहता हूँ और अकेले आदमी के खर्च से कहीं अधिक कमाता हूँ, फिर क्यों इन्कार करूँगा? माँ की आशा के विपरीत बड़ी आवाज में कहता हूँ—माँ, जो तुम्हें रुचे, वही मुझे भायेगा।

—वेटा, लड़की देखना चाहोगे?

—हाँ, माँ।

लगा, माँ मन-ही-मन हँसी।

खाने के बाद रात को घूमकर आया, तो कमरे में शान्ति थी, मन में शान्ति थी। किसी को देखने के लिए कॉलेज के दिनोंवाली उतावली जिज्ञासा मन में नहीं रह गयी थी। लगा कि अकेले रहते-रहते किसी के संग की आशा नहीं कर रहा, उसे तो अपना अधिकार करके मान रहा हूँ।

हाथ में किताब लेकर रात को लेटा, तो पढ़ते-पढ़ते ऊब गया। आँखों के औंधेरे में देखा, किसी पहाड़ पर चढ़ा जा रहा हूँ। दूर चीड़ के बेड़ों के झुण्ड-के-झुण्ड दीखते हैं, घासमान सब सुनसान है, अपनी पदचाप के सिवाय कोई आवाज नहीं। एकाएक किसी का स्वर गूंजता है, इधर…उधर…और अँधेरे में हिलता एक हाथ आ-

आता है मेरे गले की ओर...निकट...और निकट...

दुबली कलाई...पतली औंगुलियाँ...मैं डरता हूँ...पीछे हटता हूँ और घबराकर आँखें खोल देता हूँ।

उठा, खिड़की का परदा उठाकर बाहर भर्का। लॉन के दाहिने हरी धास पर पिताजी के कमरे की लाइट फैली थी। सँभला। लम्बी साँस लेकर वालों को छुआ, तो माथा ठण्डा लगा। भयावना सूनापन और आँधेरे में वह हाथ...वह हाथ...

मन से जिसे भूल चुका हूँ, उसे आज ही याद क्यों आना था...क्यों याद आना था...क्यों दीख जाना था उस हाथ को, जो वर्षे गये 'पाइन्स' की उत्तराई से उत्तरते-उत्तरते मैंने अन्तिम बार देखा था? छुआ था, नहीं कहूँगा, क्योंकि असंख्य बार सोच-सोचकर छू-भर लेने के लिए वाँह आगे करनी, छू लेना नहीं होता।

महीना-भर नैनी में रहते हुए बार-बार मुवाली से लौटने के बाद जब अन्तिम बार मैं मन्नों के पास से लौटा था, तो लौट-लौटकर उस लौटने को न लौटना करना चाहता था। तीन बार नीचे उतरा था और तीन बार मुड़कर ऊपर गया था।

मन्नों शाल में लिपटी आरामकुर्सी पर अधलेटी थी। पास खड़े होकर उसकी चुप्पी को जैसे उस पर से उतार देने को, उदास स्वर में कहा—कल तो नैनी से नीचे उतर जाऊँगा।

मन्नों ने नीचे फैले शाल को सहज-सहज सहेजा। एक महीने पहलेवाली दृष्टि मुख पर लौट आयी। वही पराया-सा देखना, वही दूर-दूर-सा लगता चेहरा...

मन्नों...चाहता हूँ, मन्नो से कुछ तो कहूँ, पर क्या कहूँ। यह कि जल्दी लौटूँगा।

क्षण-क्षण अपने से कहता हूँ, आऊँगा, फिर आऊँगा, पर जिस निगाह से मन्नों मुझे देखती है, वह जैसे बिना बोल के यह कहे जा रही है कि अब तुम यहाँ नहीं आओगे।

—मन्नो।

—रवि!—और, और बस कठिन-सी होकर थोड़ा-सा हँसी और हाथ जोड़ दिये—

नमस्कार।

इन जुड़े-जुड़े हाथों को देखता रहा। जरा-सा आगे बढ़ा कि बिदा लूँ, बिदा दूँ, पर न जाने क्यों खड़ा-का-खड़ा रह गया।

समझाने के-से स्वर में मन्नो बोली—देरी होती है, रवि।

जी भरकर देखनेवाली अपनी आँखों को झुकाकर मैं जल्दी-जल्दी नीचे उतर गया।

मैं फिर लौटूँगा...फिर...पर क्या सदा के लिए चला जा रहा हूँ...

मुड़कर पीछे देखा और खिचकर ठिठक गया। मन्नो वहीं, उसी मुद्रा में बैठी थी।

मानो वह जानती थी कि लौटूँगा। साथ पड़ी कुर्सी की ओर संकेत कर कहा—बैठो, रवि!—स्वर में न व्यथा थी, न संग छूटने की उदासी थी, न मेरे आने पर आश्चर्य था। आँखों-ही-आँखों में कुछ ऐसा देखा, जैसे पूछती हो—कुछ कहता है?

मैं अपने को बच्चे की तरह ढोटा करके कहता हूँ—मन्नो, मन नहीं होता

जाने को ।

मन्नो कुछ देर देखती रही । मैं चाहता हूँ, मन्नो कुछ भी कहे, कहे तो...

एक छोटी-सी साँस जैसे छोटी-से-छोटी घड़ी के लिए उसके गले में अटकी, फिर, फिर घने स्वर में कहा—एक-न-एक बार तो तुम्हें चले ही जाना है, रवि...

मैं हाथों से घेरकर उस देह को नहीं, तो उस स्वर को छू लेना चाहता हूँ, चूम लेना चाहता हूँ ।—मन्नो !—आगे बढ़ता हूँ, कुछ रोक लेने की, याम लेने की मुद्रा में मन्नो दोनों हाथ आगे डाल देती है, बस ।

—मन्नो !—अपना अनुरोध उस तक पहुँचाना चाहता हूँ ।

—नहीं ।—इस ‘नहीं’ के आगे नहीं है, और कुछ नहीं ।

मन्नो दुवला-सा हाथ हिलाकर आँखों से मुझे विदा देती है और मैं विवश-सा, व्यर्थ-सा नीचे उत्तरता हूँ ।

आँखों पर धुन्ध-सी उमड़ आती है, सँभलता हूँ, सँभलता हूँ और एक बार फिर पीछे देखता हूँ ।

विलक्षण ऐसे लगता है कि किनारे पर खड़ा हूँ और किश्ती में बैठी मन्नो वही चली जा रही है...“वह मुझे नहीं देखती, नहीं देखती, उसकी आँखों के आगे उसके अपने हाथों की रोक है, अपने हाथों की ओट है ।

हाथों पर टिका मन्नो का सिर नीचे झुका है, आँखें शायद बन्द हैं, शायद गीली हैं । उस कड़े आहत अभिमान की बात सोचकर छटपटाता हूँ ।

कदम उठाकर फाटक के पास पहुँचा, तो सिसकियाँ सुनकर रुक गया ।

मन-ही-मन दुहराकर कहा—मन्नो !...मन्नो !...

इसी पुकार को पलटकर जैसे उत्तर आया—ठहरो नहीं ! रुको नहीं !

सच ही मैं ठहरा नहीं । उत्तरता चला गया और हर पग के साथ दूर होता चला गया, उस काटेज से, काटेज में रहनेवाली मन्नो से, मन्नो की उन दो आँखों से...पर मन्नो की स्मृति से नहीं । मन्नो की याद मुझे आज भी आती है। आज भी वह याद आती है, वह दुपहरी, जब मन्नो और मैं उस बड़ी भील के किनारे से लगी पगड़ण्डी पर धूमते रहे थे । मीठा-मीठा-सा दिन था । पहली बार उस पीले चेहरे की मिठास के सम्मुख मैं पानी-सा वह गया था । एकटक उन धुंधराले बालों को देखता रह गया था । और देखता गया था शाल में लिपटे उन कब्जों को, जो पैरों की धीमी चाल से थककर भी झुकते नहीं थे ।

परिक्रमा का अन्तिम मोड़ आया, तो वहुत बड़े घने वृक्ष के नीचे देवी के दो छोटे-छोटे मन्दिर दिखे । टीन के कपाट बन्द थे । कुछ अधिक न सोचकर आगे बढ़न को हुआ कि मन्नो को देखकर रुक गया । खड़ी-खड़ी कुछ देर सोचती रही । फिर जूते उतार नंगे पांव किनारे के पत्थरों से नीचे उत्तर गयी । बड़े-से पत्थर पर पांव जमाया और झुककर डंठल से कमल तोड़ बापिस लौट आयी । मैं तो कुछ सोच नहीं रहा था, बस, देखता चला जा रहा था । शाल सिर पर कर लिया था और उन नन्त कपाटों के आगेवाली दहलीज पर फूल रखकर सिर नवा दिया ।

मन्दिर के बन्द कपाटों के आगे माथा टेक उठी, तो मानो मन्नो-सी नहीं लग रही थी। ऐसे दिखा कि यह भुकी छाया मन्नो नहीं, कोई व्यर्थ ही गयी विवशता हो, जिसने भाग्य के इन बन्द कपाटों के आगे माथा टेक दिया था। इस निर्मम अकेले-पन के लिए मन में ढर-सा दर्द उठ आया। वहते-से स्वर में कहा—दर्शन करने का मन हो, मन्नो, तो किसी से पुजारी का स्थान पूछूँ ?

मन्नो ने कुछ कहने से पहले स्वर को सँभाला, फिर सिर हिलाकर कहा—नहीं, रवि, ऐसा कुछ नहीं। मुझे कौन वरदान माँगने हैं। अपने लिए तो कपाट बन्द हो गये हैं। वस, इतना ही चाहती हूँ, यह कपाट उनके लिए खुले रहें, जिनसे विछुड़-कर में अलग आ पड़ी हूँ।

मन्नो को छूने का भय, उसके रोग का भय, जो अब तक मुझे रोकता था, वाँधता था, अलग जा पड़ा। भील की ठंडी हवा में फहराते-से धुंधराले वालों पर झुककर वाँह से घेरते हुए कहा—मन्नो ! …

मन्नो चाँकी नहीं। कन्धे पर पड़ा हाथ धीरे से अलग कर दिया और समूची आँखों से देखते हुए बोली—रवि, जिसे तुम भेल नहीं सकते, उसके लिए हाथ न बढ़ाओ !

आवाज में न उलाहना था, न व्यंग्य था, न कटूता। वस, जो कहने को था, वही कहा गया था। इस कहने का उत्तर में उस दिन नहीं दे पाया। वार-वार मन्नो के पास जाने पर भी नहीं दे पाया और नहीं दे पाया विदा के उन क्षणों में, जब मन्नो को रोता छोड़, में अन्तिम दार 'पाइन्स' की उतराई उतरता चला गया था। जिस द्रुवंलता से कायर बनकर डरा था, वह आज अपने पर ही बीत गयी है। आज अपने लिए, मन्नो के लिए उस कायरता को कोसता हूँ।

० . ०

घर में चहल-पहल थी। माँ को सुन्दर वहू मिली, मुझे भली संगिनी। भोले-पन से मुसकराती मीरा को देखता हूँ, तो कहीं खो जाने को मन चाहता है। लेकिन अब खोड़ंगा क्यों? अब तो वैध गया हूँ, बैधा ही रहूँगा। आस-पास नाते-रिश्ते हैं, मित्र-वन्धु हैं। व्याहवाले घर के ऊंचे कहकहे सुनकर खुशी से मन उमड़-उमड़ जाता है। कैसा आयोजन है यह भी! एक दिन जो बात शुरू हो जाती है, उसे सम्पूर्णतया पूर्ण कर दिया जाता है। इतने समूचे मन से व्याह के सिवाय और क्या होता है, जो सम्पन्न होकर एक टेक पर, एक विराम पर पहुँच जाता है। तन-मन, घर-द्वार, अन्दर-बाहर—सब एक ही प्यार में भीग जाते हैं। कल मीरा को लेकर समुद्र-किनारे चला जाऊँगा। महीना-भर रुककर वहाँ के लिए प्रस्थान करेंगे, जहाँ अब तक में बेघर-सा होकर रहता रहा हूँ।

० . ०

उस अपार, असीम सागर के किनारे एक-दूसरे पर छा-छा जाते हम धंटों धूमते रहे। बीच-बीच में ठहरते और मोहवा एक-दूसरे में छिपे अपने-अपने प्यार को चूमते। सुवह-शाम, दिन-रात कहाँ छिपते, कहाँ डवते। यह दम लेख-लेखकर भी नहीं देखते थे।

इसके बाद, प्रहरों की तरह बीत गये वे दस वर्ष । संग-संग लगे विछोह से दूर मरन दिन-रात । मीरा और बच्चों से दूर इस काटेज में पड़ा-पड़ा आज भी पीछे लौटता हूँ, तो बहुत निकट से किसी साँस का स्वर सुनता हूँ ।

हम कितने सुखी हैं, कितने ! चाहता हूँ, किसी की आँखों में देखकर इसका उत्तर दूँ । किसी को छूकर कुछ कहूँ, पर सुननेवाला कोई पास नहीं । बच्चों के लिए मीरा ने मेरा मोह छोटा कर लिया ।

गये महीने रानीखेत जाते मीरा बच्चों के संग घंटे-भर को यहाँ रुकी थी । चरामदे में लेटे-लेटे उन तीनों को ऊपर आते देखता रहा । फाटक पर पहुँचकर मीरा पल-भर को ठिठकी थी । फिर दोनों हाथों से बच्चों को घेरे अन्दर ले आयी ।

—मुन्ना, रानी, प्रणाम करो, वेटा ।

५

बच्चों के भिखक से बँधे हाथ मेरी ओर उठे ।

देखकर कण्ठ भर आया । मेरा भाग्य मुझसे दूर, मुझसे अलग जा पड़ा है । मेरे ही बच्चे आश्चर्य की दृष्टि से मुझे देख माँ की आज्ञा का पालन कर रहे हैं ।

मीरा जब तक रही, आँखें पोंछती रही । कुछ कहने को, कुछ पूछने को उसका स्वर बँधा नहीं । अपने सुन्दर सुकुमार बच्चों को अपने ही डर के कारण पूरी तरह निरख नहीं पाया । केवल मीरा की ओर देखता रहा कि जो आज मुझे मिलने आयी है, उसमें मेरी पत्नी कहाँ है, कहाँ है वह जो सचमुच में मेरी थी ।

भरी आँखों से मीरा की कलाई की घड़ी देखने की निटुराई से आहत हो मैं फटी-फटी, रुखी दृष्टि से फाटक की ओर देखने लगा कि मेरा ही परिवार कुछ क्षण में मुझे यहाँ अकेला छोड़, मुझसे दूर चला जायेगा । एक बार मन हुआ कि बच्चों को पकड़नेवाली उन दो वाँहों को अपनी ओर खींचकर कहूँ—मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा । नहीं जाने दूँगा ! —पर बच्चों वी छोटी-छोटी आँखों का अपरिचय उस आवेश को दूर तक काटा चला गया ।

चौंककर देखा, मीरा पास आकर झुकी और अवरों से मस्तक छूकर हौले से पीछे हट गयी । उठ बैठा कि एक बार प्यार दूँ, एक बार प्यार लूँ… कि हाथों में मुँह छिपा रोते-रोते मीरा इन वाँहों से आ लगी ।

मीरा की आँखों से भीगी अपनी रोती आँखों को पोंछकर आस-पास देखा, तो दूरा वाँध सब कुछ बहा ले गया था । न पास मीरा थी, न बच्चे…

तकियों के सहारे सिर ऊँचा करके देखा, उत्तराई के तीसरे मोड़ पर तीनों चले जा रहे थे । मीरा मेरी ओर से पीठ मोड़ आगे की ओर झुकी थी, बच्चे एक-दूसरे की आँगुली पकड़े कभी माँ को देखते थे, कभी राह को ।

साँस रोके प्रतीक्षा करता रहा, पर किसी ने पीछे नहीं देखा, न मीरा ने, न मेरे देटे ने… केवल छोटी रानी के बालों में गुंथा गुलाबी रिवन देर तक हिल-हिलकर मेरी आँखों से कहता रहा—पापा, हम चले गये ! पापा, हम चले गये !

० ०

सच ही सब चले गये हैं । इसलिए नहीं कि उन्हें जाना था, इसलिए कि मैं

चला जा रहा हूँ । ऐसे ही एक दिन मनो के जाने को भाँपकर मैं उत्तराई से उत्तरता चला गया था । मेरी ही तरह अकेले मैं मनो रोयी थी । अब जान पाया हूँ कि हाथों में मुँह छिपाकर वह रोना कितना अकेला था ! पर इस बार जाकर वरसों मैंने मनो की सुधि नहीं ली । जब कभी नींद में देखता, वह दुबली देह, बड़ी-बड़ी आँखें आर कम्बल पर फैली पतली-पतली वांहें, तो जागकर उट्टेंग से मीरा की ओर बढ़ जाता ।

एक बार दौरे पर लखनऊ आया, तो बुआ मिली । देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद एकाएक स्वर बदलकर बोली—रवि, मनो तो श्रव नहीं रही ।

—नहीं, बुआ ।—मैं पिता हो जाने के गम्भीर्य को सेंभालते कहता हूँ—नहीं, बुआ…

बुआ जैसे मुझे कहीं वर्षों पहले के उस रवि को कहती है—रात को सोया तो जगी नहीं । अम्मा छुट्टी पर थी । सुबह-सुबह रुथाली अन्दर आया, तो सांस चुक गयी थी ।

मैं रुधे गले से जैसे कुछ पूछने को कहता हूँ—बुआ ।

बुआ आँख पोंछती-पोंछती कुछ सोचती रही, फिर दर्द से बोली—रवि, एक बार उसे पत्र तो लिखते ।

मैं रुमाल से रुलाई सोखने लगा ।

—तुम्हारे नाम का एक पारसल छोड़ गयी थी आलमारी में । खोला, तो जर्सी थी ।

दूसरे दिन बुआ के पास फिर आया, तो जल्दी-जल्दी पाँव छूकर कहा—श्रच्छा, बुआ…

—रवि ।—बुआ की वही कलवाली आवाज थी । मैंने सिर हिलाकर घोर विवशता के-से स्वर में कहा—नहीं, बुआ, नहीं ।

बुआ समझ गयी, मैं कुछ भी जानना नहीं चाहता हूँ । पर जैसे मन-ही-मन मनो के लिए टूटकर बोली—यही बार-बार सोचती हूँ कि जिसके प्यार को भी कोई न छू सके, ऐसा दुर्भाग्य उसे क्यों मिला, क्यों मिला ?

○ ○

लखनऊ से लौटकर मैं कई दिन मन से मनो को उतार नहीं पाया । यही देखता कि 'पाइंस' में कुर्सी पर बैठी वह मेरे लिए जर्सी तैयार कर रही है, वही हाथ हैं, वही दृष्टि है…

○ ○

ओर एक दिन सालभर घर में बीमार रहने के बाद मैं मुवाली पहुँच गया । वही चीड़ी की ठंडी हवाएँ थीं, वही सुहानी धूप थी । वही मुवाली थी ओर वही मैं था । पर इस बार किसी का पता करने मुझे पोस्ट ऑफिस की ओर नहीं जाना था । 'पाइंस' के सामनेवाले पहाड़ पर किसी के अभिशाप से बनी काटेज में पहली बार सोया, तो भर-भर आते कण्ठ से रातभर एक ही नाम पुकारता रहा—मनो…मनो ! …आज वह होती…होती तो…

हर रोज़ सुवह उठते वरामदे से 'पाइन्स' देखता हूँ और मन-ही-मन पुकारता हूँ—मन्नो ! ...मन्नो ! ...

जिस मीरा को मैंने वर्षों जाना है, वह अब पास-सी नहीं लगती, अपनी-सी नहीं लगती। उसे मैं छू-छूकर छुआ था, चूम-चूमकर चूमा था, पर मन पर जब मोह और प्यार की उछलन आती है, तो मीरा नहीं, मन्नो की आँखें ही सगी दीखती हैं।

खिड़की के सामने लेटे-लेटे, अकेलेपन से घवराकर जब मैं बाहर देखता हूँ, तो धून्धभरे वादलों के घेरों में घुँघराले वालोंवाला वही चेहरा दीखता है, वही...

आये दिन दवा के नये वदलते हुए रंग देखकर अब इतना तो जान गया हूँ कि इस छूटते-छूटते तन में मन को बहुत देर भटकना नहीं है। एक दिन खिड़की से बाहर देखते-देखते इन्हीं वादलों में समा जाऊँगा...इन्हीं घेरों में...

खोयी हुई दिशाएँ

सड़क के मोड़ पर लगी रेलिंग के सहारे चन्द्रर खड़ा था। सामने दायें-वायें आदमियों का सैलाब था। शाम हो रही थी और कनॉट प्लेस की बत्तियाँ जगभगाने लगी थीं। थकान से उसके पैर जवाब दे रहे थे। कहीं दूर आया-गया भी तो नहीं, फिर भी थकान सारे शरीर में भरी हुई थी। दिल और दिमाग़ इतना थका हुआ था कि लगता था वही थकान धीरे-धीरे उत्तरकर तन में फैलती जा रही है।

पूरा दिन वरचाद हो गया, यही खड़ा सोच रहा था। घर लौटने को भी मन नहीं कर रहा था। आती-जाती एक-सी औरतों को देखकर मन और भी ऊबने लगता था।

भूख...पता नहीं लगी है या नहीं। वह दिमाग पर जोर डालता है—सबेरे आठ बजे घर से निकला था। एक प्याली काँकी के श्लावा तो कुछ पेट में गया नहीं... और तब उसे अहसास हुआ कि थोड़ी-थोड़ी भूख लग रही है। दिमाग और पेट का साथ ऐसा हो गया है कि भूख भी सोचने से लगती है।

निगाह दूर आसमान पर अटक जाती है, जहाँ चीलें उड़ रही हैं और मोजे की शक्ल में कटा हुआ आसमान दिखायी दे रहा है। उस गर्दले आसमान के नीचे जामा मस्जिद का गुम्बद और मीनार दिखायी पड़ रहा है, उसकी नीकें बड़ी अजीब-सी लग रही हैं।

पीछेवाली दूकानों के बाहर चौलियों का विज्ञापन है। रीगल बस स्टॉप के नीम के पेड़ों से धीरे-धीरे पत्तियाँ झड़ रही हैं। वसें जूँ-जूँ करती आती हैं—एक क्षण ठिठकती हैं—एक और से सवारियों को उगलती हैं और दूसरी और से निगलकर आगे बढ़ जाती हैं। चौराहे पर बत्तियाँ लगी हैं। बत्तियों की आँखें लाल-पीली हो रही हैं। आस-पास से सैकड़ों लोग गुज़रते हैं पर कोई उसे नहीं पहचानता। हर आदमी या औरत लापरवाही से दूसरों को नकारता या झूठे दर्प में डूवा हुआ गुज़र जाता है।

और तब उसे अपना वह शहर याद आता है जहाँ से तीन साल पहले वह चला आया था—गंगा के सुनसान किनारे पर भी अगर कोई अनजान मिल जाता तो उसकी नज़रों में पहचान की एक झलक तैर जाती थी।

और यह राजधानी ! जहाँ सब अपना है, अपने देश का है...पर कुछ भी अपना नहीं है, अपने देश का नहीं है।

तमाम सड़कें हैं जिन पर वह जा सकता है, लेकिन वे सड़कें कहीं नहीं पहुँचातीं। उन सड़कों के किनारे घर हैं, वस्तियाँ हैं पर किसी भी घर में वह नहीं जा सकता। उन

घरों के बाहर फाटक हैं, जिन पर कुत्तों से सावधान रहन की चेतावनी है, फूल तोड़ने की मनाही है और घंटी बजाकर इन्तजार करने की मजबूरी है।

० ०

“...घर पर निर्मला इन्तजार कर रही होगी। वहाँ पहुँचकर भी पहले मेहमान की तरह कुर्सी पर बैठना होगा, क्योंकि विस्तर पर कमरे का पूरा सामान सजा होगा और वह हीटर पर खाना पका रही होगी। उन्मुक्त होकर वह हवा के झोंके की तरह कमरे में घुस भी नहीं सकता और न उसे बाँहों में लेकर प्यार ही कर सकता है, क्योंकि गुप्ताजी अभी मिल से लौटे नहीं होंगे और मिसेज गुप्ता वेकारी में बैठी गप लड़ा रही होंगी या किसी स्वेटर की बुनाई सीख रही होंगी। अगर वह चला भी गया तो कमरे में बहुत अंदर से घुसेगा, किर मिसेज गुप्ता से इंधर-उधर की दो-चार बातें करेगा। तब बीबी खाना खाने की बात कहेगी। और खाने की बात सुनकर मिसेज गुप्ता घर जाने के लिए उठेंगी...

और किर उसके बाद बड़ी खिड़की का परदा खिसकाना पड़ेगा। किसी बहाने खुराना की तरफ वाली खिड़की को बन्द करना पड़ेगा। धूमकर मेज के पास पहुँचना होगा और तब पानी का एक गिलास माँगने के बहाने वह पत्नी को बुलायेगा, और तब उसे बाँहों में लेकर प्यार से यह कह सकने का मौका आयेगा—बहुत थक गया हूँ।

लेकिन ऐसा होगा नहीं। इतनी लम्बी प्रक्रिया से गुज़रने के पहले ही उसका मन भूंफला उठेगा और यह कहने पर मजबूर हो जायेगा, “अरे भई, खाने में कितनी देर है?” सारा प्यार और समूची पहचान न जाने कहाँ छिप चुकी होगी, अजीब-सा विगानापन होगा। वेकरीवालों के यहाँ भर्यायी आवाज़ में रेडियो गा रहा होगा और गुलाटी के थके कदमों की खोखली आवाज जीने पर सुनायी पड़ेगी।

गली में कोई स्कूटर आकर रुकेगा और उसी में से कोई विन-पहचाना आदमी किसी और के घर में चला जायेगा। मोटरों की मरम्मत करनेवाले गैरेज का मालिक सरदार चावियाँ लेकर घर जाने के इन्तजार में आधी रात तक बैठा रहेगा क्योंकि उसे पन्द्रह साल पुराने मैकेनिक पर भी शायद विश्वास नहीं है।

और सामने रहनेवाले विशन कपूर के आने की आहट-भर मिलेगी। पिछले दो साल से उसने सिर्फ़ उसके नाम की प्लेट देखी है—विशन कपूर जर्नलिस्ट... और उसकी शक्ति के बारे में वह सिर्फ़ यह जानता है कि सामनेवाली खिड़की से जब विजली की रोशनी छनने लगती है और सिगरेट का धुआँ सलाखों से लिपट-लिपटकर बाहर के अँधेरे में डूब जाता है तो विशन कपूर नाम का एक आदमी भीतर होता है और सुबह जब उसकी खिड़की के नीचे अण्डे का छिलका, डबलरोटी का रैपर और जली हुई सिगरेटें, तीलियाँ और राख विखरी हुई होती हैं तो विशन कपूर नाम का आदमी जा चुका होता है।

सोचते-सोचते उसे लगा कि मोजे की बद्दू और भी तेज़ होती जा रही है और अब रेलिंग के पास खड़ा रहना मुश्किल है। जेव से डायरी निकालकर उसने अगले दिन की मुलाकातों के बारे में जान लेना चाहा।

“अँग्रेजी दैनिक में पहले फोन करना है, किर समय तय करके मिलना है। रेडियो में एक चक्कर लगाना है। पिछला चेक रिजर्व बैंक से कैश कराना है और घर एक-

मनीश्रॉर्डर भेजना है। कल का पूरा वक्त भी इसी में निकल जायेगा, क्योंकि अखबार का सम्पादक परिचित नहीं है जो फ़ीरन बुला ले और खुलकर बात कर ले, और कोई बात तय हो जाये। रेडियो में भी कोई बात दस मिनट में तय नहीं हो सकती और रिजर्व बैंक के काउंटर पर इलाहाबादवाला आमरनाथ नहीं है, जो फ़ीरन चेक लेकर रूपया ला दे। डाकखाने पर व्यापारियों के चपरासियों की भीड़ होगी जो दस-दस मनीश्रॉर्डर के फार्म लिये लाइन में खड़े होंगे और एक कागज पर पूरी रकम और मनीश्रॉर्डर कमीशन का मीजाज लगाने में मशगूल होंगे। उनमें से कोई भी उसे नहीं पहचानता होगा।

एक क्षण की जान-पहचान का सिलसिला सिर्फ़ पैन होगा, जो कोई-न-कोई दो हृष्ट लिखने के लिए मार्गिगा और लिख चुकने के बाद अपना खत पढ़ते हुए वह वाये हाथ से उसे क़लम लौटाकर शायद धीरे से थैंक्यू कहेगा और टिकिटवाले काउंटर की ओर चढ़ जायेगा।

और तब उसे झुंझलाहड़-सी हुई। डायरी हाथ में थी और उसकी निगाहें फिर दूर की ऊँची इमारतों पर अटक गयी थीं, जिस पर विजली के मुकुट जगमगा रहे थे। और उन नामों में से वह किसी को नहीं जानता था। इलाहाबाद में सबसे बड़े कपड़े वाले के बारे में इतना तो मालूम था कि पहले वह बहुत गरीब था और कधेरे पर कपड़ा रखकर फेरी लगाता था और अब उसका लड़का विदेश पढ़ने गया हुआ है और चह खुद बहुत धार्मिक आदमी है जो अब माथे पर छापा-तिलक लगाकर मनमाना मुनाफ़ा चमूल करता है और कार्पोरेशन का चुनाव लड़ने वी तैयारियाँ कर रहा है। यहाँ कुछ भी पता नहीं चलता, किसी के बारे में कुछ भी मालूम नहीं पड़ता।

कनॉट प्लेस में खुले हुए लॉन हैं। तनहा पेड़ हैं और उन दूर-दूर खड़े तनहा पेड़ों के नीचे नगर-निगम की बैंचें हैं, जिन पर थके हुए लोग बैठे हैं और लॉन में एकाध बच्चे दौड़ रहे हैं। बच्चों की शक्लें और शरारतें तो बहुत पहचानी-सी लगती हैं, पर गोलगप्पे खाती हुई उनकी मम्मी अजनवी है, क्योंकि उसकी आँखों में मासूमियत और गरिमा से भरा प्यार नहीं है। उसके शरीर में मातृत्व का सौन्दर्य और दर्प भी नहीं है, उसमें सिर्फ़ एक खुमार है और एक बहुत बेमानी और पिटी हुई ललकार है; जिसे न तो नकारा जा सकता है और न स्वीकार किया जा सकता है—वह ललकार सब कानों में गूँजती है और सब वहरों की तरह गुजर जाते हैं।

० ०

लॉन पर कुछ क्षण बैठने को मन हुआ पर उसे लगा कि वहाँ भी कोई ठिकाना नहीं, अभी कल ही तो चोर की तरह दबे पांव घास में बहता हुआ पानी आया था और उसके कपड़े भीग गये थे।

तनहा खड़े पेड़ों और उनके नीचे सिमटते अँधेरे में अजीब-सा खालीपन है। तनहाई ही सही पर उसमें अपनापन तो हो। वह तनहाई भी किसी की नहीं है योंकि हर दस मिनट बाद पुलिस का आदमी उधर से घूमता हुआ निकल जाता है। भाड़ियों की सूखी टहनियों में आइसकीम के खाली कागज और चने वी खाली पुड़ियाँ उलझी हुई हैं या कोई बेघर-बार आदमी धराव की खाली बोतल फेंककर चला गया है।

डायरी पर फिर उसकी नज़र जम जाती है, ... और शोर-शारवे से भरे उस सैलाब में वह बहुत अकेला-सा महसूस करता है और लगता है कि इन तीन सालों में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ जो उसका अपना हो, जिसकी कचोट अभी तक हो, खुशी या दर्द और भी मौजूद हो, रेगिस्तान की तरह फैली हुई तनहाई है, अनजान सागर-तटों की खामोशी और सूनापन है और पछाड़ खाती हुई लहरों का शोर-भर है जिससे वह खामोशी और भी गहरी होती है।

मोजे की शक्ल में कटा हुआ आसमान है और जामा मस्जिद के गुम्बद के ऊपर चक्कर काटती हुई चीलें हैं। औरतों का पीछा करते हुए फूल बेचनेवाले और यतीम बच्चों के हाथ में शाम की खबरों के अखबार हैं।

... और तभी चन्द्रक को लगा कि एक अरसा हो गया, एक जमाना गुजर गया, वह खुद अपने से नहीं मिल पाया। अपने से बातें करने का बक्त नहीं नहीं मिला। यह भी नहीं पूछा कि आखिर तेरा हाल-चाल क्या है और तुझे क्या चाहिए? हल्की-सी मुसकराहट उसके होंठों पर आयी और उसने हर शुक्रवार के आगे नोट किया—खुद से मिलना है। शाम सात बजे से नौ बजे तक... और आज भी तो शुक्रवार ही है। यह मुलाक़ात आज ही होनी चाहिए। घड़ी पर नज़र जाती है, सात बजा है। पर मन का चोर हावी हो जाता है। क्यों न टी-हाउस में एक प्याला चाय पी ली जाये? न जाने क्यों मन अपने-से मिलने में घबराता है। रह-रहकर कतराता है।

तभी उस पार से आता हुआ आनन्द दिखायी देता है। वह उससे भी नहीं मिलना चाहता। बड़ा बुरा मर्ज़ी है आनन्द को। वह उस छृत से बचा रहना चाहता है। आनन्द दुनिया में दोस्त खोजता है, ऐसे दोस्त जो जिन्दगी में गहरे न उतरें पर उसके साथ कुछ देर रह सकें और बात कर सकें। उसकी बातों में अजीब-सा बनावटीपन है, वह बनावटीपन जो आदमी किताबों से सीखता है। और उसे लगता है कि वही बनावटीपन खुद उसमें भी कहीं-न-कहीं है... जब कॉलेज और यूनिवर्सिटी के दर्जों में बैठ-बैठकर वह किताबों से जिन्दगियों के मरे हुए व्यौरे पढ़ रहा था।

और अब आज उसे लगता है कि वह सारा बक्त बड़ी बेरहमी से बरवाद किया गया है। उसने उन खण्डहरों में समय बरवाद किया है जिनकी कथाएँ अधपढ़े गाइडों की जबान पर रहती हैं, जो हर बार उन मरी हुई कहानियों को हर दर्शक के सामने ढोहराते जाते हैं—यह दीवाने-खास है, जरा नक़्काशी देखिए... यहाँ हीरे-जवाहरातों से जड़ा सिंहासन था, यह जनाना हमाम है और यह वह जगह है, जहाँ से बादशाह अपनी रिआया को दर्शन देते थे... यह महल सर्दियों का है, यह बरसात का और यह हवादार महल गर्मियों का... और इधर आइए, सँभल के... यह वह जगह है जहाँ फँसी दी जाती थी...

चन्द्रको लगा, जिन्दगी के पचीस साल वह उन गाइडों के साथ खण्डहरों में बिताकर आया है जिनकी जीवन्त कथाओं को वह कभी नहीं जान पाया, सिर्फ़ दीवाखास उसे दिखाया गया, नक़्काशी दिखायी गयी और जनाने हमाम में धुमाकर गाइड उसे फँसीबाले छँधेरे और बदबूदार कमरे में छोड़ दिया, जहाँ चमगादड़ लग्जिलिविला रहे हैं और एक बहुत पुरानी ऐतिहासिक रस्सी लटक रही है जिसका

गरदन में कस जाता है और आदमी भूल जाता है। और उसके बाद अन्धे कुएँ में फेंकी गयी सिर्फ़ वे लाशें रह जाती हैं।

उसमें और उनमें कोई अन्तर नहीं है।

और आनन्द उनसे अलग नहीं है। चन्द्र कतरा जाना चाहता था, क्योंकि आनन्द आते ही किताबी तरीके से कहेगा, “थार, तुम्हारे बाल बहुत खूबसूरत हैं, बिलकी म लगाते हो? लड़कियाँ तो तबाह हो जाती होंगी।”

और तभी चन्द्र को सामने पाकर आनन्द रुक जाता है, “हलो, यहाँ कैसे! क्या लड़कियों पर जुल्म ढा रहे हो?” सुनकर उसे हँसी आ जाती है।

“किधर से आ रहे हो?” डायरी जेव में रखते हुए वह पूछता है।

“भाज तो यूँ ही फेंस गये। आओ, एक प्याला काँफ़ी हो जाये।” आनन्द कहता है, किर एक क्षण रुककर वह द्वारी बात सुझाता है, “या और कुछ...”

चन्द्र इसका मतलब समझकर न कर देता है। वह जोर देता है, “चलो फिर आज तो हो ही जाये, क्या रखा है इस जिन्दगी में?” कहते हुए वह झूठी हँसी हँसता है और धीरे-से हाथ दवाकर पूछता है, “लीज, इफ यू डोण्ट माइण्ड, कुछ पैसे हैं?” उसके कहने में कोई हिचक नहीं है और न उसे शरम ही आती है। बड़ी सीधी-ती बात है, पैसे कम हैं।

“अच्छा पाठ्नर, मैं भी इन्तजाम करके आया।” वह विश्वास को गहराता हुआ कहता है, “यहाँ रुकना, चले मत जाना।” और वह जाता है तो फिर नहीं आता।

चन्द्र वह पहले से जानता है।

कुछ देर बाद वह टी-हाउस में घुस जाता है और मेजों के पास चक्कर काटता हुआ कोनेवाले कार्डर से सिगरेट का पैकेट लेकर एक मेज पर जम जाता है।

“हलो!” कोई एक अधजाना चेहरा कहता है, “बहुत दिनों बाद इधर आना हुआ।” और वह भी वहीं बैठ जाता है। दोनों के पास बात करने के लिए कुछ भी नहीं है।

टी-हाउस में बेपनाह शोर है। खोलली हँसी के ठहाके हैं और दीवार पर एक घड़ी है जो हमेशा बज्जत से आगे चलती है। तीन रास्ते बाहर से आने आर जाने के लिए हैं और चौथा रास्ता बाथरूम जाता है। बाथरूम के पॉट्स में किनाइल की गोलियाँ पड़ी हैं और गैलरी में एक शीशा लगा हुआ है। हर वह आदमी जो बाथरूम जाता है, उस शीशे में अपना मुँह देखकर लौटता है।

० ०

गेलार्ड में डिनर डॉस की तैयारी हो रही है। कुरसियों की तीन कतारें बाहर निकालकर रख दी गयी हैं। उधर बोलगा पर बिदेशियों की भीड़ बढ़ रही होगी।

और तभी एक जोड़ा भीतर आता है। महिला सजी-बजी है और जूँड़े में फूल भी हैं। आदमी के चेहरे पर अजीब-जा गुरुर है और वे दोनों फँमिलीवाली तीट पर आमने-सामने बैठ जाते हैं। बैठने से पहले उनमें कोई ताल्लुक नज़र नहीं आ रहा था। सिर्फ़ इतना-भर कि जब महिला बैठने के लिए मुँड़ी धी तो साथवाले आदमी ने उसकी

कमर पर हाथ रखकर सहारा-भर दिया था। इतना-सा साथ था दोनों में।

उनके पास भी बात करने के लिए शायद कुछ नहीं है।

महिला अपना जूँड़ा ठीक करते हुए औरों को देख रही है और साथवाला आदमी पानी के गिलास को देख रहा है। किसी के देखने में कोई मतलब नहीं है। आँखें हैं इसलिए देखना पड़ता है। अगर न होतीं तो सवाल ही नहीं था। एक जगह देखते-देखते आँखों में पानी आ जाता है, इसलिए ज़रूरी है कि इधर-उधर देखा जाये।

वेयरा उसकी मेज पर सामान रख जाता है और दोनों खाने में मश्यूल हो जाते हैं। कोई बात नहीं करता। आदमी खाना खाकर दाँत कुरेदने लगता है और वह महिला रुमाल निकालकर अन्दाज से लिपस्टिक ठीक करती है।

अन्त में वेयरा आकर पैसे लौटाता है तो आदमी कुछ टिप छोड़ता है जिसे महिला गौर से देखती है और दोनों लापरवाही से उठ खड़े होते हैं। फिर उन दोनों में हल्का-सा सम्बन्ध उसे नज़र आता है, वह आदमी ठिठककर साथवाली महिला को आगे निकलने का इशारा करता है और उसके पीछे-पीछे चला जाता है।

चन्द्र का मन और भारी हो जाता है। अकेलेपन का नागपाश और भी कस जाता है। अपने साथ बैठे हुए अनजान दोस्त की तरफ वह गहरी नज़रों से देखता है और सोचता है—अजनवी ही सही, पर इसने पहचाना तो, इतनी पहचान भी बड़ा सहारा देती है…चन्द्र को अपनी ओर देखते हुए वह साथवाला दोस्त कुछ कहने को होता है पर जैसे उसे कुछ याद नहीं आता, फिर अपने को संभालकर उसने चन्द्र से पूछा, “आप…आप तो शायद काँमर्स मिनिस्ट्री में हैं? मुझे याद पड़ता है कि…” कहते हुए वह रुक जाता है।

चन्द्र का पूरा शरीर झनझना उठता है और एक घूंट में बची हुई काँकी पीकर वह बड़े संयत स्वर में जवाब देता है, “नहीं, मैं कामर्स मिनिस्ट्री में कभी नहीं था…”

वह आदमी आगे अटकले भिड़ाने की कोशिश नहीं करता, सीधे-सीधे उस अनजान सम्बन्ध को मज़बूत बनाते हुए कहता है, “आँल राइट पार्टनर, फिर कभी मुलाक़ात होगी।” और सिगरेट सुलगाता हुआ उठ जाता है।

० ०

चन्द्र बाहर निकलकर वस-स्टॉप की ओर बढ़ता है। मद्रास होटल के पीछे वस-स्टॉप पर चार-पाँच लोग खड़े हैं और पुलिसवाला स्टॉप की छतरी के नीचे बैठा सिगरेट पी रहा है।

चन्द्र वहीं जाकर खड़ा हो जाता है। सब जानना चाहते हैं कि वस कव तक आयेगी पर कोई किसी से कुछ भी नहीं पूछता। पेड़ के अँधेरे में वह चुपचाप खड़ा है। नीचे पीले पत्ते पड़े हैं जो उसके पैरों से दबकर चुरमुगने लगते हैं और पीले पत्तों की वह आवाज उसे वर्षों पीछे खींच ले जाती है। इस आवाज में एक बहुत गहरा अपनापन है, उसे बड़ी राहन-मी मिलती है।

…ऐसे ही पीले पत्ते पड़े हुए थे। उस राह पर बहुत साल पहले इन्द्रा के साथ

एक दिन वह चला जा रहा था, कुछ भी नहीं था उसके सामने—वह खण्डहरों में अपनी जिन्दगी खाराव कर रहा था और तब इन्द्रा ने ही उससे कहा था, “चन्द्र, तुम क्या नहीं कर सकते।” वही पहचानी हुई आवाज़ फिर उसके कानों से टकराती है, “तुम क्या नहीं कर सकते।” और यह कहते-कहते इन्द्रा की आँखों में अदम्य विश्वास भलक आया था।

और इन्द्रा की उन प्यार-भरी आँखों में झाँकते हुए उसने कहा था, “मेरे पास है ही क्या? समझ में नहीं आता कि जिन्दगी कहाँ ले जायेगी, इन्द्रा! इसीलिए मैं यह नहीं चाहता कि तुम अपनी जिन्दगी भेरी खातिर विगड़ लो। पता नहीं मैं किस किनारे लगूँ, भूखा मरूँ या पागल हो जाऊँ...”

इन्द्रा की आँखों में प्यार के बादल और गहड़े हो आये थे और उसने कहा था, “ऐसी वातें क्यों करते हो, चन्द्र, मैं तुम्हारे साथ हर हालत में सुखी रहूँगी।”

चन्द्र ने उसे बहुत गौर से देखा था। इन्द्रा की आँखों में नमी आ गयी थी। उसकी कंटीली बरौनियों से विश्वास-भरी मासूमियत छलक रही थी। माथे पर आयी हुई लट छूने को उसका मन हो आया था पर वह फिरककर रह गया था। इन्द्रा के कानों में पड़े हुए कुण्डल पानी में तैरती मछलियों की तरह भलक जाते थे और तब उसने कहा था, “आओ, उधर पेढ़ के नीचे बैठेंगे।”

वे दोनों साथ-साथ चल दिये थे। सरस के पेढ़ के नीचे एक सीमेंट की बैंच बनी थी। राह पर पीली पत्तियाँ खिलरी हुई थीं। उनके कुचलने से ऐसी ही आवाज़ आयी थी जो अभी-अभी उसने सुनी थी...“वही पहचान-भरी आवाज़।

दोनों बैंच पर बैठ गये थे और चन्द्र धीरे-से उसकी कलाई पर औंगुली से लकीरें खींचने लगा था। दोनों खासोश बैठे थे, बहुत-सी वातें थीं जो वे कह नहीं पा रहे थे। कुछ क्षणों बाद इन्द्रा ने आँखें चुराते हुए देखा था और शरसा गयी थी, फिर उसी वात पर आ गयी थी जैसे उसी एक वात में सारी वातें छिपी हों, “तुम ऐसा क्यों सोचते हो, चन्द्र? मुझ पर भरोसा नहीं?”

तब चन्द्र ने कहा था, “भरोसा तो बहुत है, इन्द्रा, पर मैं खानादोशों की तरह जिन्दगी-भर भटकता रहूँगा...” उन परेशानियों में तुम्हें खींचने की वात सोचता हूँ तो वरदाश्त नहीं कर पाता। तुम बहुत अच्छी और सुविधाओं से भरी जिन्दगी जी सकती हो। मैंने तो सिर पर कफ़न बांधा है...“मेरा क्या ठिकाना।”

“तुम चाहे जो कुछ वनों चन्द्र, अच्छे या बुरे, मेरे लिए एक-से रहोगे। कितना इन्तज़ार करती हूँ तुम्हारा, पर तुम्हें कभी बक़त ही नहीं मिलता।” फिर कुछ देर भीन रहकर उसने पूछा था, “इधर कुछ लिखा?”

“हाँ!” धीरे-से चन्द्र ने कहा था।

“दिखाओ!” इन्द्रा ने माँगा था।

और तब चन्द्र ने पसीजे हुए हाथों से डायरी बढ़ा दी थी। इन्द्रा ने तुरन्त उस डायरी को अपनी किताबों में रख निया था और बोली थी, “अब यह कल मिलेगी, इस बहाने तो अब आग्रोगे...”

“नहीं, नहीं...मैं डायरी अपने साथ ले जाऊँगा, मुझे वापस दो।” चन्द्र ने कहा था तो इन्द्रा शैतानी से मुसकराती रही थी और उसकी आँखों में प्यार की गहराइयाँ और बढ़ गयी थीं।

हारकर चन्द्र वापस चला आया था और दूसरे दिन अपनी डायरी लेने पहुँचा तो इन्द्रा ने कहा था, “इसमें कुछ मैंने भी लिखा है, पढ़कर फाड़ देना ज़रूर से।”

“मैं नहीं फाड़ूँगा।”

“तो कुट्टी हो जायेगी !” इन्द्रा ने वच्चों की तरह बड़ी मासूमियत से कहा था और उस वक्त उसके मुँह से वह बेहद बचपने की बात भी बड़ी अच्छी लगी थी।

और एक दिन…

एक दिन इन्द्रा घर आयी थी। इवर-उधर से घूम-फिरकर वह चन्द्र के कमरे में पहुँच गयी थी और तब चन्द्र ने पहली बार उसे विलकुल अपने पास महसूस किया था और उसके माथे पर रंग से बिन्दी बना दी थी और कई क्षणों तक मुख्य-सा देखता रह गया था। और अनजाने ही उसने होंठ इन्द्रा के माथे पर रख दिये थे। इन्द्रा की पलकें झेंप गयी थीं और रोम-रोम से गन्ध फूट उठी थी। उसकी अँगुलियाँ चन्द्र की बाँहों पर थरथराने लगी थीं और माथे पर आया पसीना उसके होंठों ने सोख लिया था। रेतमी रोएँ पसीने से चिपक गये थे और उन उन्माद के क्षणों में दोनों ने ही प्रतिज्ञा की थी...वह प्रतिज्ञा जिसमें शब्द नहीं थे, जो होंठों तक भी नहीं आयी थी।

तब से उसे ये शब्द हमेशा याद रहते हैं, “तुम क्या नहीं कर सकते !”

और तभी एक दूसरे नम्बर की बस आती है और ठिककर चली जाती है। चन्द्र को अहसास होता है कि वह बस-स्टॉप पर खड़ा है, वह गहरी पहचान...कहीं कोई तो है...और वह बहुत दूर भी तो नहीं।

इन्द्रा भी तो यहीं है दिल्ली में...

दो महीने पहले ही तो वह मिला था। तब भी इन्द्रा की आँखों में वह चार चरस पहले की पहचान थी और उसने अपने पति से किसी बात पर कहा था, “अरे, चन्द्र की आदतें मैं खूब जानती हूँ।”

और इन्द्रा के पति ने बड़े खुले दिल से कहा था, “तो फिर भई, इनकी खातिर-बातिर करो...”

और इन्द्रा ने मुसकराते हुए चार चरस पहले की तरह चिढ़ाने के अन्दराज में बयान किया था, “चन्द्र को दूध से चिढ़ है और काँकी इन्हें धुआँ पीने की तरह लगती है, चाय में अगर दूसरा चम्मच चीनी डाल दी गयी तो इनका गला खराब हो जायेगा !” कहने वाले लिखिलाकर हँस दी थी और इस बात से उसने पिछली बातों की याद ताजी कर दी थी...सचमुच चन्द्र दो चम्मच चीनी नहीं पी सकता।

बस आने का नाम नहीं ले रही थी।

खड़े-खड़े चन्द्र को लगा कि इस अनजानी और विन जान-पहचान से भरी नगरी में एक इन्द्रा है जो उसे इतने सालों के बाद भी पहचानती है, अब तक जानती है। उसका मन अपने-आप इन्द्रा से मिलने के लिए छटपटाने लगा, ताकि यह अजनवीपन किसी तरह टूट सके...

“तभी एक फटफटवाला आवाज लगता हुआ आ जाता है ‘गुरदारा रोड’... क्रोलवाग, गुरदारा रोड !” चन्द्र एक कदम आगे बढ़ता है और वह सरदार उसे देखते ही जैसे एकदम पहचान जाता है, “आइए बाबूजी, क्रोलवाग, गुरदारा रोड !” उसकी आँखों में पहचान वी भलक देखकर चन्द्र का मन हल्का हो जाता है। आखिर एक ने तो पहचाना। चन्द्र सरदार को पहचानता है, वहुत बार वह इसी सरदार के फटफट में बैठकर कनाँट प्लेस आया है।

आँखों में पहचान देखते ही चन्द्र लपककर फटफट पर बैठ जाता है। तीन सवारियां और आ जाती हैं और दस मिनट बाद ही गुरद्वारा रोड के चौराहे पर फटफट रुकता है। चन्द्र एक चवन्नी निकालकर सरदार की हथेली पर रख देता है और पहचान-भरी नजरों से उसे देखता हुआ चलने लगता है।

तभी पीछे से आवाज आती है, “ऐ बाबूजी, कितना पैसा दिया है ?” चन्द्र मुड़कर देखता है तो सरदार उसकी तरफ आता हुआ कहता है, “दो आने और दीजिए, साहब !”

“हमेशा चार आने लगते हैं, सरदारजी !” चन्द्र पहचान जताता हुआ कहता है, पर सरदार की आँखों में पहचान की परछाई तक नहीं है। वह फिर कहता है, “सरदारजी, आपके फटफट पर ही बीसों बार चार आने देकर आया हूँ।”

“किसे होरने लये होणगे चार आने...” असी ते छै आने तों घट नहीं लेंदे, बादशाहो !” सरदार इस बार पंजाबी में बोला था और उसकी हथेली फैली हुई थी।

वात दो आने की नहीं थी। चन्द्र ने बाकी पैसे उसकी हथेली पर रख दिये और इन्द्रा के घर की तरफ मुड़ गया।

○○

और इन्द्रा उसे मिली तो बैसे ही। वह अपने पति वा इन्तजार कर रही थी। वही अच्छी तरह उसने चन्द्र को बैठाया और बोली, “इधर कैसे मूळ पड़े आज ?” फिर आँखों में वही पहचान की परछाई तैर गयी थी। कुछ क्षणों बाद इन्द्रा ने कहा था, “अब तो नौ बज रहे हैं, ये आठ ही बजे फैक्टरी बन्द करके लौट आते हैं, पता नहीं आज क्यों देर हो गयी। अच्छा, चाय तो पियोगे ?”

“चाय के लिए इन्वार तो नहीं की जा सकती।” चन्द्र ने बड़े उत्साह से कहा था और कुर्सी पर आराम से टॉगे फैलाकर बैठ गया था। उसकी सारी शकान उत्तर नयी थी और मन का अवेलापन डूब गया था।

गोकरणी आकर चाय रख गयी। इन्द्रा ने प्याले सीधे कर के चाय बनायी तो वह उसकी बाँहों, चेहरे और हाथों को देखता रहा... सब कुछ वही था, बैसा ही था...

चिरपरिचित । तभी इन्द्रा ने पूछा, “चीनी कितनी दूँ ?”

और एक झटके से सब कुछ विखर गया, उसका गला सूखने-सा लगा और शरीर फिर थकान से भारी हो गया । माये पर पसीना आ गया । फिर भी उसने पहचान का रिश्ता जोड़ने की एक नाकाम कोशिश की और बोला, “दो चम्मच ।” और उसे लगा कि अभी इन्द्रा को सब कुछ याद आ जायेगा और वह कहेगी कि दो चम्मच चीनी से अब गला खराब नहीं होता ?

पर इन्द्रा ने प्याले में दो चम्मच चीनी डाल दी और उसकी ओर बढ़ा दिया । जहर के घूँटों की तरह वह चाय पीता रहा । इन्द्रा इवर-उधर की बातें करती रही पर उनमें उसे मेहमानबाजी की बुलग रही थी और चन्द्र का मन कर रहा था कि इन्द्रा के पास से किसी भी तरह भाग जाये और किसी दीवार पर अपना सिर पटक दे ।

जैसे-तैसे उसने चाय पी और पसीना पोंछता हुआ बाहर निकल आया । इन्द्रा ने क्या-क्या बातें कीं, उसे विलकुल याद नहीं ।

सड़क पर निकलकर वह एक गहरी साँस लेता है और कुछ क्षणों के लिए खड़ा रह जाता है । उसका गला बुरी तरह सूख रहा है और मुँह का स्वाद बेहद बिगड़ा हुआ है ।

चौराहे पर कुछ टैक्सी ड्राइवर नशे में गालियाँ बक रहे हैं और एक कुत्ता दूर सड़क पर भागा चला जा रहा है । मछलियाँ तलने की गत्व यहाँ तक आ रही है और पानवाले की दूकान पर कुछ जवान लोग कोकाकोला की बोतलें मुँह में लगाये खड़े हैं । स्कूटरों में कुछ लोग भागे जा रहे हैं । और शहर से दूर जानेवाले लोग बस-स्टॉप पर खड़े अब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

कारें, टैक्सियाँ, वसें और स्कूटर आ-जा रहे हैं । चौराहे पर लगी वत्तियों की आँखें अब भी लाल-पीली हो रही हैं ।

चन्द्र थका-सा अपने घर की ओर लौट रहा है । ब्रॅंगुलियों पर जूता काट रहा है और मोजे की बदबू और भी तेज हो गयी है ।

आखिर वह थका-हारा घर पहुँचता है और मेहमान की तरह कुर्सी पर बैठ जाता है । यह कोई नयी बात नहीं है । निर्मला उसे देखकर मुसक्कराती है और बीरे-से बांहों पर हाथ रखकर पूछती है, “बहुत थक गये ?”

“हाँ ।” चन्द्र कहता है और उसे बहुत प्यार से देखता है । उसका मन नीत्र से उमड़ आता है । वह किये का मकान भी उस क्षण उसे राहत देता है और उन्हे है कि वह उसी का है ।

निर्मला खाना लगाते हुए कहती है, “हाय-मुँह बो लो...”

“अभी खाने का मन नहीं है ।” चन्द्र कहता है तो वह बहुत प्यारे हुए पूछती है, “क्यों, क्या बात है ? सुवह भी तो खाकर नहीं गये दे-खाया था ?”

“हाँ ।” वह कहता है और निर्मला को देखता रह जाता

निर्मला कुछ अचकचाती है और कुछ देर बाद थकी-सी उसके पास बैठ जाती है।

चन्द्र देर खोयी-खोयी नजरों से कमरे की हर चीज़ देखता रहता है, बीच-बीच में वड़ी गहरी नजरों से निर्मला को ताकता है। निर्मला कोई किताब खोल-कर पढ़ने लगती है और चन्द्र उसे देखे जा रहा है।

पीछे से पड़ती हुई रोशनी में निर्मला के बाल रेशम की तरह चमक रहे हैं, उसकी वरीनियाँ मुलायम काँटों की तरह लग रही हैं और कनपटी के पास रेशमी बालों के सिरे अपने-ग्राप धूम गये हैं। पलक के नीचे पड़ती हुई परछाई बहुत पहचानी-सी लग रही है। उसने कड़ा आधी कलाई तक सरका लिया है।

चन्द्र की निगाहें उसके अंग-प्रत्यंग में पुरानी पहचान खोज रही हैं, उसके नाखून, अँगुलियाँ और कानों की गुदारी लवें...

उठकर वह परदे खींच देता है और आराम से लेट जाता है। उसे लगता है कि वह अकेला नहीं है। अजनवी और तनहा नहीं है। सामनेवाला गुलदस्ता उसका अपना है, पड़े हुए कपड़े उसके अपने हैं, उनकी गन्ध वह पहचानता है।

इन सभी चीजों में एक गहरी पहचान है। घोर अँधेरी रात में भी वह उन्हें टटोलकर पहचान सकता है। किसी भी दरवाजे से बिना टकराये निकल सकता है।

...तभी जीने पर गुलाटी के थके क़दमों की खोलली आहट सुनायी पड़ती है और उसे घबराहट-सी होती है। वह धीरे-से निर्मला को अपने पास बुला लेता है। उसे लिटाकर छाती पर हाथ रख लेता है।

कई क्षणों तक वह उसकी साँस से उठती-बैठती छाती को महसूस करता है... और चाहता है कि निर्मला के शरीर का अंग-अंग और मन की हर घड़कन उसे पहचान की साक्षी दे... गहरी आत्मीयता और निर्वन्ध एकता का अहसास दे...

अँधेरे ही में वह उसके नाखूनों को टटोलता है, उसकी पलकों की छूता है, उसकी गरदन में मुँह छिपाकर खो जाना चाहता है, धुले हुए बालों की चिरं-परिचित गन्ध उसके रन्ध्र-रन्ध्र में रिसने लगती है और उसके हाथ पहचान के लिए पोर-पोर पर थरथराते हुए सरकते हैं। निर्मला की साँस भारी हो आती है।

वह उसकी मांसल बाँहों को महसूस करता है और गोल गुदारे कन्धों पर हाथ से वयवपाता रहता है, निर्मला के शरीर का अंग-अंग अनूठे अनुराग से खींचता-सा आता है। उसका रोम-रोम उसे पहचान रहा था, जोड़-जोड़ कसाव से पूरित था, तन के भीतर गरम रक्त के ज्वार उठ रहे थे और हर साँस पास खींचती जा रही थी। अंग-प्रत्यंग में, पोर-पोर में गहरी पहचान थी...

तभी विशन कपूर की खिड़की में उजाला होता है और धुआँ सलाखों से लिपट-लिपटकर गली के अँधेरे में ढूँढ़ने लगता है।

और उसका तनहा मन तनहाइयों को छोड़कर, उस परिचित गन्ध, परिचित साँसों और पहचाने स्पर्शों में ढूँढ़ता जाता है। उसे और कुछ भी नहीं चाहिए... परिचय

की एक माँग है और उस अँधेरे में वह साँसों से, गन्ध से, तन के टुकड़े-टुकड़े से पहचान चाहता है, पुरानी प्रतीति चाहता है।

चारों तरफ सन्नाटा छा जाता है।

और उस खामोशी में वह आश्वस्त हो जाता है... वह दोनों बाँहों में उसे भर लेता है, ज्वार और उठता है, तन की गरमाहट और बढ़ती है और रन्ध-रन्ध में एकता का सागर लहराता लगता है।

धीरे-धीरे निर्मला की तेज साँसें धीमी पड़ती हैं और चुम्बकीय कशिश ढीली पड़ जाती है। लिंचाव टूटने लगता है और अंगों के ज्वार उत्तरने लगते हैं ...

चन्द्र कसकर उसकी बाँहों को जकड़े रहता है... उत्तरता हुआ ज्वार उसे फिर अकेला छोड़े जा रहा है... अनजान तटों पर छोड़ी हुई सीपी की तरह।

निर्मला अपनी दबी हुई बाँह निकाल लेती है और गहरी साँस लेकर ढीली-सी लेट जाती है।

धीरे-धीरे सब कुछ सो जाता है और रात बहुत नीचे उत्तर आती है। कहीं कोई आवाज नहीं, कोई आहट नहीं।

धीरे-से निर्मला करवट बदलती है और दूसरी ओर मुँह करके गहरी नींद में डूब जाती है।

करवट बदलकर लेटी हुई निर्मला को वह अलसाया-सा देखता रहता है...

और चन्द्र फिर अपने को वेहद अकेला महसूस करता है... वह निर्मला के कन्धे पर हाथ रखता है, चाहता है कि उसकी करवट बदल दे, पर उसकी आँगुलियां बेजान होकर रह जाती हैं। कुछ क्षण वह अँधेरे में ही निर्मला को उधर मुँह किये लेटा हुआ देखता है और हताश-सा खुद भी लेट जाता है। पता नहीं कव उसकी पलकें झपक जाती हैं...

और फिर वहुत देर बाद थाने का घड़ियाल दो के घण्टे बजाता है और उसकी नींद उचट जाती है। नींद के खुमार में ही वह चौंक-सा पड़ता है; कमरे की खामोशी और सूनेपन से उसे डर-सा लगता है। अँधेरे में ही वह निर्मला को टोलता है, तकिया पर खिखरे उसके बालों पर उसका हाथ पड़ता है और वह उन बालों की चिकनाई के महसूस करता है... सिर भुकाकर वह उन्हें सूंघता है...

फिर निर्मला पर हाथ रखता है—उसके गोल कन्धों की छूता है... वह स्पष्ट भी पहचाना हुआ है... धीरे-धीरे वह उसके पूरे शरीर को पहचानने के लिए टोलता है और उसकी साँसों की हल्की आवाज को सुनने और पहचानने की कोशिश करता है।

निर्मला अब भी करवट लिये पड़ी थी। वह धीरे-से नींद में कुनमुनाती है चन्द्र का दिल घक्-से रह जाता है। कहीं निर्मला जाग न जाये, अनजाने ही इस स्पष्ट से अजनवियों की तरह चौंक न जाये।

निर्मला सोते-सोते एक बार रुक-रुककर साँस लेती है, जैसे उसे डर-सा लग रहा हो... या कोई भयंकर सपना देख रही हो ... चन्द्र सुन्न-सा रह जाता है... क्या

गुलकी बन्नो

“ऐ मर कलमुँहे !” अकस्मात् घेघा वुआ ने कूड़ा फेंकने के लिए दरवाजा खोला और चौतरे पर बैठे मिरवा को गाते हुए देखकर कहा—“तोरे पेट में फोनोगिराफ़ उलियान वा का, जौन भिनसार भवा कि तान तोड़े लाग ? राम जानै, रात के कैसन एकरा दीदा लागत है !” मारे डर के कि कहीं घेघा वुआ सारा कूड़ा उसी के सिर पर न फेंक दे, मिरवा थोड़ा खिसक गया और ज्योंही घेघा वुआ अन्दर गयी कि फिर चौतरे की सीढ़ी पर बैठ, पैर झुलाते हुए मिरवा ने उलटा-सुलटा गाना शुरू किया—“तुमे वछ याद कलते आम छनम तेली कछम !” मिरवा की आवाज सुनकर जाने कहाँ से झबरी कुतिया भी कान-पूँछ झटकारते आ गयी और नीचे बैठकर मिरवा का गाना विलकुल उसी अन्दाज में सुनने लगी जैसे हिज मास्टर्स वॉयस के रिकार्ड पर तसवीर बनी होती है।

अभी सारी गली में सन्नाटा था। सबसे पहले मिरवा (असली नाम मिहिरलाल) जागता था। उसके बाद झबरी कुतिया, फिर मिरवा की छोटी वहन मटकी और उसके बाद एक-एक कर गली के तमाम वच्चे—खोचेवाली का लड़का भेवा, ड्राइवर साहव की लड़की निरमल, मनीजर साहन के मुन्ना बाबू—सभी आ जुटते थे। जब से गुलकी ने घेघा वुआ के चौतरे पर तरकारियों की दूकान रखी थी तब से यह जमावड़ा वर्हाँ हीने लगा था। उसके पहले वच्चे हकीमजी के चौतरे पर खेलते थे। धूप निकलते-निकलते गुलकी सट्टी से तरकारियाँ खरीदकर अपनी कुबड़ी पीठ पर लादे, ढंडा टेकती आती और अपनी दूकान फैला देती। मूरी, नींबू कद्दू, विया-बण्डा, कभी-कभी सस्ते फल ! मिरवा और मटकी जानकी उस्ताद के वच्चे थे जो एक भयंकर रोग में गल-नालकर मरे थे और दोनों वच्चे भी विकलांग, विक्षिप्त और रोगग्रस्त पैदा हुए थे। सिवाय झबरी कुतिया के, कोई उनके पास नहीं बैठता था और सिवाय गुलकी के कोई उन्हें अपनी देहरी या दूकान पर चढ़ने नहीं देता था।

आज भी गुलकी को आते देखकर सबसे पहले मिरवा गाना छोड़कर बोला—“छलाम, गुलको !” और मटकी अपनी बढ़ी हुई तिल्कीबाले पेट पर से खिसकता हुआ जाँघिया सम्हालते हुए बोली—“एक ठो मूली दै देव ! ए गुलकी !” गुलकी न मालूम किस बात से खीजी हुई थी कि उसने मटकी को फिड़क दिया और अपनी दूकान लगाने लगी। झबरी भी पास गयी कि गुलकी ने डण्डा उठाया। दूकान लगाकर गुलकी अपनी कुबड़ी पीठ दुहराकर बैठ गयी और जाने किसे बुढ़बुड़ाकर गालियाँ देने लगी। मटकी एक क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर उसने रट लगाना शुरू किया—

“एक मरी ! ए गुलकी ! एक……” गुलकी ने किर भिड़का तो चुप हो गयी और अलग हटकर लोलुप नेत्रों से सफेद धुली हुई मूलियों को देखने लगी। इस बार वह बोली नहीं। चुपचाप उन मूलियों की ओर हाथ बढ़ाया ही था कि गुलकी चीखी—“हाथ हटाओ ! छूना मत ! कोड़ी कहीं की ! कहीं खाने-पीने की चीज़ देखी कि जोंक की तरह चिपक गयी, चल उधर !” मटकी पहले तो पीछे हटी, पर फिर उसकी तृष्णा ऐसी अदम्य हो गयी कि उसने हाथ बढ़ाकर एक मूली खींची। गुलकी का मुँह तमतमा उठा और उसने बाँस की खपच्ची उठाकर उसके हाथ पर चट से मारी। मूली नीचे जा गिरी और ‘हाय ! हाय ! हाय !’ कर दोनों हाथ झटकते हुए मटकी पाँव पटक-पटककर रोने लगी।

“जाओ, अपने घर रोओ ! हमारी दूकान पर मरने को गलीभर के सब बच्चे हैं !” गुलकी चीखी।

“दूकान देके हम विष्टा मोल ले लिया। छन-भर पूजा-भजन में भी कचर-बाँव मच्ची रहती है !” अन्दर से घेघा बुआ ने स्वर मिलाया। खास हंगामा मच गया कि इतने में झटकरी भी खड़ी हो गयी। लगी उदात्त स्वर में मूँकने। “लेपट राइट ! लेपट राइट !” चौराहे पर तीन-चार बच्चों का जुलूस आ रहा था। आगे-आगे दर्जा दो में पढ़नेवाले मुन्ना वादू नीम की संटी को झण्डे की तरह थामे जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे, पीछे ये मेवा और निरमल। जुलूस आकर दूकान के सामने रुक गया। गुलकी सतर्क हो गयी। दुश्मन की ताकत बढ़ गयी थी।

मटकी सिसकते-सिसकते बोली—“हमके गुलकी मारिश है। हाय ! हाय ! हमके नरिया में ढकेल दिहिस। अरे वाप रे !” निरमल, मेवा, मुन्ना सब पास आकर उसकी छोट देखने लगे। फिर मुन्ना वादू ने ढकेलकर सबको पीछे हटा दिया और संटी लेकर तनकर खड़े हो गये—“किसते मारा है इसे !”

“हम मारा है !” कुवड़ी ने बड़े कष्ट से खड़े होकर कहा—“का कराईे ? हमें माराई !”

“मारेंगे क्यों नहीं ?” मुन्ना वादू ने अकड़कर कहा। गुलकी इसका कुछ जवाब देती कि बच्चे पास घिर आये। मटकी ने जीभ निकालकर मुँह विराया, मेवा ने पीछे जाकर कहा—“ए कुवड़ी, ए कुवड़ी, अपना कूवड़ दिखाओ !” और एक मुट्ठी धूल उसकी पीठ पर छोड़कर भागा। गुलकी का मुँह तमतमा आया और रुधे गले से कराहते हुए उसने पता नहीं क्या कहा। किन्तु उसके चेहरे पर भूय की छाया बहुत गहरी हो गयी थी। बच्चे सब एक-एक मुट्ठी धूल लेकर ज्ञाते हुए दौड़े कि अकस्मात् घेघा बुआ का स्वर सुनायी पड़ा—“ए मुन्ना वादू, जात हौ कि अवहिन वहिनजी का बुलाय के दुइचार कनेठी दिलवाइ !”

“जाते तो हैं !” मुन्ना ने अकड़ते हुए कहा—“ए मिरवा, विगुल बजाओ !” मिरवा ने दोनों हाथ मुँह पर रखकर कहा—‘धूतु धूतु धू !’ जुलूस चल पड़ा और कप्तान ने नारा लगाया—

‘अपने देस में अपना राज !
गुलकी की दूकान वाईकाट !’

नारा लगाते हुए जुलूस गली में मुड़ गया। कुबड़ी ने आँसू पोछे, तरकारी पर से धूल भाड़ी और साग पर पानी के छींटे देने लगी

° °

गुलकी की उम्र ज्यादा नहीं थी। यही हद से हद पचीस-छव्वीस। पर चेहरे पर झुर्रियाँ आने लगी थीं और कमर के पास से वह इस तरह दोहरी हो गयी थी जैसे अस्सी वर्ष की बुढ़िया हो। बच्चों ने जब पहली बार उसे मुहल्ले में देखा तो उन्हें ताज्जुब भी हुआ और थोड़ा भय भी। कहाँ से आयी? कैसे आ गयी? पहले कहाँ थी? इसका उन्हें कुछ अनुमान नहीं था। निरमल ने जरूर अपनी माँ को उसके पिता ड्राइवर से रात को कहते हुए सुना, "यह मुसीबत और खड़ी हो गयी। मरद ने निकाल दिया तो हम थोड़े ही यह ढोल गले बाँधेंगे। बाप अलग हम लोगों का रूपया खा गया। सुना कि चल चुसा तो कहाँ मकान हम लोग न दखल कर लें तो मरद को छोड़कर चली आयी। खबरदार जो चाभी दी तुमने!"

"क्या छोटेपन की बात करती हो! रूपया उसके बाप ने ले लिया तो क्या हम उसका मकान मार लेंगे? चाभी हमने दे दी है। दस-पाँच दिन का नाज-पानी भेज दो उसके यहाँ!"

"हाँ-हाँ, सारा घर उठा के भेज देव। सुन रही हो, घेघा बुश्रा!"

"तो का भवा वहू, औरे निरमल के बाप से तो इसके बाप की दाँतकाटी रही!" घेघा बुश्रा की आवाज आयी—“विचारी बाप की अकेली सन्तान रही। एही के वियाह में मिटियामेट हुई गवा। पर ऐसे कसाई के हाथ दिहिस कि पाँच बरस में कूबड़ निकर आवा।"

"साला यहाँ आवे तो हंटर से खबर लूँ मैं।" ड्राइवर साहब बोले—“पाँच बरस बाद बाल-बच्चा हुआ। अब मरा हुआ पैदा हुआ तो उसमें इसका क्या कसूर। साले ने सीढ़ी से ढकेल दिया। जिन्दगी-भर के लिए हड्डी खराब हो गयी न। अब कैसे गुजारा हो उसका?"

"वेटवा, इसको दूकान खुलवाय देव। हमरा चौतरा खाली पड़ा है। यही रूपया दुई रूपया किरावा दै देवा करै, दिनभर अपना सौदा लगाय ले। हम का मना करित है? एत्ता बड़ा चौतरा मुहल्लेवालन के काम न आयी तो का हम छाती पर धै लैजाव! पर हाँ मुला रूपया दै देवा करै।"

° °

दूसरे दिन यह सनसनीखेज खबर बच्चों में फैल गयी। वैसे तो हकीमजी का चौतरा बड़ा था, पर वह कच्चा था, उस पर छाजन नहीं थी। बुआ का चौतरा लम्बा था। उस पर पत्थर जड़े थे। लकड़ी के खम्भे थे। उस पर टीन छायी थी। कई खेलों की सुविधा थी। खम्भे के पीछे किल-किल कट्टे की लकीरें खींची जा सकती थीं। एक टाँग से उचक-उचककर बच्चे चिकिहु खेल सकते थे। पत्थर पर लकड़ी का पीड़ा रखकर नीचे से मुड़ा हुआ तार धुमाकर रेलगाड़ी चला सकते थे। जब गुलकी ने अपनी दूकान के लिए चबूतरे के खम्भों में बाँस बाँधे तो बच्चों को लग

में किसी अज्ञात शत्रु ने आकर क़िलेवन्दी कर ली है। वे दूर से कुवड़ी गुलकी को देखा करते थे। निरमल ही उसकी एकमात्र सम्वाददाता थी और निरमल का एकमात्र विश्वस्त सूत्र था उसकी माँ। उससे जो सुना था उसके आधार पर निरमल ने सबको बताया था कि यह चोर है। इसका बाप सौ रुपया चुराकर भाग गया। यह भी उसके घर का सारा रुपया चुराने आयी है। “रुपया चुरायेगी तो यह भी मर जायेगी।” मुन्ना ने कहा, “भगवान् सबको दण्ड देता है।” निरमल बोली, “सुसराल में भी रुपया चुराये होगी।” मेवा बोला, “अरे, कूबड़ थोड़े हैं। ओही रुपया बांधे हैं पीठ पर। मनसेधु का रुपया है।” “सचमुच?” निरमल ने अविश्वास से कहा। “और नहीं क्या! कूबड़ थोड़े हैं। है तो दिखावै!” मुन्ना द्वारा उत्साहित होकर मेवा पूछने ही जा रहा था कि देखा सावनवाली सत्ती खड़ी बात कर रही है गुलकी से—कह रही थी—“अच्छा किया तुमने। मेहनत से दूकान करो। अब कभी थूकने भी न जाना उसके यहाँ। हराम-जादा, दूसरी औरत कर ले, चाहे दस और कर ले, सबका खून उसी के माथे चढ़ेगा। यहाँ कभी आवे तो कहलाना मुझसे। इसी चाकू से दोनों आँखें निकाल लूँगी।”

वच्चे डरकर पीछे हट गये। चलते-चलते सत्ती बोली, “कभी रुपये-पैसे की जरूरत हो तो बताना, बहिना।”

० ०

कुछ दिन वच्चे डरे रहे। पर अकस्मात् उन्हें सूझा कि सत्ती को गुलकी डराने के लिए बुलाती है। इसने उनके गुस्से में धी का काम किया। पर कर क्या सकते थे। अन्त में उन्होंने एक तरीका ईजाद किया। वे एक बुद्धिया का खेल खेलते थे। उसको उन्होंने संशोधित किया। मटकी को लैमजूस देने का लालच देकर कुवड़ी बनाया गया। वह उसी तरह पीठ दोहरी कर चलने लगी। वच्चों ने सवाल-जवाब शुरू किये—

“कुवड़ी-कुवड़ी, का हेराना?”
 “सुई हिरानी!”
 “सुई लैके क्या करवे?”
 “कन्या सीवै!”
 “कन्या सी के क्या करवे?”
 “लकड़ी लावै!”
 “लकड़ी लाय के क्या करवे?”
 “भात पकइवै!”
 “भात पकाय के का करवे?”
 “भात खावै!”
 “भात के बदले लात खावे?”

और इसके पहले कि कुवड़ी वनी हुई मटकी कुछ कह सके, वे उसे जोर से लात मारते और मटकी मुँह के बल गिर पड़ती, उसकी कोहनियाँ और घुटने छिल जाते और होंठ दबाकर वह रुलाई रोकती, वच्चे खुशी से चिल्लाते, ‘मार डाला कुवड़ी को! मार डाला कुवड़ी को!’ गुलकी यह सब देखती आर मुँह फेर लेती।

एक दिन जब इसी प्रकार मटकी को कुवड़ी बनाकर गुलकी की दूकान के सामने ले गये तो इसके पहले कि मटकी जवाब दे उन्होंने अनचिते में उसे इतनी जोर से ढकेल दिया कि वह कोहनी भी न टेक सकी और सीधे मुँह के बल गिरी। नाक, होंठ और भौंहें खून से लथपथ हो गये। वह 'हाय ! हाय !' कर इस बुरी तरह चीखी कि लड़के 'कुवड़ी मर गयी !' चिल्लाते हुए सहम भी गये और हतप्रभ हो गये। अकस्मात् उन्होंने देखा कि गुलकी उठी। वे जान छोड़कर भागे। पर गुलकी उठकर आयी, मटकी को गोद में लेकर पानी से उसका मुँह धोने लगी और धोती से उसका खून पोंछने लगी। वच्चों ने पता नहीं क्या समझा कि वह मटकी को मार रही है, या क्या कर रही है कि वे अकस्मात् उस पर टूट पड़े। गुलकी की चीखें सुनकर मुहल्ले के लोग आये तो उन्होंने देखा कि गुलकी के बाल बिखरे हैं, दाँतों से खून बह रहा है, अधउधारी चबूतरे के नीचे पड़ी हैं और सारी तरकारी सड़क पर बिखरी है। घेघा बुआ ने उसे उठाया, धोती ठीक की और बिगड़कर बोली, "श्रीकात रत्तीभर नै, तेहा पौवा भर। आपन बखत देख के चुप नै रहा जात। काहे लड़कन के मुहं लगत हो ?" लोगों ने पूछा तो कुछ नहीं बोली। जैसे उसे पाला मार गया हो। उसने चुपचाप अपनी दूकान ठीक की और दाँतों से खून पोंछा, कुल्ला किया और बैठ गयी।

उसके बाद अपने इस कृत्य से बच्चे जैसे खुद सहम गये थे। बहुत दिनों तक वे शान्त रहे। आज मेवा ने जब उसकी पीठ पर धूल फेंकी तो जैसे उसे खून चढ़ गया पर फिर न जाने क्या सोचकर चुप रह गयी और जब नारा लगाते हुए जुलूस गली में मुड़ गया तो उसने आँसू पोछे, पीठ पर से धूल झाड़ी और साग परपानी छिड़कने लगी। "लड़के का हैं गल्ली के, राच्छस हैं!" घेघा बुआ बोली। "अरे, उन्हें काहे कहो, बुआ ! हमारा भाग ही खोटा है !" गुलकी ने गहरी साँस लेकर कहा। . . .

० ०

इस बार जो झड़ी लगी तो पांच दिन तक लगातार सूरज के दर्शन नहीं हुए। बच्चे सब घर में क्रैंद थे और गुलकी कभी दूकान लगाती थी, कभी नहीं। राम-राम करके छठवें दिन, तीसरे पहर झड़ी बन्द हुई। बच्चे हकीमजी के चौतरे पर खड़े हो गये, मेवा विलबोटी बीन लाया था और निरमल ने टपकी हुई निमकौड़ियाँ बीनकर एक दूकान लगा ली थी और गुलकी की तरह आवाज लगा रही थी—“ले खीरा, आलू, मूरी, घिया-वण्डा !” थोड़ी देर में काफ़ी शिशु-ग्राहक दूकान पर जुट गये। अकस्मात् बुआ के चौतरे से गीत का स्वर उठा। बच्चों ने धूमकर देखा, मटकी और मिरवा गुलकी की दूकान पर बैठे हैं। मटकी खीरा खा रही है और मिरवा झवरी का सिर अपनी गोद में रखे विलकुल उसकी आँखों में आँखें डालकर गा रहा है—“सनम तेरी कसम… !”

तुरन्त मेवा गया और पता लगाकर आया कि गुलकी ने दोनों को एक-एक अवन्ना दिया है और दोनों मिलकर झवरी कुतिया के कीड़े निकाल रहे हैं। चौतरे पर हलचल मच गयी और मुन्ना ने कहा—“निरमल ! मिरवा-मटकी को एक भी निमकौड़ी मत देना। रहें उस कुवड़ी के पास !” “हाँ जी !” निरमल ने आँख मटकाकर गोल मुँह करके कहा—“हमार अम्मा कहत रही उन्हें छूओ न ! न साथ खायो, न खेलो . . .”

‘चड़ी बुरी चौमारी है !’ “आक् थू !” मुन्ना ने उतकी ओर देखकर उवकाई जैसा मुँह बनाकर थूक दिया।

गुलकी बैठी-बैठी सब समझ रही थी और जैसे इस निरर्थक घृणा में उसे कुछ रस आने लगा था। उसने मिरवा से कहा, “तुम दोनों मिलके गाएंगी तो एक अधन्तां दें। खूब जोर से !” दोनों भाई-बहन ने गाना शुरू किया, “माल कताली मल जाना, पल अकियाँ किछी छे …” ग्रंथस्मात् फटाक से दरवाजा खुला और एक लोटा पानी दोनों के ऊपर फेंकती हुई घेवा बुआ गरजी—“दुर कलमुँहे ! अवहिन वित्ती भर के नाहीं ना, पनुरियन के गाना गावे लगें। न वहिन का खयाल, न विटिया का। और ए कुबड़ी ! हम तुहूं से कहे देइत है कि हम चकलाखाना खोलै बरे अपना चौतरा नहीं दिया रहा। हुँह ! चली हुआँ से मुजरा करावै !”

गुलकी ने उधर पानी छिटकाते हुए कहा, “बुआ, बच्चे हैं। गा रहे हैं। कौन कसूर हो गया !”

“ऐ हाँ ! बच्चे हैं। तुहूं तो दूध पियत बच्ची ही। कह दिया जवान न लड़ायो हमसे, हाँ ! हम वहते बुरी हैं। एक तो पाँच महीने से किरावा नाहीं दियो और हियाँ दुनिया भरके अन्धे-कोढ़ी वटुरे रहत हैं। चलौ उठाएं अपनी दूकान हियाँ से। कल से न देखी हियाँ तुम्हें। राम ! राम ! सब अधरम की सन्तान राच्छस पैदा भये हैं मुहल्ले में ! धरतियी नाहीं फाटत कि मर विलाय जायें !”

गुलकी सन्न रह गयी। उसने किराया सचमुच पाँच महीने से नहीं दिया था। विक्री ही नहीं थी। मुहल्ले में कोई उससे कुछ लेता ही नहीं था पर इसके लिए बुआ उसे निकाल देंगी यह उसे कभी आशा नहीं थी। वैसे महीने में बीस दिन वह भूखी सीती थी। धोती में दस-दस पैवन्द थे। मकान गिर चुका था। एक दालान में थोड़ी-सी जगह में वह सो जाती थी। पर दूकान तो वहाँ रखी ही नहीं जा सकती। उसने चाहा कि वह बुआ के पैर पकड़ ले, मिन्नत कर ले। पर बुआ ने जितनी जोर से दरवाजा खोला था उतनी ही जोर से बन्द कर दिया। जब से चौमासा आया था, पुरवाई वही थी उसकी पीठ में भयानक पीड़ा उठती थी। उसके पाँव काँपते थे। सट्टी में उस पर बुरी तरह उधार चढ़ गया था। पर अब होगा क्या ? वह मारे खीज के रोने लगी।

इतने में कुछ खटपट हुई और उसने घुटनों से मुँह उठाकर देखा कि मौका पाकर मटकी ने एक ताजा फूट निकाल लिया है और भरभुखी की तरह उसे वह हवर-हवर खाती जा रही है। एक क्षण वह उसके फूलते-विचकते पेट को देखती रही, फिर खयाल आते ही कि फूट पूरे दस पैसे का है, वह उबल पड़ी और सड़ासड़ तीन-चार खपच्ची मारते हुए बोली, “चोटी ! कुतिया ! तोरे बदन में कीड़ा पड़े !” मटकी के हाथ से फूट गिर पड़ा पर वह नाली में से फूट के टुकड़े उठाकर भागी। न रोयी, न चीखी बयोंकि उसके मुँह में फूट भरा था। मिरवा हक्का-वक्का इस घटना को देख रहा था कि गुलकी उसी पर बरस पड़ी। सड़-सड़ उसने मिरवा को मारना शुरू किया—“भाग यहाँ से, हरामजादे !” मिरवा दर्द से तिलमिला उठा—“हमला पैछा देव तो जाइ !” “देते हैं पैसा, छहर तो !” सड़ ! सड़ ! … रोता हुआ मिरवा चौतरे की ओर भागा।

निरमल की दूकान पर सन्नाटा छाया था। सब चुप उसी ओर देख रहे थे। मिरवा ने आकर कुवड़ी की शिकायत मुन्ना से की। मुन्ना चुप रहा। फिर मेवा की ओर घूमकर बोला, “मेवा, बता दो इसे!” मेवा पहले हिचकिचाया, फिर बड़ी मुलाय-मियत से बोला, “मिरवा, तुम्हें बीमारी हुई है न! तो हम लोग अब तुम्हें नहीं छुएँगे। साथ नहीं खिलाएँगे। तुम उधर बैठ जाओ।”

“हम विमाल हैं, मुन्ना?”

मुन्ना कुछ पिघला—“हाँ, हमें छुओ मत। निमकौड़ी खरीदना हो तो उधर बैठ जाओ। हम दूर से फेंक देंगे। सभभे!” मिरवा समझ गया, सिर हिलाया और अलग जाकर बैठ गया। मेवा ने निमकौड़ी उसके पास रख दी और वह चोट भूलकर पकी निमकौड़ी का बीजा निकालकर छीलने लगा।

इतने में ऊपर से घेघा बुआ की आवाज़ आयी—“ए मुन्ना! तई तू लोग परे हो जाओ! अबहिन पानी गिरी ऊपर से!” बच्चों ने ऊपर देखा। तिछत्ते पर घेघा बुआ कछोटा मारे पानी में छप-छप करती धूम रही थी। कूड़े से तिछत्ते की नाली बन्द थी और पानी भरा था। जिधर बुआ खड़ी थी उसके ठीक नीचे गुलकी का सौदा था। बच्चे वहाँ से दूर थे पर गुलकी को सुनाने के लिए वात बच्चों से कही गयी थी। गुलकी कराहती हुई उठी। कूवड़ की वजह से वह तनकर तिछत्ते की ओर देख भी नहीं सकती थी। उसने धरती की ओर देखकर बुआ से कहा, “इधर की नाली काहे खोल रही हो? उधर की नाली खोलो न।”

“काहे उधर की खोली! उधर हमार चौका है कि नै!”

“इधर हमार सौदा लगा है।”

“ऐ हैं!” बुआ हाथ चमकाकर बोली, “सौदा लगा है रानी साहब का! किरावा देय की दाईं हियाव फाटत है और टर्रीय की दाईं नटई में गामा पहलवान का जोर तो देखो। सौदा लगा है तो हम का करी। नारी तो इहै खुली!”

“खोलों तो देखें!” अकस्मात् गुलकी ने तड़पकर कहा। आज तक उसका यह स्वर किसी ने न सुना था—“पाँच महीने का दस रूपया नहीं दिया वेसक, पर हमारे घर की धनी निकाल के वसन्त के हाथ किसने बेचा? तुमने! पच्छम ओर का दरवाजा चिरवा के किसने जलवाया? तुमने! हम गरीब हैं। हमरा बाप नहीं है। सारा मुहल्ला हमें मिल के मार डालो।”

“हमें चोरी लगाती है! अरे, कल की पैदा हुई!” बुआ मारे गुस्से के खड़ी-बोली बोलने लगी थी।

बच्चे चुप खड़े थे। वे कुछ-कुछ सहमे हुए थे। कुवड़ी का यह रूप उन्होंने कभी न देखा था, न सोचा था।

“हाँ! हाँ! हाँ! तुमने, ड्राइवर चाचा ने, चाची ने, सबने मिलके हमारा मकान उजाड़ा है। अब हमारी दूकान बहाव देव। देखेंगे हम भी। निरवल के भी भगवान हैं!”

“ले! ले! ले! भगवान है तो ले!” और बुआ ने पागलों की तरह दीड़कर

नाली का कूड़ा लकड़ी से ठल दिया ।

छः इंच गन्दे पानी की धार घड़-घड़ करती हुई उसकी दूकान पर शिरले लगी । तरोइयाँ पहले नाली में गिरीं, फिर मूली, खीरे, साग, अदरक उछल-उछलकर दूर जा गिरे । गुलकी आँख फाड़े पागल-सी देखती रही और फिर दीवार पर सिर पटककर हृदय विदारक स्वर में डकार मारकर रो पड़ी—“अरे मोर बाबू—हमें कहाँ छोड़ गये ! अरे मोरी माई ! पैदा होते ही हमें काहे नहीं मार डाला ! अरे धरती मझ्या, हमें काहे नहीं लील लेती !”

सिर खोले, बाल विखेरे, छाती कूट-कूटकर गुलकी रो रही थी और तिछते का पिछले नी दिन का पानी घड़-घड़ घड़-घड़ गिर रहा था ।

बच्चे चुप खड़े थे । अब तक जो हो रहा था उनकी समझ में आ रहा था, पर आज यह क्या हो गया यह उनकी समझ में नहीं आ सका । पर वे कुछ बोले नहीं । सिर्फ़ मटकी उधर गयी और नाली में बहता हुआ एक मोटा हरा खीरा निकालने लगी कि मुन्ना ने डाँटा; “खवरदार, जो कुछ चुराया !” मटकी पीछे हट गयी । वे सब किसी अप्रत्याशित भय, संदेश या आशंका से जुड़-बटुरकर खड़े हो गये । सिर्फ़ मिरवा अलग सिर भुकाये खड़ा था । भींसी फिर पड़ने लगी थी और वे एक-एक कर अपने घर चले गये ।

○ ○

दूसरे दिन चौतरा खाली था । दूकान का वाँस उखड़वाकर बुझा ने नाँद में गाड़कर उस पर तुरही की लतर चढ़ा दी थी । उस दिन बच्चे आये पर उनकी हिम्मत उस चौतरे पर जाने की नहीं हुई । जैसे वहाँ कोई भर गया हो । विलकुल सुनसान चौतरा था और फिर तो ऐसी भड़ी लगी कि बच्चों का निकलना बन्द । चौथे या पाँचवें दिन भयानक वर्षा तो हो ही रही थी, पर बादल भी ऐसे गरज रहे थे कि मुन्ना अपनी खाट से उठकर अपनी माँ के पास घुस गया । विजली चमकते ही कमरा जैसे दोशनी से नाच-नाच उठता था । छत पर बूँदों की पटर-पटर कुछ धीमी हुई, थोड़ी हवा भी चली और पैड़ों का हर-हर सुनायी पड़ा कि इतने में घड़-घड़-घड़-घड़ाम ! भयानक आवाज हुई । माँ भी चौंक पड़ी । पर उठी नहीं । मुन्ना आँखें खीले औंचेरे में ताकने लगा । सहसा लगा मुहल्ले में कुछ लोग बातचीत कर रहे हैं । घेघा बुझा की आवाज सुनायी पड़ी—“किसी का मकान गिरा है, रे ?” “गुलकी का !” किसी का दूरागत उत्तर आया । “अरे बाप रे, दब गयी का ?” “नहीं ! आज तो भेवा की माँ के यहाँ सोयी है !” मुन्ना लेटा था और उसके ऊपर औंचेरे में ये सवाल-जवाब इधर से उधर और उधर से इधर जा रहे थे । वह फिर काँप उठा, माँ के पास घुस गया और सोते-सोते उसने साफ़ सुना—कुवड़ी फिर उसी तरह रो रही है, गला फाड़कर रो रही है । कोन जाने मुन्ना के ही आँगन में बैठकर रो रही हो । नींद में वह स्वर कभी दूर जाता, कभी पास आता हुआ ऐसा लग रहा था जैसे कुवड़ी मुहल्ले के हर आँगन में रो रही हो, पर कोई सुन नहीं रहा, सिवाय मुन्ना के ।

○ ○

वच्चों के मन में कोई बात इतनी गहरी लकीर नहीं बनाती कि उधर से उनका घ्यान हटे ही नहीं। सामने गुलकी थी तो वह एक समस्या थी, पर उसकी दूकान हट गयी, फिर वह जाकर साबुनवाली सत्ती के गलियारे में सोने लगी और दो-चार घर से माँग-जाँच कर खाने लगी। उस गली में दिखती ही नहीं थी। वच्चे भी दूसरे कामों में व्यस्त हो गये। अब जाड़े आ रहे थे तो उनका जमावड़ा सुवह न होकर तीसरे पहर होता था। जमा होने के बाद जलूस निकलता था और जिस जोशीले नारे से गली गूँज उठती थी, वह था—“घेघा बुआ को बोट दो !” पिछले दिनों म्युनिसिपलिटी का चुनाव हुआ था और उसी में वच्चों ने यह नारा सीखा था। वैसे कभी-कभी वच्चों में दो पार्टियाँ भी होती थीं, पर दोनों को घेघा बुआ से अच्छा उम्मीदवार कोई नहीं मिलता था, अतः दोनों ही गला फाड़-फाड़कर उनके लिए बोट माँगती थीं।

उस दिन जब घेघा बुआ के धैर्य का वाँच टूट गया और नयी-नयी गालियों से विभूषित अपनी प्रथम इलेक्शन स्पीच देने ज्योंही चौतरे पर अवतरित हुई कि उसे डाकिया आता हुआ दिखायी पड़ा। वह अचक्चाकर रुक गयी। डाकिये के हाथ में एक पोस्टकार्ड था और वह गुलकी को हूँढ़ रहा था। बुआ ने लपककर पोस्टकार्ड लिया, एक साँस में पढ़ गयी। उसकी आँखें मारे अचरच के फैल गयीं, और डाकिये को यह बताकर कि गुलकी सत्ती साबुनवाली के श्रोसारे में रहती है, वह झट से दीड़ी-दीड़ी निरमल की माँ ड्राइवर की पत्नी के यहाँ गयी। बड़ी देर तक दोनों में सलाह-मशविरा होता रहा और अन्त में बुआ आयी और उसने मेवा को भेजा—“जा, गुलकी को बुलाय ला !”

पर जब मेवा लौटा तो उसके साथ गुलकी नहीं, सत्ती साबुनवाली थी और सदा की भाँति इस समय भी उसकी कमर में वह काले वैंट का चाकू लटक रहा था, जिससे वह साबुन की टिक्की काटकर दूकानदारों को देती थी। उसने आते ही भौंह सिकोड़कर बुआ को देखा और कड़े स्वर में बोली, “क्यों बुलाया है गुलकी को ? तुम्हारा दस रूपया किराया वाकी था, तुमने पन्द्रह रुपये का सौदा उजाड़ दिया ! अब क्या काम है ?”

“अरे ! राम-राम ! कैसा किराया, वेटी ! अन्दर आओ, अन्दर आओ !” बुआ के स्वर में असाधारण मुलायमियत थी। सत्ती के अन्दर जाते ही बुआ ने फटाक से किवाड़ बन्द कर लिये। वच्चों का कीतूहल वहुत बढ़ गया था। बुआ के चौके में एक भंझरी थी। सब वच्चे वहाँ पहुँचे और आँख लगाकर कनपटियों पर दोनों हथेलियाँ रखकर ‘घण्टी-वाला वाइसकोप’ देखने की मुद्रा में खड़े हो गये।

अन्दर सत्ती गरज रही थी—“बुलाया है तो बुलाने दो। क्यों जाय गुलकी ? अब वड़ा ख़याल आया है ! इसलिए कि उसकी रखैल को बच्चा हुआ है तो जाके गुलकी भाड़-बुहारू करे, खाना बनावै, बच्चा खिलावै और वह मरद का बच्चा गुलकी की आँख के आगे रखैल के साथ गुलछरे उड़ावै !”

निरमल नी माँ बोली—“अरे विटिया ! पर गुजरतो अपने आदमी के साथ करेगी न ! जब उमसी पत्नी आयी है तो गुलकी को जाना च है। और मरद तो मरद। एक रखैल छोड़ दूड़ दूड़ रखैल रख ले तो औरत उमे छोड़ देगी ? राम ! राम !”

“नहीं, छोड़ नहीं देगी तो जाय के लात खायेगी ?” सत्ती बोली।

“अरे, वेटा !” बुआ बोली, “भगवान रहे न ! तोन मथुरापुरी में कुछ जा दासी के लात मारिन तो ओकर कूवर सीधा हुइ गवा । पती तो भगवान है, विटिया ! ओको जाय देव !”

“हाँ-हाँ, बड़ी हितू न बनिए । उसके आदमी से श्राप लोग मुफ्त में गुलकी का मकान खटकना चाहती हैं । मैं सब समझती हूँ ।”

निरमल की माँ का चेहरा जर्द पड़ गया । पर बुआ ने ऐसी कच्ची गोली नहीं खेली थी । वह डपटकर बोली, “खबरदार, जो कच्ची जवान निकाल्यो ! तुम्हारा चलित्तर कौन ने जनता ! ओही छोकरा मानिक…”

“जवान खींच लूँगी…” सत्ती गला फाड़कर चीखी, “जो आगे एक हूँफ कहा !” और उसका हाथ अपने चाकू पर गया ।

“अरे ! अरे ! अरे !” बुआ सहमकर दस कदम पीछे हट गयी, “तो का खून करवो का ?” सत्ती जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी ।

० ०

तीसरे दिन वच्चों ने तय किया कि होरी वालू के कुएँ पर चलकर वर्दे पकड़ी जायें । उन दिनों उनका जहर शान्त रहता है, वच्चे उन्हें पकड़कर उनका छोटा-सा काला डंक निकाल लेते और फिर डोरी में वाँधकर उसे उड़ाते हुए धूमते । मेवा, निरमल और मुन्ना एक-एक वर्दे उड़ाते हुए जब गली में पहुँचे तो वहाँ देखा बुआ के चौतरे पर टीन की कुर्सी ढाले कोई आदमी वैठा है । उसकी अजब शक्ति थी । कान पर बड़े-बड़े वाल, मिचमिची आँखें, मोछा और तेल से चुचुआते हुए वाल । कमीज और धोती पर पुराना बदरंग बूट । मटकी हाथ फैलाये कह रही है, “एक डबल दै देव ! ए दै देव ना !” मुन्ना को देखकर मटकी ताली बजा-बजाकर कहने लगी, “गुलकी का मनसेधू आवा है । ए मुन्ना वालू ! ई कुबड़ी का मनसेधू है ।” फिर उधर मुड़कर—“एक डबल दै देव !” तीनों वच्चे कीूहल से रुक गये । इतने में निरमल की माँ एक गिलास में चाय भरकर लायी और उसे देते-देते निरमल के हाथ में वर्दे देखकर डाँटने लगी । वर्दे छुड़ाकर निरमल को पास बुलाया और बोली, “वेटा, ई हमारी निरमला है । ए निरमला, जीजाजी हैं, हाथ जोड़ो ! वेटा, गुलकी हमरी जात-विरादरी की नहीं तो का हुआ, हमरे लिए जैसे निरमल वैसे गुलकी । अरे निरमल के वालू और गुलकी के वाप की दाँतकाटी रही । एक मकान बचा है उनकी चिन्हारी, और का !” एक गहरी साँस लेकर निरमल की माँ ने कहा ।

“अरे तो का उन्हें कोई इन्कार है !” बुआ आ गयी थी, “अरे, सौ रुपया तुम देवे किये रह्यू । चलो, तीन सौ रुपया और दै देव । अपने नाम कराय लेव !”

“भवा ! भवा ! ऐ वेटा दमाद हो, पांच सौ रुपया कहवो तो का निरमल की माँ को इन्कार है ।”

श्रकस्मात् वह आदमी उठकर खड़ा हो गया । आगे-आगे सत्ती चली आ रही थी, पीछे-पीछे गुलकी । सत्ती चौतरे के नीचे खड़ी हो गयी । वच्चे दूर हट गये । गुलकी मेरि उठाकर देखा और अचकचाकर सिर पर पल्ला डालकर माथे तक खींच लिया ।

गुलकी वन्नो

सत्ती दो-एक क्षण उसकी ओर एकटक देखती रही और फिर गरजकर बोली, “यही कसाई है। गुलकी, आगे बढ़कर मार दो चपोटा इसके मुँह पर! खवरदार, जो कोई चोला!” बुआ चट से देहरी के अन्दर हो गयी, निरमल की माँ की जैसे घिंघी बँध गयी और वह आदमी हड्डवड़ाकर पीछे हटने लगा।

“बढ़ती क्यों नहीं, गुलकी! बड़ा आया उहाँ से विदा करते!”

गुलकी आगे बढ़ी—सब सन्न थे—सीढ़ी चढ़ी, उस आदमी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गुलकी चढ़ते-चढ़ते रुकी, सत्ती की ओर देखा, ठिठी, अक्समात् लपकी और फिर उस आदमी के पांव गिरकर फफक-फफककर रोने लगी—“हाय, हमें काहे को छोड़ दियो! तुम्हरे सिवा हमरा लोक-परलोक और कौन है। अरे, हमरे भरे पर कौन चुल्लू भर पानी चढ़ाई...”

सत्ती का चेहरा स्थाह पड़ गया। उसने बड़ी हिकारत से गुलकी की ओर देखा और गुस्से में थूक निगलते हुए कहा, “कुतिया!” और तेजी से चली गयी। निरमल की माँ और बुआ गुलकी के सिर पर हाय रखकर कह रही थीं—“मत रो, विटिया, मत रो! सीता मझ्या भी तो बनवास भोगिन रहा। उठो, गुलकी वेटा। धोती बदल लेव, कंधी-चौटी करो। पति के सामने ऐसे आना असगुन होता है। चलो।”

गुलकी आँसू पोंछती-पोंछती निरमल बी माँ के घर चली। वच्चे पीछे-पीछे चले तो बुआ ने डाँटा—“ए, चलो एहर, हुआँ लड्डू बँट रहा है का!”

○ ○

दूसरे दिन निरमल के बाबू (झाइवर साहब) गुलकी और जीजा दिनभर कचहरी में रहे। शाम को लौटे तो निरमल की माँ ने पूछा, “पक्का कागज लिख गया?” “हाँ-हाँ रे, हाकिम के सामने निवार गया।” फिर जरा निकट आकर फुसफुसाकर बोले, “मिट्टी के मोल मकान मिला है। अब कल दोनों को विदा करो। अरे, पहले सी रुपया लाओ! बुआ का हिस्सा भी देना है।” निरमल की माँ उदास स्वर में बोली, “बड़ी चण्ट है चुड़िया—गाड़-गाड़ के रख रही है, मर के साँप होयगी।”

○ ○

सुबह निरमल की माँ के यहाँ मान खरीदने की कथा थी। शंख, धंटा-घड़ियाल, केले का पत्ता, पंजीरी, पंचामून का आयोजन देखकर मुन्ना के अलावा सब वच्चे जमा हो गये थे; गुलकी एक पीली धोती पहने, माथे तक धूंधट काढ़े सुपारी काट रही थी और वच्चे झाँक-झाँककर देख रहे थे। मेवा ने पास पहुँचकर कहा, “ए गुलकी, ए गुलकी, जीजा के साथ जाओगी क्या?” कुबड़ी ने भेंपकर कहा, “धत रे! ठिठोली करता है!” और लज्जा-भरी जो मुसकान किसी भी तरणी के चेहरे पर मनमोहक लाली बनकर फैल जाती, वह उसके भुरियोंदार, बेड़ील, नीरस चेहरे पर विचित्र रूप से वीभत्स लगने लगी। उसके काले पपड़ीदार होंठ सिकुड़ गये, आँखों के कोने मिचमिचा उठे और ग्रत्यन्त कुरुचिरूर्ण ढंग से उसने पल्ले से सिर ढाँक लिया और पीठ सीधी करके जैसे कूबड़ छिपाने का प्रयास करने लगी। मेवा पास ही बैठ गया। कुबड़ी ने पहले इधर-उधर देखा, फिर फुसफुसाकर मेवा से कहा, “क्यों रे, जीजाजी कैसे लगे तुझे?” मेवा ने असमंजस में या-

संकोच में पड़कर कोई जवाब नहीं दिया तो जैसे अपने को समझते हुए गुलकी बोली, “कुछ भी होय, है तो अपना आदमी ! हारे-गाढ़े कोई और काम आवेगा ? औरत को दबाकर रखना ही चाहिए ।” फिर थोड़ी देर चुप रहकर बोली, “मेवा भइया, सत्ती हमसे नाराज़ है । अपनी सगी बहन क्या करेगी, जो सत्ती ने किया हमारे लिए । ये चाची और बुआ तो मतलब के साथी हैं, हम क्या जानते नहीं ? पर भइया, अब जो बहो कि हम सत्ती के कहने से मरद को छोड़ दें, सो नहीं हो सकता ।” इतने में किसी का छोटा-सा बच्चा घृटनों के बल चलकर मेवा के पास आकर बैठ गया । गुलकी क्षणभर उसे देखती रही, फिर बोली, “पति से हमने अपराध किया तो भगवान ने बच्चा छिना लिया, अब भगवान हमें क्षमा कर देंगे ।” फिर कुछ क्षण के लिए चुप हो गयी, “क्षमा करेंगे तो दूसरी सन्तान देंगे ? तुम्हारे पिताजी को भगवान बनाये रखें । खोट तो हमी में है । फिर सन्तान होगी तो सीत का राज नहीं चलेगा ।”

इतने में गुलकी ने देखा कि दरवाजे पर उसका आदमी खड़ा बुआ से कुछ बातें कर रहा है । गुलकी ने तुरन्त पल्ले से सिर ढौँका और लगाकर उधर पीठ कर ली । बोली, “राम ! राम ! कितने दुवरा गये हैं ! हमारे बिना कौन खाने-पीने का ध्यान रखता । अरे, सीत तो अपने मत नव की होगी । ले भइया मेवा, जा, दो बीड़ा पान दे आजीजा को ।” फिर उसके मुंह पर वही लाज की बीमत्स मुद्रा आयी—“तुझे क़सम है, बताना मत किसने दिया है ।”

मेवा पान लेकर गया पर वहाँ उस पर किसी ने व्यान ही नहीं दिया । वह आदमी बुआ से कह रहा था, “इसे ले तो जा रहा हूँ, पर इतना कहे देता हूँ, आप भी समझा दें उसे—कि रहना हो तो दासी बनकर रहे । न दूध की, न पूत की । हमारे कौन काम की; पर हाँ, औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे, भाड़-बुहार करे तो दो रोटी खाय पड़ी रहे । पर कभी उससे जबान लड़ाई तो खैर नहीं । हमारा हाथ बड़ा जालिम है । एक बार कूबड़ निकला, तो अगली बार प्रान ही निकलेगा ।”

“क्यों नहीं, बेटा ! क्यों नहीं !” बुआ बोली और उन्होंने मेवा के हाथ से पान लेकर अपने मुंह में दबा लिये ।

○ ○

करीब तीन बजे इक्का लाने के लिए निरमल की माँ ने मेवा को भेजा । कथां की भीड़-भाड़ से उनका ‘मूढ़ पिराने’ लगा था, अतः अकेली गुलकी सारी तैयारी कर रही थी । मटकी काने में खड़ी थी । मिरवा और भवरी बाहर गुमसुम बैठे थे । निरमल की माँ ने बुआ को बुलाकर पूछा कि विदा-विदाई में क्या करना होगा, तो बुआ मुँह विगड़कर बोली, “अरे, कोई जात-विरादरी की है का ? एक लोटा में पानी भरके इकली-दुग्ली उतार के परजा-पजार बो दे दियो वस !” और फिर बुआ शाम की तैयारी में लग गयी ।

इक्का आते ही जैसे भवरी पागल-सी इधर-उधर ढौँडने लगी । उमे जाने के में श्राभाम हो गया कि गुलकी जा रही है, मदा क लिए । मेवा ने अपने छोटे-छोटे हाथों से बड़ी-बड़ी गठरियाँ रखीं, मटकी और मिरवा चुपचाप आकर इकके के पास लड़े हो

गये । सिर झुकाये पत्थर-सी चुप गुन जी निकली । आगे-आगे हाथ में पानी का भरा लोटा लिये निरमल थी । वह आदमी जाकर इकके पर बैठ गया । “अब जलदी करो !” उसने भारी गले से कहा । गुलकी आगे बढ़ी, किर रुकी और उसने टेंट से दो अधने निकाले—“ले, मिरवा ! ले, मटकी !” मटकी, जो हमेशा हाथ फैलाये रखती थी, इस समय जाने के साथ संकोच उसे आ गया कि वह हाथ नीचे कर दीवार से सटकर खड़ी हो गयी और सिर हिलाकर बोली—“नहीं !”—“नहीं बेटा, ले लो !” गुलकी ने पुचकारकर कहा । मिरवा-मटकी ने पैसे ले लिये और मिरवा बोला, “छलाम, गुलकी ! ए आदमी, छलाम !”

“अब क्या गाड़ी छोड़नी है !” वह फिर भारी गले से बोला ।

“ठहरो बेटा, कहीं ऐसे दमाद की विदाई होती है !” सहसा एक विलकुल अजनबी किन्तु अत्यन्त मोटा स्वर सुनायी पड़ा । उसने अचरण से देखा कि मुन्ना की माँ चली आ रही है । “हम तो मुन्ना का आसरा देख रहे थे कि स्कूल से आ जाय, उसे नाश्ता करा ले तो आयें, पर इकका आ गया तो हमने समझा अब तू चली । अरे निरमल की माँ, कहीं ऐसे बेटी की विदा होती है । लाओ, जरा रोली घोलो जलदी से, चावल लाओ और सेन्दुर भी ले आना, निरमल बेटा ! तुम बेटा उत्तर आओ इकके से !”

निरमल की माँ का चेहरा स्थाह पड़ गया था । बोली, “जितना हमसे बन पड़ा, किया । किसी को दौलत का घमण्ड थोड़े ही दिखाना था !” “नहीं, बहन ! तुमने तो किया, पर मुहल्ले की विटिया तो सारे मुहल्ले की विटिया होती है । हमारा भी तो फर्ज था । अरे, माँ-वाप नहीं तो मुहल्ला तो है । आओ, बेटा !” और उन्होंने टीका करके आँचल के नीचे छिपाये हुए कुछ कपड़े और एक नारियल उसकी गोद में डालकर उसे चिपका लिया । गुलकी जो अभी तक पत्थर-सी चुप थी, सहसा फूट पड़ी । उसे पहली बार लगा जैसे वह मायके से जा रही है—मायके से…अपनी माँ को छोड़कर…छोटे भाई-वहनों को छोड़कर…और वह अपने कर्कश फूटे हुए गले से विचित्र स्वर में रो पड़ी ।

“ले ! चुप हो जा ! तेरा भाई भी आ गया !” वह बोलीं । मुन्ना बस्ता लटकाये स्कूल से चला आ रहा था । कुवड़ी को अपनी माँ के कन्धे पर सिर रखकर रोते देखकर वह विलकुल हतप्रभ-सा हो गया । “आओ, बेटा ! गुलकी जा रही है न आज ! दीदी है न ! बड़ी बहन है । चल, पांव छू ले ! आ इधर !” माँ ने फिर कहा । मुन्ना…और कुवड़ी के पांव छूए ? क्यों ? क्यों ? पर माँ की बात ! एक क्षण में जैसे उसके मन में एक पूरा पहिया धूम गया और वह गुलकी की ओर बढ़ा । गुलकी ने दौड़कर उसे चिपका लिया और फूट पड़ी—“हाय भेरे भइया ! अब हम जा रहे हैं । अब किससे लड़ोगे, मुन्ना भइया ? अरे भेरे बीरन, अब किससे लड़ोगे ?” मुन्ना को लगा जैसे उसकी छोटी-छोटी पसलियों में एक बहुत बड़ा-सा आँसू जमा हो गया जो अब छलकने ही चाला है । इतने में उस आदमी ने फिर आवाज़ दी और गुलकी कराहकर मुन्ना की माँ का सहारा लेकर इकके पर बैठ गयी । इकका खड़-खड़ कर चल पड़ा । मुन्ना की माँ चंगंग किया—“एक आध गाना भी विदाई का गाये जाओ, बहन ! गुल-

जा रही है ! ” मुन्ना की माँ ने कुछ जवाब नहीं दिया, मुन्ना से बोली, “जलदी घर आना, बेटा । नाश्ता रखा है । ”

पर पागल मिरवा ने, जो वस्त्रे पर पांच लटकाये बैठा था, जाने क्या सोचा कि वह सचमुच गला फाड़कर गाने लगा—“बन्नो डाले डुपट्टे का पल्ला, मुहल्ले से चली गयी राम ! ” यह उस मुहल्ले में हर लड़की की विदा पर गाया जाता था । बुआ ने घुड़का तब भी वह चुप नहीं हुआ, उलटे मटकी बोली, “काहे न गावें, गुलकी ने पैसा दिया है ! ” और उसने भी सुर मिलाया—“बन्नो तली गई लाम ! बन्नो तली गई लाम ! बन्नो तली गई लाम ! ”

मुन्ना चुपचाप खड़ा रहा । मटकी डरते-डरते आयी—“मुन्ना वावू ! कुबड़ी ने अधन्ना दिया है । ले लें ? ”

“ले ले ! ” बड़ी मुश्किल से मुन्ना ने कहा और उसकी आँखों में दो बड़े-बड़े आँसू डवडवा आये । उन्हीं आँसुओं की फिलमिली में कोशिश करके मुन्ना ने जाते हुए इकके की ओर देखा । गुलकी आँसू पोंछते हुए परदा उठाकर सबको मुड़-मुड़कर देढ़ रही थी । मोड़ पर एक घचके से इकका मुड़ा और फिर अदृश्य हो गया ।

० ०

सिर्फ़ भवरी सड़क तक इकके के साथ गयी और फिर लौट आयी ।

परिनदे

अँधेरे कॉरीडोर में चलते हुए लतिका ठिठक गयी। दीवार का सहारा लेकर उसने लैम्प की बत्ती बढ़ा दी। सीढ़ियों पर उसकी छाया एक बेडौल कटी-फटी आकृति खींचने लगी। सात नम्बर कमरे से लड़कियों की बातचीत और हँसी-ठहाकों का स्वर अभी तक आ रहा था। लतिका ने दरवाजा खटखटाया। शोर अचानक बन्द हो गया।

“कौन है ?”

लतिका चुप खड़ी रही। कमरे में कुछ देर तक खुसर-पुसर होती रही, फिर दरवाजे की चटखनी के खुलने का स्वर आया। लतिका कमरे की देहरी से आगे बढ़ी; लैम्प की झपकती लौ में लड़कियों के चेहरे सिनेमा के परदे पर ‘क्लोज-अप’ की भाँति उभरने लगे।

“कमरे में अँधेरा क्यों कर रखा है ?” लतिका के स्वर में हल्की-सी भिड़की का आभास था।

“लैम्प में तेल ही खत्म हो गया, मैडम !” यह सुधा का कमरा था, इसलिए उसे ही उत्तर देना पड़ा। होस्टल में शायद वह सबसे अधिक लोकप्रिय थी, क्योंकि सदा छूट्टी के समय या रात को डिनर के बाद आस-पास के कमरों में रहनेवाली लड़कियों का जमघट उसी के कमरे में लग जाता था। देर तक गप-शप, हँसी-मजाक चलता रहता।

“तेल के लिए करीमुद्दीन से क्यों नहीं कहा ?”

“कितनी बार कहा, मैडम, लेकिन उसे याद रहे तब तो !”

कमरे में हँसी की फुहार एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गयी। लतिका के कमरे में आने से अनुशासन की जो धूटन घिर आयी थी, वह अचानक बह गयी। करीमुद्दीन होस्टल का जोकर था; उसके आलस और काम में टालमटोल करने की किस्से-कहानियाँ होस्टल की लड़कियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती थीं।

लतिका को हठात् कुछ स्मरण हो आया। अँधेरे में लैम्प धुमाते हुए उसने चारों ओर निगाहें दौड़ायीं। कमरे में चारों ओर घेरा डालकर वे बैठी थीं—पास-पास, एक-दूसरे के समीप, एक-दूसरे से सटकर। सबके चेहरे परिचित थे किन्तु लैम्प के पीले मढ़िम प्रकाश में जैसे कुछ बदल गया था, जैसे वह उन्हें पहली बार देख रही थी।

“जूली, अब तुम इस ब्लॉक में बगा कर रही हो ?” जूली खिड़की के पास पलंग के सिरहाने पर बैठी थी। उसने चुपचाप आँखें नीची कर लीं। लैम्प का प्रकाश चारों ओर से सिकुड़कर अब केवल उसके चेहरे पर गिर रहा था।

“नाइट-रजिस्टर पर दस्तखत कर दिये ?”

“हाँ, मैडम !”

“फिर…?” लतिका का स्वर कड़ा ही आया। जूली सकुचाकर खिड़की के बाहर देखने लगी।

जब से लतिका इस स्कूल में आयी है, उसने अनुभव किया है कि होस्टल के इस नियम का पालन डॉट-फटकार के बाबजूद भी नहीं किया जाता। नाइट-रजिस्टर पर दस्तखत करने के बाद अपना ब्लॉक छोड़ने पर कड़ी पावन्दी है, किन्तु किसी-न-किसी बहाने से प्रत्येक लड़की इसका उत्लंबन करती है।

“मैडम, कल से छुट्टियाँ शुरू हो जायेंगी, इसलिए आज रात हम सबने मिल-कर…” और सुधा पूरी बात न कहकर हेमन्ती की ओर देखते हुए मुसकराने लगी।

“हेमन्ती के गाने का प्रोग्राम है, आप भी कुछ देर बैठिए न, मैडम !”

लतिका खिसियानी-सी हो आयी। इस समय यहाँ आकर उसने इनके मजे को किरकिरा कर दिया है।

इस छोटे-से हिल-स्टेशन पर रहने आज उसे अरसा हो गया, किन्तु कब समय पतझड़ और गरमियों का घेरा पार करके सर्दियों की छुट्टियों की गोद में सिमट जाता है, उसे कभी याद नहीं रहता।

चोरों की तरह चुपचाप उसने अपने पांव देहरी से बाहर कर लिये। उसके चेहरे का तनाव ढीला पड़ गया। वह मुसकराने लगी।

“मेरे संग ‘स्नो-फॉल’ देखने कोई नहीं ठहरेगा ?”

“मैडम, छुट्टियों में क्या आप घर नहीं जा रहीं ?” सब लड़कियों की आँखें उस पर जम गयीं।

“अभी कुछ पक्का नहीं है; आई लव द स्नो-फॉल !”

लतिका को लगा, यही बात उसने पिछले साल भी कही थी, और शायद पिछले-से पिछले साल भी। उसे लगा मानो लड़कियाँ उसे सन्देह की दृष्टि से देख रही हैं, जैसे उन्होंने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उसका सिर चकराने लगा, मानो बादलों का स्थाह झुरमुट किसी अनजाने कोने से उठकर उसे अपने में ढूँढ़ा लेगा। वह थोड़ा-सा हँसी, फिर धीरे-से सिर को झटक दिया।

“जूली, तुमसे कुछ काम है, अपने ब्लॉक में जाने से पहले मुझसे मिल लेना। बेल, गुडनाइट !” लतिका ने अपने पीछे दरवाजा बन्द कर दिया।

“गुडनाइट मैडम, गुडनाइट, गुडनाइट…”

कॉरीडोर की सीढ़ियाँ न उतरकर लतिका रेलिंग के सहारे खड़ी हो गयीं।

लैम्प की बत्ती को नीचे धुमाकर कोने में रख दिया। बाहर धुन्ध की नीली तहें इतनी धनी हो चली थीं कि उन्हें चाकू से ढीला जा सकता था। लॉन पर लगे हुए चीड़ के पत्तों वी सरसराहट हवा के भोकों के संग कभी तेज़, कभी धीमी होकर भीतर वह आती थी। हवा में कुनकुनी सरदी का आभास पाकर लतिका के मस्तिष्क में कल से आरम्भ होनेवाली छुट्टियों का ध्यान भटक आया। उसने आँखें मूँद लीं। उसे लगा

जैसे उसकी टाँगें वाँस का लकड़ियों-सी उसके शरीर से बँधी हैं, जिसकी गाँठें धीरे-धीरे खुलती जा रही हैं। सिर की चक्राहट अभी मिटी नहीं थी, किन्तु अब जैसे वह भीतर न होकर बाहर फैली धून्ध का भाग बन गयी थी।

सीढ़ियों पर बातचीत का स्वर सुनकर लतिका सोती हुई-सी जग गयी। शाँख को कन्धों पर समेटकर उसने लैम्प उठा लिया। डॉक्टर मुकर्जी मिठू वर्ट के संग एक अंग्रेजी धुन गुनगुनाते हुए ऊपर आ रहे थे। सीढ़ियों पर अँधेरा था, और ह्यूवर्ट को बार-बार अपनी छड़ी से रास्ता टोलना पड़ता था। लतिका ने दो-चार सीढ़ियाँ उतरकर, लैम्प नीचे झुका दिया।

“गुड इवनिंग, डॉक्टर! गुड इवनिंग, मिस्टर ह्यूवर्ट!”

“थेंबू, मिस लतिका!” ह्यूवर्ट के स्वर में कृतज्ञता का भाव था। सीढ़ियाँ चढ़ने से उसकी साँस तेज हो गयी थी और वह दीवार से सटा हुआ हाँफ रहा था। लैम्प के प्रकाश में उसके चेहरे का पीलापन ताम्रवर्णित हो आया था, जिन पर उभरी हुई हड्डियों का उतार-चढ़ाव अधिक तीखा-सा हो गया था।

“यहाँ अकेली क्या कर रही हो, मिस लतिका?” डॉक्टर ने होंठों के भीतर से सीटी बजायी।

“चेंकिंग करके लौट रही थी। आज इस समय ऊपर कैसे आना हुआ, मिस्टर ह्यूवर्ट?”

ह्यूवर्ट ने मुसकराकर अपनी छड़ी डॉक्टर के कन्धों से छुआ दी, “इनसे पूछो, यही मुझे जबरदस्ती घसीट लाये हैं।”

“मिस लतिका, हम आपको निमन्त्रण देने आ रहे थे। आज रात मेरे कमरे में एक छोटा-सा ‘कन्स्टर्ट’ होगा, जिसमें मिस्टर ह्यूवर्ट शोपाँ और चेखोवस्की के कम्पोजीशन बजाएँगे; फिर क्रीम-कॉफी पी जायेगी। उसके बाद यदि समय रहा, तो पिछले साल हमने जो गुनाह किये हैं, उन्हें सब मिलकर ‘कन्फैस’ करेंगे।” डॉक्टर मुकर्जी के चेहरे पर शरारतभरी मुसकान खिल गयी।

“डॉक्टर, मुझे माफ़ करें, मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।”

“चलिए, यह ठीक रहा; फिर तो आप वैसे भी मेरे पास आतीं।” डॉक्टर ने धीरे-से लतिका के कन्धे को पकड़कर अपने कमरे की ओर मोड़ दिया।

○ ○

डॉक्टर मुकर्जी का कमरा ब्लॉक के दूसरे सिरे पर टैरेस से जुड़ा हुआ था। वह आवे वर्षी थे, जिनके चिह्न उनकी तनिक दबी हुई नाक और छोटी-छोटी चंचल आँखों से लक्षित हो जाते थे। वर्मा पर जापानियों का आक्रमण होने पर वह यहाँ, इस छोटे-से पहाड़ी शहर में आ वसे थे। प्राइवेट प्रैविट्स के अलावा वह कॉन्वेंट स्कूल में हाइजीन-फिजियॉलॉजी भी पढ़ाया करते थे, जिसके परिणामस्वरूप स्कूल के होस्टल में ही उन्हें एक कमरा मुफ्त रहने के लिए दे दिया गया था। कुछ लोगों का कहना है कि वर्मा से आते हुए रास्ते में उनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी थी, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि डॉक्टर स्वयं कभी अपनी पत्नी की चर्चा नहीं उठाते।

वातों के दीरान में डॉक्टर अक्सर कहा करते, "मरने से पहले मैं एक दफ़ा वर्षा जहर जाऊँगा।" एक क्षण के लिए उनकी आँखों में गीली-सी नमी छा जाती। लतिका चाहने पर भी उनसे कुछ नहीं पूछ पाती। उसे लगता डॉक्टर नहीं चाहते कि कोई उनके अतीत के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे, उनसे सहानुभूति प्रकट करे। दूसरे ही क्षण अपनी गम्भीरता को दूर ठेलते हुए वह हँसे पड़ते—एक सूखी सिनिकल हँसी…

"होम-सिंकर्नेस ही एक ऐसी वीमारी है, जिसका इलाज करना किसी डॉक्टर के चश की वात नहीं।"

टैरेस पर मेज-कुर्सियाँ बिछा दी गयीं; भीतर कमरे में पर्कुलेटर में कॉफ़ी का पानी चढ़ा दिया गया।

"सुना है, अगले दो-तीन वर्षों में यहाँ पर विजली का इन्तजाम हो जायेगा," डॉक्टर ने स्पिरिट लैम्प जलाते हुए कहा।

"यह वात तो पिछले दस सालों से सुनने में आ रही है। कहते हैं अंग्रेजों ने एक लम्बी-चौड़ी स्कीम बनायी थी, पता नहीं उसका क्या हुआ?" ह्यूवर्ट आरामकुर्सी पर अधलेटा-सा लॉन की ओर देख रहा था।

लतिका कमरे में से दो मोमबत्तियाँ ले आयी। मेज के दोनों सिरों पर टिकाकर उन्हें जला दिया गया। टैरेस का अंदेरा फीके पीले प्रकाश के दायरे के इर्द-गिर्द सिमटने लगा। एक घनी नीरवता चारों ओर घिरने लगी। हवा में चीड़ के वृक्षों की सायें-सायें दूर-दूर तक फैली पहाड़ियों, घाटियों में अजीब-सी सीटियों की गूंज छोड़ती जा रही थी।

"इस बार शायद वरफ़ जल्दी गिरेगी। अभी से हवा में सरद खुश्की-सी महसूस होती है।" डॉक्टर का सिगार अंधेरे में लाल बिन्दी-सा चमक रहा था।

"पता नहीं, मिस वुड को स्पेशल सर्विस का गोरखवन्धा वयों पसन्द आता है! छुट्टियों में घर जाने से पहले क्या यह जरूरी है कि लड़कियाँ फ़ादर एलमण्ड का 'सरमन' सुनें?" ह्यूवर्ट ने कहा।

"पिछले पांच साल से मैं सुनता आ रहा हूँ, फ़ादर एलमण्ड के 'सरमन' में कहों हेर-फेर नहीं होता।" डॉक्टर को फ़ादर एलमण्ड एक आँख नहीं सुहाते थे।

लतिका कुरसी पर आगे झुककर प्यालों में कॉफ़ी उड़ेलने लगी। हर साल स्कूल बन्द होने के दिन यही दो प्रोग्राम होते हैं—चैपल में स्पेशल सर्विस और उसके बाद दिन में पिकनिक। लतिका को याद आया पहला साल, जब वह डॉक्टर के संग पिकनिक के बाद क़लब गयी थी। डॉक्टर बाँर में बैठे थे, बाल-रूम कुमाऊँ रेजीमेंट के अफ़सरों से भरा हुआ था। कुछ देर तक विलियर्ड का खेल देखने के बाद जब वह बापस बाँर की ओर लौट रही थी, तब उसने दायरी ओर क़लब की लाइनेरी में देखा... किन्तु उसी समय डॉक्टर मुकर्जी पीछे से आ गये थे, "मिस लतिका, यह मेजर गिरीश नेगी है।" विलियर्ड-रूम से आते हुए हँसी-ठहाकों के नीचे वह नाम दब-सा गया था। वह किसी पुस्तक के बीच अंगुली रखकर लाइनेरी की लिङ्की के बाहर देख रहा था। "हलो, डॉक्टर!" वह पीछे मुड़ा, तब उस आण न जाने क्यों, लतिका का हाथ काँप गया और कॉफ़ी की कुछ गरम वूँदे उसकी

साड़ी पर छलक आयीं। अँवेरे में किसी ने नहीं देखा कि लतिका के बेहरे पर एक उनीदा-सा रीतापन घिर आया है।

हवा के भोंके से मोमवत्तियों की लौ फड़कने लगीं। टैरेस के ऊपर काठगोदाम जानेवाली सड़क पर यू० पी० रोडवेज की आखिरी बस डाक लेकर जा रही थी। बस की हैडलाइट्स में आस-पास फैली हुई झाँड़ियों की छायाएँ टैरेस की दीवार पर सरकती हुई गायब होने लगीं।

“मिस लतिका, आप इस साल भी छुट्टियों में यहाँ रहेंगी?” डॉक्टर ने पूछा।

डॉक्टर का प्रश्न हवा में टैंगा रहा। उसी क्षण पियानो पर बोपाँ का नॉक्टर्स ह्यू०वर्ट की अंगुलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे-धीरे टैरेस के अँवेरे ने घूलने लगा, जैसे जल पर कोमल स्वप्निल उमियाँ भंवरों का फिलमिलाता जाल बहती हुई फैलती जा रही हैं—दूर-दूर किनारों तक। लतिका को लगा, जैसे कहीं बहुत दूर दरक़्ष की चोटियों से परिण्डों के झुण्ड नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं। इन दिनों अक्षय उच्चते अपने कमरे की खिड़की से उन्हें देखा है—धारे में वैंचे चमकीले लट्टुओं की तरह दृढ़ लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं—पहाड़ों की सुनसान नीरवता से परे, दूर त्रिविंश शहरों की ओर, जहाँ शायद वह कभी जायेगी।

लतिका आर्म-चेयर पर झुकती हुई ऊँधने लगी। डॉक्टर मुकड़ी का सिगार अँवेरे में चुपचाप जल रहा था। डॉक्टर को आश्चर्य हुआ कि लतिका न जाने क्या सोच रही है। लतिका सोच रही थी, क्या वह बूढ़ी होती जा रही है। उसके सामने स्कूल की प्रिसिपल मिस बुड़ का चेहरा धूम गया—पोपला मुँह, आँखों के नीचे फूलती हुई माँस की अंगुलियाँ, जरा-जरा-सी बात पर चिढ़ जाना, कर्कश आवाज में चीखना। सब उसे ‘ओल्ड मैड’ कह कर पुकारते हैं… कुछ वर्षों बाद वह भी हूबहू बैसी ही बन जायेगी, लतिका के समृद्ध शरीर में झुरझुरी-सी दौड़ गयी, मानो अनजाने में उसने किसी गलीज बस्तु को छू लिया हो। उसे याद आया, कुछ महीने पहले अचानक उसे ह्यू०वर्ट का प्रेम-पत्र मिला था—भावुक याचना से भरा हुआ पत्र, जिसमें उसने न जाने क्या कुछ लिखा था, जो उसकी समझ में कभी नहीं आया। उसे ह्यू०वर्ट की इस बचकाना हरकत पर हँसी आयी थी, किन्तु भीतर-ही-भीतर उसे प्रसन्नता भी हुई थी; उसकी उम्र अभी बीती नहीं है, अब भी वह दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। ह्यू०वर्ट का पत्र पढ़कर उसे क्रोध नहीं आया, आयी थी केवल ममता। वह चाहती तो उसकी गलतफ़हमी को दूर करने में देर न लगती, किन्तु कोई शक्ति उसे रोके रहती है, उसके कारण अपने पर विश्वास रहता है, अपने सुन्दर का अम मानो ह्यू०वर्ट की गलतफ़हमी से जुड़ा है…

ह्यू०वर्ट ही क्यों, वह क्या किसी को भी चाह सकेगी, उसी अनुभूति के संग, जो अब नहीं रही, जो छाया-सी उस पर भँडराती रहती है; न स्वयं मिट्टी है, न उसे मुँहने वाली है। उसे लगा, जैसे बादलों का झुरमुट फिर उसके मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाने लगा है, उसकी टाँगें फिर निर्जीव गिथिल-सी हो गयी हैं।

वह भट्टके से उठ खड़ी हुई, “डॉक्टर, मुझे माफ़ करना, मुझे बहुत धकान-र्दी कर रही है…” बिना वाक्य पूरा किये हुए लतिका चली गयी।

कुछ देर तक टैरेस पर निस्तव्यता छायी रही। मोमवत्तियाँ बुझने लगी थीं। डॉ० मुकर्जी ने सिगार का नया कश लिया, “सब लड़कियाँ एक-जैसी ही होती हैं—वेवकूफ़ और सेण्टीमेण्टल !”

ह्यूवर्ट की अँगुलियों का दबाव पियानो पर ढीला पड़ता गया; अन्तिम सुरों की भिस्फ़की-सी गूँज कुछ क्षण तक हवा में तिरती रही।

“डॉक्टर, आपको कुछ मालूम है, मिस लतिका का व्यवहार पिछले कुछ अरसे से अजीव-सा लगता है !” ह्यूवर्ट के स्वर में लापरवाही का भाव था। वह नहीं चाहता था कि डॉक्टर को लतिका के प्रति उसकी भावनाओं का आभास-मान भी मिल सके। जिस कोमल अनुभूति को वह इतने समय से सँजोता आया है, डॉक्टर उसे हँसी के एक ही ठहाके में उपहासास्पद बना देगा।

“क्या तुम नियति में विश्वास करते हो, ह्यूवर्ट ?” डॉक्टर ने कहा। ह्यूवर्ट दम रोके प्रतीक्षा करता रहा। वह जानता था कि कोई भी वात कहने से पहले डॉक्टर को फिलॉसोफाइज़ करने की आदत थी। डॉक्टर टैरेस के जंगल से सटकर खड़े हो गये। फीकी-सी चाँदनी में चीड़ के पेड़ों की छायाएँ लौंग पर गिर रही थीं। कभी-कभी कोई जुगनू अँधेरे में हरा प्रकाश छिड़कता हुआ हवा में गायब हो जाता था।

“मैं कभी-कभी सोचता हूँ, इन्सान जिन्दा किसलिए रहता है ! क्या उसे कोई और वेहतर काम करने को नहीं मिला ? हजारों मील अपने मुल्क से दूर मैं यहाँ पड़ा हूँ; यहाँ कीन मुझे जानता है ! यहीं शायद मर भी जाऊँ। ह्यूवर्ट, क्या तुमने कभी महसूस किया है कि एक अजनबी की हैसियत से परायी जमीन पर मर जाना काफ़ी खौफ़नाक वात है ?”

ह्यूवर्ट विस्मित-सा डॉक्टर की ओर देखने लगा। उसने पहली बार डॉक्टर मुकर्जी के इस पहलू को देखा था। अपने सम्बन्ध में वह अक्सर चुप रहता था।

“कोई पीछे नहीं है, यह वात मुझमें एक अजीब किसम की वेफिकी पैदा कर देती है। लेकिन कुछ लोगों की मौत अन्त तक पहेली बारी रही है; शायद वे जिन्दगी से बहुत उम्मीद लगाते थे। उम्हे ट्रैनिंग भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आखिरी दम तक उन्हें मरने का ग्रहसास नहीं होता !”

“डॉक्टर, आप किसका जिक्र कर रहे हैं ?” ह्यूवर्ट ने परेशान होकर पूछा।

डॉक्टर कुछ देर तक चुपचाप सिगार पीते रहे। फिर मुड़कर वह मोमवत्तियों की बुझती हुई लौ को देखने लगे।

“तुम्हें मालूम है, किसी समय लतिका बेनागा बलब जाया करती थी ? गिरीश नेंगी से उसका परिचय वहीं हुआ था। कश्मीर जाने से एक रात पहले उसने मुझे सब कुछ बता दिया था। मैं अब तक लतिका से उस मुलाकात के बारे में कुछ नहीं कह सका हूँ। किन्तु उस रात कीन जानता था कि वह बापस नहीं लौटेगा। अँदर अब...अब क्या फक्क पड़ता है। लैट द डैड डाई...”

डॉक्टर की सूखी सरद हँसी में खोखली-सी शून्यता भरी थी।

“कीन गिरीश नेंगी ?”

“कुमाऊँ रेजीमेंट में कैप्टन था ।”

“डॉक्टर, क्या लतिका...” ह्यूबर्ट से आगे कुछ नहीं कहा गया । उसे याद आया वह पत्र, जो उसने लतिका को भेजा था—कितना अर्थहीन और उपहासास्पद, जैसे उसका एक-एक शब्द उसके दिल को कचोट रहा हो । उसने धीरे-से पियानो पर सिर टिका लिया । लतिका ने उसे क्यों नहीं बताया ? क्या वह इसके योग्य भी नहीं था ?

“लतिका...वह तो बच्ची है, पागल ! मरनेवाले के संग खुद थोड़े ही मरा जाता है !”

कुछ देर चुप रहकर डॉक्टर ने अपने प्रश्न को फिर दृहराया ।

“लेकिन ह्यूबर्ट, क्या तुम नियति पर विश्वास करते हो ?”

हवा के हल्के झोंके से मोमबत्तियाँ एक बार प्रज्ज्वलित होकर बुझ गयीं । टैरेस पर ह्यूबर्ट और डॉक्टर अँधेरे में एक-दूसरे का चेहरा नहीं देख पा रहे थे, फिर भी वे एक-दूसरे की ओर देख रहे थे । कॉन्वेंट स्कूल से कुछ दूर ‘मीडोज’ में वहते पहाड़ी नाले का स्वर आ रहा था । जब वहते देर बाद कुमाऊँ रेजीमेंटल सेप्टर का विगुल सुनायी दिया, तो ह्यूबर्ट हड्डवड़ाकर खड़ा हो गया ।

“अच्छा चलता हूँ डॉक्टर, गुडनाइट !”

“गुडनाइट ह्यूबर्ट, माफ़ करना, मैं सिगार खत्म करके उठूँगा ।”

○ ○

सुबह बदली छायी थी । लतिका के खिड़की खोलते ही धुन्ध का गुव्वारा-सा भीतर घुस आया, जैसे रात-भर द्वीपार के सहारे सरदी में ठिठुरता हुआ वह भीतर आने की प्रतीक्षा करता रहा हो । स्कूल से ऊपर चैपल जानेवाली सड़क बादलों में छिप गयी थी, केवल चैपल का ‘कॉस’ धुन्ध के परदे पर एक-दूसरे को काटती हुई पेंसिल की रेखाओं-सा दिखायी दे जाता था ।

लतिका ने खिड़की से आँखें हटायीं तो देखा कि करीमुदीन चाय की ट्रे लिये खड़ा है । करीमुदीन मिलिट्री में अर्दली रह चुका था, इसलिए ट्रे मेज पर रखकर ‘अटेन्शन’ की मुद्रा में खड़ा हो गया ।

लतिका भटके से उठ बैठी । सुबह से आलस करके कितनी बार जागकर वह सो चुकी है । अपनी खिसियाहट मिटाने के लिए लतिका ने कहा, “बड़ी सरदी है आज, विस्तर छोड़ने को जी नहीं चाहता ।”

“अजी मैम साहब, अभी क्या सरदी अँखी है, वडे दिनों में देखना, कैसे दाँत कटकटाते हैं !” और करीमुदीन अपने हाथों को बगलों में डाले हुए इस तरह सिकुड़ गया जैसे उन दिनों की कल्पना-मात्र से उसे जाड़ा लगना शुरू हो गया है । गंजे सिर पर दोनों तरफ के बाल खिजाव लगाने से कत्थई रंग के भूरे हो गये थे । बात चाहे किसी विषय पर हो रही हो, वह हमेशा खींच-तानकर उसे ऐसे क्षेत्र में घसीट लाता था, जहाँ वह वेभिझक अपने विचारों को प्रकट कर सके ।

“एक दफा तो यहाँ लगातार इतनी वरफ गिरी थी कि भुवाली से लेकर डाक वैंगले तक सारी सड़कें जाम हो गयीं । इतनी वरफ थी मैम साहब, कि पेड़ों की ठहनियाँ

तक सिकुड़कर तर्नों से लिपट गयी थीं, बिलकुल ऐसे।” और करीमुदीन नीचे झुककर मुर्गी-सा बन गया।

“कव की बात है?” लतिका ने पूछा।

“अब यह तो जोड़-हिसाब करके ही पता चलेगा, मैम साहब, लेकिन इतना याद है कि उस वक्त अंग्रेज बहादुर यहीं थे। कण्टोनमेण्ट की इमारत पर कौमी झण्डा नहीं लगा था। वड़ जबर थे ये अंग्रेज, दो धंटों में सारी सड़कों साफ़ करवा दीं। उन दिनों एक सीटी बजाने से पचास घोड़ेवाले जमा हो जाते थे; अब सारे शैंड खाली पड़े हैं। वे लोग आपनी खिदमत भी करवाना जानते थे; अब तो सब उजाड़ हो गया है।” करीमुदीन उदास भाव से बाहर देखने लगा।

आज यह पहली बार नहीं है जब लतिका करीमुदीन से उन दिनों की बातें सुन रही है जब ‘अंग्रेज बहादुर’ ने इस स्थान को स्वर्ग बना रखा था।

“आप छुट्टियों में इस साल भी यहीं रहेंगी, मैम साहब?”

“दिखता तो कुछ ऐसा ही है, करीमुदीन, तुम्हें फिर तंग होना पड़ेगा।”

“क्या कहती हैं, मैम साहब! आपके रहने से हमारा भी मन लग जाता है, वरना छुट्टियों में तो यहाँ कुत्ते लोटते हैं।”

“तुम आज जरा मिस्त्री से कह देना कि इस कमरे की छत की मरम्मत कर जाय। पिछरे साल वरफ का पानी दरारों से टपकता रहता था।” लतिका को याद आया, पिछली सरदियों में जब कभी वरफ गिरती थी, उसे पानी से बचने के लिए रात-भर कमरे के कोने में सिमटकर सोना पड़ता था।

करीमुदीन चाय की ट्रे उठाता हुआ बोला “ह्यू बर्ट सा’व तो शायद कल ही चले जायें। कल रात उनकी तबीयत फिर खराब हो गयी। आधी रात के वक्त मुझे जगाने आये थे। कहते थे छाती में तकलीफ़ है। उन्हें यह मौसम नहीं सुहाता। कह रहे थे, लड़कियों की बस में वह भी कल ही चले जायेंगे।”

करीमुदीन दरवाजा बन्द करके चला गया। लतिका की इच्छा हुई कि वह ह्यू बर्ट के कमरे में जाकर उसकी तबीयत की पूछताछ कर आए। किन्तु फिर न जाने क्यों स्लीपर पेरों में टैंगे रहे और वह खिड़की के बाहर बादलों को उड़ाता हुआ देखती रही। ह्यू बर्ट का चेहरा उसे देखकर जिस तरह सहमा-सा दयनीय हो जाता है, तब उसे लगता है कि वह अपनी मूक निरीह याचना में उसे कोस रहा है—न वह उसकी ग़लतफ़हमी को दूर करने का प्रयत्न कर पाती है, न उसे अपनी चिवशता की सफ़ाई देने का साहस होता है। उसे लगता है कि इस जाल से बाहर निकलने के लिए वह धारे के जिस सिरे को पकड़ती है, वह खुद एक गाँठ बनकर रह जाता है।

बाहर बूँदावांदी होने लगी थी; कमरे की टीन की छत ‘खट-खट’ बोलने लगी। लतिका पलंग से उठ खड़ी हुई; विस्तर को तहाकर बिछाया। फिर पेरों में स्लीपरों को घसीटते हुए वह बड़े आँखें तक आयी और उसके सामने स्टूल पर बैठकर बालों को खोलने लगी। किन्तु युछ देर तक कंधी बालों में उलझी रही और वह गुपसुम-सी शीशे में अपना चेहरा ताकती रही। करीमुदीन को यह कहना याद नहीं रहा कि धीरे-धीरे आग जलाने

की लकड़ियाँ जमा कर ले । इन दिनों सस्ते दामों पर सूखी लकड़ियाँ मिल जाती हैं । पिछले साल तो कमरा धुएँ से भर जाता था जिसके कारण कॅपकॅपाते जाड़े में भी उसे खिड़की खोलकर ही सोना पड़ता था ।

आइने में लतिका ने अपना चेहरा देखा, वह मुसकरा रही थी । पिछले साल अपने कमरे की सीलन और ठंड से बचने के लिए कभी-कभी वह मिस वुड के खाली कमरे में चौरी-चूपके सोने चली जाया करती थी । मिस वुड का कमरा विना आग की तपन के भी गरम रहता था; उसके गदीले सोफ़े पर लेटते ही आँख लग जाती थी । कमरा छुट्टियों में खाली पड़ा रहता है, किन्तु मिस वुड से इतना नहीं होता कि दो महीनों के लिए उसके हवाले ही कर जाय । हर साल कमरे का ताला ठोक जाती है । वह तो पिछले साल गुसलखाने में भीतर की साँकल देना भूल गयी थी, जिसे लतिका चोर-दरवाजे के रूप में इस्तेमाल करती रही थी ।

पहले साल अकेले में उसे बड़ा डर-सा लगता था । छुट्टियों में सारे स्कूल और होस्टल के कमरे सायँ-सायँ करने लगते हैं । डर के मारे उसे जब कभी नींद नहीं आती थी, तब वह करीमुदीन को देर रात तक बातों में उलझाये रखती । बातों में जब खोयी-सी वह सो जाती, तब करीमुदीन चुपचाप लैम्प बुझाकर चला जाता । कभी-कभी बीमारी का बहाना करके वह डॉक्टर को बुलावा भेजती थी, और बाद में बहुत ज़िद करके दूसरे कमरे में उनका विस्तर लगवा देती ।

लतिका ने कन्धे से बालों का गुच्छा निकाला और उसे बाहर फेंकने के लिए वह खिड़की के पास आ खड़ी हुई । बाहर छत की ढलान से बारिश के जल की मोटी-सी धार चरावर लॉन पर गिर रही थी । मेघाच्छन्न आकाश में सरकते हुए बादलों के पीछे पहाड़ियों के झुण्ड कभी उभर आते थे, कभी छिप जाते थे मानो चलती हुई ट्रेन से कोई उन्हें देख रहा हो । लतिका ने खिड़की से सिर बाहर निकाल लिया । हवा के झोंके से उसकी आँखें भिप गयीं । उसे जितने काम याद आते हैं, उतना ही आलस धना होता जाता है । बस की सीटें रिञ्जर्व करवाने के लिए चपरासी की रुपये देने हैं । जो सामान होस्टल की लड़कियाँ पीछे छोड़ जा रही हैं, उसे गोदाम में रखवाना होगा । कभी-कभी तो छोटी ब्लास की लड़कियों को पैरिंग करवाने के काम में भी हाथ बँटाना पड़ता था ।

वह इन कामों से ऊबती नहीं । धीरे-धीरे सब निष्टटते जाते हैं, कोई गलती इधर-उधर रह जाती है, सो बाद में सुधर जाती है । हर काम में किच-किच रहती है, परेशानी और दिक्कत महसूस होती है, किन्तु देर-सवेर इससे छुटकारा मिल ही जाता है । किन्तु जब लड़कियों की आखिरी बस चली जाती है, तब मन उचाट-सा हो जाता है; खाली कॉरीडोर में धूमती हुई वह कभी इस कमरे में जाती है, कभी उसमें । वह नहीं जान पाती कि अपने से क्या करे । दिल कहीं भी टिक नहीं पाता, हमेशा भटका-भटका-सा रहता है ।

इस सबके बावजूद जब कोई सहज भाव से उससे पूछ बैठता है, "मिस लतिका, छुट्टियों में श्राप घर नहीं जा रहीं ?" तब...तब वह क्या कहे ?

डिग-डांग-डिग...स्पेशल सर्विस के लिए स्कूल चैपल के घंटे बजने ल

तक सिकुड़कर तनों से लिपट गयी थीं, बिलकुल ऐसे ।” और करीमुदीन नीचे झुककर मुर्मा-सा बन गया ।

“कब की बात है ?” लतिका ने पूछा ।

“अब यह तो जोड़-हिसाब करके ही पता चलेगा, मेम साहब, लेकिन इतना याद है कि उस वक्त अंग्रेज बहादुर यहीं थे । कण्टोनमेण्ट की इमारत पर कौमी झण्डा नहीं लगा था । बड़े जवर थे ये अंग्रेज, दो घंटों में सारी सड़कें साफ़ करवा दीं । उन दिनों एक सीटी बजाने से पचास घोड़ेवाले जमा हो जाते थे; अब सारे शैड खाली पड़े हैं । वे लोग अपनी खिदमत भी करवाना जानते थे; अब तो सब उजाड़ हो गया है ।” करीमुदीन उदास भाव से बाहर देखने लगा ।

आज यह पहली बार नहीं है जब लतिका करीमुदीन से उन दिनों की बातें सुन रही है जब ‘अंग्रेज बहादुर’ ने इस स्थान को स्वर्ग बना रखा था ।

“आप छुट्टियों में इस साल भी यहीं रहेंगी, मेम साहब ?”

“दिखता तो कुछ ऐसा ही है, करीमुदीन, तुम्हें फिर तंग होना पड़ेगा ।”

“क्या कहती हैं, मेम साहब ! आपके रहने से हमारा भी मन लग जाता है, बरना छुट्टियों में तो यहीं कुत्ते लोटते हैं ।”

“तुम आज जरा मिस्त्री से कह देना कि इस कमरे की छत की मरम्मत कर जाय । पिछरे साल वरफ़ का पानी दरारों से टपकता रहता था ।” लतिका को याद आया, पिछली सरदियों में जब कभी वरफ़ गिरती थी, उसे पानी से बचने के लिए रात-भर कमरे के कोने में सिमटकर सोना पड़ता था ।

करीमुदीन चाय की ट्रे उठाता हुआ बोला “ह्यू बर्ट साव तो शायद कल ही चले जायें । कल रात उनकी तबीयत फिर खराब हो गयी । आधी रात के बक्त मुझे जगाने आये थे । कहते थे छाती में तकलीफ़ है । उन्हें यह मौसम नहीं सुहाता । कह रहे थे, लड़कियों की बस में वह भी कल ही चले जायेंगे ।”

करीमुदीन दरवाजा बन्द करके चला गया । लतिका की इच्छा हुई कि वह ह्यू बर्ट के कमरे में जाकर उसकी तबीयत की पूछताछ कर आए । किन्तु फिर न जाने क्यों स्लीपर पैरों में टैंगे रहे और वह खिड़की के बाहर बादलों को उड़ाता हुआ देखती रही । ह्यू बर्ट का चेहरा उसे देखकर जिस तरह सहमा-सा दयनीय हो जाता है, तब उसे लगता है कि वह अपनी मूक निरीह याचना में उसे कोस रहा है—न वह उसकी शलतफ़हमी को दूर करने का प्रयत्न कर पाती है, न उसे अपनी विवशता की सफ़ाई देने का साहस होता है । उसे लगता है कि इस जाल से बाहर निकलने के लिए वह धागे के जिस सिरे को पकड़ती है, वह सुदूर एक गाँठ बनकर रह जाता है ।

बाहर बूंदावांदी होने लगी थी; कमरे की टीन की छत ‘खट-खट’ बोलने लगी । लतिका पलंग से उठ सड़ी हुई; विस्तर को तहाकर बिछाया । फिर पैरों में स्लीपरों को घसीटते हुए वह बड़े आईने तक आयी और उसके सामने स्टूल पर बैठकर बालों को खोलने लगी । किन्तु कुछ देर तक कंधी बालों में उलझी रही और वह गुप्तसुम-सी शीशे में अपना चेहरा ताकती रही । करीमुदीन को यह कहना याद नहीं रहा कि धीरे-धीरे आग जलाने

लकड़ियाँ जगा कर ले । इन दिनों सस्ते दामों पर सूखी लकड़ियाँ मिल जाती हैं । इले साल तो कमरा धुएँ से भर जाता था जिसके कारण कौपकौपते जाड़े में भी उसे ढकी खोलकर ही सोना पड़ता था ।

आइने में लतिका ने अपना चेहरा देखा, वह मुसकरा रही थी । पिछले साल तो कमरे की सीलन और ठंड से बचने के लिए कभी-कभी वह मिस वुड के खाली परे में चोरी-चुपके सोने चली जाया करती थी । मिस वुड का कमरा विना आग की आन के भी गरम रहता था; उसके गदीले सोफ़े पर लेटते ही आँख लग जाती थी । परा छुट्टियों में खाली पड़ा रहता है, किन्तु मिस वुड से इतना नहीं होता कि दो महीनों लिए उसके हवाले ही कर जाय । हर साल कमरे का ताला ठोंक जाती है । वह तो छले साल गुसलखाने में भीतर की साँकल देना भूल गयी थी, जिसे लतिका चोर-रवाजे के हृप में इस्तेमाल करती रही थी ।

पहले साल अकेले में उसे बड़ा डर-सा लगता था । छुट्टियों में सारे स्कूल और स्टॉल के कमरे सार्य-सार्य करने लगते हैं । डर के मारे उसे जब कभी नींद नहीं आती है, तब वह करीमुदीन को देर रात तक बातों में उलझाये रखती । बातों में जब खोयी-रखी वह सो जाती, तब करीमुदीन चुपचाप लैम्प बुझाकर चला जाता । कभी-कभी दीमारी वहाना करके वह डॉक्टर को बुलवा भेजती थी, और बाद में बहुत जिद करके दूसरे मरे में उनका विस्तर लगवा देती ।

लतिका ने कन्धे से बालों का गुच्छा निकाला और उसे बाहर फेंकने के लिए वह खड़की के पास आ खड़ी हुई । बाहर छत की ढलान से बारिश के जल की मोटी-सी धार रावर लौंग पर गिर रही थी । मेघाच्छन्न आकाश में सरकते हुए बादलों के पीछे पहाड़ियों के झुण्ड कभी उभर आते थे, कभी छिप जाते थे मानो चलती हुई ट्रेन से कोई उन्हें ख रहा हो । लतिका ने खड़की से सिर बाहर निकाल लिया । हवा के झोंके से उसकी गँखे भिज गयीं । उसे जितने काम याद आते हैं, उतना ही आलस धना होता जाता है । इस की सीटें रिञ्जर्व करवाने के लिए चपरासी की रूपये देने हैं । जो सामान होस्टल की लड़कियाँ पीछे छोड़ जा रही हैं, उसे गोदाम में रखवाना होगा । कभी-कभी तो छोटी लिास की लड़कियों को पैकिंग करवाने के काम में भी हाथ चढ़ाना पड़ता था ।

वह इन कामों से ऊबती नहीं । धीरे-धीरे सब निपटते जाते हैं, कोई गलती इधर-उधर रह जाती है, सो बाद में सुधर जाती है । हर काम में किच-किच रहती है, नरेशानी और दिवकत महसूस होती है, किन्तु देर-सवेर इससे छूटकारा मिल ही जाता है । किन्तु जब लड़कियों की आखिरी वस चली जाती है, तब मन उचाट-सा हो जाता है; खाली काँरीडोर में धूमती हुई वह कभी इस कमरे में जाती है, कभी उसमें । वह नहीं जान पाती कि अपने से क्या करे । दिल कहीं भी टिक नहीं पाता, हमेशा भटका-भटका-सा रहता है ।

इस सबके बावजूद जब कोई सहज भाव से उससे पूछ बैठता है, "मिस लतिका, छुट्टियों में आप घर नहीं जा रहीं ?" तब...तब वह क्या कहे ?

डिग-डांग-डिग...स्पेशल स्ट्रिंग के लिए स्कूल चैपल के धंटे बजने लगे थे ।

लतिका ने अपना सिर खिड़की के भीतर कर लिया। उसने झटपट साढ़ी उतारी, पेटीकोट में ही कन्वे पर तौलिया डाले गुसलखाने में घुस गयी।

० ०

लेफ्ट राइट...लेफ्ट...लेफ्ट...

कंटोनमेण्ट जानेवाली पक्की सड़क पर चार-चार की पंक्ति में कुमाऊँ रेजीं के सिपाहियों की एक टुकड़ी मार्च कर रही थी। फौजी बूटों की भारी खुरदरी आव स्कूल चैपल की दीवारों से टकराकर भीतर 'प्रेयर-हॉल' में गूंज रही थीं।

"व्हेसिड आर द भीक," फ़ादर एलमण्ड एक-एक शब्द चबाते हुए खोखारते र में 'सर्मन आँफ़ द माउण्ट' पढ़ रहे थे। ईसा मसीह की मूर्ति के नीचे 'कैण्डलियरम' दोनों ओर भोमवत्तियाँ जल रही थीं, जिनका प्रकाश आगे वेंचों पर बैठी हुई लड़कियों पढ़ रहा था। पिछली लाइनों के वेंच आँधेरे में ढूबे हुए थे, जहाँ लड़कियाँ प्रार्थना मुद्रा में बैठी हुई सिर झुकाये एक-दूसरे से खुसर-पुसर कर रही थीं। मिस वुड सीजन के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने पर विद्यार्थियों और स्टाफ़ सदस्यों को बघाई भाषण दे चुकी थी, और अब फ़ादर के पीछे बैठी हुई अपने में ही कुछ बुझवड़ा रही मानो धीरे-धीरे फ़ादर को 'प्रॉम्प्ट' कर रही हो।

"आभीन !!" फ़ादर एलमण्ड ने बाइबिल मेज पर रख दी और 'प्रेयर-बुक' ली। हॉल की खामोशी क्षणभर के लिए टूट गयी। लड़कियों ने खड़े होते हुए जान-बू कर वेंचों को पीछे धकेला; वेंच फर्श पर रगड़ खाते सीटी बजाते हुए पीछे लिसक गं हॉल के कोने से हँसी फूट पड़ी। मिस वुड का चेहरा तन गया, माथे पर मूकुटियाँ गयीं। फिर अचानक निःस्तव्यता छा गयी; हॉल के उस धृटे हुए धुंधलके में फ़ादर तीखा फटा हुआ स्वर सुनायी देने लगा, "जीसस सेड आई एम द लाईट, आँफ़ द वल ही दैट फॉलोअर्य मी शैल नॉट वॉक इन डार्कनेस, वट शैल हैव द लाइट आँफ़ लाइफ़"

डॉक्टर मुकर्जी ने अब और उकताहट से भरी जम्हाई ली। "कब यह किस खत्म होगा ?" उन्होंने इतने ऊचे स्वर में लतिका से पूछा कि वह सकुचाकर दूसरी अंदेखने लगी। स्पेशल सर्विस के समय डॉक्टर मुकर्जी के हॉटें पर व्यंग्यात्मक मुसक खेलती रही थी और वह धीरे-धीरे अपनी मूँछों को खींचते रहते थे।

फ़ादर एलमण्ड की वेशभूपा देखकर लतिका के दिल में गुदगुदी-सी दौड़ गयी जब वह छोटी थी तो अक्सर यह बात सोचकर विस्मित हुआ करती थी कि क्या पाद लोग सफेद चोरों के नीचे कुछ नहीं पहनते; अगर धोखे से वह ऊपर उठ जाय तो ?

लेफ्ट...लेफ्ट...लेफ्ट, मार्च करते हुए फौजी बूट चैपल से दूर होते जा रहे केवल उनकी गूंज हवा में शेष रह गयी थी।

"हिम निम्बर ११७," फ़ादर ने प्रार्थना-पुस्तक खोलते हुए कहा। हॉल में प्रत्ये लड़की ने डेस्क पर रखी हुई हिम-बुक खोल ली। पन्नों के उलटने की खड़खड़ा फिसलती हुई एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयी।

आगे के वेंच से उठकर ह्यू वर्ट पियानो के सामने स्टूल पर बैठ गया। संगीर शिक्षक होने के कारण हर साल स्पेशल-सर्विस के अवसर पर उसे 'कॉर्यर' के संग पिया-

बजाना पड़ता था। ह्यूबर्ट ने अपने रूमाल से नाक साफ़ की। अपनी घवराहट छिपाने के लिए ह्यूबर्ट हमेशा ऐसे ही किया करता था। कनखियों से हाँल की ओर देखते हुए उसने अपने काँपते हाथों से हिम-बुक खोली।

लीड काइण्डली लाईट्

पियानो के सुर दबे, फिफकते-से मिलने लगे। घने वालों से ढाँकी ह्यूबर्ट की लम्बी, पीली आँगुलियाँ खुलने-सिमटने लगीं। 'कॉयर' में गानेवाली लड़कियों के स्वर एक-दूसरे से गुंथकर कोमल, स्त्रिघ लहरों में बिध गये।

लतिका को लगा, उसका जूँड़ा ढीला पड़ गया है, मानो गरदन के नीचे झूल रहा है। मिस वुड की आँख बचाकर लतिका ने चुपचाप बालों में लगे किलपों को कसकर खींच दिया।

"वड़ा फक्की आदमी है, सुबह मैंने ह्यूबर्ट को यहाँ आने से मना किया था; फिर भी चला आया!" डॉक्टर ने कहा।

लतिका को करीमुदीन की बात याद हो आयी। 'रात-भर ह्यूबर्ट को खाँसी का दौरा पड़ा था। कल जाने के लिए कह रहे थे'...लतिका ने सिर टेढ़ा करके ह्यूबर्ट के चेहरे की एक भलक पाने की विफल चेष्टा की। इतनी पीछे से कुछ भी देख पाना असम्भव था; पियानो पर झुके हुए ह्यूबर्ट का केवल सिर दिखायी देता था।

लीड काइण्डली लाईट्...संगीत के सुर मानो एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अवाध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उत्तर रहे हैं। बारिश की मुलायम धूप चैपल के लम्बे चौकोर शीशों पर फिलमिला रही है, जिसकी एक महीन चमकीली रेखा ईसा मसीह की प्रतिमा पर तिरछी होकर गिर रही है। मोमवत्तियों का धुआँ धूप में नीली-सी लकीर खींचता हुआ हवा में तिरने लगा है। पियानो के क्षणिक 'पॉज' में लतिका को पत्तों का परिचित मर्मर कहीं दूर अनजानी दिशा से आता हुआ सुनायी दे जाता है। एक क्षण के लिए उसे भ्रम हुआ कि चैपल का फीका-सा आँधेरा उस छोटे-से 'प्रेयर-हॉल' के चारों कोनों से सिमटता हुआ उसके आस-पास घिर आया है, मानो कोई उसकी आँखों पर पट्टी बांधकर यहाँ तक ले आया हो और अचानक उसकी आँखें खोल दी हों। उसे लगा जैसे मोमवत्तियों के धूमिल आलोक में कुछ भी ठोस, वास्तविक न रहा हो; चैपल की छत, दीवारें, डेस्क पर रखा हुआ डॉक्टर का सुड्ड, सुडौल हाथ, पियानो के सुर अतीत की धुन्ध को भेदते हुए स्वयं उस धुन्ध का भाग बनते जा रहे हैं...

एक पगली-सी स्मृति, एक उद्भ्रान्त भावना चैपल के शीशों के परे पहाड़ी सूरवी हवा में झुकी हुई बीरिंग विलोज़ की काँपती टहनियाँ, पैरों-तले चीड़ के पत्तों की धीमी-सी चिर-परिचित खड़-खड़...वहीं पर गिरीश एक हाथ में मिलिटरी का खाकी हैट लिये खड़ा है—चौड़े, उठे हुए सबल कर्वे, अपना सिर वहाँ टिका दो तो जैसे सिमटकर खो जायगा...चाल्स बोगर, यह नाम उसने रखा था। वह भेंपकर हँसने लगता। "तुम्हें आर्मी में किसने चुन लिया, मेजर बन गये हो, लेकिन लड़कियों से भी गये-बीते हो; जरा-जरा-जरा-सी बात पर चेहरा लाल हो जाना है।" यह मत्र वह कहती नहीं, सिर्फ़ सोचती-भर थी। सोचा था, कभी कहूँगी; वह 'कभी' कभी नहीं आया।

बुर्झेस का लाल फूल ।

“लाये हो ?”

“न ।”

“भूठे !”

खाकी कमीज की जिरा जेव पर बैंज चिपके थे, उसी में से मुसा हुआ बुर्झेस का फूल निकल आया ।

“छिः, सारा मुरझा गया ।”

“आगी लिला कहाँ है ?”

“हाऊ बलम्जी ?”

उसके बालों में गिरीश का हाथ उत्तम रहा है । फूल कहीं टिक नहीं पाता । फिर उसे गिलप के नीचे फँसाकर उसने कहा, “देखो ।”

वह मुझी, इसमे पहले कि वह कुछ कह पाती गिरीश ने अपना मिलिटरी का हेट घप्प से उसके तिर पर रख दिया । वह मन्त्रमुख-सी बैरो ही खड़ी रही । उसके सिर पर गिरीश का हेट है, माथे पर छोटी-सी बिन्दी है । बिन्दी पर उड़ते हुए बाल हैं । गिरीश ने उस बिन्दी को अपने होंठों से छुआ है; उसने उसके नंगे सिर को अपने दोनों हाथों में समेट लिया है ।

“लतिका !”

“बोलो नहीं !”

गिरीश ने चिढ़ाते हुए कहा, “मैन-टॉटर आँकु युगाओ !” उसका यह नाम गिरीश ने उसे चिढ़ाने के लिए रखा था । वह हँसने लगी ।

“लतिका, गुनो,” गिरीश का स्वर कैसा हो गया था ।

“ना ! मैं कुछ भी नहीं सुन रही ।”

“लतिका, मैं कुछ महीनों में वापस लौट आऊँगा ।”

“ना ! मैं कुछ भी नहीं सुन रही ।” फिन्तु वह सुन रही है—वह नहीं जो गिरीश कह रहा है किन्तु वह जो नहीं कहा जा रहा, जो उसके बाद कभी नहीं कहा गया ।

लौट कालगण्डली लाईट...”

लड़कियों का स्वर वियानो के मुरों में ढूवा हुआ गिर रहा है, उठ रहा है । लूबूट ने सिर मोड़ाकर लतिका को निमिप-भर देला—शीखें मूँदे ध्यान-मरना प्रस्तर मूर्ति-सी वह स्थिर निश्चल खड़ी थी । यदा यह भाव उसके लिए है ? क्या लतिका ने ऐसे धाणों में उसे अपना साभी बनाया है ? लूबूट ने एक गहरी साँस ली और उस साँस में छेर-री यकान उमड़ आयी ।

“देखो, मिग वुड कुरसी पर बैठी-बैठी लो रही है,” डॉक्टर होंठों में ही फुस-फुसाया । यह डॉक्टर का पुराना गजाक था कि रिग वुड प्रार्थना करने के बहाने आँटो मूँदे हुए नींद की भणकियाँ लिया करती है ।

फादर एलगण्ड ने गुरसी पर फैले अपने गाउन को समेट लिया श्रीर प्रैपर-बुक बन्द करके मिस वुड के कानों में गुच्छ लगा । वियानो का स्वर क्रमशः मन्द पड़ने लगा,

ह्यूवर्ट की अँगुलियाँ ढीली पड़ने लगीं। सर्विस समाप्त होने से पूर्व मिस वुड ने आर्डर पढ़कर सुनाया। वारिश होने की आशंका से आज के कार्यक्रम में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़े थे। पिक्निक के लिए फूलादेवी के मन्दिर जाना सम्भव नहीं हो सकेगा, इसलिए स्कूल से कुछ दूर 'मीडोज' में ही सब लड़कियाँ नाश्ते के बाद जमा होंगी। सब लड़कियों को दोपहर का 'लंच' होस्टल, किंतु से ही ले जाना होगा, केवल शाम की चाय 'मीडोज' में वनेगी।

पहाड़ों की वारिश का क्या भरोसा ! कुछ देर पहले धुआंधार बादल गरज रहे थे, सारा शहर पानी में भीगा ठिठुर रहा था; अब धूप में नहाता नीला आकाश धून्ध की ओट से बाहर निकलता हुआ फैल रहा था। लतिका ने चैपल से बाहर आते हुए देखा कि बीपिंग विलोज़ की भीगी शाखाओं से धूप में चमकती हुई वारिश की वूँदें टपक रही थीं।

लड़कियाँ चैपल से बाहर निकलकर छोटे-छोटे गृहु बनाकर कॉरीडोर में जमा हो गयी हैं। नाश्ते के लिए अभी पौना धंटा बाकी था और उनमें से अभी कोई भी लड़की होस्टल जाने के लिए इच्छुक नहीं थी। छुट्टियाँ अभी चुरू नहीं हुई थीं, किन्तु शायद इसीलिए वे इन चन्द बचे-खुचे क्षणों में अनुशासन के धंरे के भीतर भी मुक्त होने का भरपूर आनन्द उठा लेना चाहती थीं।

मिस वुड को लड़कियों का यह गुल-गपाड़ा अखिरा, किन्तु फ़ादर एलमण्ड के सामने वह उन्हें डॉट-फ़टकार नहीं सकी। अपनी झल्लाहट दबाकर वह मुस्कराते हुए बोली, "कल सब चली जायेगी, सारा स्कूल बीरान हो जायेगा।"

फ़ादर एलमण्ड का लम्बा ओजपूर्ण चेहरा चैपल की धूटी हुई गरमाई से लाल हो उठा था। कॉरीडोर के जंगले पर अपनी छड़ी लटकाकर वह बोले, "छुट्टियों में पीछे हीस्टल में कौन रहेगा ?"

"पिछले दो-तीन साल से मिस लतिका ही रहती है।"

"और डॉक्टर मुकर्जी ?" फ़ादर का ऊपरी होंठ तनिक खिच आया।

"डॉक्टर तो सरदी-गरमी यहीं रहते हैं," मिस वुड ने विस्मय से फ़ादर की ओर देखा। वह समझ नहीं सकी कि फ़ादर ने डॉक्टर का प्रसंग क्यों छेड़ दिया है।

"डॉक्टर मुकर्जी छुट्टियों में कहीं नहीं जाते ?"

"दो महीनों की छुट्टियों में वर्षा जाना काफ़ी मुश्किल है, फ़ादर," मिस वुड हँसने लगी।

किन्तु फ़ादर एलमण्ड ने मिस वुड की हँसी में योग नहीं दिया। उनके चेहरे पर तनाव की रेखाएँ खिची रहीं।

"मिस वुड, पता नहीं आप क्या सोचती हैं, मुझे तो मिस लतिका का होस्टल में अकेले रहना कुछ समझ में नहीं आता।"

"लेकिन फ़ादर," मिस वुड ने कहा, "यह तो कॉन्वेंट स्कूल का नियम है कि कोई भी दीचर छुट्टियों में अपने खर्च पर होस्टल में रह सकती है।"

"मैं फ़िलहाल स्कूल के नियमों की बात नहीं कर रहा। मिस लतिका डॉक्टर के संग यहाँ अकेली ही रह जायेगी; और सच पूछिए मिस वुड, डॉक्टर के बारे में मेरी

बुर्झस का लाल फूल ।

“लाये हो ?”

“न ।”

“भूठे !”

खाकी कमीज़ की जिस जेव पर बैंज चिपके थे, उसी में से मुसा हुआ बुर्झस का फूल निकल आया ।

“छिः, सारा मुरझा गया ।”

“अभी बिला कहाँ है ?”

“हाऊ बलम्जी ?”

उसके बालों में गिरीश का हाथ उलझ रहा है । फूल कहीं टिक नहीं पाता । फिर उसे बिलप के नीचे फँसाकर उसने कहा, “देखो ।”

वह मुड़ी, इससे पहले कि वह कुछ कह पाती गिरीश ने अपना मिलिटरी का हैट घण्ठ से उसके सिर पर रख दिया । वह मन्त्रमुग्ध-सी बैंसे ही खड़ी रही । उसके सिर पर गिरीश का हैट है, माथे पर छोटी-सी बिन्दी है । बिन्दी पर उड़ते हुए बाल हैं । गिरीश ने उस बिन्दी को अपने हाँठों से छुआ है; उसने उसके नंगे सिर को अपने दोनों हाथों में समेट लिया है ।

“लतिका !”

“बोलो नहीं !”

गिरीश ने चिढ़ाते हुए कहा, “मैन-ईंटर आँफ़ कुमाओ !” उसका यह नाम गिरीश ने उसे चिढ़ाने के लिए रखा था । वह हँसने लगी ।

“लतिका, सुनो,” गिरीश का स्वर कैसा हो गया था ।

“ना ! मैं कुछ भी नहीं सुन रही ।”

“लतिका, मैं कुछ महीनों में बापस लौट आऊँगा ।”

‘ना ! मैं कुछ भी नहीं सुन रही ।’ किन्तु वह सुन रही है—वह नहीं जो गिरीश कह रहा है किन्तु वह जो नहीं कहा जा रहा, जो उसके बाद कभी नहीं कहा गया ।

लीड काइण्डली लाईट...

लड़कियों का स्वर पियानो के सुरों में डूवा हुआ गिर रहा है, उठ रहा है । ह्यू बर्ट ने सिर भोड़कर लतिका को निमिप-भर देखा—आँखें मूँदे ध्यान-मरना प्रस्तर मूर्ति-सी वह स्थिर निश्चल खड़ी थी । क्या यह भाव उसके लिए है ? क्या लतिका ने ऐसे क्षणों में उसे अपना साभी बनाया है ? ह्यू बर्ट ने एक गहरी साँस ली और उस साँस में हेर-सी थकान उमड़ आयी ।

“देखो, मिस बुड़ कुरसी पर बैठी-बैठी सी रही है,” डॉक्टर होंठों में ही फूस-फूसाया । यह डॉक्टर का पुराना भजाक था कि सिम बुड़ प्रार्थना करने के बहाने आँखें मूँदे हुए तींद की भाकियाँ लिया करती है ।

फादर एलमण्ड ने कुरसी पर फैले अपने गाउन को समेट लिया और प्रेयर-बुक बन्द करके मिस बुड़ के कानों में बुछ कहा । पियानो का स्वर क्रमशः मन्द पड़ने लगा,

ह्यूवर्ट की अँगुलियाँ ढीली पड़ने लगीं। सर्विस समाप्त होने से पूर्व मिस वुड ने आईरे पढ़कर सुनाया। वारिश होने की आशंका से आज के कार्यक्रम में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़े थे। पिकनिक के लिए झूलादेवी के मन्दिर जाना सम्भव नहीं हो सकेगा, इसलिए स्कूल से कुछ दूर 'मीडोज' में ही सब लड़कियाँ नाश्ते के बाद जमा होंगी। सब लड़कियों को दीपहर का 'लंच' होस्टल, किचन से ही ले जाना होगा, केवल शाम की चाय 'मीडोज' में बनेगी।

पहाड़ों की वारिश का क्या भरोसा ! कुछ देर पहले धुआंधार बादल गरज रहे थे, सारा शहर पानी में भीगा ठिठुर रहा था; अब धूप में नहाता नीला आकाश धुन्ध की ओट से बाहर निकलता हुआ फैल रहा था। लतिका ने चैपल से बाहर आते हुए देखा कि चीपिग विलोज की भीगी शाखाओं से धूप में चमकती हुई वारिश की दूरदृश्य टपक रही थीं।

लड़कियाँ चैपल से बाहर निकलकर छोटे-छोटे गुद्द बनाकर कॉरीडोर में जमा हो गयी हैं। नाश्ते के लिए अभी पौना घंटा बाकी था और उनमें से अभी कोई भी लड़की होस्टल जाने के लिए इच्छुक नहीं थी। छुट्टियाँ अभी शुरू नहीं हुई थीं, किन्तु शायद इसीलिए वे इन चन्द बचे-खुचे क्षणों में अनुशासन के धेरे के भीतर भी मुक्त होने का भरपूर आनन्द उठा लेना चाहती थीं।

मिस वुड को लड़कियों का यह गुल-गपाड़ा अस्वरा, किन्तु फ़ादर एलमण्ड के सामने वह उन्हें डॉक्टर कार नहीं सकी। अपनी भल्लाहट दवाकर वह मुसकराते हुए बोली, "कल सब चली जायेंगी, सारा स्कूल बीरान हो जायेगा।"

फ़ादर एलमण्ड का लम्बा ओजपूर्ण चेहरा चैपल की छुटी हुई गरमाई से लाल हो उठा था। कॉरीडोर के जंगले पर अपनी छड़ी लटकाकर वह बोले, "छुट्टियों में पीछे होस्टल में कौन रहेगा ?"

"पिछले दो-तीन साल से मिस लतिका ही रहती है।"

"और डॉक्टर मुकर्जी ?" फ़ादर का ऊपरी होंठ तनिक खिच आया।

"डॉक्टर तो सरदी-गरमी यहीं रहते हैं," मिस वुड ने विस्मय से फ़ादर की ओर देखा। वह समझ नहीं सकी कि फ़ादर ने डॉक्टर का प्रसंग क्यों छेड़ दिया है।

"डॉक्टर मुकर्जी छुट्टियों में कहीं नहीं जाते ?"

"दो महीनों की छुट्टियों में बर्मा जाना काफ़ी मुश्किल है, फ़ादर," मिस वुड हँसने लगी।

किन्तु फ़ादर एलमण्ड ने मिस वुड की हँसी में योग नहीं दिया। उनके चेहरे पर तनाव की रेखाएँ खिची रहीं।

"मिस वुड, पता नहीं आप क्या सोचती हैं, मुझे तो मिस लतिका का होस्टल में अकेले रहना कुछ समझ में नहीं आता।"

"लेकिन फ़ादर," मिस वुड ने कहा, "यह तो कॉवेंट स्कूल का नियम है कि कोई भी टीचर छुट्टियों में अपने खर्च पर होस्टल में रह सकती है।"

"मैं फ़िलहाल स्कूल के नियमों की बात नहीं कर रहा। मिस लतिका डॉक्टर के संग यहाँ अकेली ही रह जायेगी; और सच पूछिए मिस वुड, डॉक्टर के बारे में मेरी

राय कुछ बहुत अच्छी नहीं है।”

“फ़ादर, आप कैसी वात कर रहे हैं! मिस लतिका वच्चा थोड़े ही है!” मिस वुड को ऐसी आशा नहीं थी कि फ़ादर एलमण्ड अपने दिल में ऐसी दकियानूसी भावना को स्थान देंगे।

फ़ादर एलमण्ड कुछ हतप्रभ-से हो गये; वात पलटते हुए बोले, “मिस वुड, मेरा मतलब यह नहीं था। आप तो जानती हैं मिस लतिका और उस मिलिटरी अफ़्सर को लेकर एक अच्छा-खासा स्कैण्डल बन गया था। स्कूल की बदनामी होने में क्या देर लगती है!”

“वह देचारा तो अब नहीं रहा। मैं उसे जानती थी फ़ादर, ईश्वर उसकी आत्मा को शान्ति दे।”

मिस वुड ने धीरे-से अपनी दोनों बाँहों से ‘क्रॉस’ किया।

फ़ादर एलमण्ड को मिस वुड की मूर्खता पर इतना अधिक क्षोभ हुआ कि उनसे आगे और कुछ नहीं बोला गया। डॉक्टर मुकर्जी से उनकी कभी नहीं पटती थी, इसलिए मिस वुड की आँखों में वह डॉक्टर को नीचा दिखाना चाहते थे। किन्तु मिस वुड लतिका का रोना ले दैठी। आगे वात बढ़ाना व्यर्थ था। उन्होंने छड़ी को जंगले से उठाया और ऊपर साफ़ धुले आकाश को देखते हुए बोले, “प्रोग्राम आपने यों ही बदला मिस वुड, अब क्या बारिश होगी!”

○ ○

ह्यू वर्ट जब चैपल से बाहर निकला तो उसकी आँखें चकाचौंध-सी हो गयीं। उसे लगा जैसे किसी ने अचानक हेर-सी चमकीली उबलती हुई रोशनी मुट्ठी में भरकर उस की आँखों में झोंक दी हो। पियानो के संगीत-सुर सई के छुईमुई रेशों से अब तक उसके भस्तिज्जक की थकी-माँदी नसों पर फ़ड़फ़ड़ा रहे थे। वह काफ़ी थक गया था। पियानो बजाने से उसके फेफड़ों पर हमेशा भारी दबाव पड़ता था; दिल की घड़कन तेज़ हो जाती थी। उसे लगता था कि संगीत के एक नोट को दूसरे नोट में उतारने के प्रयत्न में वह एक अँधेरी खाई पार कर रहा है।

आज चैपल में मैंने जो महसूस किया, वह कितना रहस्यमय, कितना विचित्र था, ह्यू वर्ट ने सोचा। मुझे लगा, पियानो का हर नोट चिरन्तन खामोशी की अँधेरी खोह से निकलकर बाहर फैली नीली धुन्ध को काटता, तराशता हुआ एक भूना-सा अर्थ लिंच लाता है। गिरता हुआ हर ‘पॉञ्ज’ एक छोटी-सी मौत है, मानो धने छायादार वृक्षों की काँपती छायाओं में कोई एगडण्डी गुम हो गयी हो—एक छोटी-सी मौत जो आनेवालों सुरों की अपनी बची-खुची गुंजों की साँसें समर्पित कर जाती है; जो मर जाती है, किन्तु मिट नहीं पाती; मिटती नहीं, इसलिए मरकर भी जीवित है, दूसरे सुरों में लय हो जाती है।

डॉक्टर क्या, मृत्यु ऐसे ही आती है? अगर मैं डॉक्टर से पूछूँ तो वह हँसकर टाल देंगे। मुझे लगता है, कि वह पिछले कुछ दिनों से कोई वात दिपा रहे हैं। उनकी हँसी में जो सहानुभूति का भाव होता है, वह मुझे अच्छा नहीं लगता। आज उन्होंने मुझे स्पेशल सर्विस में आने से रोका था। कारण पूछने पर वह चुप रहे थे। कौन-सी ऐसी बात है, जिसे

मुझे कहने में डॉक्टर कतराते हैं ? शायद में शक्की मिजाज होता जा रहा हूँ, और वात कुछ भी नहीं है ।

ह्यू बर्ट ने देखा, लड़कियों की कतार स्कूल के होस्टल जानेवाली सड़क पर नीचे उतरती जा रही है; उजली धूप में उनके रंग-विरंगे रिवन, हल्के आसमानी रंग के फ्रॉक और सफेद पेटियाँ चमक रही हैं। सीनियर कैम्पिज की कुछ लड़कियों ने चैपल की वाटिका से गुलाव के फूल तोड़कर अपने बालों में लगा लिये हैं। कण्टोनमेण्ट के तीन-चार सिपाही लड़कियों को देखते हुए अश्लील मजाक करते हुए हँस रहे हैं और कभी-कभी किसी की ओर ज़रा-सा झुककर सीटी बजाने लगते हैं।

“हलो, मिस्टर ह्यू बर्ट !” ह्यू बर्ट ने चौंककर पीछे देखा। लतिका एक मोटा-सा रजिस्टर बगल में दबाये खड़ी थी।

“आप अभी यहीं हैं ?” ह्यू बर्ट की दृष्टि लतिका पर टिकी रही। वह क्रीम रंग की पूरी बांहों की ऊनी जैकेट पहने हुए थी। कुमाऊँ-लड़कियों की तरह लतिका का चेहरा गोल था। धूप की तपन से पका गेहूआँ रंग कहीं-कहीं हल्ला-सा गुलाबी हो आया था, मानो वहुत धोने पर भी गुलाल के कुछ घब्बे इधर-उधर बिखरे रह गये हैं।

“उन लड़कियों के नाम नोट करने थे, जो कल जा रही हैं, सो पीछे लकना पड़ा। आप भी तो कल जा रहे हैं, मिस्टर ह्यू बर्ट !”

“अभी तक तो यही इरादा है। यहाँ रुककर भी क्या करूँगा। आप स्कूल की ओर जा रही हैं ?”

“चलिए !”

पक्की सड़क पर लड़कियों की भीड़ जमा थी, इसलिए वे दोनों पोलो-ग्राउण्ड का चक्कर काटते हुए पगडण्डी से नीचे उतरने लगे।

हवा तेज हो चली थी; चीड़ के पत्ते हर झोंके के संग टूट-टूटकर पगडण्डी पर ढेर लगाते जाते थे। ह्यू बर्ट रास्ता बनाने के लिए अपनी छड़ी से उन्हें बुहारकर दोनों ओर विचेर देता था। लतिका पीछे खड़ी हुई देखती थी, ग्रलमोड़ा की ओर से आते हुए छोटे-छोटे बादल रेशमी रुमालों-से उड़ते हुए सूरज के मुँह पर लिपटे-से जाते थे; फिर हवा में आगे वह निकलते थे। इस खेल में धूप कभी मन्द फीकी-सी पड़ जाती थी, कभी अपना उजला आँचल खोलकर समूचे पहाड़ी शहर को अपने में समेट लेती थी।

लतिका तनिक आगे निकल गयी। ह्यू बर्ट की साँस चढ़ गयी थी और वह धीरे-धीरे हँसकता हुआ पीछे आ रहा था। जब वे पोलो-ग्राउण्ड के पवेलियन को छोड़कर सिमिट्री के दायीं ओर मुड़े तो लतिका ह्यू बर्ट की प्रतीक्षा करने के लिए खड़ी हो गयी। उसे याद आया, छुट्टियों के दिनों में जब कभी कमरे में अकेले बैठे-बैठे उसका मन ऊब जाता था, तो वह अक्सर टहलते हुए सिमिट्री तक चली जाती थी। उससे सटी पहाड़ी पर चढ़कर वह वरफ़ में हैंके देवदार वृक्षों को देखा करती थी, जिनकी भुकी हुई शाखाओं से रुई के गोलों-सी वरफ़ नीचे कन्नों पर गिरा करती थी। नीचे बाजार जानेवाली सड़क पर बच्चे ‘स्लेज़’ पर फिसला करते थे। वह खड़ी-खड़ी वरफ़ में छिपी हुई उस सड़क का अनुमान लगाया करती थी जो फ़ादर एलमण्ड के घर से गुज़रती हुई मिलिटरी अस्पताल

और डाकघर से होकर चर्च की सीढ़ियों तक जाकर गुम हो जाती थी। जो मनोरंजन एक दुर्गम पहली को सुलझाने में होता है, वही लतिका को बरफ में खोये हुए रास्तों को खोज निकालने में होता था।

“आप वहुत तेज़ चलती हैं, मिस लतिका!” यकान से ह्यूवर्ट का चेहरा कुम्हला गया था, माये पर पसीने की वृद्धं छलक आयी थीं।

“कल रात आपकी तबीयत क्या कुछ ख़राब हो गयी थी, मिस्टर ह्यूवर्ट?”

“आपने कैसे जाना? क्या मैं अस्वस्थ दीख रहा हूँ?” ह्यूवर्ट के स्वर में हळ्की-सी खींज का आभास था। सब लोग मेरी सेहत को लेकर वयों वात शुरू करते हैं, उसने सोचा।

“नहीं, मुझे तो पता भी नहीं चलता, वह तो सुवह करीमुद्दीन ने वातों-ही-वातों में जिक्र छेड़ दिया था।” लतिका कुछ अप्रतिभ-सी हो आयी।

“कोई ख़ास वात नहीं, वही पुराना दर्द शुरू हो गया था; अब विलकुल ठीक है।” अपने कथन की पुष्टि के लिए ह्यूवर्ट छाती सीधी करके तेज़ कदम बढ़ाने लगे।

“डॉक्टर मुकर्जी को दिखलाया था?”

“वह सुवह आये थे। उनकी वात कुछ समझ में नहीं आती। हमेशा दो वातें एक-दूसरे से उल्टी कहते हैं। कहते थे कि इस बार मुझे छः-सात महीनों की छुट्टी लेकर आराम करना चाहिए, लेकिन अगर मैं ठीक हूँ तो भला इसकी क्या ज़रूरत है?”

ह्यूवर्ट के स्वर में व्याध की छाया लतिका से छिपी न रह सकी। वात को टालते हुए उसने कहा, “आप तो नाहक चिन्ता करते हैं, मिस्टर ह्यूवर्ट! आजकल मौसम बदल रहा है, अच्छे-भले आदमी बीमार हो जाते हैं।”

ह्यूवर्ट का चेहरा प्रसन्नता से दमकने लगा। उसने लतिका को ध्यान से देखा।

वह अपने दिल का संशय मिटाने के लिए निश्चन्त हो जाना चाहता था कि कहीं लतिका उसे केवल दिलासा देने के लिए ही तो फूँठ नहीं बोल रही।

“यही तो मैं सोच रहा था, मिस लतिका! डॉक्टर की सलाह सुनकर तो मैं डर गया। भला छः महीने की छुट्टी लेकर मैं श्रकेला क्या करूँगा! स्कूल में तो वच्चों के संग मन लगा रहता है। सच पूछो तो दिल्ली में ये दो महीनों की छुट्टीयाँ भी काढ़नी दूभर हो जाती हैं।”

“मिस्टर ह्यूवर्ट, कल आप दिल्ली जा रहे हैं?”

लतिका चलते-चलते हठात् ठिठक गयी। सामने पोलो-ग्राउण्ड फैला था जिसके दूसरी ओर मिलिटरी के ट्रक कण्टोनमेण्ट की ओर जा रहे थे। ह्यूवर्ट को लगा, जैसे लतिका की आँखें अधर्मुद्दी-सी खुली रह गयी हैं, मानो पलकों पर एक पुराना, भूला-सा सपना सरक आया हो।

“मिस्टर ह्यूवर्ट, आप दिल्ली जा रहे हैं?” इस बार लतिका ने प्रश्न नहीं दुहराया; उसके स्वर में केवल एक असीम दूरी का भाव धिर आया था…

“वहुत अरसा पहले मैं भी दिल्ली गयी थी, मिस्टर ह्यूवर्ट, तब मैं वहुत छोटी थी; न जाने कितने बरस बीत गये। हमारी मौसी का व्याह वहीं हुआ था। वहुत-सी

चीजें देखी थीं, लेकिन अब तो सब धुंधला-सा पड़ गया है। इतना याद है कि हम कुतुब पर चढ़े थे। सबसे ऊँची मंजिल से नीचे झाँका था; न जाने कैसा-सा लगा था। नीचे चलते हुए आदमी चावी भरे हुए खिलौने-से लगते थे। हमने ऊपर से उन पर मूँफलियों के छिलके फेंके थे, लेकिन हम बहुत निराश हुए, क्योंकि उनमें से किसी ने हमारी तरफ नहीं देखा। शायद माँ ने मुझे डाँटा भी था, क्योंकि मैं सीढ़ियाँ उतरती हुई रो रही थी। शायद माँ ने नहीं डाँटा था, और मैं सिर्फ़ नीचे झाँकते हुए डर गयी थी। सुना है, अब तो दिल्ली इतनी बदल गयी है कि पहचाना नहीं जाता....”

वे दोनों फिर चलने लगे। हवा का वेग ढीला पड़ने लगा था। उड़ते हुए बादल अब सुस्ताने-से लगे थे; उनकी छायाएँ नन्दादेवी और पंचूली की पहाड़ियों पर गिर रही थीं। स्कूल के पास पहुँचते-पहुँचते चीड़ के पेड़ धीछे छूट गये, कहीं-कहीं खुबानी के पेड़ों के आस-पास बुर्खे के लाल फूल धूप में चमक जाते थे। स्कूल तक आने में उन्होंने पोलो-ग्राउण्ड का लम्बा चक्कर लगा लिया था।

“मिस लतिका, आप छुट्टियों में कहीं क्यों नहीं जातीं? सरदियों में तो यहाँ सब-कुछ बीरान हो जाता होगा।”

“अब मुझे यहाँ अच्छा लगता है,” लतिका ने कहा, “पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था, अब आदी हो गयी हूँ। किसमस की एक रात पहले बलब में डिनर होता है, लॉटरी डाली जाती है और रात को देर तक नाच-गाना होता रहता है। नये साल के दिन कुमाऊँ रेजीमेण्ट की ओर से परेड-ग्राउण्ड में कार्नीवाल किया जाता है, वरफ़ पर स्कैटिंग होती है, रंग-बिरंगे गुब्बारों के नीचे मिलिटरी वैंड बजता है, फौजी अफसर फैन्सी ड्रेस में भाग लेते हैं। हर साल ऐसा ही होता है, मिस्टर ह्यू वर्ट। फिर कुछ दिनों बाद विण्टर-स्पोर्ट्स के लिए अंग्रेज टूरिस्ट आते हैं; हर साल मैं उनसे परिचित होती हूँ, वापिस लौटते हुए वे हमेशा बायदा करते हैं कि वे अगले साल भी आएँगे। मैं जानती हूँ कि वे नहीं आएँगे, वे भी जानते हैं कि वे नहीं आएँगे, फिर भी हमारी दोस्ती में कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर... फिर कुछ दिनों बाद पहाड़ों पर वरफ़ पिघलने लगती है, छुट्टियाँ खत्म होने लगती हैं, आप सब लोग अपने-अपने घरों से वापिस लौट आते हैं, और मिस्टर ह्यू वर्ट, पता भी नहीं चलता छुट्टियाँ कब शुरू हुई थीं, कब खत्म हो गयीं।”

लतिका ने देखा कि ह्यू वर्ट उसकी ओर आतंकित भयाकुल दृष्टि से देख रहा है। वह सिटपिटाकर चुप हो गयी। उसे लगा, मानो वह इतनी देर से पागल-सी अनर्गल प्रलाप कर रही हो।

“मुझे साफ़ करना, मिस्टर ह्यू वर्ट, कभी-कभी मैं बच्चों की तरह बातों में बहक जाती हूँ।”

“मिस लतिका,” ह्यू वर्ट ने धीरे-से कहा। वह चलते-चलते रुक गया था। लतिका ह्यू वर्ट का भारी कुण्ठित स्वर सुनकर चौंक-सी गयी।

“क्या बात है, मिस्टर ह्यू वर्ट?”

“वह पत्र... उसके लिए मैं लज्जित हूँ। उसे आप वापिस लौटा दें। समझ लें कि मैंने उसे कभी नहीं लिखा था।”

लतिका कुछ समझ नहीं सकी, दिग्भ्रान्त-सी खड़ी हुई ह्यूवर्ट के पीले, उद्धिङ्गन चेहरे को देखती रही।

ह्यूवर्ट ने धीरे-से लतिका के कन्धे पर हाथ रख दिया। “कल डॉक्टर ने मुझे सब-कुछ बता दिया। अगर मुझे पहले से मालूम होता तो…तो…” ह्यूवर्ट हकलाने लगा।

“मिस्टर ह्यूवर्ट…” किन्तु लतिका से आगे कुछ भी नहीं कहा गया। उसका चेहरा सफेद हो गया था।

वे दोनों चुपचाप कुछ देर तक कॉन्वेंट स्कूल के गेट के बाहर खड़े रहे।

००

मीडोज—पगडिण्डियों, पत्तों, छायाओं से विरा छोटा-सा द्वीप, मानो कोई धोंसला दो हरी धाटियों के बीच आ दवा हो। भीतर धूसते हुए ही पिकनिक के काले आग से भूलसे हुए पत्थर, अधजली ठहनियाँ, बैठने के लिए विछाये गये पुराने अखबारों के टुकड़े इधर-उधर विखरे हुए दिखायी दे जाते हैं। अक्सर टूरिस्ट पिकनिक के लिए यहाँ आते हैं। मीडोज को बीच में काटना हुआ टेढ़ा-मेढ़ा वरसाती नाला बहता है, जो दूर से धूप में चमकता हुआ सफेद रिक्त-सा दिखायी देता है।

यहाँ पर काठ के तख्तों का बना हुआ टूटा-सा पुल है, जिस पर लड़कियाँ हिचकोले खाती हुई चल रही हैं।

“डॉक्टर मुकर्जी, आप तो सारा जंगल जला देंगे,” मिस बुड़ ने अपने ऊँची एड़ी के सेंडल से जलती हुई दियासलाई को दवा डाला, जो डॉक्टर ने सिगार सुलगाकर चीड़ के पत्तों के ढेर पर फेंक दी थी। वे नाले से कुछ दूर हटकर दो चीड़ के पेड़ों की गुंथी हुई छाया के नीचे बैठे थे। उनके सामने एक छोटा-सा रास्ता नीचे पहाड़ी गाँव की ओर जाता था, जहाँ पहाड़ की गोद में शकरपारों-से खेत एक-दूसरे के नीचे विछे हुए थे। दोपहर के सन्नाटे में भेड़-बकरियों के गलों में बैंधी हुई घण्टियों का स्वर हवा में बहता हुआ सुनायी दे जाता था।

धास पर लेटे-जैटे डॉक्टर सिगार पीते रहे।

“जंगल की आग कभी देखी है, मिस बुड़, एक अलमस्त नशे की तरह धीरे-धीरे फैलती जाती है !”

“आपने कभी देखी है, डॉक्टर ?” मिस बुड़ ने पूछा, “मुझे तो वड़ा डर लगता है।”

“बहुत साल पहले शहरों को जलते हुए देखा था,” डॉक्टर लेटे हुए आकाश की ओर ताक रहे थे, “एक-एक मकान ताश के पत्तों की तरह गिरता जाता है। दुर्भाग्यवश ऐसे अवसर देखते में बहुत कम आते हैं।”

“आपने कहाँ देखा, डॉक्टर ?”

“लड़ाई के दिनों में अपने शहर रंगून को जलते हुए देखा था।” मिस बुड़ की आत्मा को ठेस लगी, किन्तु फिर भी उनकी उत्सुकता शान्त नहीं हुई।

“आपका घर ? क्या वह भी जल गया था ?”

डॉक्टर कुछ देर तक चुपचाप लेटा रहा ।

“हम उसे खाली छोड़कर चले आये थे, मालूम नहीं वाद में क्या हुआ ।” अपने व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में कुछ भी कहने में डॉक्टर को कठिनाई महसूस होती है ।

“डॉक्टर, क्या आप कभी वापिस वर्मा जाने की बात नहीं सोचते ?” डॉक्टर ने अँगड़ाई ली और करवट बदलकर अँधे मुँह लेट गये । उनकी आँखें मुँद गयीं, और माथे पर बालों की लटें झूल आयीं ।

“सोचने से क्या होता है, मिस वुड, जब वर्मा में था तब क्या कभी सोचा था कि यहाँ आकर उम्र काटनी होगी !”

“लेकिन डॉक्टर, कुछ भी कह लो, अपने देश का सुख कहीं और नहीं मिलता । यहाँ आप चाहे कितने वर्ष रह लें, अपने को हमेशा अजनबी ही पायेंगे ।”

डॉक्टर ने सिगार के धुएं को धीरे-धीरे हवा में छोड़ दिया । “दरअसल अजनबी तो मैं वहाँ भी समझा जाऊँगा, मिस वुड । इतने वर्षों बाद वहाँ मुझे कौन पहचानेगा ! इस उम्र में नये सिरे से रिश्ते जोड़ना काफ़ी सिरदर्दी का काम है; कम-से-कम मेरे बजा की बात नहीं है ।”

“लेकिन डॉक्टर, आप कब तक इस पहाड़ी कस्बे में पड़े रहेंगे ? इसी देश में रहना है तो किसी बड़े शहर में अपनी प्रैक्टिस शुरू कीजिए ।”

“प्रैक्टिस बढ़ाने के लिए कहाँ-कहाँ भटकता फिरँगा, मिस वुड ? जहाँ रहो वहीं मरीज मिल जाते हैं । यहाँ आया था कुछ दिनों के लिए, फिर मुद्दत हो गयी और टिका रहा । जब कभी जी ऊंचे, कहीं चला जाऊँगा । जड़े कहीं नहीं जमतीं, तो पीछे भी कुछ नहीं छूट जाता । मुझे अपने बारे में कोई गलतफहमी नहीं है मिस वुड, मैं सुखी हूँ . . .”

मिस वुड ने डॉक्टर की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया । दिल में वह हमेशा डॉक्टर को उच्छृंखल, लापरवाह और सनकी समझती रही है, किन्तु डॉक्टर के चरित्र में उसका विश्वास है, न जाने क्यों, हालाँकि डॉक्टर ने जाने-ग्रनजाने में इसका कोई प्रमाण दिया हो, याद नहीं पड़ता ।

मिस वुड ने एक ठण्डी साँस भरी । वह हमेशा यह सोचती थी कि यदि डॉक्टर इतना आलसी और लापरवाह न होता तो अपनी योग्यता के बल पर काफ़ी चमक सकता था । इसीलिए उसे डॉक्टर पर कोश भी आता था और दुःख भी होता था ।

मिस वुड ने अपने बैंग से ऊन का गोला और सिलाइयाँ निकालीं, फिर उसके नीचे से अखदार में लिपटा हुआ चौड़ा टॉफ़ी का डिब्बा उठाया, जिसमें अण्डों की सैंडविचिज और हैम्बर्ग दबे हुए थे । थर्मस से प्यालों में कॉफ़ी उड़ेलते हुए मिस वुड ने कहा, “डॉक्टर, कॉफ़ी ठण्डी हो रही है ।”

डॉक्टर लेटे-लेटे बुड़वुड़ाये । मिस वुड ने नीचे झुककर देखा, वह कुहनी पर सिर टिकाये चुपचाप सो रहे थे । ऊपर का होंठ ज़रा-सा फैलकर मुँड गया था, मानो किसी से मज़ाक करने से पहले मुसकरा रहे हों ।

उनकी औंगुलियों में दबा हुआ सिगार नीचे भुका हुआ लटक रहा था ।

लतिका कुछ समझ नहीं सकी, दिग्भ्रान्त-सी खड़ी हुई ह्यूवर्ट के पीले, उद्विग्न चेहरे को देखती रही।

ह्यूवर्ट ने धीरे-से लतिका के कन्धे पर हाथ रख दिया। “कल डॉक्टर ने मुझे सब-कुछ बता दिया। अगर मुझे पहले से मालूम होता तो…तो…” ह्यूवर्ट हकलाने लगा।

“मिस्टर ह्यूवर्ट…” किन्तु लतिका से आगे कुछ भी नहीं कहा गया। उसका चेहरा सफेद हो गया था।

वे दोनों चुपचाप कुछ देर तक कॉन्वेंट स्कूल के गेट के बाहर खड़े रहे।

००

मीडोज—पगडिण्डियों, पत्तों, छायाओं से घिरा छोटा-सा हीप, मानो कोई धोसला दो हरी धाटियों के बीच आ दवा हो। भीतर धुसरे हुए ही पिकनिक के काले आग से झुलसे हुए पत्थर, अवजली टहनियाँ, बैठने के लिए बिछाये गये पुराने अखबारों के टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए दिखायी दे जाते हैं। अवसर टूरिस्ट पिकनिक के लिए यहाँ आते हैं। मीडोज को बीच में काटना हुआ टेढ़ा-मेढ़ा बरसाती नाला बहता है, जो दूर से धूप में चमकता हुआ सफेद रित-मा दिखायी देता है।

यहाँ पर काठ के तख्तों का बना हुआ टूटा-सा पुल है, जिस पर लड़कियाँ हिचकोले खाती हुई चल रही हैं।

“डॉक्टर मुकर्जी, आप तो सारा जंगल जला देंगे,” मिस वुड ने अपने ऊँची एड़ी के सेंडल से जलती हुई दियासलाई को दवा डाला, जो डॉक्टर ने सिगार सुलगाकर चीड़ के पत्तों के ढेर पर फेंक दी थी। वे नाले से कुछ दूर हटकर दो चीड़ के पेड़ों की गुंथी हुई छाया के नीचे बैठे थे। उनके सामने एक छोटा-सा रास्ता नीचे पहाड़ी गाँव की ओर जाता था, जहाँ पहाड़ की गोद में शकरपारों-से खेत एक-दूसरे के नीचे बिछे हुए थे। दोपहर के सन्नाटे में भेड़-वकरियों के गलों में वैधी हुई धण्टियों का स्वर हवा में बहता हुआ सुनायी दे जाता था।

धास पर लेटे-लेटे डॉक्टर सिगार पीते रहे।

“जंगल की आग कभी देखी है, मिस वुड, एक अलमस्त नशे की तरह धीरे-धीरे फैलती जाती है।”

“आपने कभी देखी है, डॉक्टर ?” मिस वुड ने पूछा, “मुझे तो वड़ा डर लगता है।”

“बहुत साल पहले शहरों को जलते हुए देखा था,” डॉक्टर लेटे हुए आकाश की ओर ताक रहे थे, “एक-एक मकान ताश के पत्तों की तरह गिरता जाता है। दुर्भाग्यवश ऐसे अवसर देखने में बहुत कम आते हैं।”

“आपने कहाँ देखा, डॉक्टर ?”

“लड़ाई के दिनों में अपने शहर रंगून को जलते हुए देखा था।” मिस वुड की आत्मा को ठेस लगी, किन्तु फिर भी उनकी उत्सुकता शान्त नहीं हुई।

“आपका घर ? क्या वह भी जल गया था ?”

डॉक्टर कुछ देर तक चुपचाप लेटा रहा ।

“हम उसे खाली छोड़कर चले आये थे, मालूम नहीं वाद में क्या हुआ ।” अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में डॉक्टर को कठिनाई महसूस होती है ।

“डॉक्टर, क्या आप कभी वापिस वर्मा जाने की वात नहीं सोचते ?” डॉक्टर ने अँगड़ाई ली और करवट बदलकर अँधे मुँह लेट गये । उनकी अँखें मुँद गयीं, और माथे पर वालों की लट्टे भूल आयीं ।

“सोचने से क्या होता है, मिस वुड, जब वर्मा में था तब क्या कभी सोचा था कि यहाँ आकर उम्र काटनी होगी ।”

“लेकिन डॉक्टर, कुछ भी कह लो, अपने देश का सुख कहीं और नहीं मिलता । यहाँ आप चाहे कितने वर्ष रह लें, अपने को हमेशा अजनबी ही पायेंगे ।”

डॉक्टर ने सिगार के धुएँ को धीरे-धीरे हवा में छोड़ दिया । “दरअसल अजनबी तो मैं वहाँ भी समझा जाऊँगा, मिस वुड । इतने वर्षों वाद वहाँ मुझे कौन पहचानेगा ! इस उम्र में नये सिरे से रिश्ते जोड़ना काफी सिरदर्दी का काम है; कम-से-कम मेरे वश की वात नहीं है ।”

“लेकिन डॉक्टर, आप कब तक इस पहाड़ी कस्बे में पड़े रहेंगे ? इसी देश में रहना है तो किसी वडे शहर में अपनी प्रैक्टिस शुरू कीजिए ।”

“प्रैक्टिस बढ़ाने के लिए कहाँ-कहाँ भटकता फिरँगा, मिस वुड ? जहाँ रहो वहीं मरीज मिल जाते हैं । यहाँ आया था कुछ दिनों के लिए, फिर मुद्दत हो गयी और टिका रहा । जब कभी जी ऊवेगा, कहीं चला जाऊँगा । जड़े कहीं नहीं जमतीं, तो पीछे भी कुछ नहीं छूट जाता । मुझे अपने बारे में कोई गलतफहमी नहीं है मिस वुड, मैं सुखी हूँ ..”

मिस वुड ने डॉक्टर की वात पर विशेष ध्यान नहीं दिया । दिल में वह हमेशा डॉक्टर को उच्छृंखल, लापरवाह और सनकी समझती रही है, किन्तु डॉक्टर के चरित्र में उसका विश्वास है, न जाने क्यों, हालाँकि डॉक्टर ने जाने-अनजाने में इसका कोई प्रमाण दिया हो, याद नहीं पड़ता ।

मिस वुड ने एक ठण्डी साँस भरी । वह हमेशा यह सोचती थी कि यदि डॉक्टर इतना आलसी और लापरवाह न होता तो अपनी योग्यता के बल पर काफी चमक सकता था । इसीलिए उसे डॉक्टर पर क्रोध भी आता था और दुःख भी होता था ।

मिस वुड ने अपने बैंग से ऊन का गोला और सिलाइयाँ निकालीं, फिर उसके नीचे से अखवार में लिपटा हुआ चौड़ा टाँकी का डिब्बा उठाया, जिसमें अण्डों की सैंडविचिज और हैम्बर्ग दबे हुए थे । थर्मस से प्यालों में कॉफ़ी उँड़े लते हुए मिस वुड ने कहा, “डॉक्टर, कॉफ़ी ठण्डी हो रही है ।”

डॉक्टर लेटे-लेटे बुझवड़ाये । मिस वुड ने नीचे झुककर देखा, वह कुहनी पर सिर टिकाये चुपचाप सो रहे थे । ऊपर का होंठ ज़रा-सा फैलकर मुड़ गया था, मानो किसी से मजाक करने से पहले मुसकरा रहे हों ।

उनकी अँगुलियों में दबा हुआ सिगार नीचे झुका हुआ लटक रहा था ।

००

“मेरी, मेरी, वाट ढू यू वाण्ट ? वाट ढू यू वाण्ट ?” दूसरे स्टैण्डर्ड में पढ़ते-वाली मेरी ने अपनी चंचल, चपल आँखें ऊपर उठायीं। लड़कियों का दायरा उसे घेरे हुए कभी पास आता था, कभी दूर खिचता चला जाता था।

“आई वाण्ट...आई वाण्ट ब्लू,” दोनों हाथों को हवा में घुमाते हुए मेरी चिल्लायी। दायरा पानी की तरह टूट गया, सब लड़कियाँ एक-दूसरे पर गिरती-पड़ती किसी नीली वस्तु को छूने के लिए भाग-दौड़ करने लगीं।

लंच समाप्त हो चुका था। लड़कियों के छोटे-छोटे दल मीडोज में विश्वर गये थे। ऊँची बलास की कुछ लड़कियाँ चाय का पानी गरम करने के लिए पेड़ों पर चढ़कर सूखी टहनियाँ तोड़ रही थीं।

दोपहर की उस घड़ी में मीडोज अलसाया-सा ऊँधता जान पड़ता था। जब हवा का कोई भूला-भटका भोंका आ जाता था, तब चीड़ के पत्ते खड़खड़ा उठते थे। कभी कोई पक्षी अपनी सुस्ती मिटाने भाड़ियों से उड़कर नाले के किनारे बैठ जाता था, पानी में सिर डुबोता था, फिर उड़कर हवा में दो-चार निरुद्देश चक्कर काटकर दुबारा भाड़ियों में दुबक जाता था।

किन्तु जंगल की खामोशी शायद कभी चुप नहीं रहती। गहरी नींद में डूबी सपनों-सी कुछ आवाजें नीरवता के हूल्के भीने परदे पर सलवटें बिछा जाती हैं, मूक लहरों-सी तिरती हैं, मानो कोई दबे पाँव झाँककर अदृश्य संकेत कर जाता है, ‘देखो, मैं यहाँ हूँ।’

लतिका ने जूँली के ‘वाँव हेयर’ को सहलाते हुए कहा, “तुम्हें कल रात दुलाया था...”

“मैंडम, मैं गयी थी, आप अपने कमरे में नहीं थीं।” लतिका को याद आया कि कल रात वह डॉक्टर के कमरे के टैरेस पर देर तक बैठी रही थी और भीतर ह्यूवर्ट पियानो पर सोपाँ का नॉक्टर्न बजा रहा था।

“जूँली, तुमसे कुछ पूछना था।” उसे लगा, वह जूँली की आँखों से अपने को बचा रही है।

जूँली ने अपना चेहरा ऊपर उठाया। उसकी भूरी आँखों से कौतूहल झाँक रहा था।

“तुम आक्रिसर मेस में किसी को जानती हो ?”

जूँली ने अनिश्चित भाव से सिर हिलाया। लतिका कुछ देर तक जूँली को अपलक धूरती रही।

“जूँली, मुझे विश्वास है, तुम भूठ नहीं बोलोगी।”

कुछ क्षण पहले जूँली की आँखों में जो कौतूहल था, वह भय में परिणत होने लगा।

लतिका ने अपनी जैकट की जेव से एक नीला लिकाफ़ा निकालकर जूँली की गोद में फेंक दिया।

“यह किसकी चिट्ठी है ?”

जूली ने लिफाफ़ा उठाने के लिए हाथ बढ़ाया, किन्तु फिर एक क्षण के लिए उसका हाथ काँपकर ठिठक गया। लिफाफ़े पर उसका नाम और होस्टल का पता लिखा हुआ था।

“थेंक्यू मैंडम, मेरे भाई का पत्र है; वह झाँसी में रहते हैं।” जूली ने घबराहट में लिफाफ़े को अपनी स्कर्ट की तहों में छिपा लिया।

“जूली, ज़रा मुझे लिफाफ़ा दिखलाओ !” लतिका का स्वर तीखा, कर्कश-सा हो आया।

जूली ने अनमने भाव से लतिका को पत्र दे दिया।

“तुम्हारे भाई झाँसी में रहते हैं ?”

जूली इस बार कुछ नहीं बोली। उसकी उद्भ्रान्त उखड़ी-सी आँखें लतिका को देखती रहीं।

“यह क्या है ?”

जूली का चेहरा सफेद फ़क पड़ गया। लिफाफ़े पर कुमाऊँ रेजीमेण्टल सेण्टर की मुहर उसकी ओर धूर रही थी।

“कौन है यह ?” लतिका ने पूछा। उसने पहले भी होस्टल में उड़ती हुई अफवाह सुनी थी कि जूली को कलब में किसी मिलिटरी अफसर के संग देखा गया था, किन्तु ऐसी अफवाहें अक्सर उड़ती रहती थीं, और उसने उन पर विश्वास नहीं किया था।

“जूली, अभी तुम वहूत छोटी हो।” जूली के होंठ काँपे, उसकी आँखों में निरीह याचना का भाव घिर आया।

“अच्छा, अभी जाओ, तुमसे छुट्टियों के बाद बात करूँगी।”

जूली ने ललचायी दृष्टि से लिफाफ़े की ओर देखा, कुछ बोलने को उद्यत हुई, फिर बिना कुछ कहे चुपचाप वापस लौट गयी।

लतिका देर तक जूली को देखती रही, जब तक वह आँखों से ओभल नहीं हो गयी। ‘क्या मैं किसी खूस्ट बुढ़िया से कम हूँ ?’ अपने अभाव का बदला क्या मैं दूसरों से ले रही हूँ ?

शायद...कौन जाने...शायद जूली का यह प्रथम परिचय हो उस अनुभूति से, जिसे कोई भी लड़की बड़े चाव से सँजोकर, सँभालकर अपने में छिपाये रहती है; एक अनिर्वचनीय सुख, जो पीड़ा लिये है, पीड़ा और सुख को ढूबोती हुई उमड़ते ज्वार की खुमारी, जो दोनों को अपने में समा लेती है... एक दर्द, जो आनन्द से उपजा है और पीड़ा देता है।

यहीं इसी देवदार के नीचे उसे भी यही लगा था। जब गिरीश ने पूछा था, “तुम चुप क्यों हो ?” वह आँखें मूँदे सोच रही थी। सोच कहाँ रही थी, जी रही थी, उसी क्षण को जो भय और विस्मय के बीच भिजा था—वहका-सा पगला क्षण। वह अभी पीछे मुड़ेगी तो गिरीश की ‘नर्वस’ मुसकराहट दिखायी दे जायेगी। उस दिन से आज दोपहर तक का अतीत एक दुःस्वप्न की मानिन्द टूट जायेगा... वही देवदार है, जिस पर-

उसने अपने बालों के क्लिप से गिरीश का नाम लिखा था। पेड़ की छाल उत्तरती नहीं थी, क्लिप टूट-टूट जाता था। तब गिरीश ने अपने नाम के नीचे उसका नाम लिखा था; जब कभी कोई अल्प विनाइकर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता था, तब वह हँसती थी, और गिरीश का काँपता हाथ और भी काँप जाता था....

लतिका को लगा, जो वह याद करती है, वही भूलना भी चाहती है; किन्तु जब वह सचमुच भूलने लगती है, तब उसे भय लगता है, जैसे कोई चीज उसके हाथों से छीने ले जा रहा है—ऐसा कुछ जो सदा के लिए खो जायेगा। वचपन में जब कभी वह अपने किसी खिलौने को खो दिया करती थी, तो वह गुमसुम-सी होकर सोना करती थी, 'कहाँ रख दिया मैंने?' जब वहूत दीड़-धूप करने पर खिलौना मिल जाता, तो वह वहाना करती कि अभी उसे खोज रही है कि वह अभी मिला नहीं है। जिस स्थान पर खिलौना रखा होता, जान-दूँकर उसे छोड़कर घर के दूसरे कोनों में उसे खोजने का उपक्रम करती। तब खोयी हुई चीज याद रहती, इत्तिलाए भूलने का भय नहीं रहता था।

आज वह उस वचपन के खेल का वहाना व्यंग्यों नहीं कर पाती! वहाना शायद करती है—उसे याद करने का वहाना जो उसे भूलता जा रहा है... दिन, भवीने बीत जाते हैं, और वह उलझी रहती है, अनजाने में गिरीश का चेहरा धुंधला पड़ता जाता है। याद वह करती है, किन्तु उसे किसी पुरानी तसवीर के बूल-भरे जींशों को साझ कर रही है। अब वैसा दर्द नहीं होता, जिस उस दर्द को याद करती है, जो पहले कभी होना था। तब उसे अपने पर न्लानि होती है। वह फिर जान-दूँकर उस धाव को कुरेदती है, जो भरता जा रहा है, खुद-ब-खुद उसकी कोशिशों के बावजूद भरता जा रहा है...

देवदार पर खुदे हुए अधनिटे नाम लतिका की ओर निस्तव्य तिरीह भाव से निहार रहे थे। भीड़ोंज के घने सन्नाटे में नाले पार से खेलती हुई लड़कियों की आवाजें गूंज जाती थीं:

"वाट डू यू वाण्ट? वाट डू यू वाण्ट?"

० ०

तितलियाँ, भौंगुर, जुगनू... भीड़ोंज पर उत्तरती हुई सर्जकी की छायाओं में पता नहीं चलता, कौन आवाज जिसकी है? दोषहर के समय जिन आवाजों को अलग-अलग करके पहचाना जा सकता था, अब वे एकस्वरता की अविरल धाराओं में धुल गयी थीं। धास से अपने पैरों को पोंछता हुए कोई रेंग रहा है। भाड़ियों के भुरमुट से परों को फड़फड़ता झपटकर कोई ऊपर से उड़ जाता है, किन्तु ऊपर देखो तो कहीं कुछ भी नहीं है। भीड़ोंज के भरने का गड़गड़ाता स्वर... जैसे धैर्येरी सुरंग में झपाटे से ट्रेन गुज़र गयी हो, और देर तक उसमें सीटियों और पहियों की चीत्कार गूंजती रही हो।

पिकनिक कुछ देर तक और चलती, किन्तु बादलों की तहें-की-तहें एक-इसरे पर चढ़ती था रही थीं। पिकनिक का सामान बटोरा जाने लगा। भीड़ोंज के चारों ओर चिखरी हुई लड़कियाँ मिस बुड़ के इदं-गिर्द जमा होने लगीं। अपने संग दे अजीबो-जरीव चीजें बटोर लायी थीं। कोई किसी पक्षी के टूटे पंख को बालों में लगाये हुए थी,

किसी ने पेड़ की टहनी को चाकू से छीलकर छोटी-सी बेंत बना ली थी। ऊँची क्लास की कुछ लड़कियों ने अपने-अपने रूमालों में नाले से पकड़ी हुई छोटी-छोटी वालिश्त-भर की मछलियों को दबा रखा था जिन्हें मिस वुड से छिपाकर वे एक-दूसरे को दिखा रही थीं।

मिस वुड लड़कियों की ठोंली के संग आगे निकल गयी। मीडोज से पक्की सड़क तक तीन-चार फलांग की चढ़ाई थी। लतिका हाँफने लगी। डॉक्टर मुकर्जी जो सबसे पीछे आ रहे थे लतिका के पास पहुँचकर ठिठक गये। डॉक्टर ने दोनों घुटनों को जमीन पर टेकते हुए सिर झुकाकर एलिजावेथ-युगीन अंग्रेजी में कहा, “मैंडम, आप इतना परेशान क्यों नजर आ रही हैं?”

डॉक्टर की नाटकीय मुद्रा को देखकर लतिका के होंठों पर थकी-सी ढीली-ढाली मुसक्कराहट विखर गयी।

“प्यास के मारे गला सूख रहा है, और यह चढ़ाई है कि खत्म होने में नहीं आती।”

डॉक्टर ने अपने कन्धे पर लटकती हुई थर्मस उतारकर लतिका के हाथों में देते हुए कहा, “थोड़ी-सी काँफी बच्ची है, शायद कुछ मदद कर सके।”

“पिक्निक में आप कहाँ रह गये डॉक्टर, कहाँ दिखायी नहीं दिये?”

“दोपहर-भर सोता रहा, मिस वुड के संग। मेरा मतलब है, मिस वुड पास बैठी थी। मुझे लगता है, मिस वुड मुझसे मुहब्बत करती है।” कोई भी मजाक करते हुए डॉक्टर अपनी मूँछों के कोरों को चबाने लगते हैं।

“क्या कहती थीं?” लतिका ने थर्मस से काँफी को मुँह में ऊँड़ेल लिया।

“शायद कुछ कहती, लेकिन बदकिस्मती से बीच में ही मुझे नींद आ गयी। मेरी जिन्दगी के कुछ खूबसूरत प्रेम-प्रसंग कम्बख्त इस नींद के कारण अधूरे रह गये हैं।”

और इस दौरान जब वे दोनों बातें कर रहे थे, उनके पीछे मीडोज और मोटर रोड के संग चढ़ती हुई चीड़ और बाँस के वृक्षों की कतार साँझ के घिरते अँधेरे में ढूँवने लगी, मानो प्रार्थना करते हुए उन्होंने चुपचाप अपने सिर नीचे झुका लिये हैं। इन्हीं पेड़ों के ऊपर बादलों के गिरजे का क्रांस कहाँ उलझा पड़ा था। उनके नीचे पहाड़ी की ढलान पर विच्छे हुए खेत भागती हुई गिलहरियों-से लग रहे थे, जो किसी की टोह में स्तव्य ठिठक गयी हैं।

“डॉक्टर, मिस्टर ह्यूर्वट पिक्निक पर नहीं आये?”

डॉक्टर मुकर्जी टार्च जलाकर लतिका के आगे-आगे चल रहे थे।

“मैंने उन्हें मना कर दिया था।”

“किसलिए?”

अँधेरे में पैरों के नीचे दबे हुए पत्तों की चरमराहट के अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था। डॉक्टर मुकर्जी ने धीरे-से खाँसा।

‘पिछले कुछ दिनों से मुझे सन्देह होता जा रहा है कि ह्यूर्वट की छाती का दर्द शायद मासूली ददं नहीं है।’ डॉक्टर थोड़ा-सा हँसे जैसे उन्हें अपनी यह गम्भीरता

अरुचिकर लग रही हो ।

डॉक्टर ने प्रतीक्षा की, शायद लतिका कुछ कहेगी । किन्तु लतिका चुपचाप उनके पीछे चल रही थी ।

“यह मेरा महज शक है, शायद मैं विलकुल गलत हूँ, किन्तु फिर भी यह बेहतर होगा कि वह अपने एक फेफड़े का एकसरे करा लें; इससे कम-से-कम कोई भ्रम तो नहीं रहेगा ।”

“आपने मिस्टर ह्यूबर्ट से इसके बारे में कुछ कहा ?”

“अभी तक कुछ नहीं कहा । ह्यूबर्ट जरा-सी बात पर चिन्तित हो उठता है, इसलिए कभी साहस नहीं हो पाता ।”

डॉक्टर को लगा, उसके पीछे आते हुए लतिका के पैरों का स्वर सहसा बन्द हो गया है । उन्होंने पीछे मुड़कर देखा, लतिका बीच सड़क पर अँधेरे में छाया-सी चुपचाप निश्चल खड़ी है ।

“डॉक्टर !” लतिका का स्वर भर्या हुआ था ।

“क्या बात है, मिस लतिका, आप रुक क्यों गयीं ?”

“डॉक्टर, क्या मिस्टर ह्यूबर्ट...”

डॉक्टर ने अपनी टाचर्च की मट्टिम रोशनी लतिका पर उठा दी । उन्होंने देखा, लतिका का चेहरा एकदम पीला पड़ गया है, वह रह-रहकर पत्ते-सी काँप जाती है ।

“मिस लतिका, क्या बात है, आप तो बहुत डरी-सी जान पड़ती हैं ?”

“कुछ नहीं डॉक्टर, मुझे...मुझे कुछ याद आ गया था ।”

वे दोनों फिर चलने लगे । कुछ दूर जाने पर उनकी आँखें ऊपर उठ गयीं । पक्षियों का एक बेड़ा धूमिल आकाश में त्रिकोण बनाता हुआ पहाड़ों के पीछे से उनकी ओर आ रहा था । लतिका और डॉक्टर सिर उठाकर पक्षियों को देखते रहे । लतिका को याद आया, हर साल सरदी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उड़ते हैं, कुछ दिनों के लिए बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं चरक के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी, अनजाने देशों में उड़ जायेंगे ।

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं—वह, डॉक्टर मुकर्जा, मिस्टर ह्यूबर्ट ! ‘लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जायेंगे ?’

किन्तु इसका कोई उत्तर नहीं मिला, सिर्फ उस अँधेरे में मीढ़ोज़ के झरने का मुर्तला स्वर और चीड़ के पत्तों की सरसराहट के ग्रतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था ।

लतिका हड्डाकर चौंक गयी । अपनी छड़ी पर भुके हुए डॉक्टर धीरे-धीरे सीटी चला रहे थे ।

“मिस लतिका, जनदी कीजिए, बारिश शुरू होनेवाली है ।” होस्टल पहुँचते तक विजली चमकने लगी थी, किन्तु उस रात बारिश देर तक नहीं हुई । बादल बरसने भी नहीं पाते थे कि हवा के थपेड़ों से धकेल दिये जाते थे । दूसरे दिन तड़के ही बस पकड़नी थी, इसलिए ‘डिनर’ के बाद लड़कियां सोने के लिए अपने-अपने कमरों में चली गयी थीं ।

जब लतिका अपने कमरे में गयी, उस समय कुमाऊँ रेजीमेण्टल सेण्टर का विगुल चंज रहा था। उसके कमरे में करीमुद्दीन कोई पहाड़ी धुनगुनगुनाता हुआ लैम्प में गौस पम्प कर रहा था। लतिका उन्हीं कपड़ों में तकिये को दुहर करके लेट गयी। करीमुद्दीन ने उड़ती हुई निगाह से लतिका को देखा, फिर अपने काम में जुट गया।

“पिकनिक कैसी रही, मैम साहव ?”

“तुम क्यों नहीं आये, सब लड़कियाँ तुम्हें पूछ रही थीं।” लतिका को लगा, दिनभर की थकान धीरे-धीरे उसके शरीर की पसलियों पर चिपटती जा रही है। अनायास उसकी आँखें नींद के बोझ से झपकने लगीं।

“मैं चला आता तो ह्यू वर्ट साहव की तीमारदारी कौन करता ? दिन-भर उनके विस्तरे से सटा हुआ बैठा रहा, और अब वह गायब हो गये।”

करीमुद्दीन ने कन्वे पर लटकते हुए मैले-कुचैले तौलिये को उतारा और लैम्प के शीशों की गर्द पौछने लगा।

लतिका की अधमुंदी आँखें खुल गयीं। “क्या ह्यू वर्ट साहव अपने कमरे में नहीं हैं ?”

“खुदा जाने, इस हालत में कहाँ गये ? पानी गरम करने कुछ देर के लिए बाहर गया था, वापिस आने पर देखता हूँ कि कमरा खाली पड़ा है।”

करीमुद्दीन बुँदुकुड़ाता हुआ बाहर चला गया। लतिका ने लेटे-लेटे पलंग के नीचे चप्पलों को परों से उतार दिया।

ह्यू वर्ट इतनी रात कहाँ गये ? किन्तु लतिका की आँखें फिर झपक गयीं। दिन-भर की थकान ने सब परेशानियों, प्रश्नों पर कुंजी लगा दी थी; जैसे दिन-भर आँखमिचौनी खेलते हुए उसने अपने कमरे में ‘दैया’ को छू लिया था, अब वह सुरक्षित थी, कमरे की चहारदीवारी के भीतर उसे कोई नहीं पकड़ सकता। दिन के उजाले में वह गवाह थी, मुजरिम थी, हर चीज़ का उससे तकाज़ा था; अब इस अकेलेपन में कोई गिला नहीं। उलाहना नहीं, सब खींचतान खत्म हो गयी है; जो अपना है, वह विलकूल अपना-सा हो गया है, जो पराया है, उसका दुःख नहीं, अपनाने की फुरसत नहीं…

लतिका ने दीवार की ओर मुँह मोड़ लिया। लैम्प के फ़ीके ग्रालोक में हवा में काँपते परदों की छायाएँ हिल रहीं थीं। विजली कड़कने से खिड़कियों के शीशे चमक जाते थे, दरवाजे चटखने लगते थे, जैसे कोई बाहर से धीमे-धीमे खटखटा रहा हो। कॉरीडोर से अपने-अपने कमरों में जाती हुई लड़कियों की हँसी, बातों के कुछ शब्द… फिर सब शान्त हो गया, किन्तु फिर भी देरतक कच्ची नींद में वह लैम्प का धीमा-सा ‘सी-सी’ का स्वर सुनती रही; कब वह स्वर भी मौन का भाग बनकर मूक हो गया, उसे पता न चला।

कुछ देर बाद उसको लगा, सीढ़ियों से कुछ दबी आवाजें ऊपर आ रही हैं, बीच-बीच में कोई चिल्ला उठता है, और फिर सहसा आवाजें धीमी पड़ जाती हैं।

“मिस लतिका, जरा अपना लैम्प ले आइए !” कॉरीडोर के जीने से डॉक्टर मुकर्जी की आवाज आयी थी।

कॉरीडोर में अँधेरा था। वह तीन-चार सीढ़ियाँ नीचे उतारी, लैम्प नीचे किया।

सीढ़ियों से सटे जंगले पर ह्यूबर्ट ने अपना सिर रखा हुआ था; उसकी एक बाँह जंगले के नीचे लटक रही थी और दूसरी डॉक्टर के कन्धे पर भूल रही थी, जिसे डॉक्टर ने अपने हाथों में जकड़ रखा था।

“मिस लतिका, लैम्प जरा और नीचे भुका दीजिए… ह्यूबर्ट, ह्यूबर्ट !” डॉक्टर ने ह्यूबर्ट को सहारा देकर ऊपर खींचा। ह्यूबर्ट ने अपना चेहरा ऊपर किया। हिंस्की की तेज़ वू का झोंका लतिका के सारे शरीर को झेंझोड़ गया। ह्यूबर्ट की आँखों में सुर्ख़ डोरे खिच आये थे, कमीज़ का कॉलर उल्टा हो गया था और टाई की गाँठ ढीली होकर नीचे खिसक आयी थी। लतिका ने काँपते हाथों से लैम्प सीढ़ियों पर रख दिया और आप दीवार के सहारे खड़ी हो गयी। उसका सिर चकराने लगा था।

“इन द वैकलेन आँफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हूँ लव्स मी…” ह्यूबर्ट हिच-कियों के बीच गुनगुना उठता था।

“ह्यूबर्ट, प्लीज़…प्लीज़,” डॉक्टर ने ह्यूबर्ट के लड़खड़ाते शरीर को अपनी मज़दूर मिरपत में पकड़ लिया।

“मिस लतिका, आप लैम्प लेकर आगे चलिए।” लतिका ने लैम्प उठाया, दीवार पर तीनों की छायाएँ डगमगाने लगीं।

“इन द वैकलेन आँफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हूँ लव्स मी !” ह्यूबर्ट डॉक्टर मुकर्जी के कन्धे पर सिर टिकाये औंधेरी सीढ़ियों पर उल्टे-सीधे पैर रखता हुआ चढ़ रहा था।

“डॉक्टर, हम कहाँ हैं ?” ह्यूबर्ट सहसा इतनी जोर से चिल्लाया कि उसकी फटती हुई आवाज़ सुनसान औंधेरे कॉरीडोर की छत से टकराकर देर तक हवा में गूंजती रही।

“ह्यूबर्ट !” डॉक्टर को एकदम ह्यूबर्ट पर गुस्सा आ गया, फिर अपने गुस्से पर ही उन्हें खोज-सी हो आयी और वह ह्यूबर्ट की धीठ थपथपाने लगे।

“कुछ बात नहीं है, ह्यूबर्ट डियर, तुम सिर्फ़ थक गये हो !” ह्यूबर्ट ने अपनी आँखें डॉक्टर पर गड़ा दीं; उनमें एक भयभीत बच्चे की-सी कातरता भलक रही थी, मानो डॉक्टर के चेहरे से वह किसी प्रश्न का उत्तर पा लेना चाहता हो।

ह्यूबर्ट के कमरे में पहुंचकर डॉक्टर ने उसे विस्तरे पर लिटा दिया। ह्यूबर्ट ने बिना किसी विरोध के चुपचाप अपने जूते, मोजे उन्हें उत्तारने दिये। जब डॉक्टर ह्यूबर्ट की टाई उत्तारने लगे, ह्यूबर्ट अपनी कुहनी के सहारे उठा, कुछ देर तक डॉक्टर को आँखें फाड़ते हुए घूर रहा था, फिर धीरे-से उनका हाथ पकड़ लिया।

“डॉक्टर, क्या मैं मर जाऊँगा ?”

“कौसी बात करते हो, ह्यूबर्ट ?” डॉक्टर ने हाथ छुड़ाकर धीरे-से ह्यूबर्ट का सिर तकिये पर टिका दिया।

“गुडनाइट, ह्यूबर्ट !”

“गुडनाइट, डॉक्टर !” ह्यूबर्ट ने करवट बदल ली।

“गुडनाइट, मिस्टर ह्यूबर्ट !” लतिका का स्वर सिहर गया।

किन्तु ह्यूबर्ट ने कोई उत्तर नहीं दिया। करवट वदलते ही उसे नींद आ गयी थी।

कॉरीडोर में वापिस आकर डॉक्टर मुकर्जी रेलिंग के सामने खड़े हो गये। हवा के तेज़ झोंकों से आकाश में फैले बादलों की परतें जब कभी इकहरी हो जातीं तब उनके पीछे से चाँदनी बुझती हुई आग के धुएँ-सी आस-पास की पहाड़ियों पर फैल जाती थी।

“आपको मिस्टर ह्यूबर्ट कहाँ मिले ?” लतिका कॉरीडोर के दूसरे कोने में रेलिंग पर झुकी हुई थी।

“क्लब की बाँड़ में उन्हें देखा था। मैं न पहुंचता तो न जाने क्व तक वैठे रहते !” डॉक्टर मुकर्जी ने सिगरेट जलायी। उन्हें अभी एक-दो मरीजों के घर जाना था, कुछ देर तक उन्हें टाल देने के इरादे से वह कॉरीडोर में खड़े रहे।

नीचे अपने क्वार्टर में बैठा हुआ करीमुद्दीन माउथ ऑर्गन पर कोई पुरानी फ़िल्मी धुन वजा रहा था।

“आज दिन-भर बादल छाये रहे, लेकिन खुलकर वारिश नहीं हुई।”

“किसमस तक शायद मौसम ऐसा ही रहेगा।” कुछ देर तक दोनों चुपचाप खड़े रहे। कॉन्वेन्ट स्कूल के बाहर फैले लाँूं से भींगुरों का अनवरत स्वर चारों ओर फैली निस्तव्धता को और भी अधिक घना बना रहा था। कभी-कभी ऊपर मोटर-रोड पर किसी कुत्ते की रिखियाहट सुनायी पड़ जाती थी।

“डॉक्टर, कल रात आपने मिस्टर ह्यूबर्ट से कुछ कहा था, मेरे बारे में ?”

“वही, जो सब लोग जानते हैं, और ह्यूबर्ट, जिसे जानना चाहिए था, नहीं जानता था . . .”

डॉक्टर ने लतिका की ओर देखा; वह जड़वत्, अविचलित, रेलिंग पर झुकी हुई थी।

“वैसे हम सबकी अपनी-अपनी जिद होती है; कोई छोड़ देता है, कुछ लोग आखिर तक उससे चिपके रहते हैं !” डॉक्टर मुकर्जी अँधेरे में मुसकराये। उनकी मुसकराहट में सूखा-सा विरक्ति का भाव भरा था।

“कभी-कभी मैं सोचता हूँ, मिस लतिका, किसी चीज़ को न जानना यदि गलत है, तो जान-बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह चिपटे रहना, यह भी गलत है। वर्मा से आते हुए जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी जिन्दगी बेकार-सी लगी थी। आज उस बात को अरसा गुजर गया और जैसा आप देखती हैं, मैं जी रहा हूँ; उम्मीद है कि काफ़ी अरसा और जिङ्गा। जिन्दगी काफ़ी दिलचस्प लगती है, और यदि उम्र की मजबूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में न हिचकता। इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था। आज भी करता हूँ . . .”

“लेकिन, डॉक्टर . . . !” लतिका का गला रुद्ध आया था।

“क्या, मिस लतिका ?”

“डॉक्टर, सब कुछ होने के बावजूद वह क्या कुछ है, जो हमें चलाये चलता है, हम रुकते हैं तो भी अपने बहाव में हमें घसीट लिये जाता है ?” लतिका से आगे कुछ नहीं कहा गया, जैसे वह जो कहना चाह रही है, वह कह नहीं पा रही, जैसे अँधेरे में कुछ

सीढ़ियों से सटे जंगले पर ह्यूबर्ट ने अपना सिर रखा हुआ था; उसकी एक वाँह जंगले के नीचे लटक रही थी और दूसरी डॉक्टर के कन्धे पर भूल रही थी, जिसे डॉक्टर ने अपने हाथों में जकड़ रखा था।

“मिस लतिका, लैम्प जरा और नीचे भुका दीजिए... ह्यूबर्ट, ह्यूबर्ट!” डॉक्टर ने ह्यूबर्ट को सहारा देकर ऊपर खींचा। ह्यूबर्ट ने अपना चेहरा ऊपर किया। ह्विस्की की तेज़ वू का झोंका लतिका के सारे शरीर को झेंझोड़ गया। ह्यूबर्ट की आँखों में सुर्ख डोरे खिच आये थे, कमीज का कॉलर उल्टा हो गया था और टाई की गाँठ ढीली होकर नीचे खिसक आयी थी। लतिका ने कांपते हाथों से लैम्प सीढ़ियों पर रख दिया और आप दीवार के सहारे खड़ी हो गयी। उसका सिर चकराने लगा था।

“इन द वैकलेन ऑफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हूँ लव्स मी...” ह्यूबर्ट हिच-कियों के बीच गुनगुना उठता था।

“ह्यूबर्ट, प्लीज़... प्लीज़,” डॉक्टर ने ह्यूबर्ट के लड़खड़ाते शरीर को अपनी मजबूत में पकड़ लिया।

“मिस लतिका, आप लैम्प लेकर आगे चलिए।” लतिका ने लैम्प उठाया, दीवार पर तीनों की छायाएँ डगमगाने लगीं।

“इन द वैकलेन ऑफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हूँ लव्स मी...” ह्यूबर्ट डॉक्टर मुकर्जी के कन्धे पर सिर टिकाये औंधेरी सीढ़ियों पर चल्टे-सीधे पैर रखता हुआ चढ़ रहा था।

“डॉक्टर, हम कहाँ हैं?” ह्यूबर्ट सहसा इतनी जोर से चिल्लाया कि उसकी फटती हुई आवाज़ सुनसान औंधेरे कॉरीडोर की छत से टकराकर देर तक हवा में गूँजती रही।

“ह्यूबर्ट!” डॉक्टर को एकदम ह्यूबर्ट पर गुस्सा आ गया, फिर अपने गुस्से पर ही उन्हें खोज-सी हो आयी और वह ह्यूबर्ट की पीठ थपथपाने लगे।

“कुछ बात नहीं है, ह्यूबर्ट डियर, तुम सिर्फ़ थक गये हो।” ह्यूबर्ट ने अपनी आँखें डॉक्टर पर गड़ा दीं; उनमें एक भयभीत बच्चे की-सी कातरता भलक रही थी, मानो डॉक्टर के चेहरे से वह किसी प्रश्न का उत्तर पा लेना चाहता हो।

ह्यूबर्ट के कमरे में पहुँचकर डॉक्टर ने उसे विस्तरे पर लिटा दिया। ह्यूबर्ट ने विना किसी विरोध के चुपचाप अपने जूते, मोजे उन्हें उतारने दिये। जब डॉक्टर ह्यूबर्ट की टाई उतारने लगे, ह्यूबर्ट अपनी कुहनी के सहारे उठा, कुछ देर तक डॉक्टर को आँखें फाड़ते हुए धूर रहा था, फिर धीरे-से उनका हाथ पकड़ लिया।

“डॉक्टर, क्या मैं मर जाऊँगा?”

“कौसी बात करते हो, ह्यूबर्ट?” डॉक्टर ने हाथ छुड़ाकर धीरे-से ह्यूबर्ट का सिर तकिये पर टिका दिया।

“गुडनाइट, ह्यूबर्ट!”

“गुडनाइट, डॉक्टर!” ह्यूबर्ट ने करवट बदल ली।

“गुडनाइट, मिस्टर ह्यूबर्ट!” लतिका का स्वर सिहर गया।

किन्तु ह्यूबर्ट ने कोई उत्तर नहीं दिया। करवटवदलते ही उसे नींद आ गयी थी।

कॉरीडोर में वापिस आकर डॉक्टर मुकर्जी रेलिंग के सामने खड़े हो गये। हवा के तेज झोंकों से आकाश में फैले वादलों की परतें जब कभी इकहरी हो जातीं तब उनके पीछे से चाँदनी बुझती हुई आग के घुएँ-सी आस-पास की पहाड़ियों पर फैल जाती थी।

“आपको मिस्टर ह्यूबर्ट कहा मिले ?” लतिका कॉरीडोर के दूसरे कोने में रेलिंग पर झुकी हुई थी।

“कलव की बाँर में उन्हें देखा था। मैं न पहुँचता तो न जाने कव तक बैठे रहते !” डॉक्टर मुकर्जी ने सिगरेट जलायी। उन्हें अभी एक-दो मरीजों के घर जाना था, कुछ देर तक उन्हें टाल देने के इरादे से वह कॉरीडोर में खड़े रहे।

नीचे अपने बवाट्टर में बैठा हुआ करीमुद्दीन माउथ अँगूष्ठ पर कोई पुरानी फिल्मी धुन बजा रहा था।

“आज दिन-भर वादल छाये रहे, लेकिन खुलकर बारिश नहीं हुई !”

“क्रिसमस तक शायद मौसम ऐसा ही रहेगा।” कुछ देर तक दोनों चुपचाप खड़े रहे। कॉन्वेन्ट स्कूल के बाहर फैले लाँन से भींगुरों का अनवरत स्वर चारों ओर फैली निस्तव्यता को और भी अधिक घना बना रहा था। कभी-कभी ऊपर मोटर-रोड पर किसी कुत्ते की रिरियाहट सुनायी पड़ जाती थी।

“डॉक्टर, कल रात आपने मिस्टर ह्यूबर्ट से कुछ कहा था, मेरे बारे में ?”

“वही, जो सब लोग जानते हैं, और ह्यूबर्ट, जिसे जानना चाहिए था, नहीं जानता था……”

डॉक्टर ने लतिका की ओर देखा; वह जड़वत्, अविचलित, रेलिंग पर झुकी हुई थी।

“वैसे हम सबकी अपनी-अपनी जिद होती है; कोई छोड़ देता है, कुछ लोग आखिर तक उससे चिपके रहते हैं !” डॉक्टर मुकर्जी अँधेरे में मुसकराये। उनकी मुसकराहट में सूखा-सा विरक्ति का भाव भरा था।

“कभी-कभी मैं सोचता हूँ, मिस लतिका, किसी चीज़ को न जानना यदि शलत है, तो जान-बुझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह चिपटे रहना, यह भी शलत है। वर्षा से आते हुए जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी जिन्दगी बेकार-सी लगी थी। आज उस बात को अरसा गुजार गया और जैसा आप देखती हैं, मैं जी रहा हूँ; उम्मीद है कि काफ़ी अरसा और जिंदगा। जिन्दगी काफ़ी दिलचस्प लगती है, और यदि उम्र की मजबूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में न हिचकता। इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था। आज भी करता हूँ……”

“लेकिन, डॉक्टर……!” लतिका का गला रुँध आया था।

“क्या, मिस लतिका ?”

“डॉक्टर, सब कुछ होने के बावजूद वह क्या कुछ है, जो हमें चलाये चलता है, हम रुकते हैं तो भी अपने बहाव में हमें घसीट लिये जाता है ?” लतिका से आगे कुछ नहीं कहा गया, जैसे वह जो कहना चाह रही है, वह कह नहीं पा रही, जैसे अँधेरे में कुछ

खो गया है, जो मिल नहीं पा रहा, शायद कभी नहीं मिल पायेगा।

“यह तो आपको फ़ादर एलमण्ड ही बता सकेंगे, मिस लतिका !” डॉक्टर की खोखली हँसी में उनका पुराना सनकीपन उभर आया था।

“अच्छा चलता हूँ, मिस लतिका, मुझे काफी देर हो गयी है।” डॉक्टर ने दियासलाई जलाकर घड़ी को देखा।

“गुडनाइट, मिस लतिका !”

“गुडनाइट, डॉक्टर !”

डॉक्टर के जाने पर लतिका कुछ देर तक अँधेरे में रेलिंग से सटी खड़ी रही। हवा चलने से कॉरीडोर में जमा कुहरा सिहर उठता था। चाम को सामान वांधते हुए लड़कियों ने अपने-अपने कमरे के सामने जो पुरानो कॉपियों, अल्बारों और रद्दी कागजों के ढेर लगा दिये थे, वे अब अँधेरे कॉरीडोर में हवा के झोंकों से इधर-उधर चिखरने लगे थे।

लतिका ने लैम्प उठाया और अपने कमरे की ओर जाने लगी।

कॉरीडोर में चलते हुए उसने देखा, जूली के कमरे से प्रकाश की एक पतली शहतीर दरवाजे के बाहर रिंच आयी है। लतिका को कुछ याद आया। वह साँस रोक जूली के कमरे के बाहर खड़ी रही। कुछ देर बाद उसने दरवाजा खटखटाया। भीतर से कोई आवाज नहीं आयी। जूली लैम्प बुझाना भूल गयी थी। लतिका धीरे-धीरे दबे पांव जूली के पतंग के पास चली आयी। जूली का सोता हुआ चेहरा लैम्प के फीके आलोक में पीला-सा दीख रहा था। लतिका ने अपनी जेव से वही नीला लिफ़ाफ़ा निकाला और उसे धीरे-से जूली के तकिये के नीचे दबाकर रख दिया।

जब वह कॉरीडोर में आयी बारिश की बीछार तेज़ी से पड़ने लगी थी। करीमुदीन ने अपने माउथ आर्गन पर एक नयी किलमी धुन ढेड़ दी थी।

सामान

उसना जी घक्-से होकर रह गया और अचानक उसने अपना हाथ पास रखे हुए सूटकेस पर रख दिया। जल्हर वह टेबल-क्लाय वहीं पर रह गया है। उसने सहमी दृष्टि से वगल में बैठे रवि की ओर देखा, वह सिर भुकाये हुए जैसे कुछ सोच रहा था। वात उसके होंठों तक आकर रह गयी और वह मुँह घुमाकर बाहर की ओर देखने लगी। हूर तक फैले हुए कटे पड़े खेत और कहीं-कहीं पेड़। वह हर चीज के बारे में सोचने लगी। चलते समय उसने सारी चीजें सहेजकर रख ली थीं। टेबल-क्लाय समेटकर बराबर खुली रहनेवाली आलमारी में रख तो दिया था, पर फिर उसे सूटकेस में रखा था या नहीं, यह उसे याद नहीं आ रहा था। उसने एक बार फिर सोचा कि वह रवि से टेबल-क्लाय के बारे में बता दे। फिर उसने सोचा कि वह व्यर्थ ही बहुत अधिक चिन्तित हो उठेगा और खीझने बहुत सारे प्रश्न पूछने लगेगा। शादी के बाद, पिछले दो वर्ष में वह यह बात अच्छी तरह जान गयी थी कि रवि अक्सर छोटी-छोटी बातों को लेकर बहुत चिन्तित हो उठता है और खीझने उससे कितने ही प्रश्न पूछ बैठता है। पर वह उसकी खीझ का कारण धीरे-धीरे समझने लगी थी...“वह समझने लगी थी कि रवि किसी चीज के खो जाने पर, एक नये खर्च और एक अव्यवस्था की बात सोचकर ही खीझ उठता है। इसीलिए अब उसके प्रश्नों से उसे बहुत दुःख नहीं होता था।

थोड़ी देर बाद एक जगह बस रुकी तो रवि ने उसकी ओर देखकर पूछा, “पानी पिंगोगी ?”

“नहीं,” उसने धीरे-से कहा, हालाँकि उसे थोड़ी-सी प्यास लगी थी, पर मन में एक तरह की घबराहट भर गयी थी और वह विलकुल चुपचाप बैठी रहना चाहती थी। उसने बाहर की ओर नज़र दीड़ायी, छोटी-छोटी कपड़े या अनाज की दुकानें, चूतरों के ऊपर चारपाईयों पर लेटे हुए लोग। दुकानों के ऊपर कमरों और वरामदों में दिखायी पड़नेवाले चेहरों की ओर देखकर वह हल्के आश्चर्य से भर गयी। यहाँ दिन-भर धूल-सी उड़ा करती है, वसें और लारियाँ रुकती हैं और वहुत-से लोग रात-दिन यहाँ रहते हैं। वगल से एक लाँरी निरुल गयी तो उसने मुँह भीतर की ओर कर लिया।

टूथ-पेस्ट और ब्रुश तक उसने रख लिये थे...“टेबल-क्लाय भी शायद उसने रख लिया था...”नहीं, वह वहीं पर छूट गया है...“उस कमरे का पूरा दृश्य उसकी आँखों के सामने धूम गया। वह एक बार फिर टेबल-क्लाय के बारे में सोचने का प्रयत्न करने गील, पर वह कुछ सोच न पा रही थी। मन के किसी कोने में वह दात घर कर गई

थी कि श्रगर यह मालूम हो गया कि टेवल-क्लाथ वहीं छूट गया है तो उसकी घवराहट और सीझ बढ़ जायेगी। इसीलिए वह उसके बारे में एक संशय बनाये रखना चाहती थी।

“छोटी बहन के घर अब वह कब जाएगी, ठीक नहीं। और उसके यहाँ से कोई कब आएगा, कहा नहीं जा सकता...” टेवल-क्लाथ कितना सुन्दर और कीमती था! और उसने कितनी मेहनत से उस पर कढ़ाई की थी! जिस दिन उसने टेवल के ऊपर उसे बिछाया था, पूरा कमरा बहुत सुन्दर दिखने लगा था। और रवि ने खुश होकर कहा था, “यह काम तुमने इनाम देने लायक किया है।”

उसने एक गहरी साँस ली। घवराहट बढ़ती जा रही थी। उसे अब अपने दोनों कमरे याद आने लगे, जिनमें उसकी कई दिन की अनुपस्थिति के कारण धूल जम गयी होगी। वह कल से ही सोच रही थी कि जाते ही कमरे साफ़ करेगी और सब सामान ठीक से सजा देगी। पर अब उसे लग रहा था जैसे कमरे का साफ़ होना या न होना बहुत महत्व नहीं रखता। रवि अक्सर कहा करता है कि टेवल-लैम्प का नीला शेड और टेवल-क्लाथ, ये दोनों चीजें उससे बहुत काम करा लेती हैं। और उसने शौर किया था कि सचमुच वह टेवल-क्लाथ पर भुका हुआ कभी बहुत देर तक कापिर्या जाँचा करता था और कभी लगातार कुछ लिखता रहता था। जाड़े की शामों को वह स्वयं जब कभी घर में अकेली होती, टेवल पर भुक्तिकर कोई पुस्तक पढ़ना या पलंग पर लेटकर कुछ सोचना उसे बहुत अच्छा लगता था। कभी-कभी वह सलाइर्या और ऊन लेकर बहुत देर तक कुछ बुनती रह जाती।

“सामान सहेज लो,” रवि ने धीरे-से कहा।

उसकी इच्छा हुई, कह दे, सामान है ही क्या?

पर उसके पैरों के पास रखे हुए बैंग और झोले को सामने की खाली सीट पर रखा दिया और सेंडल पहन ली।

“उठो।”

सामान उतारकर रवि ने रिक्षा किया। धूप बहुत तेज थी और सड़कें सूनी थीं।

“जाते ही स्नान करूँगा,” रवि ने धीरे-से कहा।

उसने कुछ कहा नहीं। वह अभी भी टेवल-क्लाथ के बारे में सोच रही थी...“जब तक वह सूटकेस खोलकर देख न लेगी तब तक रवि से उसके बारे में कुछ न कहेगी।

घर पहुँचते-पहुँचते उसे लगा, जैसे वह बहुत थक गयी है। रास्ते-भर वह रिक्षा में चुपचाप बैठी रही थी और सोचती रही थी कि वह घर पहुँचकर विस्तर पर लेट जायगी और थकान उतारने की चेष्टा करेगी। वह विस्तर पर लेटकर तकिये में मुँह छिपा लेगी और रवि श्रगर टेवल-क्लाथ छोड़ आन के लिए कुछ कहेगा तो पड़े-पड़े चुपचाप सुन लेगी।

घर पहुँचकर उसने दरवाजा खोला और पलंग पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगी कि रवि स्नान करने चला जाये तो सूटकेस खोलकर देखें, टेवल-क्लाथ है या नहीं। धोदी देर बैठकर रवि बैंग में सोपकेस ढूँढ़ने लगा।

“क्या ढूँढ़ रहे हो?”

“सोपकेस तुमने कहाँ रखा है ?”

“इसी में तो था ।”

“इसमें तो नहीं है ।”

उसके मन में एक खीभ भर गयी । कहीं से चलना हुआ तो इतनी जल्दी मचा-येंगे, जैसे कोई आफ़त आ पड़ी हो । ऐसे में चीज़ें छूटेंगी नहीं ?

“देखो, सूटकेस में तो नहीं है ?”

“सोपकेस...सूटकेस में ?”

पर उसने चावियों का गुच्छा लेकर सूटकेस खोला । इसी बहाने वह देख लेगी कि टेवल-क्लाथ है या नहीं । वह घबरायी-सी कपड़े निकाल-निकालकर बाहर रखने लगी । टेवल-क्लाथ वहीं छूट गया था । सोपकेस भी नहीं था ।

“इसमें तो नहीं है ।—रुको, आलमारी में सावुन रखा है ।” कहकर उसने आलमारी खोली और सावुन की टिकिया निकालकर रवि की ओर बढ़ा दी । वह तीलिया और सावुन की टिकिया लेकर बाथरूम की ओर चला गया ।

किवाड़ उड़काकर वह पलँग पर लेट गयी और खुद को समझाने का प्रयत्न करने लगी...वस, रवि थोड़ा-वहुत नाराज हो लेगा और वे लोग जाकर कोई कपड़ा खरीद लायेंगे और वह उस पर फिर कढ़ाई कर लेगी...पर न जाने क्यों घबराहट कम नहीं हो रही थी । उसने महसूस किया कि रवि के नाराज होने की सम्भावना का उसे उतना दुःख नहीं है, जितना टेवल-क्लाथ के छूट जाने का ।

पलँग के पास ही टेवल पड़ा हुआ था और बिना टेवल-क्लाथ का टेवल उसे वहुत अजीब लग रहा था और हल्के अँधेरे में पूरा कमरा उसे वहुत सूना-सूना और चेतरतीव मालूम पड़ रहा था ।

रवि स्नान करके लौटा तो उसने पूछा, “नहाओगी नहीं ?”

“नहा लूँगी,” उसने धीरे-से कहा, “टेवल-क्लाथ वहीं पर छूट गया है ।” वह आगे कहना चाहती थी कि उसने तो मना किया था कि उसे न ले चलो, तुम्हें वहाँ कौन लिखना-पढ़ना है और फिर किसी के यहाँ इस तरह की कोई चीज़ विछाकर, क्या वापस लौटते समय उसे फिर समेट लेना अच्छा लगता है ?...“मुझे तो हर जगह पढ़ना-लिखना रहता है ।” रवि ने कहा था ।

वह रवि की ओर देखने लगी कि वह क्या कहता है ।

“यह भी खूब रही !” कहकर रवि ने आलमारी से छोटा-सा शीशा उठा लिया और बाल सँवारकर चेहरा देखने लगा ।

रवि के हाथ में वह शीशा देखकर उसे याद आया कि क्रीव एक महीने पहले किस तरह दीवार पर टैंगा हुआ बड़ा-सा सुन्दर शीशा साफ़ करते समय उसकी जरा-सी असावधानी से गिरकर टूट गया था । और तब रवि कितना खीभ उठा था और कई दिन तक उसे बीच-बीच में यह बताता रहा था कि उतना क्रीमती शीशा फिर खरीद-कर लाना वहुत मुश्किल है...शीशे के नीचे कंत्रा, पाउडर वगैरह रखने की जगह थी और तब कितनी सुविधा होती थी ! अब कंधा कहीं पड़ा रहता है और शीशा कहीं ।

सारी वार्ते सोचकर उसे लग रहा था, जैसे उसमें बैठने की शक्ति न बची हो। सहसा उसे इस वात का भान हुआ कि टेवल-क्लाथ छूट जाने की वात सुनकर रवि नाराज़ नहीं हुआ। शायद वह इस बात्रा से बहुत सन्तुष्ट है।

“उन्हें चिट्ठी लिख देंगे कि वह टेवल-क्लाथ भेज दें।”

“नहीं-नहीं, जल्दी क्या है, वहाँ से कोई आयेगा तो आ जायेगा।” रवि ने कहा।

रवि की इस वात को सुनकर उसे लगा, जैसे अचानक उसके सिर से बहुत बड़ा बोझ उत्तर गया है।

“जल्दी से नहा आओ तो चाय पी जाय।”

“अभी आयी,” कहकर वह उठी और कपड़े लेकर बाथरूम की ओर चली गयी।

नहा-धोकर लौटी तो उसे ताजगी महसूस हो रही थी। अब वह टेवल-क्लाथ के बारे में लगातार नहीं सोच रही थी। पर जब उसने साबुन की टिकिया टेवल के ऊपर रखी तो अचानक उसे फिर टेवल-क्लाथ और सोपकेस के छूट जाने की वात याद आ गयी और वह फिर कुछ अनमनी-सी हो गयी।

इतनी गरमी में उसे चाय पीना अच्छा नहीं लगता था, पर आज उसकी भी चाय पीने की इच्छा हो रही थी। उसने जल्दी से चाय बनायी और एक कप रवि को देकर एक कप में चाय डालकर स्वयं भी पीने लगी।

चाय पीते हुए उसने एक बार कमरे में चारों ओर निगाह दौड़ायी। जगह-जगह धूल जम गयी थी और छोटी-बड़ी चीजें इधर-उधर बिखरी थीं। सहसा उसने सूटकेस की ओर देखा और चौंक पड़ी। एक कोने में चमड़ा किसी चीज से कटकर उघड़ आया था…… इस पर कितने दिन से कवर लगना है। इस तरह तो यह बिलकुल खराब हो जायेगा।

रास्ते-भर उसे लग रहा था, जैसे वह कुछ भी देख-सुन नहीं रही। पर इस बक्त उसे यात्रा की एक-एक वात याद आ रही थी और वह उन जगहों के बारे में सोचने लगी, जो रास्ते में मिली थीं, धूल-भरी और बेतरतीव। और उसके मन में छोटी बहन और उसके आस-पास के घरों की याद ताजी हो उठी…… वह उसकी बेतरतीवी और अभाव को बहुत स्पष्ट रूप से अनुभव करने लगी और एकाएक अनजाने ही उसके मन में अजीव-अजीव भावनाएँ धुमड़ने लगीं…… वह अपनी कल्पना में उन घरों और कमरों को सामान से भरा और सजा हुआ देखने लगी……

“और चाय है?” रवि ने पूछा, तो वह जैसे चौंक उठी और ‘हाँ’ कहकर उसने रवि के हाथ से कप ले लिया।

“किसी दिन चलकर टेवल-क्लाथ का कपड़ा खरीद लाएँगे। बिना उसके टेवल अच्छा नहीं लगता।”

“किसी दिन क्यों, आज ही। वह आ जायेगा तो दो हो जायेंगे और वारी-बारी से धुलवा लिया करना।”

फिर रवि ने हँसते हुए कहा, “अच्छा हुआ वह वहाँ छूट गया। तुमने छोटी

वहन को कुछ दिया ही नहीं था।”

“एक शीशा भी...” उसने धीरे-से कहा।

“हाँ-हाँ,” कहकर रवि ने कप रख दिया और आँखें मूँद लीं।

वह हल्के अँधेरे में कमरे को देखने लगी। आज उसे अपने और दूसरों के अभाव बहुत स्पष्ट नज़र आने लगे...उसके मन में फिर वही भावनाएँ और कल्पनाएँ भर गयीं और बहुत-से सामान उसकी आँखों के आगे घूमने लगे, जिनसे सब-कुछ सजा हुआ और सुन्दर मालूम हो सकता है।

तीसरी कसम उफ्फ मारे गये गुलफ़ाम

हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है…

पिछले बीस साल से गाड़ी हाँकता है हिरामन। बैलगाड़ी। सीमा के उस पार मोरंगराज नेपाल से धान और लकड़ी ढो चुका है। कंट्रोल के जमाने में चोरवाजारी का माल इस पार से उस पार पहुँचाया है। लेकिन कभी तो ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में!…

कंट्रोल का जमाना! हिरामन कभी भूल सकता है उस ज़माने को! एक बार चार खेप सीमेंट और कपड़े की गाँठों से भरी गाड़ी, जोगवनी से विराटनगर पहुँचाने के बाद हिरामन का कलेजा पुख्ता हो गया था। फारविसगंज का हर चोर-व्यापारी उसको पक्का गाड़ीवान मानता। उसके बैलों की बड़ाई बड़ी गद्दी के बड़े सेठी खुद करते, अपनी भाषा में…

गाड़ी पकड़ी गयी पाँचवीं बार, सीमा के इस पार तराई में।

महाजन का मुनीम उसी की गाड़ी पर गाँठों के बीच चुक्की-भुक्की लगाकर छिपा हुआ था। दारोगा साहब की ढेढ़ हाथ लम्बी चोरवत्ती की रोशनी कितनी तेज़ होती है, हिरामन जानता है। एक घंटे के लिए आदमी अन्धा हो जाता है, एक छटक भी पढ़ जाय आँखों पर! रोशनी के साथ कढ़कती हुई आवाज—'ऐ-य! गाड़ी रोको! साले, गोली मार देंगे!…'

बीसों गाड़ियाँ एक साथ कचकचाकर रुक गयीं। हिरामन ने पहने ही कहा था— यह बीस विषावेगा! दारोगा साहब उसकी गाड़ी में दुवके हुए मुनीमजी पर रोशनी डालकर पिशाची हँसी हैसे, "हा-हा-हा! मुंडीमजी-ई-ई-ई! ही-ही-ही! …ऐ-य, साला गाड़ीवान, मुंह क्या देखता है रेन-ए-ए! कम्बल हटायो इस बोरे के मुंह पर से!" हाथ की छोटी लाठी से मुनीमजी के पेट में खोंचा मारते हुए कहा था, "इस बोरे को…! स-स्साला!"

बहुत पुरानी अखज-अदावट होगी दारोगा साहब और मुनीमजी में। नहीं तो उतना रुपया कटूलने पर भी पुलिस-दारोगा का मन न ढोले भला! चार हजार तो गाड़ी पर बैठा-बैठा ही दे रहा था। लाठी से छुसरी बार खोंचा मारा दारोगा ने! "पाँच हजार!" फिर खोंचा, "उतरो पहले!"

मुनीम को गाड़ी से नीचे उतारकर दारोगा ने उसकी आँखों पर रोशनी डाल दी। फिर दो सिपाहियों के साथ सड़क से बौस-पचीस रस्सी दूर भाड़ी के पास ले गये। गाड़ी-

वान और गाड़ियों पर पाँच-पाँच बन्दूकवाले सिपाहियों का पहरा ! … हिरामन समझ गया, इस वार निस्तार नहीं…जेल ? हिरामन को जेल का डर नहीं । लेकिन उसके बैल ? न जाने कितने दिनों तक विना चारा-पानी के सरकारी फाटक में पड़े रहेंगे—भूखे-प्यासे । फिर नीलाम हो जायेंगे । मैया और भौजी को वह मुँह नहीं दिखा सकेगा कभी…नीलाम की बोली उसके कानों के पास गूँज गयी—एक-दो-तीन ! … दारोगा और मुनीम में बात पट नहीं रही थी शायद ।

हिरामन की गाड़ी के पास तैनात सिपाही ने अपनी भाषा में दूसरे सिपाही से धीमी आवाज में पूछा, “का हो ? मामला गोल होखी का ?” फिर खेन्नी-तम्बाकू देने के बहाने उस सिपाही के पास चला गया ।

एक-दो-तीन ! तीन-चार गाड़ियों की आड़ ! हिरामन ने फैसला कर लिया । उसने धीरे-से अपने बैलों के गले की रस्सियाँ खोल लीं; गाड़ी पर बैठे-बैठे दोनों को जुड़वाँ चाँध दिया । बैल समझ गये उन्हें क्या करना है । हिरामन उतरा, जुती हुई गाड़ी में वाँस की टिकटी लगाकर बैलों के कन्धों को बेलाग किया । दोनों के कानों के पास गुदगुदी लगा दी और मन-ही-मन बोला, “चलो मैयन्, जान बचेगी तो ऐसी-ऐसी सगड़ गाड़ी बहुत मिलेगी…एक-दो-तीन ! नौ-दौ-ग्याह ! …”

गाड़ियों की आड़ में सड़क के किनारे दूर तक घनी झाड़ी फैली हुई थी । दम साधकर तीनों प्राणियों ने झाड़ियों को पार किया—बेस्टक, बे-आहट ! फिर एक ले, दो ले…दुलकी चाल ! दोनों बैल सीना तानकर फिर तराई के घने जंगलों में घुस गये । राह सूधते, नदी-नाला पार करते हुए भागे पूँछ उठाकर । पीछे-पीछे, हिरामन ! रातभर भागते रहे ये तीनों जन…

धर पहुँचकर दो दिन तक बेसुध पड़ा रहा हिरामन । होश में आते ही उसने कान पकड़कर कसम ल्ता थी—अब कभी ऐसी चीजों की लदनी नहीं लादेंगे । चोरवाजारी का माल ? तोबा, तोबा ! … पता नहीं मुनीमजी का क्या हुआ ! भगवान जाने उसकी सगड़ गाड़ी का क्या हुआ ! असली इस्पात लोहे की धुरी थी । दोनों पहिये तो नहीं, एक पहिया एकदम नया था । गाड़ी में रंगीन ढोरियों के फूँदने वडे जतन से गूँथे गये थे ।

दो कसमें खायी हैं उसने—एक, चोरवाजारी का माल नहीं लादेंगे; दूसरी, वाँस । अपने हर भाड़ेदार से वह पहले ही पूछ लेता है—चोरी-चमारीवाली चीज तो नहीं ? और, वाँस ? वाँस लादने के लिए पचास रुपये भी दे कोई, हिरामन की गाड़ी नहीं मिलेगी । दूसरे की गाड़ी देखे…

वाँस लदी हुई गाड़ी ! गाड़ी से चार हाथ आगे वाँस का अगुआ निकला रहता है और पीछे की ओर चार हाथ पिछुआ ! कावू के बाहर रहतो है गाड़ी हमेशा । सो चेकावू वाली लदनी और खरैहिया शहरवाली बात ! तिस पर वाँस का अगुआ पकड़कर चलनेवाला भाड़ेदार का महाभकुआ नौकर, लड़की-स्कूल की ओर देखने लगा । बस, मोड़ पर घोड़ागाड़ी से टक्कर हो गयी । जब तक हिरामन बैलों की रस्सी लीजे, तब तब घोड़ागाड़ी की छतरी वाँस के अगुआ में फैस गयी । घोड़ागाड़ीवाले ने तरात़ चावुक मारते हुए गाली दी थी ! …

वाँस की लदनी ही नहीं, हिरामन ने खरैहिया शहर की लदनी भी छोड़ दी। और जब फारविसगंज से मोरंग का भाड़ा ढोना शुरू किया तो गाड़ी ही पार ! ... कई वर्षों तक हिरामन ने बैलों की आधीदारी पर जोता। आधा भाड़ा गाड़ीवाले का और आधा बैलवाले का। इस्स ! गाड़ीवानी करो मुफ्त ! आधीदारी की कमाई से बैलों के ही पेट नहीं भरते। पिछले साल ही उसने अपनी गाड़ी बनवायी है।

देवी मैया भला करें उस सरकस कम्पनी के वाघ का ! पिछले साल इसी मेले में वाघगाड़ी को ढोनेवाले दोनों धोड़े मर गये। चम्पानगर से फारविसगंज भेला आने के समय सरकस कम्पनी के मैनेजर ने गाड़ीवान-पट्टी में ऐलान करके कहा—सौ रुपया भाड़ा मिलेगा। एक-दो गाड़ीवान राजी हुए। लेकिन उनके बैल वाघगाड़ी से दस हाथ दूर ही डर से डिकरने लगे—वाँ-आँ ! रस्सी तुड़ाकर भागे। हिरामन ने अपने बैलों की पीठ सहलाते हुए कहा—देखो भैयन, ऐसा मौका फिर हाथ नहीं आयेगा। यही मौका है अपनी गाड़ी बनवाने का, नहीं तो फिर आधीदारी... और, पिंजड़े में बन्द वाघ का क्या डर ? मोरंग की तराई में दहाइते हुए वाखों को देख चुके हो। फिर पीठ पर मैं तो हूँ...

गाड़ीवानों के दल में तालियाँ पटपटा उठी थीं एक साथ। सभी की लाज रख ली हिरामन के बैलों ने; हुमकर आगे बढ़ गये और वाघगाड़ी में जुट गये—एक-एक करके। सिर्फ़ दाहिने बैल ने जुतने के बाद डेर-सा पेशाव किया था। हिरामन ने दो दिन तक नाक से कपड़े की पट्टी नहीं खोली थी। बड़ी गढ़ी के बड़े सेठजी की तरह नकवन्धन लगाये बिना बघाइन गन्ध बरदाश्त नहीं कर सकता कोई।

...वाघगाड़ी की गाड़ीवानी की है हिरामन ने। कभी ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में। आज रह-रहकर उसकी गाड़ी में चम्पा का फूल महक उठता है। पीठ में गुदगुदी लगने पर वह आँगोच्छे से पीठ झाड़ लेता है।

हिरामन को लगता है, दो वर्ष से चम्पानगर मेले की भगदती मैया उस पर प्रसन्न है। पिछले साल वाघगाड़ी जुट गयी। नगद एक सौ रुपये भाड़े के अलावा बुताद, चाह-विस्कुट; और रास्ते-भर बन्दर-भालू और जोकर का तमाशा देखा सौ फोकट में !

और, इस बार यह जनानी सवारी। औरत है या चम्पा का फूल ! जब से गाड़ी में बैठी है, गाड़ी मह-मह महक रही है।

कच्ची सड़क के एक छोटे-से खड़े में गाड़ी का दाहिना पहिया बेमीके हिचकोला खा गया। हिरामन की गाड़ी से एक हल्की 'सिस' की आवाज आयी। हिरामन ने दाहिने बैल को दुआली से पीछते हुए कहा, "साला ! क्या समझता है, बोरे की लदनी है क्या ?"

"यहा ! मारो मत !"

अनदेखी औरत की आवाज ने हिरामन को अचरज में डाल दिया। बच्चों की बोली जैसी महीन, फेनूगिलासी बोली !

० ०

मथुरामोहन नौटंकी कम्पनी में लैला बननेवाली हीरावाई का नाम किसने नहीं सुना होगा भला ! लेकिन हिरामन की बात निराली है। उसने सात साल तक लगातार

तीसरी क़सम उर्फ़ नारे गये गुलफ़ाम

मेलों की लदनी लादी है, कभी नीटंकी-थिटयेर या वाइस्कोप-सिनेमा नहीं देखा। लंला-या हीरावाई का नाम भी उसने नहीं सुना कभी; देखने की क्या बात! सो मेला टूटने के पन्द्रह दिन पहले आधी रात की वेला में काली ओढ़नी में लिपटी औरत को देखकर उसके मन में खटका अवश्य लगा था। वक्स ढोनेवाले नीकर ने गाड़ी-भाड़ा में मोल-मोलाई करने की कोशिश की तो ओढ़नीदाली ने सिर हिलाकर मना कर दिया। हिरामन ने गाड़ी जोतते हुए नीकर से पूछा, “क्यों भैया, कोई चोरी-चमारी का माल-वाल तो नहीं?” हिरामन को फिर अचरज हुआ। वक्सा ढोनेवाले आदमी ने हाथ के इशारे से गाड़ी हाँकने को कहा और अँधेरे में गायब हो गया। हिरामन को मेले में तम्बाकू वेचने-वाली बूढ़ी की काली साड़ी की याद आयी थी…

ऐसे में कोई क्या गाड़ी हाँके!

एकतो पीठ में गुदगुदी लग रही है, दूसरे रह-रहकर चम्पा का फूल खिल जाता है उसकी गाड़ी में। वैलों को डाँटो तो इस-विस करने लगती है उसकी सवारी…उसकी सवारी! औरत अकेली, तम्बाकू वेचनेवाली बूढ़ी नहीं! आवाज़ सुनने के बाद वह बार-बार मुड़कर टप्पर में एक नजर डाल देता है; अँगोचे से पीठ भाड़ता है…भगवान् जाने क्या लिखा है इस बार उसकी किस्मत में! गाड़ी जब पूरव की ओर मुड़ी, एक टुकड़ा चाँदनी उसकी गाड़ी में समा गया। सवारी की नाक पर एक जुगनू जगमगा उठा। हिरामन को सब-कुछ रहस्यमय—अजगृत-अजगृत—लग रहा है। सामने चम्पानगर से सिधिया गाँव तक फैला हुआ मंदान! …कहीं डाकिन-पिशाचिन तो नहीं?

हिरामन की सवारी ने करवट ली। चाँदनी पूरे मुखड़े पर पड़ी तो हिरामन चीखते-चीखते रुक गया—अरे बाप! ईंतं परी है!

परी की आँखें खुल गयीं। हिरामन ने सामने सड़क की ओर मुँह कर लिया और वैलों को टिटकारी दी। वह जीभ को तालू से सटाकर टि-टि-टि आवाज़ निकालता है। हिरामन की जीभ न जाने कब से सूखकर लकड़ी-जैसी हो गयी थी!

“भैया, तुम्हारा नाम क्या है?”

हू-व-हू फेनूगिलास! …हिरामन के रोम-रोम बज उठे। मुँह से बोली नहीं निकली। उसके दोनों वैल भी कान खड़े करके इस बोली को परखते हैं।

“मेरा नाम? …नाम मेरा है हिरामन!”

उसकी सवारी मुसकराती है…मुसकराहट में खुशबू है।

“तब तो मीता कहूँगी, भैया नहीं…मेरा नाम भी हीरा है।”

“इस्स!” हिरामन को परतीत नहीं, मर्द और औरत के नाम में फर्क होता है।

“हाँ जी, मेरा नाम भी हीरावाई है।”

कहाँ हिरामन और कहाँ हीरावाई! वहुत फर्क है!

हिरामन ने अपने वैलों को फिड़की दी, “कान चुनियाकर गप सुनने से ही तीस कोस मंजिल कटेगी क्या? इस बायें जाटे के पेट में शैतानी भरी है।” हिरामन ने बायें वैल को दुआली की हल्की झड़प दी।

“मारो मत; धीरे-धीरे चलने दो। जलदी क्या है?”

हिरामन के सामने सवाल उपस्थित हुआ—वह क्या कहकर 'गप' करे हीरावाई से ? 'तोहें' कहे या 'अहाँ' ? उसकी भाषा में दड़ों को 'अहाँ' अर्थात् 'आप' कहकर स्मृतिक्रिया किया जाता है। कच्चराही बोली में दो-चार सवाल-जवाब चल सकते हैं; दिल खोल गप तो गाँव की बोली में ही की जा सकती है किसी से ।

आसिन-कातिक की भोर में छा जानेवाले कुहासे से हिरामन को पुरानी चिढ़ है। वहूत बार वह सड़क भूलकर भटक चुका है। किन्तु आज की भोर के इस धने कुहासे में भी वह मग्न है। नदी के किनारे धनधेतों से फूले हुए धान के पीधों की पवनिया गन्ध आती है। पर्व-पावन के दिन गाँव में ऐसी ही सुगन्ध फैली रहती है। उसकी गाड़ी में किर चम्पा का फूल लिला। उस फूल में एक परी बैठी है...जो भगवती !

हिरामन ने आँख की कनिलियों से देखा, उसकी सवारी...मीता...हीरावाई की आँखें गुजुर-गुजुर उसको हेर रही हैं। हिरामन के मन में कोई श्रजानी रागिनी बज उठी। सारी देह सिरसिरा रही है। वह बोला, "बैल को मारते हैं तो आपको बहुत बुरा लगता है?"

००

हीरावाई ने परख लिया, हिरामन सचमुच हीरा है।

चालीस ताल का हट्टा-कट्टा, काला-कलूटा, देहाती नौजवान श्रपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और वात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। घर में बड़ा भाई है, खेती करता है। बाल-वच्चेदाला आदमी है। हिरामन भाई से बढ़कर भाभी की इश्जत करता है। भाभी से डरता भी है। हिरामन की भी शादी हुई थी, वच्चपन में ही। नीने के पहले ही दुलहिन मर गयी। हिरामन को श्रपनी दुलहिन का चेहरा याद नहीं...दूसरी शादी ? दूसरी शादी न बरने के अनेक कारण हैं। भाभी की जिद, कुमारी लड़की से ही हिरामन की शादी करवाएगी। कुमारी का मतलब हुआ पाँच-सात साल की लड़की। कौन मानता है सरधा-कानून ? कोई लड़कीवाला दोव्याहू को श्रपनी लड़की गरज में पड़ने पर ही दे सकता है। भाभी उसकी तीन सत्त करके बैठी है, सो बैठी है। भाभी के आगे मैया की भी नहीं चलती ! ...श्रव हिरामन ने तथ कर लिया है, शादी नहीं करेगा। कौन बलाय मोल लेने जाय ! व्याह करके फिर गाड़ीवानी क्या करेगा कोई ! और सब-कुछ-छूट जाय, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन !

हीरावाई ने हिरामन जैसा निवचल आदमी बहुत कम देखा है। पूछा, "आपका घर कौन जिल्ला में पड़ता है ?" कानपुर नाम सुनते ही जो उसकी हँसी छूटी, तो बैल भढ़क उठे। हिरामन हँसते समय सिर नीचा कर लेता है। हँसी बन्द होने पर उसने कहा, "वाह रे कानपुर ! तब तो नाकपुर भी होगा ?" और जब हीरावाई ने कहा कि नाकपुर भी है तो वह हँसते-हँसते दुहरा हो गया।

"वाह रे दुनिया ! क्या-क्या नाम होता है ! कानपुर, नाकपुर !" हिरामन ने हीरावाई के कान के फूल को गौर से देखा। नाक की नक्काशी के नग देखकर सिहर उठा—लहू की बूँद !

हिरामन ने हीरावाई का नाम नहीं सुना कभी। नीटंकी कम्पनी की ओरत को

वह वाईजी नहीं समझता है...कम्पनी में काम करनेवाली औरतों को वह देख चुका है। सरकसकम्पनी की मालकिन, अपनी दोनों जवान वेटियों के साथवाधगाड़ी के पास आती थी, वाघ को चारा-पानी देती थी, प्यार भी करती थी खूब। हिरामन के बैलों को भी डबलरोटी-विस्कुट खिलाया था बड़ी बेटी ने।

हिरामन होशियार है। कुहासा छेंटते ही अपनी चादर से टप्पर में परदा कर दिया, “वस दो धंटा! उसके बाद रास्ता चलना मुश्किल है। कातिक की सुबह की धूप आप बरदाश्त न कर सकिएगा। कजरी नदी के किनारे तेगछिया के पास गाड़ी लगा देंगे। दोपहरिया काटकर...”

सामने से आती हुई गाड़ी को दूर से ही देखकर वह सतर्क हो गया। लाक और बैलों पर ध्यान लगाकर बैठ गया। राह काटते हुए गाड़ीवान ने पूछा, “मेला टूट रहा है क्या, भाई?”

“हिरामन ने जवाब दिया—वह मेले की बात नहीं जानता। उसकी गाड़ी पर ‘विदागी’ (नैहर या समुराल जाती हुई लड़की) है। न जाने किस गाँव का नाम बता दिया हिरामन ने!

“छत्तापुर-पचीरा कहाँ है?”

“कहीं हो, यह लेकर आप क्या करियेगा?” हिरामन अपनी चतुराई पर हँसा। परदा डाल देने पर भी पीठ में गुदगुदी लगती है।

हिरामन परदे के छेद से देखता है। हीरावाई एक दियासलाई की डिब्बी के बराबर आइने में अपने दाँत देख रही है...मदनपुर मेले में एक बार बैलों को नन्ही-चित्ती कीड़ियों की माला दी थी हिरामन ने—छोटी-छोटी, नन्हीं-नन्हीं कीड़ियों की पांत!

तेगछिया के तीनों पेड़ दूर से ही दिखाई पड़ते हैं। हिरामन ने परदे को जरा सरकाते हुए कहा, “देखिए, यही है तेगछिया। दो पेड़ जटामासी बड़े हैं और एक... उस फूल का क्या नाम है, आपके कुरते पर जैसा फूल छपा हुआ है, वैसा ही! खूब महकता है; दो कोस दूर तक गन्ध जाती है; उस फूल को खमीरा तम्बाकू में डाल-कर पीते भी हैं लोग।”

“श्रीर उस अमराई की आड़ से कई मकान दिखायी पड़ते हैं, वहाँ कोई गाँव है या मन्दिर?”

हिरामन ने बीड़ी सुलगाने के पहले पूछा, “बीड़ी पीयें? आपको गन्ध तो नहीं लगेगी?...वही है नामलगर ड्यौडी। जिस राजा के मेले से हम लोग आ रहे हैं, उसी का दिमाद-गोतिया है... जा रे जमाना!”

हिरामन ने ‘जा रे जमाना’ कहकर बात को चाशनी में डाल दिया। हीरावाई ने टप्पर के परदे को तिरछे खोंस दिया! ...हीरावाई की दत्तपंक्ति!

“कौन जमाना?” ठुट्ठी पर हाथ रखकर साय्रह बोली।

“नामलगर ड्यौडी का जमाना! क्या था, और क्या-से-क्या हो गया!”

हिरामन गप रसाने का भेद जानता है। हीरावाई बोली, “तुमने देखा था वह-

जमाना ?”

“देवता नहीं, सुना है ‘‘राज कैसे गया, घड़ी हैफवाली कहानी है। सुनते हैं, घर में देवता ने जन्म ले लिया। कहिए भला, देवता आखिर देवता है। है या नहीं ? इन्द्रासन छोड़कर मिर्तुभूवन में जन्म ले ले तो उसका तेज कैसे सम्हाल सकता है कोई ! सूरजमुखी फूल की तरह माथे के पास तेज खिला रहता। लेकिन नजर का फैर, किसी ने नहीं पहचाना। एक बार उपर्युक्त में लाट साहब मय लाटनी के, हवागाढ़ी से आये थे। लाट ने भी नहीं, पहचाना आखिर लाटनी ने। सूरजमुखी तेज देखते ही बोल उठी, ‘‘ए मैं राजा साहब, सुनो, यह आदमी का बच्चा नहीं है, देवता है।’’

हिरामन ने लाटनी की बोली की नकल उतारते समय खूब डैम-फैट-लैट किया। हीरावाई दिल खोलकर हँसी “हँसते समय उसकी सारी देह दुलकती है !

हीरावाई ने अपनी ओढ़नी ठीक कर ली। तब हिरामन को लगा कि “लगा कि…

“तब ? उसके बाद क्या हुआ, मीता ?”

“इस्स ! कत्था सुनने का बड़ा शीक है आपको ?… लेकिन, काला आदमी राजा क्या महाराजा भी हो जाय, रहेगा काला आदमी ही। साहेब के जैसा अविकल कहाँ से पांचेगा ! हैतकर यात उड़ा दी सभी ने। तब रानी को बार-बार सपना देने लगा देवता ! सेवा नहीं कर सकते तो जाने दो, नहीं रहेंगे तुम्हारे यहाँ। इसके बाद देवता का खेल शुरू हुआ। सबसे पहले दोनों दन्तार हाथी मरे, फिर घोड़ा, फिर पट-पटांग….”

“पटपटांग क्या ?”

हिरामन का मन पल-पल में बदल रहा है। मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिल रहा है। उसकी लगता है, उसकी गाड़ी पर देवकुल की ओरत सवार है। देवता आखिर देवता है।

“पटपटांग ! धन-दीलत, माल-मवेशी सब साक। देवता इन्द्रासन चला गया।” हीरावाई ने श्रीभल हीते हुए मन्दिर के कंगूरे की ओर देखकर लम्बी सांस ली।

लेकिन देवता ने जाते-जाते कहा, “इस राज में कभी एक छोड़कर दो वेटा नहीं होगा। धन हम अपने साथ ले जा रहे हैं, गुन छोड़ जाते हैं। देवता के साथ सभी देव-देवी चले गये, सिफ़ सरोसती मैया रङ गयी। उसी का मन्दिर है।”

देसी घोड़े पर पाट के बोझ लादे हुए वनियों को आते देखकर हिरामन ने टप्पर के परदे को गिरा दिया। बैलों को ललकारकर विदेशिया नाच का बन्दना गीत गाने लगा—जै मैया सरोसती, अरजी करत बानी; हमरा पर होखू सहाई है मैया, हमरा पर होखू सहाई !

घोड़लहे वनियों से हिरामन ने हुलसकर पूछा, “क्या भाव पढ़ुआ खरीदते हैं महाजन ?”

लौंगड़े घोड़ेवाले वनिये ने बटगमनी जबाब दिया, “नीचे सत्ताइस-अठाइस, ऊपर तीस। जैसा माल, वैसा भाव !”

हिरामन बनिये ने पूछा, “मेला का क्या हाल-चाल है, भाई ? कौन नीटंकी कम्पनी का खेला हो रहा है, रौता कम्पनी या मथुरामोहन ?”

“मेले का हाल मेलावाला जाने !” हिरामन ने फिर छत्तापुर-पचोरा का नाम लिया ।

सूरज दो बाँस ऊपर आ गया था । हिरामन अपने बैलों से बात करने लगा— एक कोस जमीन ! जरा दम बाँधकर चलो । प्यास की बेला हो गयी न ! याद है, उस बार तेगछिया के पास सरकस कम्पनी के जोकड़ और बन्दर नचानेवाले साहब में झगड़ा हो गया था । जोकड़वा ठीक बन्दर की तरह दाँत किटकिटाकर किकियाने लगा था… न जाने किस-किस देस-मुलुक के आदमी आते हैं !

हिरामन ने फिर परदे के छेद से देखा, हीरावाई कागज के एक टुकड़े पर आँख गड़ाकर बैठी है । हिरामन का मन आज हल्के सुर में बँधा है । उसको तरह-तरह के गीतों की याद आती है । बीस-पचीस साल पहले, विदेशिया, बलवाही, छोकरा नाच वाले एक से-एक गजल-खेमटा गाते थे । अब तो, भौंपू-भौंपू करके कौन गीत गाते हैं लोग ! जा रे जमाना ! छोकरा-नाच के गीत की याद आयी हिरामन को—

सजनवा बैरी हो ग'य हमारो ! सजनवा…!

अरे, चिठिया हो तो सब कोई बाँचे; चिठिया हो तो…

हाय ! करमवा, होय, करमवा…

कोई' न बाँचे हमारो, सजनवा…हो करमवा…!

गाड़ी की बल्ली पर आँगुलियों से ताल देकर गीत को काट दिया हिरामन ने । छोकरा-नाच के मनुआँ-नटुवा का मुँह हीरावाई जैसा ही था…कहाँ चला गया वह जमाना ! हर महीने गाँव में नाचवाले आते थे । हिरामन ने छोकरा-नाच के चलते अपनी भाभी की न जाने कितनी बोली-ठोली सुनी थी । भाई ने घर से निकल जाने को कहा था ।

आज हिरामन पर माँ सरस्वती सहाय हैं, लगता है । हीरावाई बोली, “वाह, कितना बढ़िया गाते हो तुम !”

हिरामन का मुँह लाल हो गया । वह सिर नीचा करके हँसने लगा ।

आज तेगछिया पर रहने वाले महावीर स्वामी भी सहाय हैं हिरामन पर । तेगछिया के नीचे एक भी गाड़ी नहीं । हमेशा गाड़ी और गाड़ीवानों की भीड़ लगी रहती है यहाँ; सिर्फ़ एक साइकिलवाला बैठकर सुस्ता रहा है । महावीर स्वामी को सुमर कर हिरामन ने गाड़ी रोकी । हीरावाई परदा हटाने लगी । हिरामन ने पहली बार आँखों से बात की हीरावाई से—साइकिलवाला इधर ही टिकटिकी लगाकर देख रहा है ।

बैलों को खोलने के पहले बाँस की टिकटी लगाकर गाड़ी को टिका दिया । फिर साइकिलवाले की ओर बार-बार धूरते हुए पूछा, “कहाँ जाना है, मेला ? कहाँ से आना हो रहा है, विसनपुर से ? बस, इतनी ही दूर में थसथसाकर थक गये ?…जा रे जवानी !”

साइकिलवाला दुबला-पतला नीजवान मिनमिनाकर बुछ बोला और बीड़ी

सुलगाकर उठ खड़ा हुआ ।

हिरामन दुनिया-भर की निगाह से बचाकर रखना चाहता है हीरावाई को । उसने चारों ओर नज़र दीड़ाकर देख लिया—कहीं कोई गाड़ी या घोड़ा नहीं ।

कजरी नदी की दुबली-पतली धारा तेगछिया के पास आकर पूरव की ओर मुड़ गयी है । हीरावाई पानी में बैठी हुई भैंसों और उनकी पीठ पर बैठे हुए बगुलों को देखती रही ।

हिरामन बोला, “जाइए, धाट पर मुँह-हाथ धो आइए ।”

हीरावाई गाड़ी से नीचे उतरी । हिरामन का कलेजा धड़क उठा... नहीं, नहीं ! पाँव सीधे हैं, टेढ़े नहीं । लेकिन, तलुवा इतना लाल वर्ण है ? हीरावाई धाट की ओर चली गयी, गाँव की बहु-बेटी की तरह सिर नीचा करके बीरे-धीरे । कौन कहेगा कि कम्पनी की ओरत है !... ओरत नहीं, लड़की । शायद कुमारी ही है ।

हिरामन टिकटी पर टिकी गाड़ी पर बैठ गया । उसने टप्पर में झाँककर देखा । एक बार इधर-उधर देखकर हीरावाई के तकिये पर हाथ रख दिया । फिर तकिये पर केहुनी डालकर झुक गया, झुकता गया ! खुशबू उसकी देह में समा गयी । तकिये के गिलाफ पर कढ़े फूलों को अँगुलियों से छूकर सूंधा । हाय ये हाय ! इतनी सुगन्ध ! हिरामन को लगा, एक साथ पाँच चिलम गाँजा फूंककर वह उठा है । हीरावाई के छोटे आईने में उसने अपना मुँह देखा । आँखें उसकी इतनी लाल वर्ण हैं ?

हीरावाई लौटकर आयी तो उसने हँसकर कहा, “अब आप गाड़ी का पहरा कीजिए, मैं आता हूँ तुरत ।”

हिरामन ने अपनी सफरी भोली से सहेजी हुई गंजी निकाली, गमछा झाड़कर कन्धे पर लिया और हाथ में वालटी लटकाकर चला । उसके बैलों ने बारी-बारी से ‘हुँक-हुँक’ करके कुछ कहा । हिरामन ने जाते-जाते उलटकर कहा—हाँ, हाँ, प्यास सभी को लगी है । लौटकर आता हूँ तो घास दूँगा, बदमाशी मत करो !

बैलों ने कान हिलाये ।

नहा-धोकर कब लौटा हिरामन, हीरावाई को नहीं मालूम । कजरी की धारा को देखते-देखते उसकी आँखों में रात की उच्चटी हुई नींद लौट आयी थी । हिरामन पास के गाँव से जलपान के लिए दही-चूड़ा-चीनी ले आया है ।

“उठिए, नींद तोड़िए ! दो मुट्ठी जलपान कर लीजिए !”

हीरावाई आँख खोलकर श्रचरण में पड़ गयी—एक हाथ में मिट्टी के नये बरतन में दही, केले के पत्ते । दूसरे हाथ में वालटी-भर पानी । आँखों में आत्मीयतापूर्ण अनुरोध ।

“इतनी चीजें कहाँ से ले आये ?”

“इस गाँव का दही नामी है... चाह तो फारविसगंज जाकर ही पाइएगा ।”

हिरामन की देह की गुदगुदी बिला गयी । हीरावाई ने वहा, “तुम भी पत्त चिछाओ... वयों ? तुम नहीं खाओगे तो समेटकर रख लो अपनी भोली में । मैं भी नहीं खाऊँगी ।”

“इस !” हिरामन लजाकर बोला, “अच्छी बात ! आप पी लीजिए पहले ।”
“पहले-पीछे क्या ? तुम भी बैठो ।”

हिरामन का जी जुड़ा गया। हीरावाई ने अपने हाथ से उसका पत्तल बिछा दिया, पानी ढींट दिया, चूड़ा निकालकर दिया। इस ! धन्न है, धन्न है ! हिरामन ने देखा, भगवती मैथा भोग लगा रही है। लाल हौंठों पर गोरस का पारस ! … पहाड़ी तोते को दूध-भात खाते देखा है ?

० ०

दिन ढल गया ।

टप्पर में सोयी हीरावाई और जमीन पर दरी बिछाकर सोये हिरामन की नीद एक ही साथ खुली… मेले की ओर जानेवाली गाड़ियाँ तेगछिया के पास रुकी हैं। वच्चे कचर-पचर कर रहे हैं।

हिरामन हड्डवड़ाकर उठा। टप्पर के अन्दर झाँककर इशारे से कहा—दिन ढल गया ! गाड़ी में बैलों को जोतते समय उसने गाड़ीवानों के सवालों का कोई जवाब नहीं दिया। गाड़ी हाँकते हुए बोला, “सिरपुर वाजार के इसपिताल की डाकडरनी हैं। रोगी देखने जा रही हैं। पास ही कुड़मागाम ।”

हीरावाई छत्तापुर-पचीरा का नाम भूल गयी। गाड़ी जब कुछ दूर आगे बढ़ आयी तो उसने हँसकर पूछा, “पत्तापुर-छपीरा ?”

हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गये हिरामन के, “पत्तापुर-छपीरा ! हा-हा ! वे लोग छत्तापुर-पचीरा के ही गाड़ीवान थे, उनसे कैसे कहता ! ही-ही !”

हीरावाई मुसकराती हुई गाँव की ओर देखने लगी।

सड़क तेगछिया गाँव के बीच से निकलती है। गाँव के वच्चों ने परदेवाली गाड़ी देखी और तालियाँ बजा-बजाकर रटी हुई पंक्तियाँ दुहराने लगे—

लाली लाली डोलिया में

लाली रे दुलहिनिया

पान खाये…!

हिरामन हँसा… दुलहिनिया… लाली-लाली डोलिया ! दुलहिनिया पान खाती है, दुलहा की पगड़ी में मुँह पोंछती है। आ दुलहिनिया, तेगछिया गाँव के वच्चों को याद रखना। लौटती बेर गुड़ का लड्डू लेती अइयो ! लाख वरिस तेरा दुलहा जाये ! … कितने दिनों का हौसला पूरा हुआ है हिरामन का ! ऐसे कितने सपने देखे हैं उसने ! … वह अपनी दुलहिन को लेकर लौट रहा है। हर गाँव के वच्चे तालियाँ बजाकर गा रहे हैं। हर आँगन से झाँककर देख रही हैं औरतें। मर्द लोग पूछते हैं—कहाँ की गाड़ी है, कहाँ जायेगी ? उसकी दुलहिन डोली का परदा थोड़ा सरकाकर देखती है। और भी कितने सपने…

गाँव से बाहर निकलकर उसने कनखियों से टप्पर के अन्दर देखा, हीरावाई कुछ सोच रही है। हिरामन भी किसी सोच में पड़ गया। थोड़ी देर के बाद वह गुनाने लगा—

वाप दाढ़ी पीकर दिन-रात बेहोश पड़ा रहता। उसकी सीतेली माँ सान्धात राक्सनी! बहुत बड़ी नजर-चालाक। रात में गाँजा-दाढ़ी-ग्रफीम चुराकर बेचनेवालों से लेकर तरह-तरह के लोगों से उसकी जान-पहचान थी। सबसे घुट्टी-भर हेल-मेल। महुआ कुमारी थी। लेकिन काम कराते-कराते उसकी हड्डी निकाल दी थी राक्सनी ने। जवान हो गयी, कहीं शादी-व्याह की बात भी नहीं चलायी। एक रात की बात सुनिए!"

हिरामन ने धीरे-धीरे गुनगुनाकर गला साफ़ किया—

"हे-अ-अ-अ सावना-भादवा के-र-उमड़ल नदिया-गे-मै-यो-ओ-ओ,

मैयो, गे रैनि भयावनि-हे-ए-ए-ए; तड़का तड़के घड़के करेज-आ-आ

मोरा कि हमहुँ जे वारी-नान्ही रे-ए-ए..."

"ओ माँ! सावन-भादों की उमड़ी हुई नदी, भयावनी रात, विजली कड़कती है, मैं वारी-क्वारी नन्ही बच्ची, मेरा कलेजा धड़कता है। अकेली कैसे जाऊँ घाट पर? सो भी एक परदेशी राही-बटोही के पैर में तेल लगाने के लिए। सत-माँ ने अपनी बजर-किवड़ी बन्द कर ली। आसमान में मेघ हङ्गड़ा उठे और हरहराकर बरसा होने लगी। महुआ रोने लगी अपनी मरी माँ को याद करके। आज उसकी माँ रहती तो ऐसे दुरदिन में कलेजे से सटाकर रखती अपनी महुआ बेबी को। गे मड़या, इसी दिन के लिए, तुमने कोख में रखा था? महुआ अपनी माँ पर गुस्साई—क्यों वह अकेली मर गयी; जी-भर कोसती हुई बोली..."

हिरामन ने लक्ष्य किया, हीरावाई तकिये पर केहुनी गदाकर, नीत में मगन एक-टक उसकी ओर देख रही थी..."खोयी हुई सूरत कैसी भोली लगती है!

हिरामन ने गले में कैंपकैंपी पैदा की—

"हुँ-ऊँ-ऊँ-रे डाइनिया मैयो मोरी-ई-ई, नोनवा चटाई क्वाहे नाई-

मारलि सौंरी घर-अ-अ। एहि दिनबाँ खातिर छिनरो घिया तेंह

पोसलि कि नेनू-दूध-उटगन..."

हिरामन ने दम लेते हुए पूछा, "भाज्वा भी समझती हैं कुछ, या खाली गीत ही सुनती हैं?"

हीरा बोली, "सब समझती हूँ। उटगन माने उटन...जो देह में लगते हैं।"

हिरामन ने विस्मित होकर कहा, "इस्त ! ...सो रोने-घोने से क्या होय! सौदागर ने पूरा दाम चुका दिया था महुआ का। बाल पकड़कर घसीटता हुआ नाव पर चढ़ा और माँभी को हुकुम दिया—नाव खोलो, पाल बांधो! पालबाली नाव पर बाली चिड़ियों की तरह उड़ चली। रात-भर महुआ रोती-छटपटाती रही। सौदागर के नौकरों ने बहुत डराया-धमकाया—चुप रहो, नहीं तो उठाकर पानी में कैंक देंगे। बस, महुआ को बात सूझ गयी। भोर का तारा मेघ की आड़ से जरा बाहर आया, फिर छिप गया। डधर महुआ भी छपाक कूद पड़ी पानी में...सौदागर का एक नौकर महुआ को देखते ही मोहित हो गया था। महुआ बी पीठ पर बह भी कूदा। उल्टी धारा में तैरना खेल नहीं, सो भी भरी भादों की नदी में। महुआ असल घटवारिन की बेटी थी। बछली भी भला

थकती है पानी में ! सफरी मछली जैसी फरफराती, पानी चीरती भागी चली जा रही है । और उसके पीछे सौदागर का नीकर पुकार-पुकारकर कहता है—महुआ, जरा थमो, तुनको पकड़ने नहीं आ रहा, तुम्हारा साधी हूँ । बिन्दगी-भर साथ रहेंगे हम लोग । लेकिन…”

हिरामन का बहुत प्रिय गीत है यह । महुआ घटवारिन गाते समय उसके सामने सावन-भादों की नदी उमड़ने लगती है; अमावस्या की रात और घने बादलों में रह-रह-कर बिजली चमक उठती है । उसी चमक में लहरों से लड़ती हुई वारी-कुमारी महुआ की झलक उसे मिल जाती है । सफरी मछली की चाल और तेज़ हो जाती है । उसको लगता है, वह खुद सौदागर का नीकर है । महुआ कोई आत नहीं सुनती । परतीत करती नहीं; उलटकर देखती भी नहीं । और वह थक गया है तैरते-तैरते…

इस बार लगता है महुआ ने अपने को पकड़ा दिया । खुद ही पकड़ में आ गयी है । उसने महुआ को छू दिया है, पा लिया है । उसकी थकन दूर हो गयी है । फन्द्रह-बीस साल तक उमड़ती हुई नदी की उल्टी आरा में तैरते हुए उसके मन को किनारा मिल गया । आनन्द के आँसू कोई रोक नहीं मानते…

उसने हीरावाई से अपनी गीली आँखें चुराने की कोशिश की । किन्तु हीरा तो उसके मन में बैठी न जाने कब से सब-कुछ देख रही थी । हिरामन ने अपनी कंपती हुई बोली को काढ़ में लाकर बैलों को भिड़की दी, “इस गीत में न जा क्या है कि हुनर्ह ही दोनों थसथसा जाते हैं । लगता है सीमन बोझ लाद दिया है किसी ने ।”

हीरावाई लम्बी साँस लेती है । हिरामन के अंग-अंग में उमंग समा जाती है ।

“तुम तो उस्ताद हो, मीता !”

“इस्स !”

आसिन-कातिक का सूरज दो वाँस दिन रहते ही कुम्हला जाता है । सूरज डूबने से पहले ही ननकपुर पहुँचना है । हिरामन अपने बैलों को समझा रहा है—कदम त्तोल-कर और कलेजा वाँधकर चलो…“ए…छि: छि: ! बढ़ के भयन् ! ले-ले-ले-ए-हे-य ।

ननकपुर तक वह अपने बैलों को ललकारता रहा । हर ललकार के पहले वह अपने बैलों को बीती हुई वातों की याद दिलाता—याद नहीं चौधरी की बेटी की बारात में कितनी गाड़ियाँ थीं; सबको कैसे मात किया था ! हाँ, वही कदम निकालो । ले-ले-ले ! ननकपुर से फारविसगंज तीन कोस ! दो धंटे और !

ननकपुर के हाट पर आजकल चाय भी बिकने लगी है । हिरामन अपने लोटे में चाय भरकर ले आया…कम्पनी की औरत को जानता है वह । सारा दिन, घड़ी-घड़ी-भर में, चाय पीती रहती है । चाय है या जान !

हीरा हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही है, “ओरे, तुमसे किसने कह दिया कि क्वारे आदमी को चाय नहीं पीनी चाहिए ?”

हिरामन लजा गया । चाय बोले ! …लाज की आत ! लेकिन वह भोग चुका है एक बार । सरकार कम्पनी नी नेम के हाथ की चाय पीकर उसने देख लिया । बड़ी गरम ताजीर !

“पीजिए, गुरुजी ! ” हीरा हँसी।

“इस्स ! ”

ननकपुर हाट पर ही दीया-वाती जल चुकी थी। हिरामन ने अपना सफरी लालटेन जलाकर पिछवा में लटका दिया... आजकल शहर से पाँच कोस दूर गाँववाले भी अपने को शहर समझते लगे हैं। बिना रोशनी की गाड़ी को पकड़कर चालान कर देते हैं। बारह बखेड़ा !

“आप मुझे गुरुजी मत कहिए । ”

“तुम मेरे उस्ताद हो। हमारे शास्त्रर में लिखा हुआ है एक अक्षर सिखाने-वाला भी गुरु और एक राग सिखानेवाला भी उस्ताद ! ”

“इस्स ! शास्त्रर-पुरान भी जानती हैं ! ... मैंने क्या सिखाया ? मैं क्या... ? ”

हीरा हँसकर गुनगुनाने लगी, “हे-अ-अ-अ सावना-भाद्रवा के-र... ! ” हिरामन अचरज के भारे गूँगा हो गया—इस्स ! इतना तेज़ जेहन ! हू-व-हू महुआ घटवारिन !

गाड़ी सीताधार की एक सूखी धारा की उत्तराई पर गड़गड़ाकर नीचे की ओर उतरी। हीरावाई ने हिरामन का कन्धा धर लिया एक हाय से। बहुत देर तक हिरामन के कन्धे पर उसकी औंगुलियाँ पड़ी रहीं। हिरामन ने नज़र फिराकर कन्धे पर केन्द्रित करने की कोशिश की कई बार। गाड़ी चढ़ाई पर पहुँची तो हीरा की ढीली औंगुलियाँ फिर तन गयीं।

सामने फारविसगंज की रोशनी फिलमिला रही है। शहर से कुछ दूर हटकर मेले की रोशनी... टप्पर में लगते लालटेन की रोशनी में छाया नाचती है आस-पास। —डबडवाई आँखों से, हर रोशनी सूरजमुखी फूल की तरह दिखायी पड़ती है।

○ ○

फारविसगंज तो हिरामन का घर-दुआर है !

न जाने कितनी बार वह फारविसगंज आया है; मेले की लदनी लादी है। किसी औरत के साथ ? हाँ, एक बार। उसकी भाभी जिस साल आयी थी गौने में। इसी तरह तिरपाल से गाड़ी को चारों ओर से धेरकर वासा बनाया गया था... ”

हिरामन अपनी गाड़ी को तिरपाल से धेर रहा है, गाड़ीवान पट्टी में। सुवह होते ही रीता नौटंकी कम्पनी के मैनेजर से बात करके भरती हो जायगी हीरावाई। परसों मेला खुल रहा है। इस बार मेले में पालचट्टी खूब जमी है—बस, एक रात। आज रात-भर हिरामन की गाड़ी में रहेगी वह... हिरामन की गाड़ी में नहीं, घर में !

“कहाँ की गाड़ी है ? ... कौन, हिरामन ? किस मेले से ? किस चीज़ की लदनी है ? ”

गाँव-समाज के गाड़ीवान, एक-दूसरे को खोजकर, आस-पास गाड़ी लगाकर वासा डालते हैं। अपने गाँव के लालमोहर, धुन्नीराम और पलटदास वर्गे रह गाड़ीवानों के दल को देखकर हिरामन अचकचा गया। उधर पलटदास टप्पर में झाँककर भड़का, मानो वाघ पर नज़र पड़ गयी। हिरामन जे इशारे से सभी को चुप किया। फिर गाड़ी की ओर कनखी मारकर फुसफुसाया, “चुप ! कम्पनी की औरत है, नौटंकी कम्पनी की ! ”

“कम्पनी की-ई-ई-ई ?”
“??...?...!”

एक नहीं, अब चार हिरामन ! चारों ने अचरज से एक-दूसरे को देखा... कम्पने नाम में कितना ग्रस्त है ! हिरामन ने लक्ष्य किया, तीनों एक साथ सटक-दम हो गये। लालमोहर ने जरा दूर हटकर बतियाने की इच्छा प्रकट की, इशारे से ही। हिरामन ने टप्पर की ओर मुँह करके कहा, “होटिल तो नहीं खुला होगा कोई, हलवाई के यहाँ से पक्की ले आवें ?”

“हिरामन, जरा इधर सुनो... मैं कुछ नहीं खाऊँगी अभी। लो, तुम खा आओ।”

“क्या है, पैसा ? इस्स ! ...” पैसा देकर हिरामन ने कभी फारविसगंज में कच्ची-पक्की नहीं खायी। उसके गाँव के इतने गाड़ीवान हैं किस दिन के लिए ? वह कू नहीं सकता पैसा। उसने हीरावाई से कहा, “वेकार मेला-बाजार में हुज्जत मत कीजिए, पैसा रखिए।” मौका पाकर लालमोहर भी टप्पर के करीब आ गया। उसने सलाम करते हुए कहा, “चार आदमी के भात में दो आदमी खूशी से खा सकते हैं। वासा पर भात चढ़ा हुआ है। हें-हें-हें ! हम लोग एकहि गाँव के हैं। गाँवां-गरामित के रहते होटिल और हलवाई के यहाँ खायगा हिरामन ?”

हिरामन ने लालमोहर का हाथ टीप दिया—“वेसी भचर-भचर मत बको !”

गाड़ी से चार रस्सी दूर जाते-जाते धुन्नीराम ने अपने कुलबुलाते हुए दिल की वात खोल दी, “इस्स ! तुम भी खूब हो, हिरामन ! उस साल कम्पनी का वाघ, इस वार कम्पनी की जनाना !”

हिरामन ने दबी आवाज में कहा, “भाई रे, यह हम लोगों के मुलुक की जनाना नहीं कि लटपट धोली सुनकर भी चुप रह जाय। एक तो पच्छिम की ओरत, तिस पर कम्पनी की !”

धुन्नीराम ने अपनी शंका प्रकट की, “लेकिन कम्पनी में तो सुनते हैं पतुरिया रहती है !”

“धत्त !” सभी ने एक साथ उसको दुरदुरा दिया, “कैसा आदमी है ! पतुरिया रहेगी कम्पनी में भला ! देखो इसकी बुद्धि ! ... सुना है, देखा तो नहीं है कभी !”

धुन्नीराम ने अपनी गलती मान ली। पलटदास को वात सूझी, “हिरामन भाई, जनाना जात श्रकेली रहेगी गाड़ी पर ? कुछ भी हो, जनाना आखिर जनाना ही है। तोई जरूरत ही पड़ जाय !”

यह वात सभी को अच्छी लगी। हिरामन ने कहा, “वात ठीक है। पलट, तुम जाओ, गाड़ी के पास ही रहना। और देखो, गपशप जरा होशियारी से करना, !”

“हिरामन की देह से अतर-गुलाब की खुशबू निकलती है। हिरामन करम-है। उस वार महीनों तक उसकी देह से बघाइन गन्ध नहीं गयी। लालमोहर ने अन की गमछी सूंघ ली, “ए-ह !”

हिरामन चलते-चलते रुक गया, “क्या करें लालमोहर भाई, जरा कहो तो !

बड़ा जिद् करती है, कहती है नीटंकी देखना ही होगा ।”

“फोकट में ही ?”

“और गाँव नहीं पहुँचेगी यह बात ?”

हिरामन बोला, “नहीं जी ! एक रात नीटंगी देखकर जिन्दगी-भर बोली-ठोली कीन सुने ! …देसी मुर्गी, बिलायती चाल !”

धुन्नीराम ने पूछा, “फोकट में देखने पर भी तुम्हारी भोजाई बात सुनाएगी ?”

लालमोहर के बासा के बगल में, लड़की की दूकान लादकर आये हुए गाड़ीवानों का बासा है। बासा के मीर-गाड़ीवान मियांजान बूढ़े ने सफरी गुड़गुड़ी पीते हुए पूछा, “क्यों भाई, मीनावाजार की लदनी लादकर कौन आया है ?”

मीनावाजार ! मीनावाजार तो पतुरिया-पट्टी को कहते हैं…क्या बोलता है यह बूढ़ा मियां ? लालमोहर ने हिरामन के कान में फुसफुसाकर कहा, “तुम्हारी देह महमह महकती है। सच !”

लहसनवाँ लालमोहर का नौकर-गाड़ीवान है। उच्च में सबसे छोटा है। पहली बार आया है तो क्या ? बादू-बुग्रानों के यहाँ बचपन से नौकरी कर चुका है। वह रह-रहकर बातावरण में कुछ सूंघता है, नाक सिकोड़कर। हिरामन ने देखा, लहसनवाँ का चेहरा तमतमा गया है…कौन आ रहा है बड़बड़ता हुआ ? “कौन, पलटदास ? क्या है ?”

पलटदास आकर खड़ा हो गया चुपचाप। उसका मुँह भी तमतमाया हुआ था। हिरामन ने पूछा, “क्या हुआ ? बोलते क्यों नहीं ?”

क्या जबाब दे पलटदास ! हिरामन ने उसको चेतावनी दे दी थी, गपशप होशियारी से करना। वह चुपचाप गाड़ी की आसनी पर जाकर बैठ गया, हिरामन की जगह पर। हीराबाई ने पूछा, “तुम भी हिरामन के साथी हो ?” पलटदास ने गरदन हिलाकर हाथी भरी। हीराबाई किर लेट गयी…चेहरा-मोहरा और बोली-बानी देख-सुनकर, पलटदास का कलेजा काँपने लगा, न जाने क्यों। हाँ, रामलीला में सिया सुकुमारी इसी तरह थकी लेटी हुई थी। जै ! सियावर रामचन्द्र की जै ! …पलटदास के मन में जै-जैकार होने लगा। वह दास-बैस्तव है, कीर्तनिया है। थकी हुई सीता महाशनी के चरण टीपने की इच्छा प्रकट की उसने, हाथ की श्रॅगुलियों के इशारे से; मानो हारमोनियम की पटरियों पर नचा रहा हो। हीराबाई तमककर बैठ गयी, “अरे, पागल है क्या ? जाओ, भागो…!”

पलटदास को लगा गुस्सायी हुई कम्पनी की ओरत की आँखों से चिनगारी निकल रही है—छटक-छटक ! वह भागा…

पलटदास क्या जबाब दे ! वह मेला से भी भागने का उपाय सोच रहा है। बोला, “कुछ नहीं। हमको व्यापारी मिल गया। अभी ही टीशन जाकर माल लादना है। भात में तो अभी देरी है। मैं लौट आता हूँ तब तक !”

खाते समय धुन्नीराम और लहसनवाँ ने पलटदास की टोकरी-भर निन्दा की… छोटा आदमी है। कमीना है। पैसे-पैसे का हिसाब जोड़ता है। खाने-पीने के बाद लालमोहर के दल ने अपना बासा तोड़ दिया। धुन्नी और लहसनवाँ गाड़ी जोतकर

“कम्पनी को-ई-ई-ई ?”

“??...?...!”

एक नहीं, अब चार हिरामन ! चारों ने ग्रचरज से एक-हूसरे को देखा...कम्पनी नाम में कितना प्रसर है ! हिरामन ने लक्ष्य किया, तीनों एक साथ सटक-दम हो गये। लालमोहर ने ज़रा दूर हटकर वतियाने की इच्छा प्रकट की, इशारे से ही। हिरामन ने टप्पर की ओर मुह करके कहा, “होटिल तो नहीं खुला होगा कोई, हलवाई के यहाँ से पक्की ले आवें ?”

“हिरामन, जरा इधर सुनो...” मैं कुछ नहीं खाऊंगी अभी। लो, तुम सा आओ।”

“क्या है, पैसा ? इस्स ! ...” पैसा देकर हिरामन ने कभी फारविसगंज में कच्ची-पक्की नहीं खायी। उसके गाँव के इतने गाड़ीवान हैं किस दिन के लिए ? वह कू नहीं सकता पैसा। उसने हीरावाई से कहा, “वेकार मेला-वाजार में हुज्जत मत कीजिए, पैसा रखिए।” मौका पाकर लालमोहर भी टप्पर के करीब आ गया। उसने सलाम करते हुए कहा, “चार आदमी के भात में दो आदमी खूबी से खा सकते हैं। वासा पर भात चढ़ा हुआ है। हैं-हैं-हैं ! हम लोग एकहि गाँव के हैं। गाँवों-गरामित के रहते होटिल और हलवाई के यहाँ खायगा हिरामन ?”

हिरामन ने लालमोहर का हाथ टीप दिया—“वेसी भचर-भचर मत वको !”

गाड़ी से चार रस्सी दूर जाते-जाते धुन्नीराम ने अपने कुलबुलाते हुए दिल की बात खोल दी, “इस्स ! तुम भी खूब हो, हिरामन ! उस साल कम्पनी का बाघ, इस बार कम्पनी की जनाना !”

हिरामन ने दबी आवाज में कहा, “भाई रे, यह हम लोगों के मुलुक की जनाना नहीं कि लटपट थोली सुनकर भी चुप रह जाय। एक तो पच्छिम की ओरत, तिस पर कम्पनी की !”

धुन्नीराम ने अपनी शंका प्रकट की, “लेकिन कम्पनी में तो सुनते हैं पतुरिया रहती है।”

“धत्त ! ” सभी ने एक साथ उसको दुरदुरा दिया, “कैसा आदमी है ! पतुरिया रहेगी कम्पनी में भला ! देखो इसकी बुद्धि ! ...सुना है, देखा तो नहीं है कभी !”

धुन्नीराम ने अपनी गलती भान ली। पलटदास को बात सूझी, “हिरामन भाई, जनाना जात अकेली रहेगी गाड़ी पर ? कुछ भी हो, जनाना आखिर जनाना ही है। कोई जहरत ही पड़ जाय !”

यह बात सभी को अच्छी लगी। हिरामन ने कहा, “बात ठीक है। पलट, तुम लौट जाओ, गाड़ी के पास ही रहना। और देखो, गपशप जरा होशियारी से करना, हाँ !”

“...हिरामन की देह से अतस-गुलाब की खुशबू निकलती है। हिरामन करम-साँड़ है। उस बार महीनों तक उसकी देह से वधाइन गन्ध नहीं गयी। लालमोहर ने हिरामन की गमछी सुंध ली, “ए-हु !”

हिरामन चलते-चलते रुक गया, “क्या करें लालमोहर भाई, जरा कहो तो !

वड़ा जिहू करती है, कहती है नौटंकी देखना ही होगा ।”

“फोकट में ही ?”

“और गाँव नहीं पहुँचेगी यह बात ?”

हिरामन बोला, “नहीं जी ! एक रात नौटंगी देखकर जिन्दगी-भर बोली-ठोली कौन सुने ! …देसी मुर्गी, चिलायती चाल !”

धुन्नीराम ने पूछा, “फोकट में देखने पर भी तुम्हारी भौजाई बात सुनाएगी ?”

लालमोहर के वासा के बगल में, लड़की की दूकान लादकर आये हुए गाड़ीवानों का वासा है। वासा के मीर-गाड़ीवान मिर्याजान बूढ़े ने सफरी गुड़गुड़ी पीते हुए पूछा, “क्यों भाई, मीनावाजार की लदनी लादकर कौन आया है ?”

मीनावाजार ! मीनावाजार तो पतुरिया-पट्टी को कहते हैं…क्या बोलता है यह बूढ़ा मिर्याँ ? लालमोहर ने हिरामन के कान में फुसफुसाकर कहा, “तुम्हारी देह महमह महकती है। सच !”

लहसनवाँ लालमोहर का नौकर-गाड़ीवान है। उम्र में सबसे छोटा है। पहली बार आया है तो क्या ? बाबू-बुआनों के यहाँ बचपन से नौकरी कर चुका है। वह रह-रहकर बातावरण में कुछ सूंधता है, नाक सिकोड़कर। हिरामन ने देखा, लहसनवाँ का चेहरा तमतमा गया है…कौन आ रहा है धड़धड़ाता हुआ ? “कौन, पलटदास ? क्या है ?”

पलटदास आकर खड़ा हो गया चुपचाप। उसका मुँह भी तमतमाया हुआ था। हिरामन ने पूछा, “क्या हुआ ? बोलते क्यों नहीं ?”

क्या जबाब दे पलटदास ! हिरामन ने उसको चेतावनी दे दी थी, गपशप होशियारी से करना। वह चुपचाप गाड़ी की आसनी पर जाकर बैठ गया, हिरामन की जगह पर। हीरावाई ने पूछा, “तुम भी हिरामन के साथी हो ?” पलटदास ने गरदन हिलाकर हामी भरी। हीरावाई फिर लेट गयी…चेहरा-मोहरा और बोली-बानी देख-सुनकर, पलटदास का कलेजा काँपने लगा, न जाने क्यों। हाँ, रामलीला में सिया सुकुमारी इसी तरह थकी लेटी हुई थी। जै ! सियावर रामचन्द्र की जै ! …पलटदास के मन में जै-जैकार होने लगा। वह दास-बैसनव है, कीर्तनिया है। थकी हुई सीता महारानी के चरण टीपने की इच्छा प्रकट की उसने, हाथ की अँगुलियों के इशारे से; मानो हारमोनियम की पटरियों पर नचा रहा हो। हीरावाई तमक्कर बैठ गयी, “अरे, पागल है क्या ? जाओ, भागो…!”

पलटदास को लगा गुस्सायी हुई कम्पनी की ओरत की आँखों से चिनगारी निकल रही है—छटक्-छटक् ! वह भागो…

पलटदास क्या जबाब दे ! वह मेला से भी भागने का उपाय सोच रहा है। बोला, “कुछ नहीं। हमको व्यापारी मिल गया। अभी ही टीशन जाकर माल लादना है। भात में तो अभी देरी है। मैं लौट आता हूँ तब तक !”

खाते समय धुन्नीराम और लहसनवाँ ने पलटदास की टोकरी-भंर निन्दा की… छोटा आदमी है। कमीना है। पैसे-पैसे का हिसाब जोड़ता है। खाने-पीने के बाद लालमोहर के दल ने अपना वासा तोड़ दिया। धुन्नी और लहसनवाँ गाड़ी जोतकर

हिरामन के वासा पर चले, गाड़ी की लीक घरकर। हिरामन ने चलते-चलते रुककर लालमोहर से कहा, “जरा मेरे इस कन्धे को सूंधो तो ! सूंधकर देखो न !”

लालमोहर ने कन्धा सूंधकर आँखें मूँद लीं। मुँह से अस्फुट शब्द निकला, “ए-ह !”

हिरामन ने कहा, “जरा-सा हाथ रखने पर इतनी खुशबू ! …समझे !”

लालमोहर ने हिरामन का हाथ पकड़ लिया, “कन्धे पर हाथ रखा था ? सच ? .. सुनो हिरामन, नौटंगी देखने का ऐसा मौका फिर कभी हाथ नहीं लगेगा, हाँ !”

“तुम भी देखोगे ?”

लालमोहर की वत्तीसी चौराहे की रोशनी में, फिलमिला उठी।

वासा पर पहुँचकर हिरामन ने देखा, टप्पर के पास खड़ा बतिया रहा है कोई, हीरावाई से। धुनी और लहसनवाँ ने एक ही साथ कहा, “कहाँ रह गये पीछे ? वहुत देर से खोज रही है कम्पनी …”

हिरामन ने टप्पर के पास जाकर देखा। अरे, यह तो वही वक्सा ढोनेवाला नौकर, जो चम्पानगर मेले में हीरावाई को गाड़ी पर बिठाकर अंधेरे में गायब हो गया था।

“आ गये, हिरामन ! अच्छी बात, इधर आओ … यह लो अपना भाड़ा और यह लो अपनी दच्छिना ! पच्चीस-पच्चीस, पचास !”

हिरामन को लगा, किसी ने आसमान से घकेलकर धरती पर गिरा दिया। किसी ने क्यों, इस वक्सा ढोनेवाले आदमी ने। कहाँ से आ गया ? उसकी जीभ पर आयी हुई बात जीभ पर ही रह गयी … इस्स ! दच्छिना ! वह चुपचाप खड़ा रहा।

हीरावाई बोली, “लो, पकड़ो। और सुनो, कल सुबह रोता कम्पनी में आकर मुझसे भेट करना। पास बनवा दूँगी … बोलते क्यों नहीं ?”

लालमोहर ने कहा, “इलाम वक्सीस दे रही है मालकिन, ले लो, हिरामन !” हिरामन ने कटकर लालमोहर की ओर देखा … बोलने का जरा भी ढंग नहीं इस लालमोहरा को।

धुनीराम की स्वगतोक्ति सभी ने सुनी, हीरावाई ने भी, “गाड़ी-बैल छोड़कर नौटंगी कैसे देख सकता है कीर्झी गाड़ीबान, मेले में !”

हिरामन ने रुप्या लेते हुए कहा, “क्या बोलेंगे !” उसने हँसने की चेष्टा की … कम्पनी की ओरत कम्पनी में जा रही है। हिरामन का क्या ! वक्सा ढोनेवाला रास्ता दिखाता हुआ आगे बढ़ा, “इधर से !” हीरावाई जाते-जाते रुक गयी। हिरामन के बैलों को सम्बोधित करके बोली, “अच्छा, मैं चलो भैयन् !”

बलों ने भैया शब्द पर कान हिलाये।

—? ? … ? ? … × × … !

○ ○

“भा-इ-यो, आज रात ! दि रोता संगीत नौटंगी कम्पनी के स्टेज पर ! गुलबदन देखिये, गुलबदन ! आपको यह जानकर खुशी होगी कि भयुरामोहन कम्पनी

की मशहूर एकट्रेस मिस हीरादेवी, जिनकी एक-एक अदा पर हजार जान फिदा हैं, इस बार हमारी कम्पनी में आ गयी हैं। याद रखिए। घाज की रात। मिस हीरादेवी गुलबदन ...!"

नौटंकी बालों के इस ऐलान से मेजे की हरी पट्टी में सरगरमी फैल रही है... हीरावाई ? मिस हीरादेवी ? लैला, गुलबदन...? फिलिम एकट्रेस को मात करती है... तेरी बाँकी अदा पर मैं खुद हूँ फिदा, तेरी चाहत की दिलवर वर्यां क्या कहूँ ? यही खाहिश है कि-इ-इ-इ तू मुझको देखा करे, और दिलोजान में तुमको देखा कर्ह...किर्र-र-र-र-र...कड़ड़ड़ड़र-र-र-धन-धन-धड़ाम !

हर आदमी का दिल नगाड़ा हो गया है।

लालमोहर दौड़ता-हाँफता वासा पर आया, "ऐ, ऐ हिरामन, यहाँ क्या बैठे हो, चलकर देखो कैसा जै-जैकार हो रहा है ! मथ वाजा-गाजा, छापी-फाहरम के साथ हीरावाई की जै-जै कर रहा है !"

हिरामन हड्डवड़ाकर उठा। लहसनवाँ ने कहा, "धुन्नी काका, तुम वासा पर रहो मैं भी देख आऊँ !"

धुन्नी की बात कौन सुनता है ! तीनों जने नौटंकी कम्पनी की ऐलानिया पाटी के पीछे-पीछे चलने लगे। हर नुकड़ पर रुककर, वाजा बन्द करके ऐलान किया जाता है। ऐलान के हर शब्द पर हिरामन पुलक उठता है। हीरावाई का नाम, नाम के साथ अदा-फिदा वर्गरह सुनकर उसने लालमोहर की पीठ थपथपा दी, "धन्न है, धन्न ! है या नहीं ?"

लालमोहर ने कहा, "अब बोलो, अब भी नौटंगी नहीं देखोगे ?"

सुबह से ही धुन्नीराम और लालमोहर समझा रहे थे; समझाकर हार चुके थे। कम्पनी में जाकर मेंट कर आओ। जाते-जाते पुरसिस कर गयी है। लेकिन हिरामन की बस एक बात—धत्त, कौन मेंट करने जाय ! कम्पनी की ओरत, कम्पनी में गयी। अब उससे क्या लेना-देना ! चीन्हेंगी भी नहीं !

वह मन-ही-मन रुठा हुआ था। ऐलान सुनने के बाद उसने लालमोहर से कहा, "जरूर देखना चाहिए, क्यों लालमोहर ?"

दोनों आपस में सलाह करके रौता कम्पनी की ओर चले। खेमे के पास पहुँच-कर हिरामन ने लालमोहर को इशारा किया, पूछताछ करने का भार लालमोहर के सिर। लालमोहर कचराही बोलना जानता है। लालमोहर ने एक काले कोटवाले से कहा, "बादू साहेब, जरा सुनिए तो !"

काले कोटवाले ने नाक-भौं चढ़ाकर कहा, "क्या है ? इधर क्यों ?"

लालमोहर की बचराही बोली गड़वड़ा गयी। तेवर देखकर बोला, "गुल-गुल... नहीं-नहीं...बुल-बुल...नहीं..."

हिरामन ने झट से सम्हाल दिया, "हीरादेवी किधर रहती हैं, बता सकते हैं ?"

उस आदमी की आँखें हठात् लाल हो गयीं। सामने खड़े नेपाली सिपाही को चुकारकर कहा, "इन लोगों को क्यों आने दिया इधर ?"

हिरामन के वासा पर चले, गाड़ी की लीक घरकर। हिरामन ने चलते-चलते रुककर लालमोहर से कहा, “जरा मेरे इस कन्धे को सूंधो तो ! सूंधकर देखो न !”

लालमोहर ने कन्धा सूंधकर आँखें मूँद लीं। मुँह से अस्फुट शब्द निकला, “ए-ह !”

हिरामन ने कहा, “जरा-सा हाथ रखने पर इतनी खुशबू ! … समझे !”

लालमोहर ने हिरामन का हाथ पकड़ लिया, “कन्धे पर हाथ रखा था ? सच ? … सुनो हिरामन, नौटंगी देखने का ऐसा मौका फिर कभी हाथ नहीं लगेगा, हाँ !”

“तुम भी देखोगे ?”

लालमोहर की बत्तीसी चौराहे की रोशनी में, फिलमिला उठी।

वासा पर पहुँचकर हिरामन ने देखा, टप्पर के पास खड़ा बतिया रहा है कोई, हीरावाई से। धुन्नी और लहसनबां ने एक ही साथ कहा, “कहाँ रह गये पीछे ? बहुत देर से खोज रही है कम्पनी …”

हिरामन ने टप्पर के पास जाकर देखा। अरे, यह तो वही वक्सा ढोनेवाला नौकर, जो चम्पानगर मेले में हीरावाई को गाड़ी पर बिठाकर अँधेरे में गायब हो गया था।

“आ गये, हिरामन ! अच्छी बात, इधर आओ … यह लो अपना भाड़ा और यह लो अपनी दच्छिना ! पच्चीस-पच्चीस, पचास !”

हिरामन को लगा, किसी ने आसमान से घकेलकर घरती पर गिरा दिया। किसी ने बयों, इस वक्सा ढोनेवाले आदमी ने। कहाँ से आ गया ? उसकी जीभ पर आयी हुई बात जीभ पर ही रह गयी … इस्स ! दच्छिना ! वह चुपचाप खड़ा रहा।

हीरावाई बोली, “लो, पकड़ो। और सुनो, बाल सुबह रोता कम्पनी में आकर मुझसे भेंट करना। पास बनवा दूँगी … बोलते क्यों नहीं ?”

लालमोहर ने कहा, “इलाम वक्सीस दे रही है मालकिन, ले लो, हिरामन !” हिरामन ने कटकर लालमोहर की ओर देखा … बोलने का जरा भी ढंग नहीं इस लालमोहरा को।

धुन्नीराम की स्वगतोक्ति सभी ने सुनी, हीरावाई ने भी, “गाड़ी-वैल छोड़कर नौटंगी कैसे देख सकता है कोई गाड़ीवान, मेले में !”

हिरामन ने रुप्या लेते हुए कहा, “व्या बोलेंगे !” उसने हँसने की चेष्टा की … कम्पनी की औरत कम्पनी में जा रही है। हिरामन का व्या ! वक्सा ढोनेवाला रास्ता दिखाता हुआ आगे बढ़ा, “इधर से !” हीरावाई जाते-जाते रुक गयी। हिरामन के वैलों को सम्बोधित करके बोली, “अच्छा, मैं चली भैयन् !”

वैलों ने भैया शब्द पर कान हिलाये।

— ? ? … ? ? … X X … !

○ ○

“भा-इ-यो, आज रात ! दि रोता संगीत नौटंकी कम्पनी के स्टेज पर ! गुलबदन देखिये, गुलबदन ! आपको यह जानकर खुशी होगी कि मथुरामोहन कम्पनी

की मशहूर एक्ट्रेस मिस हीरादेवी, जिनकी एक-एक अदा पर हजार जान फिदा हैं, इस बार हमारी कम्पनी में आ गयी हैं। याद रखिए। भाज की रात। मिस हीरादेवी गुलबदन ...!"

नौटंकी वालों के इस ऐलान से मेले की हरी पट्टी में सरगरमी फैल रही है... हीरावाई ? मिस हीरादेवी ? लैला, गुलबदन...? फिलिम एक्ट्रेस को मात करती है... तेरी वाँकी अदा पर मैं खुद हूँ फिदा, तेरी चाहत की दिलबर वर्यां क्या करूँ। यही खाहिश है कि-इ-इ-इ तू मुझको देखा करे, और दिलोजान मैं तुमको देखा करूँ...किर्र-र्र-र्र-र्र...कड़डडडर्र-र्र-घन-घड़ाम !

हर आदमी का दिल नगाड़ा हो गया है।

लालमोहर दौड़ता-हाँफता वासा पर आया, "ऐ, ऐ हिरामन, यहाँ क्या बैठे हो, चलकर देखो कैसा जै-जैकार हो रहा है ! मय वाजा-गाजा, छापी-फाहरम के साथ हीरावाई की जै-जै कर रहा है !"

हिरामन हड्डवड़ाकर उठा। लहसनवाँ ने कहा, "धुन्नी काका, तुम वासा पर रहो मैं भी देख आऊँ !"

धुन्नी की बात कौन सुनता है ! तीनों जने नौटंकी कम्पनी की ऐलानिया पाटी के पीछे-पीछे चलने लगे। हर नुक़ड़ पर रुककर, वाजा बन्द करके ऐलान किया जाता है। ऐलान के हर शब्द पर हिरामन पुलक उठाता है। हीरावाई का नाम, नाम के साथ अदा-फिदा वर्गेरह सुनकर उसने लालमोहर की पीठ घथथपा दी, "धन्न है, धन्न ! है या नहीं ?"

लालमोहर ने कहा, "अब बोलो, अब भी नौटंगी नहीं देखोगे ?"

सुवह से ही धुन्नीराम और लालमोहर समझा रहे थे; समझाकर हार चुके थे। कम्पनी में जाकर मेंट कर आओ। जाते-जाते पुरसिस कर गयी है। लेकिन हिरामन की बस एक बात—धन्न, कौन मेंट करने जाय ! कम्पनी की ओरत, कम्पनी में गयी। अब उससे क्या लेना-देना ! चीन्हेगी भी नहीं !

वह मन-ही-मन रुठा हुआ था। ऐलान सुनने के बाद उसने लालमोहर से कहा, "ज़रूर देखना चाहिए, क्यों लालमोहर ?"

दोनों आपस में सलाह करके रीता कम्पनी की ओर चले। खेमे के पास पहुँच-कर हिरामन ने लालमोहर को इशारा किया, पूछताछ करने का भार लालमोहर के सिर। लालमोहर कचराही बोलना जानता है। लालमोहर ने एक काले कोटवाले से कहा, "वालू साहेब, जरा सुनिए तो !"

काले कोटवाले ने नाक-भीं चढ़ाकर कहा, "क्या है ? इधर क्यों ?"

लालमोहर की ब-बराही बोली गड्डवड़ा गयी। तेवर देखकर बोला, "गुल-गुल... नहीं-नहीं...बुल-बुल...नहीं..."

हिरामन ने झट से सम्हाल दिया, "हीरादेवी किंवर रहती हैं, बता सकते हैं ?"

उस आदमी की आँखें हठात् लाल हो गयीं। सामने खड़े नेपाली सिपाही को पुकारकर कहा, "इन लोगों को क्यों आने दिया इधर ?"

“हिरामन !” वही फेनूगिलासी आवाज किंधर से आयी ? खेमे के परदे को हटाकर हीरावाई ने बुलाया, “यहाँ आ जाओ, अन्दर…देखो वहांदुर, इसको पहचान लो । यह मेरा हिरामन है । समझे !”

लेपाली दरवान हिरामन की ओर देखकर जरा मुसकराया और चला गया, काले कोटवाले से जाकर कहा, “हीरावाई का आदमी है । नहीं रोकने बोला !”

लालमोहर पास ले आया लेपाली दरवान के लिए, “खाया जाय !”

“इस्स ! एक नीं, पाँच पास । चारों अठनिया ! बोली, कि जब तक मेले में ही रोज़ रात में आकर देखना । सबका खयाल रखती है ! बोली कि तुम्हारे और साथी हैं, सभी के लिए पास ले जाओ । कम्पनी की श्रीरतों की बात ही निराली होती है ! है या नहीं ?”

लालमोहर ने लाल काशज के टुकड़ों को छूकर देखा, “पा-स ! वाह रे हिरामन भाई !…लेकिन पाँच पास लेकर क्या होगा ? पलटदास तो फिर पलटकर आया ही नहीं है अभी तक !”

हिरामन ने कहा, “जाने दो अभागे को । तकदीर में लिखा नहीं…हाँ, पहले गुरुकसम खानी होगी सभी को, कि गाँव-घर में यह बात एक पंछी भी न जान पाये !”

लालमोहर ने उत्तेजित होकर कहा, “कौन साला बोलेगा गाँव में जाकर ? पलटा ने ग्रगर बदमाशी की तो दूसरी बार से फिर साथ नहीं लाऊँगा !”

हिरामन ने अपनी थैली आज हीरावाई के जिम्मे रख दी है । मेले का क्या ठिकाना ! किस्म किस्म के पाकिटकाट लोग हर साल आते हैं । अपने साथी-संगियों का भी क्या भरोसा ! हीरावाई मान गयी । हिरामन की कपड़े की काली थैली को उसने अपने चमड़े के बक्स में बन्द कर दिया । बक्से के ऊपर भी कपड़े का खोल श्रीर अन्दर भी भलमल रेखमी अस्तर ! मन का मान-अभिमान दूर हो गया ।

लालमोहर और घुन्नीराम ने मिलकर हिरामन की बुद्धि की तारीफ़ की; उसके भाग्य को सराहा बार-बार । उसके भाई और भाभी की तिन्दा की, दबी जबान से । हिरामन जैसा हीरा भाई मिला है, इसीलिए ! कोई दूसरा भाई होता तो…

लहसनवाँ का मुँह लटका हुआ है । ऐलान सुनते-सुनते न जाने कहाँ चला गया कि घड़ी-भर साँझ होने के बाद लौटा है । लालमोहर ने एक मालिकाना फिड़की दी है, गाली के साथ, “सोहदा कहीं का !”

घुन्नीराम ने चूल्हे पर खिड़की चढ़ाते हुए कहा, “पहले यह कँसला कर लो कि गाड़ी के पास कौन रहेगा !”

“रहेगा कौन, यह लहसनवाँ कहाँ जायेगा ?”

लहसनवाँ रो पड़ा, “हे-ए-ए मालिक, हाथ जोड़ते हैं । एकको भलक ! बस एक भलक !”

हिरामन ने उदारतापूर्वक कहा, “श्रच्छा-श्रच्छा, एक भलक बयों, एक घण्टा देखना । मैं आ जाऊँगा !”

नीटंकी चुरू होने के दो घण्टे पहले से ही नगाड़ा वजना शुरू हो जाता है, श्रीर नगाड़ा चुरू होते ही लोग पतंग की तरह टूटने लगते हैं। टिकबधर के पास भीड़ देखकर हिरामन को बड़ी हँसी आयी, “लालमोहर, उधर देख, कैसी घबमधुक्की कर रहे हैं लोग !”

“हिरामन भाय !”

“कौन, पलटदास ! कहाँ की लदनी लाद आये ?” लालमोहन ने पराये गाँव के आदमी की तरह पूछा ।

पलटदास ने हाथ मलते हुए माझी माँगी, “कसूरवार है; जो सज्जा दो तुम लोग, सब मंजूर है। लेकिन सच्ची बात कहें कि सिया सुकुमारी……”

हिरामन के मन का पुरहन नगाड़े के ताल पर विकसित हो चुका है। बोला, “देख पलटा, यह भत समझना कि गाँव-धर की जनाना है। देखो, तुम्हारे लिए भी पास दिया है; पास ले लो अपना, तमाशा देखो ।”

लालमोहर ने कहा, “लेकिन एक शर्त पर पास मिलेगा। बीच-बीच में लहसनवाँ को भी……”

पलटदास को कुछ बताने की ज़रूरत नहीं। वह लहसनवाँ से बातचीत कर आया है अभी ।

लालमोहर ने दूसरी शर्त सामने रखी, “गाँव में अगर यह बात मालूम हुई किसी तरह……”

“राम-राम !” दाँत से जीभ को काटते हुए कहा पलटदास ने ।

पलटदास ने बताया, “अठनिया फाटक इधर है।” फाटक पर खड़े दरवान ने हाथ से पास लेकर चेहरे को बारी-बारी से देखा। बोला, “यह तो पास है। कहाँ से मिला ?”

अब लालमोहर की कचराही बोली सुने कोई ! उसके तेवर देखकर दरवान घबरा गया, “मिलेगा कहाँ से ? अपनी कम्पनी से पूछ लीजिए जाकर ! चार ही नहीं, देखिए एक और है।” जेव से पांचवाँ पास निकालकर दिखाया लालमोहर ने ।

एक रुपयावाले फाटक पर नेपाली दरवान खड़ा था। हिरामन ने पुकारकर कहा, ‘ऐ सिपाही दाजू, सुबह को ही पहचनवा दिया और अभी भूल गये ?’

नेपाली दरवान बोला, “हीरावाई का आदमी है सब। जाने दो। पास है तों फिर कहे को रोकना है ?”

अठनिया दरजा !

तीनों ने ‘कपड़धर’ को अन्दर से पहली बार देखा। सामने कुरसी-बैंचवाले दरजे हैं। परदे पर राम-बन-गमन की तसवीर है। पलटदास पहचान गया। उसने हाथ जोड़कर नमस्कार किया परदे पर अंकित राम, सिया सुकुमारी और लहसनलाल को। जै हो, जै हो ! पलटदास की आँखें भर आयीं।

हिरामन ने कहा, “लालमोहर, छापी सभी खड़े हैं या चल रहे हैं ?”

लालमोहर अपने बगल में बैठे दर्दकों से जान-पहचान कर चुका है। उसने कहा:

“खेला अभी परदा के भीतर है। अभी जभिन का दे रहा है लोग जगाने के लिए।”

पलटदास ढोलक बजाना जानता है, इसलिए नगाड़े के ताल पर गरदन हिलाता है और दियासलाई पर ताल काटता है। बीड़ी आदान-प्रदान करके हिरामन ने भी एकाध जान-पहचान कर ली। लालमोहर के परिचित आदमी ने चादर से देह को ढैंकते हुए कहा, “नाच शुरू होने में अभी देरी है, तब तक एक नींद ले लें... सब दर्जा से अच्छा थठनिया दर्जा, सबसे पीछे सबसे ऊँची जगह पर; जमीन पर गरम पुआल ! हे-हे ! कुरसी वेच पर बैठकर इस सरदी के मौसम में तमाशा देखनेवाले अभी घुच-घुचकर उठेंगे चाह पीने।”

उस आदमी ने अपने संगी से कहा, “खेला शुरू होने पर जगा देना ! नहीं-नहीं, खेला शुरू होने पर नहीं, हिरिया जब स्टेट पर उतरे, हमको जगा देना !”

हिरामन के कलेजे में जारा ग्रांच लगी... हिरिया ! बड़ा लटपटिया आदमी मालूम पड़ता है। उसने लालमोहर को ग्रांचों के इशारे से कहा—इस आदमी से बतियाने की ज़रूरत नहीं।

...घन-घन-घन-घड़ाम ! परदा उठ गया। हे-ए, हे-ए, हीरावाई शुरू में ही उत्तर गयी स्टेज पर ! कपड़घर खचाखच भर गया है। हिरामन का मुँह अचरज से खुल गया ! लालमोहर को न जाने क्यों ऐसी हँसी आ रही है। हीरावाई के गीत के हर पद पर वह हँसता है, बेबजह।

गुलवदन दरवार लगाकर बैठी है, ऐलान कर रही है—जो आदमी तख्त-हजारा बनाकर ला देगा, मुँहर्सगी चीज़ इनाम में दी जायगी... अजी, है कोई ऐसा फनकार, तो हो जाय तैयार, बनाकर लाये तख्त-हजारा-रा-आ ! किड़किड़-किरि...! अलवत्त नाचती है ! क्या गला है ! मालूम है, यह आदमी कहता है कि हीरावाई पान-बीड़ी, सिगरेट-जर्दा कुछ नहीं खाती ! ... ठीक कहता है, । बड़ी नेमवाली रंडी है ।—कौन कहता है कि रंडी है ! दाँत में मिस्सी कहाँ है ? पौड़र से दाँत धो लेती होगी । हरगिज नहीं ! ... कौन आदमी है, बात की बेबात करता है ! कम्पनी की ओरत को पतुरिया कहता है ! तुमको बात क्यों लगी ? कौन है रंडी का भड़वा ? मारो साले को ! मारो ! तेरी...

हो-हल्ले के बीच हिरामन की आवाज कपड़घर को फाड़ रही है, “आओ, एक-एक की गरदन उतार लेंगे।”

लालमोहर दुआली से पटापट पीटता जा रहा है सामने के लोगों को। पलटदास एक आदमी की छाती पर सवार है, “साला, सिया सुकुमारी को गाली देता है, सो भी मुसलमान होकर !”

धुन्नीराम शुरू से ही चुप था। मारपीट शुरू होते ही वह कपड़घर से निकलकर बाहर भागा।

काले कोटवाले नौटंकी के मैनेजर नेपाली सिपाही के साथ दौड़े आये। दारोगा साहव ने हण्टर से पीट-पाट शुरू की। हण्टर खाकर लालमोहर तिलमिला उठा; कचराही बोली में भाषण देने लगा, “दरोगा साहव, मारते हैं, मारिये, कोई हर्ज़ नहीं। लेकिन यह पास देख लीजिए, एक पास पाकिट में भी है। देख सकते हैं, हुजूर। टिक्स नहीं, पास ! ...”

तब हमें लोगों के सामने कम्पनी की ओरत को कोई बुरी बात कहे तो कैसे छोड़ देंगे ?”

कम्पनी के मैनेजर की समझ में आ गयी सारी बात। उसने दारोगा को समझाया, “हुजूर, मैं समझ गया। यह सारी वदमाशी मधुरामोहन कम्पनीवालों की है। तमाज़े में भगड़ा खड़ा करके कम्पनी को बदनाम……नहीं हुजूर, इन लोगों को छोड़ दीजिए, हीरावाई के आदमी हैं। वेचारी की जान खतरे में है। हुजूर से कहा था न !”

हीरावाई का नाम सुनते ही दारोगा ने तीनों को छोड़ दिया, लेकिन तीनों की दुआली छीन ली गयी। मैनेजर ने तीनों को एक रूपये वाले दर्जे में कुर्सी पर बैठाया, “आप लोग यहाँ बैठिए। पान भिजवा देता हूँ।” कपड़घर बाह्य हुज़ा और हीरावाई स्टेज पर लौट आयी।

नगाड़ा फिर बनवता उठा।

थोड़ी देर बाद तीनों को एक ही साथ बुन्नीराम का ख्याल हुआ, “अरे, बुन्नीराम कहाँ गया ?”

“मालिक, ओ मालिक !” लहसनवाँ कपड़घर के बाहर चिल्ला-चिल्ला कर पुकार रहा है, “ओ लालमोहर मा-लि-क !”

लालमोहर ने तार स्वर में जबाब दिया, “इधर से, इधर से। एकटकिया फाटक से।” सभी दर्शकों ने लालमोहर की ओर मुड़कर देखा। लहसनवाँ को नेपाली सिपाही लालमोहर के पास ले आया। लालमोहर ने जेब से पास निकालकर दिखा दिया। लहसनवाँ ने आते ही पूछा, “मालिक, कौन आदमी क्या बोल रहा था, बोलिए तो जरा। चेहरा दिखला दीजिए; उसकी एक भलक !”

लोगों ने लहसनवाँ की चौड़ी और सपाट छाती देखी। जाड़े के मौसम में भी खाली देह !……चेले-चाटी के साथ हैं ये लोग !

लालमोहर ने लहसनवाँ को शान्त किया।

“तीनों-चारों से मत पूछे, कोई नीठंगी में क्या देखा ! किस्सा कैसे याद रहे ! हिरामन को लगता था, हीरावाई बुरूसे ही उसी की ओर टक्टकी लगाकर देख रही है। गा रही है, नाच रही है। लालमोहर को लगता था, हीरावाई उसी की ओर देखती है; वह समझ गयी है, हिरामन से भी ज्यादा पावरवाला आदमी है लालमोहर पलटदास किस्सा जमझता है……किस्सा और क्या होगा, रमेन की ही बात ! वही राम, वही सीता, वही लखनलला और वही रावन ! सिया सुकुमारी को रामजी से छीनने के लिए रावन तरह-तरह का रूप धरकर आता है। राम और सीता भी रूप बदल लेते हैं। यहाँ भी तद्दत-हुजारा बाजानेवाला माली का बेटा राम है। गुलबदन सिया सुकुमारी हैं। माली के लड़के का दोस्त लखनलला है और सुलतान है रावन……बुन्नीराम को बुखार है तेज़। लहसनवाँ को सवने अच्छा जोकर का पार्ट लगा है……चिरंया तोंहके लेके ना, जइवै नरहट के बजरिया ! वह उस जोकर से दोस्ती लगाना चाहता है……नहीं लगावेगा दोस्ती जोकर साहब ?

हिरामन को एक गीत वीं आधी कड़ी हाथ लगी है—मारे गये गुलफ़ाम ! कौन था यह गुलफ़ाम ? हीरावाई रोती हुई गा रही थी—अजी हाँ, मारे गये गुलफ़ाम ! टिड़िड़िड़ि ! ……वेचारा गुलफ़ाम !

तीनों की दुग्राली वापस देते हुए पुलिस के सिपाही ने कहा, "लाठी-दुग्राली लेकर नाच देखने आते हो ?"

दूसरे दिन मेल-भर में यह बात फैल गयी—मथुरामोहन कम्पनी से भागकर आयी है हीरावाई, इसलिए इस बार मथुरामोहन कम्पनी नहीं आयी है, उसके गुण्डे आये हैं। हीरावाई भी कम नहीं। बड़ी खेलाड़ औरत है। तेरह-तेरह देहाती लठैत पाल रही है ... 'वाह, मेरी जान' भी कहे तो कोई ! भजाल है !

० ०

दस दिन । दिन-रात...

दिन-भर भाड़ा ढोता हिरामन । शाम होते ही नौटंकी का नगाड़ा बजने लगता । नगाड़ा की आवाज सुनते ही हीरावाई की पुकार कानों के पास मँडराने लगती—मैया... मीता... हिरामन... उस्ताद... गुरुजी ! हमेशा कोई-न-कोई वाजा उसके मध के कोने में बजता रहता, दिन-भर—कभी हारमोनियम, कभी नगाड़ा, कभी ढोलक, और कभी हीरावाई की पैंजनी। उन्हीं साजों की गत पर हिरामन उठता-वैठता, चलता-फिरता । नौटंकी कम्पनी के भैनेजर से लेकर परदा खींचनेवाले तक उसको पहचानते हैं... हीरावाई का आदमी है !

पलटदास हर रात नौटंकी युरु होने के समय धद्धासूर्वक स्टेज को नमस्कार करता, हाथ जोड़कर । लालमोहर, एक दिन अपनी कचराही बीली सुनाने गया था हीरावाई को । हीरावाई ने पहचाना ही नहीं । तब से उसका दिल छोटा हो गया है । उसका नीकर लहसनवाँ उसके हाथ से निकल गया है, नौटंकी कम्पनी में भर्ती हो गया है । जोकर से उसकी दोस्ती हो गयी है । दिन-भर पानी भरता है, कपड़ा धोता है । कहता है, गाँव में क्या है जो जायेगे । लालमोहर उदास रहता है । धुन्नीराम घर चला गया है, बीमार होकर ।

हिरामन आज सुबह से तीन बार लदनी लादकर स्टेजन आ चुका है । आज न जाने क्यों उसको अपनी भोजाई की याद आ रही है... धुन्नीराम ने कुछ कह तो नहीं दिया है, बुखार के खोंक में ! यहीं कितना अटर-पटर बक रहा था—गुलवदन, तस्त-हजारा ! ... लहसनवाँ सौज में है । दिन-भर हीरावाई को देखता होगा । कल कह रहा था, हिरामन मालिक, तुम्हारे अकबाल से खूब सौज में हूँ । हीरावाई की साड़ी धीने के बाद कठीते का पानी अतरगुलाब हो जाता है । उसमें अपनी गभदी डुबाकर छोड़ देता है । लो, तूंधोगे ? ... हर रात, किसी-न-किसी के मुह से सुनता है वह—हीरावाई रंडी है । कितने लोगों से लड़े वह ! विना देखे ही लोग कैंसे कोई बात बोलते हैं ! राजा को भी लोग पीठ-पीछे गाली देते हैं ! ... आज वह हीरावाई से मिलकर बहेगा, नौटंकी-कम्पनी में रहने से बहुत बदनाम करते हैं लोग । तरकस कम्पनी में वयों नहीं काम करती ? ... सबके सामने नाचती है, हिरामन का बलेजा दपदप जलता रहता है उस समय । सरकस कम्पनी में बाघ को नचायेगी । बाघ के पास जाने की हिम्मत कौन करेगा ! सुरक्षित रहेगी हीरावाई ! ... किघर दी गाड़ी आ रही है ?

"हिरामन, ए हिरामन भाय ! " लालमोहर की बीली सुनकर हिरामन ने गरदन

मोड़कर देखा……क्या लादकर आया है लालमोहर ?

“तुमको ढूँढ़ रही है हीरावाई, इशटीशन पर। जा रही है !” एक ही साँस में सुना गया। लालमोहर की गाड़ी पर ही आयी है मेले से।

“जा रही है ? कहाँ ? रेलगाड़ी से जा रही है ?”

हिरामन ने गाड़ी खोल दी। मालगोदाम के चौकीदार से कहा, “भैया, जरा गाड़ी-चैल देखते रहिए; श्रा रहे हैं।”

“उस्ताद !” जनाना-मुसाफिरखाते के फाटक के पास हीरावाई ओढ़नी से मुँह-हाथ ढँककर खड़ी थी। थैली बड़ाती हुई बोली, “लो ! हे भगवान् ! भेट हो गयी, चलो, मैं तो उम्मीद खो चुकी थी। तुमसे अब भेटनहीं हो सकेगी ! ……मैं जा रही हूँ, गुरुजी !”

वक्सा ढोनेवाला आदमी आज कोट-पतलून पहनकर बादू साहब बन गया है। मालिकों की तरह कुलियों को हुक्म दे रहा है, “जनाना दर्जा में चढ़ाना, अच्छा !”

हिरामन हाथ में थैली लेकर चुपचाप खड़ा रहा। कुरते के अन्दर से थैली निकाल-कर दी है हीरावाई ने……चिड़िया की देह की तरह गरम है थैली !

“गाड़ी श्रा रही है !” वक्सा ढोनेवाले ने मुँह बनाते हुए हीरावाई की ओर देखा। उसके चेहरे का भाव स्पष्ट है—इतना ज्यादा क्या है……?

हीरावाई चंचल हो गयी। बोली, “हिरामन, इधर आओ, अन्दर। मैं फिर लीट-कर जा रही हूँ मयुरामोहन कम्पनी में। अपने देश की कम्पनी है……वनेली मेला आओगे न ?”

हीरावाई ने हिरामन के कन्धे पर हाथ रखा—इस बार दाहिने कन्धे पर। फिर अपनी थैली से रूपये निकालती हुई बोली, “एक गरम चादर खरीद लेना।”

हिरामन की बोली फूटी, इतनी देर बाद, “इस्स ! हरदम रूपया-पैसा ! रखिये रूपया ! क्या करेंगे चादर ?”

हीरावाई का हाथ रुक गया। उसने हिरामन के चेहरे को गौर से देखा। फिर बोली, “तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मोती ?……महुआ घटवारिन को सीदागर ने खरीद जो लिया है, गुरुजी !”

गला भर आया हीरावाई का। वक्सा ढोनेवाले ने बाहर से आवाज दी, “गाड़ी श्रा गयी।” हिरामन कमरे से बाहर निकल आया। वक्सा ढोनेवाले ने नौटंकी के जोकर जैसा मुँह बनाकर कहा, “लाटफारम से बाहर भागो। बिना टिकट के पकड़ेगा तो तीन महीने की हवा……”

हिरामन चुपचाप फाटक से बाहर जाकर खड़ा हो गया……टीशन की बात, रेलवे का राज ! नहीं तो इस वक्सा ढोनेवाले का मुँह सीधा कर देता हिरामन।

हीरावाई ठीक सामनेवाली कोठरी में चढ़ी। इस ? इतना टान ! गाड़ी में चैनकर भी हिरामन की ओर देख रही है, टुकुर-टुकुर……लालमोहर को देखकर जी जल उठता है, हमेशा पीछे-पीछे; हरदम हिस्सादारी सूझती है……

गाड़ी ने सीटी दी। हिरामन को लगा, उसके अन्दर से कोई आवाज निकल—सीटी के साथ ऊपर वी ओर चली गयी—कू-उ-उ ! इ-स्स !

…छि-इ-इ-अबक ! गाढ़ी हिली । हिरामन ने अपने दाहिने पैर के थ्रौंगूठे को बायें पैर की एड़ी में कुचल लिया । कलेजी की बड़ूकन ठीक हो गयी…“हीरावाई हाथ की बैंगनी नाली ने चेहरा पोछती है । साफी हिलाकर इश्वारा करती है—अब जाओ । आनिर दिव्वा गुजरा; प्लेटफ़ार्म खाली…“सब खाली…“खोकले ..मालगाड़ी के डिव्वे…! दुनिया ही खाली ही गयी माली ! हिरामन अपनी गाढ़ी के पास लौट आया ।

हिरामन ने लालमोहर ने पूछा, “तुम कब तक खोट रहे हो गाँव ?”

लालमोहर बोला, “अभी गाँव जाकर क्या करेंगे ? यहीं तो भाड़ा कमाने का भोक्ता है ! हीरावाई चली गयी, भेला भव टूटेगा ।”

“अच्छी बात । कोई संवाद देना है घर ?”

लालमोहर ने हिरामन को समझाने की कीयिथ की, लेकिन हिरामन ने अपनी गाढ़ी गाँव की ओर जानेवाली सड़क की ओर भीड़ दी…“अब भेल में क्या धरा है ! दोषवाला भेला !

रेलवे-लाइन के दसल से बैलगाड़ी की अच्छी सड़क गयी है दूर तक । हिरामन कभी रेल पर नहीं चढ़ा है । उसके मन में किर पुरानी लालसा झाँकी—रेलगाड़ी पर सदार होकर, गीत गाने हुए अगस्ताय धाम जाने की लालसा…उत्तरकर अपने खाली दृष्टि, वी और देखने वी दिम्मत नहीं होती है । पीठ में श्राज भी गुदगुदी लगती है । श्राज भी रह-रहकर चम्पा का फूल खिल उठता है उसकी गाढ़ी में । एक गीत की टूटी छाड़ी पर नगाढ़ी का ताल कट जाता है बासन्वार ! …

उसने उत्तरकर देखा, वीरे भी नहीं, बाँस भी नहीं, बाध भी नहीं, …परी…देवी…भीता…हीरादेवी…महुआ घटवारिन—को-इ नहीं । भरे हुए मुहूर्तों की गूँगी शावाजे मुकर होना चाहती है । हिरामन के होंठ हिल रहे हैं । शायद वह तीसरी कसम आ रहा है—रम्पनी वी औरत वी लदनी…

हिरामन ने द्यात् अपने दोनों बैलों को भिड़की दी, दुआली से मारते हुए बौला—रेलवे-लाइन की ओर उत्तर-उत्तरकर क्या देखते हो ? दोनों बैलों ने कदम जोलकर चाल पकड़ी । हिरामन गुनगुनाने लगा—अजी हाँ, मारे जाये गुलफ़ाम…!

भीष्म साहनी

चीफ़ की दावत

आज मिस्टर शामनाथ के घर चीफ़ की दावत थी ।

शामनाथ और उनकी घर्मपत्नी को पसीना पोछते की फुर्सत न थी । पत्नी ड्रैसिंग गाउन पहने, उनके हुए वालों का जूँड़ा बनाये मुँह पर फैली हुई सुर्खी और पाउडर को भूले, और मिस्टर शामनाथ सिगरेट-पट-सिगरेट फूँकते हुए, चीजों की फेहरिस्त हाय में थामे, एक कमरे से दूसरे कमरे में आ-जा रहे थे ।

आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुक़म्मल होने लगी । कुर्सियाँ, मेज़, तिपाइयाँ, नैपकिन, फूल, सब बरामदे में पहुँच गये । ड्रिंक का इन्तजाम बैठक में कर दिया गया । अब घंटा का फ़ालतू सामान आलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा । तभी शामनाथ के सामने सहसा एक ग्रड़चन खड़ी हो गयी—माँ का क्या होगा ?

इस बात की ओर न उनका और न उनकी कुशल गृहिणी का ध्यान गया था । मिस्टर शामनाथ श्रीमती की ओर धूमकर अंग्रेजी में बोले—माँ का क्या होगा ?

श्रीमती काम करते-करते ठहर गयीं, और थोड़ी देर तक सोचने के बाद बोलीं—इन्हें पिछवाड़े इनकी सहेली के घर भेज दो । रात भर वेशक वहीं रहें । कल आ जायें ।

शामनाथ सिगरेट मुँह में रखे, सिकुड़ी आँखों से श्रीमती के चेहरे की ओर देखते हुए पल-भर सोचते रहे, किर सिर हिलाकर बोले—नहीं, मैं नहीं चाहता कि उस त्रुदिया का आना-जाना यहाँ फिर से शुरू हो । पहले ही बड़ी मुश्किल से बन्द किया था । माँ से कहें कि जलदी ही खाना खाकर शाम को ही अपनी कोठरी में चली जायें । मेहमान कहीं आठ बजे आयेंगे । इससे पहले ही अपने काम से निवट लें ।

सुकाव ठीक था । दोनों को पसन्द आया । मगर फिर सहसा श्रीमती बोल उठीं—जो वह सो गयीं और नींद में खराटिं लेने लगीं, तो ? साथ ही तो बरामदा है, जहाँ लोग खाना खायेंगे ।

—तो इन्हें कह देंगे कि अन्दर से दरवाजा बन्द कर लें । मैं बाहर से ताला लगा दूँगा । या माँ को कह देता हूँ कि अन्दर जाकर सोयें नहीं, बैठी रहें, और क्या ?

—और जो सो गयीं, तो ? डिनर का क्या मालूम कब तक चले । ग्यारह-ग्यारह बजे तक तो जुम लोग डिंक ही करते रहते हो ।

शामनाथ कुछ खीज उठे, हाय झटकते हुए बोले—अच्छी-भली यह भाई के पास जा रही थीं । तुमने यूँ ही खुद अच्छा बनने के लिए बीच में टाँग श्रड़ा दी !

—वाह ! तुम माँ और वेटे की बातों में मैं क्यों बुरी बनूँ ? तुम जानो और वह जानें ।

मिस्टर शामनाथ चूप रहे । यह मौका बहस का न था । समस्या का हल हूँडने का था । उन्होंने धूमकर माँ की कोठरी की ओर देखा । कोठरी का दरवाजा बरामदे में खुलता था । बरामदे की ओर देखते हुए झट-से बोले—मैंने सोच लिया है—ओर उन्होंने क़दमों माँ की कोठरी के बाहर जा खड़े हुए । माँ दीवार के साथ एक चौकी पर बैठी, दुपट्टे में मुँह-सिर लपेटे, माला जप रही थीं । सुबह से तीयारी होती देखते हुए माँ का भी दिन धड़क रहा था । वेटे के दफ्तर का बड़ा साहब घर पर आ रहा है, सारा काम सुभीति से चल जाय ।

—माँ, आज तुम खाना जल्दी खा लेना । मेहमान लोग साड़े सात बजे आ जायेंगे ।

माँ ने धीरे-से मुँह पर दुपट्टा हटाया और वेटे को देखते हुए कहा—आज मुझे खाना नहीं खाना है वेटा, तुम जानते तो हो, मैस-मछली बने, तो मैं कुछ नहीं खाती ।

—जैसे भी हो, अपने काम से जल्दी निपट लेना ।

—अच्छा, वेटा ।

—ओर माँ, हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे । उतनी देर तुम यहाँ बरामदे में चैठना । फिर जब हम यहाँ आ जायें, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाता ।

माँ अदाक् वेटे का चेहरा देखने लगीं । फिर धीरे-से बोलीं—अच्छा, वेटा ।

—ओर माँ, आज जल्दी सो नहीं जाना । तुम्हारे खराटों की आवाज दूर तक जाती है ।

माँ लज्जित-सी आवाज में बोलीं—क्या कहूँ, वेटा, मेरे बस की बात नहीं है । जब से बीमारी से उठी हूँ, नाक से साँस नहीं ले सकती ।

मिस्टर शामनाथ ने इत्तजाम तो कर दिया, फिर भी उनकी लधेड़वुन खत्म नहीं हुई । जो चीफ अचानक उधर आ निकला, तो ? आठ-दस मेहमान होंगे, देसी अफसर, उनकी स्थिर्या होंगी, कोई भी गुसलखाने की तरफ जा सकता है । क्षोभ और कोध में वह सिर भुंभलाने लगे । एक कुर्सी को उठाकर बरामदे में कोठरी के बाहर रखते हुए बोले—आओ माँ, इस पर जरा बैठो तो ।

माँ गाला संभालतीं, पल्ला ठीक करती हुई उठीं, और धीरे-से कुर्सी पर आकर बैठ गयीं ।

—मूँ नहीं, माँ, टाँगें ऊपर चढ़ाकर नहीं बैठते । यह खाट नहीं है ।

माँ ने टाँगे नीचे उतार लीं ।

—ओर खुदा के बास्ते नगे पाँव नहीं धूमना । न ही वह खड़ाऊं पहनकर सामने आना । किसी दिन तुम्हारी वह खड़ाऊं उठाकर मैं बाहर फेंक दूँगा ।

माँ चूप रहीं ।

—कपड़े बौन से पहनोगी, माँ ?

—जो हैं, वही पहनूँगी, वेटा ! जो कहो, पहन लूँ ।

मिस्टर शामनाथ सिगरेट मुंह में रखे, किर अधखुली आँखों से माँ की ओर देखने लगे, और माँ के कपड़ों की सीचने लगे। शामनाथ हर बात में तरतीब चाहते थे। घर का संचालन उनके अपने हाथों में था। खूंटियाँ कपरों में कहाँ लगायी जायें, विस्तर कहाँ पर विछें, किस रंग के परदे लगाये जायें, श्रीमती कौन-सी साड़ी पहनें, ऐसा किस साइज़ की हो... शामनाथ को चिन्ता थी कि अगर चीफ़ का साझात् माँ से हो गया, तो कहाँ लज्जत नहीं होना पड़े। माँ को जिर से पांव तरु देवते हुए बोजे—तुम सफेद कमीज़ और सफेद सलवार पहन लो, माँ। पहन के आग्रो तो, जरा देखूँ।

माँ धीरे-से उठीं और अपनी कोठरी में कपड़े पहनने लगी गयीं।

—यह माँ का भसेला ही रहेगा—उन्होंने फिर अंग्रेजी में अपनी स्त्री से कहा—कोई ढंग की बात हो, तो भी कोई कहे। अगर कहीं कोई उल्टी-सीधी बात हो गयी, चीफ़ को बुरा लगा, तो सारा मज़ा जाता रहेगा।

माँ सफेद कमीज़ और सफेद सलवार पहनकर बाहर निकलीं। छोटा-सा क़द, सफेद कपड़ों में लिपटा, छोटा-सा सूँजा हुप्रा शरीर, बुँबली आँखें, केवल सिर के आवे भड़े हुए बाल पल्ले की ओट में छिर पाये थे। पहले से कुछ ही कम कुरुप नज़र आ रही थीं।

—चलो, ठीक है। कोई चूँड़ियाँ-बूँड़ियाँ हों, तो वह भी पहन लो। कोई हर्ज़ नहीं।

—चूँड़ियाँ कहाँ से लाऊँ बेटा, तुम तो जानते हो, सब जेवर तुम्हारी पढ़ाई में विक गये।

यह वाक्य शामनाथ को तीर की तरह लगा। जिनकर बोले—यह कौन-सा राग छेड़ दिया, माँ! सीधा कह दो, नहीं हैं जेवर, बस! इससे पढ़ाई-बढ़ाई का क्या तथल्लुक है? जो जेवर बिका, तो कुछ बनकर ही आया है, निरा लैंडरा तो नहीं लौट आया। जितना दिया था, उससे दुगुना ले लेना।

—मेरी जीभ जल जाय, बेटा, तुमसे जेवर लूँगी। मेरे मुंह से यूँ ही निकल गया। जो होते, तो लाख बार पहनती!

० ०

साढ़े पाँच बच चुके थे। अभी मिस्टर शामनाथ को खुद भी नहा-बोकर तैयार होना था। श्रीमती कब की अपने कमरे में जा चुकी थीं। शामनाथ जाते हुए एक बार फिर माँ को हिंदायत करते गये—माँ, रोज की तरह गुमसुम बनकर नहीं बैठी रहना। अगर साहब इधर आ निकलें और कोई बात पूछें, तो ठीक तरह से बात का जवाब देना।

—मैं न पढ़ी, न लिखी, बेटा, मैं क्या बात कहँगी। तुम कह देना, माँ अनपढ़ है, कुछ जानती-समझती नहीं। वह नहीं पूछेगा।

सात बजते-बजते माँ का दिल घक्-घक् करने लगा। अगर चीफ़ सामने आ गया और उसने कुछ पूछा, तो वह क्या जवाब देगी? अंग्रेज को तो दूर से ही देखकर वह घबरा उट्टी थीं, यह तो अमरीकी है। न मालूम क्या पूछे। मैं क्या कहँगी। माँ का जी चाहा कि चुन्चाप पिछवाड़े बिधवा सहेली के घर चली जाय। मगर बेटे के हुक्म को कैसे दाल सकती थी! चुन्चाप कुर्सी पर से टाँगें लटकाये वहीं बैठी रहीं।

० ०

एक कामयाव पार्टी वह है, जिसमें ड्रिक कामयावी से चल जाय। शामनाथ की पार्टी सफलता के शिखर चूमने लगी। वार्तालाप उसी री में वह रहा था, जिस री में गिलास भरे जा रहे थे। कहीं कोई रुकावट न थी, कोई अड़चन न थी। साहब को हिस्की पसन्द आयी थी। भेमसाहब को पद्दं पसन्द आये थे, सोफा-कवर का डिजाइन पसन्द आया था, कमरे की सजावट पसन्द आयी थी। इससे बढ़कर क्या चाहिए! साहब तो ड्रिक के दूररे दौर में ही चुटकुले और कहानियाँ कहने लग गये थे। दप्तर में जितना रीब रखते थे, यहाँ पर उतने ही दोस्त-परवर हो रहे थे। और उनकी स्त्री, काला गाउन पहने, गले में सफेद मोतियों का हार, सेंट और पाउडर वी महक से ओत-प्रोत कमरे में बैठी सभी देसी स्त्रियों की आराधना का केन्द्र बनी हुई थीं। बात-बात पर हँसतीं, बात-बात पर सिर हिलातीं। और शामनाथ की स्त्री से तो ऐसे बातें कर रही थीं, जैसे उनकी पुरानी सहेली हो।

और इसी री में पीते-पिलाते साढ़े दस बज गये। बक्तु गुज़रता पता ही न चला।

आखिर सब लोग अपने-ग्रपने गिलासों में से आखिरी धूंट पीकर खाना खाने के लिए उठे और बैठक से बाहर निकले। आगे-आगे शामनाथ रास्ता दिखाते हुए, पीछे चीफ और दूसरे मेहमान।

बरामदे में पहुँचते ही शामनाथ सहसा ठिठक गये। जो दृश्य उन्होंने देखा, उससे उनकी टाँगें लड़खड़ा गयीं, और क्षण-भर में सारा नशा हिरन होने लगा। बरामदे में ऐन कोठरी के बाहर माँ अपनी कुर्सी पर ज्यों की त्यों बैठी थीं मगर दोनों पाँव कुर्सी की सीट पर रखे हुए, और सिर दायें से वायें, और बायें से दायें भूल रहा था और मुँह में सेलगातार गहरे खर्राटों की आवाजें आ रही थीं। जब सिर कुछ देर के लिए टेढ़ा होकर एक तरफ को थम जाता, तो खर्राटे और भी गहरे हो उठते। और फिर जब झटके-से नींद टूटती, तो सिर फिर दायें से वायें भूलने लगता। पल्ला सिर पर से खिसक आया था, और माँ के खड़े हुए बाल, आवें गंजे सिर पर अस्त-व्यस्त विखर रहे थे।

देखते ही शामनाथ कुद्द हो उठे। जी चाहा कि माँ को धक्का देना देना, और उन्हें कोठरी में धकेल देना, मगर ऐसा करना सम्भव न था, चीफ और बाकी मेहमान पास खड़े थे।

माँ को देखते ही देसी श्रक्षसरों की कुछ स्त्रियाँ हँस दीं कि इतने में चीफ ने धीरे-से कहा—पूर्व छियर !

माँ हड्डवड़ाकर उठ बैठीं। सामने खड़े इतने लोगों को देखकर ऐसी घरवारी कि कुछ कहते न वना। झट से पल्ला सिर पर रखती हुई खड़ी हो गयीं और जमीन को देखने लगीं। उनके पाँव लड़खड़ाने लगे और हाथों की श्रृंगुलियाँ धर-धर काँपने लगीं।

—माँ, तुम जाकर सो जाओ, तुम क्यों इतनी देर तक जाग रही थीं?—और खिसियायी नजरों से शामनाथ चीफ के मुँह की ओर देखने लगे।

चीफ के चेहरे पर मुसकगहट थी। वह वहीं खड़े-गड़े बोले—नमस्ते!

माँ ने झिक्कते हुए, अपने में सिमटते हुए दंनों हाथ जाड़े, मगर एक हाथ डुपटे के अन्दर माला को पकड़े हुए था, दूसरा बाहर, ठीक तरह से नमस्ते भी न कर

पायीं। शामनाथ इस पर भी खिन्न हो उठे।

इतने में चीफ़ ने अपना दायाँ हाथ मिलाने के लिए माँ के ग्रागे किया। माँ और भी घबरा उठीं।

—माँ, हाथ मिलाओ !

पर हाथ कैसे मिलातीं? दायें हाथ में तो माला थी। घबराहट में माँ ने वायाँ हाथ ही साहव के दायें हाथ में रख दिया। शामनाथ दिल-ही-दिल में जल उठे। देसी अफसरों की स्त्रियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

—यूँ नहीं, माँ! तुम तो जानती हो, दायाँ हाथ मिलाया जाता है। दायाँ हाथ मिलाओ !

मगर तब तक चीफ़ माँ का वायाँ हाथ ही वार-वार हिलाकर कह रहे थे—ही डू यि डू?

—कहो, माँ, मैं ठीक हूँ, खैरियत से हूँ।

माँ कुछ बड़वड़ायीं।

—माँ कहती हैं, मैं ठीक हूँ। कहो माँ, ही डू यू डू?

माँ धीरे-से सकुचाते हुए बोलीं—ही डू डू...

एक बार फिर कहकहा उठा।

वातावरण हरका होने लगा। साहव ने स्थिति सँभाल ली थी। लोग हँसने-चहकने लगे थे। शामनाथ के मन का क्षोभ भी कुछ-कुछ कम होने लगा था।

साहव अपने हाथ में माँ का हाथ अब भी पकड़े हुए थे, और माँ सिकुड़ी जा रही थीं। साहव के मुँह से शराब की बूंद्रा रही थी।

शामनाथ अंग्रेजी में बोले—मेरी माँ गाँव की रहनेवाली हैं। उमर-भर गाँव में रही हैं। इसलिए आपसे लजाती हैं।

○ ○

साहव इस पर खुश नज़र आये। बोले—सच? मुझे गाँव के लोग बहुत पसन्द हैं। तब तो तुम्हारी माँ गाँव के गीत और नाच भी जानती होंगी?—चीफ़ खुशी से सिर हिलाते हुए माँ को टकटकी बाँधे देखने लगे।

—माँ, साहव कहते हैं, कोई गाना सुनाओ। कोई पुराना गीत, तुम्हें तो कितने ही याद होंगे।

माँ धीरे-से बोलीं—मैं क्या गाऊँगी, बेटा। मैंने कब गाया है?

—वाह, माँ! मेहमान का कहा भी कोई टालता है? साहव ने इतनी रीझ से कहा है, नहीं गाओगी, तो साहव बुरा मानेंगे।

—मैं क्या गाऊँ, बेटा, मुझे क्या आता है?

—वाह! कोई बढ़िया टप्पे सुना दो। दो पत्तर अतारा दे...

देसी अफसर और उनकी स्त्रियों ने इस सुझाव पर तालियाँ पीटीं। माँ कभी दीन दृष्टि से बेटे के चेहरे को देखतीं, कभी पास खड़ी बहू के चेहरे को।

इतने में बेटे ने गम्भीर आदेश-भरे लहजे में कहा—माँ!

इसके बाद हीं या ना का सवाल ही न उठता था । माँ वैठ गयीं और क्षीण, दुर्बल सरजती आवाज में एक पुराना विचाह का गीत गाने लगीं—

हरिया नी मार्ये, हरिया नी मैंणे

हरिया ते भागी भरिया ह !

देसी स्त्रियाँ खिलखिलाकर हँस उठीं । तीन पंचितयाँ गाकर माँ चुप हो गयीं ।

बरामदा तालियों से गूंज उठा । साहब तालियाँ पीटना बन्द ही न करते थे । शामनाथ की खीज प्रसन्नता और गर्व में बदल उठी थी । माँ ने पाठी में नया रंग भर दिया था ।

तालियाँ थमने पर साहब बोले—पंजाब के गाँवों की दस्तकारी क्या है ?

शामनाथ खुशी में भूम रहे थे । बोले—ओ, बहुत कुछ, साहब ! मैं आपको एक सेट उन चीजों का भेंट करूँगा । आप उन्हें देखकर खुश होंगे ।

मगर साहब ने सिर हिलाकर अंग्रेजी में फिर पूछा—नहीं, मैं दूकानों की चीज नहीं माँगता । पंजाबियों के घरों में क्या बनता है, औरतें खुद क्या बनाती हैं ?

शामनाथ कुछ सोचते हुए बोले—लड़कियाँ गुड़ियाँ बनाती हैं, औरतें फुल-कारियाँ बनाती हैं ।

—फुलकारी क्या ?

शामनाथ फुलकारी का मतलब समझाने की असफल चेष्टा करने के बाद माँ से बोले—वयों, माँ, कोई पुरानी फुलकारी घर में है ?

माँ चुपचाप अन्दर गयीं और अपनी पुरानी फुलकारी उठा लायीं ।

साहब बड़ी रुचि से फुलकारी देखने लगे । पुरानी फुलकारी थी, जगह-जगह से उसके तांगे टूट रहे थे और कपड़ा फटने लगा था । साहब की रुचि देखकर शामनाथ बोले—यह फटी हुई है, साहब, मैं आपको नयी बनवा दूँगा । माँ बना देंगी । वयों, माँ, साहब को फुलकारी बहुत पसन्द है, इन्हें ऐसी ही एक फुलकारी दना दोगी न ?

माँ चुप रहीं । किर डरते-डरते धीरे-से बोलीं—अब मेरी नज़र कहाँ है, वेदा । बूढ़ी आँखें क्या देखेंगी ।

मगर माँ का वाक्य बीच ही में तोड़ते हुए, शामनाथ साहब से बोले—वह ज़रूर बना देंगी । आप उसे देखकर खुश होंगे ।

साहब ने सिर हिलाया, धन्यवाद किया और हल्के-हल्के भूमते हुए खाने की मेज़ की ओर बढ़ गये । बाकी मेहमान भी उनके पीछे-पीछे हो लिये ।

जब मेहमान वैठ गये और माँ पर से सबकी आँखें हट गयीं, तो माँ धीरे-से कुर्सी पर से उठीं, और सबसे नज़रें बचाती हुई अपनी कोठरी में चली गयीं ।

मगर कोठरी में बैठने वी देर थी कि आँखों से छल-छल आँसू बहने लगे । वह दुपट्टे से बार-बार उन्हें पोंछतीं, पर वे बार-बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बांध तोड़-कर उमड़ आये हों । माँ ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, वेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार-बार आँखें बन्द कीं, मगर आँसू बरसात के पानी की तरह जैसे घमने में ही न आते थे ।

आधी रात का वक्त होगा। मेहमान खाना खाकर एक-एक करके जा चुके थे। माँ दीवार से सटकर बैठीं, आँखें फाड़े दीवार को देखे जा रही थीं। घर के बातावरण में तनाव ढीला पड़ चुका था। मुहल्ले की निस्तव्यता शामनाथ के घर पर भी छा चुकी थी, केवल रसोई में प्लेटों के खनकने की आवाज आ रही थी। तभी सहसा माँ की कोठरी का दरवाजा ज्ओर से खटकने लगा।

—माँ, दरवाजा खोलो !

माँ का दिल बैठ गया। हड्डवड़ाकर उठ बैठीं। क्या मुझसे फिर कोई भूल हो गयी है? माँ कितनी देर से अपने-आपको कोस रही थीं कि क्यों उन्हें नींद आ गयी, क्यों वह ऊंधने लगीं। क्या वेटे ने अभी तक क्षमा नहीं किया? माँ उठी और कांपते हाथों से दरवाजा खोल दिया।

दरवाजा खुलते ही शामनाथ भूमते हुए आगे बढ़ आये और माँ को शार्लिंगन में भर लिया।

—ओ अम्मी! तुमने तो आज रंग ला दिया! ... साहब तुमसे इतना खुश हुआ कि क्या कहूँ। ओ अम्मी! अम्मी!

माँ की छोटी-सी काया सिमटकर वेटे के शार्लिंगन में दिप गयी। माँ की आँखों में फिर से आँसू आ गये। उन्हें पोछती हुई धीरे-से बोली—वेटा, तुम मुझे हरिद्वार भेज दो। मैं कब से कह रही हूँ।

शामनाथ का भूमना सहसा बन्द हो गया और उनकी पेशानी पर फिर तनाव के बल पड़ने लगे। उनकी वाहं माँ के बारीर पर से हट आयीं।

—क्या कहा, माँ? यह कौन-सा राग तुमने फिर छेड़ दिया? —शामनाथ का क्रोध बढ़ने लगा था, बोलते गये—तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो, माँ? तुम जान-बूझकर हरिद्वार जावैठना चाहती हो, ताकि दुनिया कहे कि वेटा नाँ को अपने पास नहीं रख सकता।

—नहीं, वेटा, अब तुम अपनी वह के साथ जैसा मन चाहे रहो। मैंने अपना खा-पहन लिया। अब यहाँ क्या करूँगी। जो थोड़े दिन जिन्दगानी के बाकी हैं, भगवान का नाम लूँगी। तुम मुझे हरिद्वार भेज दो!

—तुम चली जाओगी, तो फुलकारी कौन बनायेगा? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इकरार किया है।

—मेरी आँखें अब नहीं हैं, वेटा, जो फुलकारी बना सकूँ। तुम कहाँ और से बनवा लो। बनी-बनायी ले लो।

—माँ, तुम मुझे धोखा देकर यूँ चली जाओगी? मेरा बनता काम बिगड़ेगी? जानती नहीं, साहब खुश होगा, तो मुझे तरक्की मिलेगी!

माँ चुप हो गयीं। फिर वेटे के मुँह की ओर देखती हुई बोली—क्या तेरी तरक्की होगी? क्या साहब तेरी तरक्की कर देगा? क्या उसने कुछ कहा है?

—कहा नहीं, मगर देखती नहीं, कितना खुश गया है। कहता था, जब तेरी माँ फुलकारी बनाना शुरू करेंगी, तो मैं देखने शाकेगा कि कैसे बनाती हैं। जो साहब खुश

यही सच है

कानपुर

सामने आँगन में फैली धूप सिमटकर दीवारों पर चढ़ गयी और कन्धे पर बस्ता लटकाये नन्हे-नन्हे वच्चों के भुंड-के-भुंड दिखायी दिये, तो एकाएक ही मुझे समय का आभास हुआ... घंटा-भर हो गया यहाँ खड़े-खड़े और संजय का अभी तक पता नहीं ! झुंझलाती-सी मैं कमरे में आती हूँ। कोने में रखी मेज पर कितावें विखरी पड़ी हैं, कुछ खुली, कुछ बन्द। एक क्षण में उन्हें ही देखती रहती हूँ, फिर निरुद्देश्य-सी कपड़ों की आलमारी खोलकर, सरसरी-सी नज़र से कपड़े देखती हूँ। सब विखरे पड़े हैं। इतनी देर यों ही व्यर्थ खड़ी रही; इन्हें ही ठीक कर लेती... पर मन नहीं करता और फिर बन्द कर देती हूँ।

नहीं आना था तो व्यर्थ ही मुझे समय क्यों दिया ? फिर यह कोई आज ही की बात है ! हमेशा संजय अपने बताये हुए समय से घंटे-दो घंटे देरी करके आता है, और मैं हूँ कि उसी क्षण से प्रतीक्षा करने लगती हूँ ! उसके बाद लाख कोशिश करके भी तो किसी काम में अपना मन नहीं लगा पाती। वह क्यों नहीं समझता कि मेरा समय बहुत अमूल्य है; थीसिस पूरी करने के लिए अब मुझे अपना सारा समय पढ़ाई में ही लगाना चाहिए। पर यह बात उसे कैसे समझाऊँ !

मेज पर बैठकर मैं फिर पढ़ने का उपक्रम करने लगती हूँ, पर मन है कि लगता ही नहीं। परदे के जरा-से हिलने से दिल की घड़कन बढ़ जाती है और बार-बार नज़र खड़ी के सरकते हुए काँटों पर दौड़ जाती है। हर समय यही लगता है, वह आया ! ... वह आया ! ...

तभी मेहता साहब की पाँच साल की छोटी वच्ची भिखकती-सी कमरे में आती है, “आण्टी, हमें कहानी सुनाओगी ?”

“नहीं, अभी नहीं, पिछे आना !” मैं रुखाई से जवाब देती हूँ। वह भाग जाती है।

ये मिसेज मेहता भी एक ही हैं ! यों तो महीनों शायद मेरी सूरत नहीं देखती। पर वच्ची को जव-तव मेरा सिर खाने को भेज देती हैं। मेहता साहब तो फिर भी कभी-कभी आठ-दस दिन में खैरियत पूछ ही लेते हैं, पर वह तो बेहद अकड़ू मालूम होती हैं। अच्छा ही है, ज्यादा दिलचस्पी दिखाती तो क्या मैं इतनी आजादी से धूम-फिर सकती थी।

खट-खट-खट... वही परिचित पद-ध्वनि ! तो आ गया संजय। मैं बरवस ही

अपना सारा ध्यान पुस्तक में केन्द्रित कर लेती हूँ। रजनीगन्धा के फेर-सारे फूल लिये संजय मुसकराता-सा दरवाजे पर खड़ा है। मैं देखती हूँ, पर मुसकराकर उसका स्वागत नहीं करती। हँसता हुआ वह आगे बढ़ता है, और फूलों को मेज पर पटककर, पीछे से मेरे दोनों कन्धे दबाता हुआ पूछता है, “बहुत नाराज हो ?”

रजनीगन्धा की महक से जैसे सारा कमरा महकने लगता है।

“मुझे क्या करना है नाराज होकर ?” रुचाई से मैं कहती हूँ।

वह कुरसी-सहित मुझे घुमाकर अपने सामने कर लेता है, और बड़े दुलार के साथ ठोड़ी उठाकर कहता है, “तुम्हें बताओ, क्या करता ? क्वालिटी में दोस्तों के बीच फँस गया। बहुत कोशिश करके भी उठ नहीं पाया। सबको नाराज करके आना अच्छा भी तो नहीं लगता !”

इच्छा होती है कह दूँ, तुम्हें दोस्तों का ख्याल है, उनके बुरा मानने की चिन्ता है, वस मेरी ही नहीं ! पर कह कुछ नहीं पाती, एकटक उसके चेहरे की ओर देखती रहती हूँ... उसके साँवले चेहरे पर पसीने की बूँदें चमक रही हैं। कोई और समय होता तो मैंने अपने आँचल से इन्हें पोछ दिया होता, पर आज नहीं। वह मन्द-मन्द मुसकरा रहा है, उसकी आँखें क्षमा-याचना कर रही हैं। पर मैं क्या करूँ ? ... तभी वह अपनी आदत के अनुसार कुरसी के हृत्ये पर बैठकर मेरे गाल सहलाने लगता है। मुझे उसकी इसी बात पर गुस्सा आता है। हमेशा इसी तरह करेगा और फिर दुनिया-भर का लाड-दुलार दिखलाएगा। वह जानता जो है कि इसके आगे मेरा क्रोध टिक नहीं पाता... फिर उठकर वह फूलदान के पुराने फूल फेंक देता है, और नये फूल लगाता है। फूल सजाने में वह कितना कुशल है ! एक बार मैंने यों ही कह दिया था कि मुझे रजनीगन्धा के फूल बड़े पसन्द हैं, तो उसने नियम ही बना लिया कि हर चौथे दिन फेर-सारे फूल लाकर मेरे कमरे में लगा देता है। और अब तो मुझे भी ऐसी आदत हो गयी है कि एक दिन भी कमरे में फूल न रहें तो न पढ़ने में मन लगता है, न सोने में। ये फूल जैसे संजय की उपस्थिति का आभास देते रहते हैं।

थोड़ी देर बाद हम घूमने निकल जाते हैं। एकाएक ही मुझे इरा के पत्र की बात याद आती है। जो बात सुनाने के लिए मैं सबैसे से ही आतुर थी, इस गुस्सेवाजी में उसे ही भूल गयी थी।

“सुनो, इरा ने लिखा है कि किसी दिन भी मेरे पास इण्टरव्यू का बुलावा आ सकता है, मुझे तैयार रहना चाहिए !”

“कहाँ, कलकत्ता से ?” कुछ याद करते हुए संजय पूछता है, और फिर एकाएक ही उछल पड़ता है, “यदि तुम्हें वह जॉव मिल जाय तो मजा आ जाय, दीपा, मजा आ जाय !” हम सङ्क पर हैं नहीं तो अवश्य ही उसने आवेदन में आकर कोई हरकत कर डाली होती। जाने क्यों, मुझे उसका इस प्रकार प्रसन्न होना अच्छा नहीं लगता। यथा वह यह चाहता है कि मैं कलकत्ता चली जाऊँ, उससे दूर ?...”

तभी सुनायी देता है, “तुम्हें यह जॉव मिल जाय तो सच मैं भी अपना तवादला कलकत्ता ही करवा लूँ, हेड-ऑफिस में। यहाँ की रोज़ की किचकिच से तो मेरा मन ऊँ

गया है। कितनी ही बार सोचा कि तबादले की कोशिश करें, पर तुम्हारे ख्याल ने हमेशा मुझे वाँध लिया। आँफिस में शान्ति हो जायेगी, पर मेरी शामें कितनी बीरान हो जायेगी !”

उसके स्वर की आर्द्रता ने मुझे छू लिया। एकाएक ही मुझे लगने लगा कि रात बड़ी सुहावनी ही चली है।

हम दूर निकलकर अपनी प्रिय टेकरी पर जाकर बैठ जाते हैं। दूर-दूर तक हलकी-सी चाँदनी हुई है, और शहर की तरह यहाँ का वातावरण धुएं से भरा हुआ नहीं है। वह दोनों पर फैलाकर बैठ जाता है और घंटों मुझे अपने आँफिस के झगड़े की बातें सुनाता है और फिर कलकत्ता जाकर साथ जीवन विताने की योजनाएँ बनाता है। मैं कुछ नहीं बोलती, वस एकटक उसे देखती रहती हूँ, देखती रहती हूँ।

जब वह चुप हो जाता है तो बोलती हूँ, “मुझे तो इण्टरव्यू में जाते हुए बड़ा डर लगता है। पता नहीं, कैसे क्या पूछते होंगे ! मेरे लिए तो यह पहला ही मीक्का है।”

वह खिलखिलाकर हँस पड़ता है।

“तुम भी एक ही मूर्खा हो ! घर से दूर, यहाँ कमरा लेकर अकेली रहती हो; रिसर्च कर रही हो, दुनिया-भर में धूमती-फिरती हो और इण्टरव्यू के नाम से डर लगता है ! क्यों ?” और गाल पर हलकी-सी चपत जमा देता है। फिर सभभाता हुआ कहता है, “और देखो, आजकल ये इण्टरव्यू आदि तो सब दिखावा मात्र होते हैं। यहाँ किसी जान-पहचानवाले से इन्व्युएंस डलवाना जाकर !”

“पर कलकत्ता तो मेरे लिए एकदम न यी जगह है। वहाँ इरा को छोड़कर मैं किसी की जानती भी नहीं। अब उन लोगों की कोई जान-पहचान हो तो वात दूसरी है,” असहाय-सी मैं कहती हूँ।

“और किसी को नहीं जानतीं ?” फिर मेरे चेहरे पर नज़रें गड़ाकर पूछता है, “निशीथ भी तो वहीं है ?”

“होगा, मुझे क्या करना है उससे ?” मैं एकदम ही भन्नाकर जवाब देती हूँ। पता नहीं क्यों, मुझे लग ही रहा था कि अब वह यही बात कहेगा।

“कुछ नहीं करना ?” वह छेड़ने के लहजे में कहता है।

और मैं भभक पड़ती हूँ, “देखो संजय, मैं हजार बार तुमसे कह चुकी हूँ कि उसे लेकर मुझसे मजाक मत किया करो ! मुझे इस तरह का मजाक जरा भी पसन्द नहीं है !”

वह खिलखिलाकर हँस पड़ता है, पर मेरा तो मूँड ही खराब हो जाता है।

हम लौट पड़ते हैं। वह मुझे खुश करने के इरादे से मेरे कन्धे पर हाथ रख देता है। मैं झटककर हाथ हटा देती हूँ, “क्या कर रहे हो ? कोई देख लेगा तो क्या कहेगा ?”

“कौन है यहाँ, जो देख लेगा ? और देख लेगा तो देख ले, आप ही कुड़ेगा।”

“नहीं, हमें पसन्द नहीं है यह वेशमी !” और सच ही मुझे रास्ते में ऐसी हरकतें पसन्द नहीं हैं। चाहे रास्ता निर्जन ही क्यों न हो, पर है तो रास्ता ही; फिर कानपुर-जैसी जगह !

कमरे पर लीटकर मैं उसे बैठने को कहती हूँ, पर वह बैठता नहीं, बस बाँहों में भरकर एक बार चूम लेता है। यह भी जैसे उसका रोज का नियम है।

वह चला जाता है। मैं बाहर बालकनी में निकलकर उसे देखती रहती हूँ... उसका आकार छोटा होते-होते सड़क के मोड़ पर जाकर लुप्त हो जाता है। मैं उधर ही देखती रहती हूँ—निरुद्देश्य-सी, खोयी-खोयी-सी। फिर आकर पढ़ने बैठ जाती हूँ।

रात में सोती हूँ तो देर तक मेरी आँखें मेज पर लगे रजनीगन्धा के फूलों को ही निहारती रहती हैं। जाने क्यों, अक्सर मुझे भ्रम हो जाता है कि ये फूल नहीं हैं, मानो संजय की अनेकानेक आँखें हैं, जो मुझे देख रही हैं, सहला रही हैं, दुलरा रही हैं। और अपने को यों असंख्य आँखों से निरन्तर देखे जाने की कल्पना से ही मैं लजा जाती हूँ।

मैंने संजय को भी एक बार यह बात बतायी थी, तो वह खूब हँसा था और फिर मेरे गालों को सहलाते हुए उसने कहा था कि मैं पागल हूँ, निरी मूर्खा हूँ !

कौन जाने, शायद उसका कहना ही ठीक हो, शायद मैं पागल ही होऊँ !

००

कानपुर

मैं जानती हूँ संजय का मन निशीथ को लेकर जब-तब सशंकित हो उठता है, पर मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं निशीथ से नफरत करती हूँ, उसकी याद-मात्र से मेरा मन धृणा से भर उठता है... फिर अठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार भी कोई प्यार होता है भला ! निरा बचपन होता है, महज पागलपन ! उसमें आवेश रहता है पर स्थायित्व नहीं; गति रहती है पर गहराई नहीं। जिस बेग से वह आरम्भ होता है, जरा-सा झटका लगने पर उसी बेग से टूट भी जाता है... और उसके बाद आहों, आँसुओं और सिसियों का एक दौर, सारी दुनिया की निस्सारता और आत्महत्या करने के लिए एक संकल्प और फिर एक तीखी धृणा। जैसे ही जीवन को दूसरा आधार मिल जाता है, उस सबको भूलने में एक दिन भी नहीं लगता। फिर तो वह सब ऐसी बेवकूफी लगती है, जिस पर बैठकर घण्टों हँसने की तबीयत होती है। तब एकाएक ही इस बात का एहसास होता है कि ये सारे आँसू, ये सारी आहें उस प्रेमी के लिए नहीं थे, वरन् जीवन की उस रिक्तता और धून्यता के लिए थे, जिसने जीवन को नीरस बनाकर बोझिल कर दिया था।

तभी तो संजय को पाते ही मैं निशीथ को भूल गयी। मेरे आँसू हँसी में बदल गये और आहों की जगह किलकारियाँ गूँजने लगीं। पर संजय है कि जब-तब निशीथ की बात को लेकर व्यर्थ ही खिन्न-सा हो उठता है। मेरे कुछ कहने पर वह खिलखला श्रवण्य पड़ता है, पर मैं जानती हूँ, वह पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं है।

उसे कैसे बताऊँ कि मेरे प्यार का, मेरी कोमल भावनाओं का, भविष्य की मेरी अनेकानेक योजनाओं का एकमात्र केन्द्र संजय ही है ! यह बात दूसरी है कि चाँदनी रात में, किसी निर्जन स्थान में, पेड़ तले बैठकर भी मैं अपनी थीसिस की बात करती हूँ, या वह अपने आँकिस की, मिठों की बातें करता है, या हम किसी और विषय पर बात करने लगते हैं... पर इस सबका यह मतलब तो नहीं कि हम प्रेम नहीं करते ! वह क्यों

नहीं समझता कि आज हमारी भावुकता यथार्थ में बदल गयी है, सपनों की जगह हम वास्तविकता में जीते हैं ! हमारे प्रेम को परिपक्वता मिल गयी है, जिसका आधार पाकर वह अधिक गहरा हो गया है, स्थायी हो गया है ।

पर संजय को कैसे समझाऊँ यह सब ? कैसे उसे समझाऊँ कि निशीथ ने मेरा अपमान किया है, ऐसा अपमान, जिसकी कच्चोट से मैं आज भी तिलमिला जाती हूँ । सम्बन्ध तोड़ने से पहले एक बार तो उसने मुझे बताया होता कि आखिर मैंने ऐसा कौन-सा अपराध कर डाला था, जिसके कारण उसने मुझे इतना कठोर दण्ड दे डाला । सारी दुनिया की भर्त्सना, तिरस्कार, परिह्रास और दया का विष मुझे पीना पड़ा... विश्वास-घाती ! नीच कहीं का ! ... और संजय सोचता है कि आज भी मेरे मन में उसके लिए कोई कोमल स्थान है ! छिः ! मैं उससे नफरत करती हूँ ! और सच पूछो तो अपने को भाग्यशालिनी समझती हूँ कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के चंगुल में फँसने से बच गयी, जिसके लिए प्रेम महज एक खिलवाड़ है ।

संजय ! यह तो सोचो कि यदि ऐसी कोई भी वात होती, तो क्या मैं तुम्हारे आगे, तुम्हारी हर उचित-अनुचित चेष्टा के आगे, यों आत्म-समर्पण करती ? तुम्हारे चुम्बनों और आँखियों में अपने को यों विखरने देती ? जानते हो, विवाह से पहले कोई भी लड़की किसी को इन सबका अधिकार नहीं देती । पर मैंने दिया, क्या केवल इसीलिए नहीं कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, बहुत-बहुत प्यार करती हूँ ! विश्वास करो संजय, तुम्हारा-मेरा प्यार ही सच है, निशीथ का प्यार तो मात्र ढल था, भ्रम था, झूठ था !

० ०

कानपुर

परसों मुझे कलकत्ता जाना है । सच, वड़ा डर लग रहा है ! कैसे क्या होगा ? मान लो, इण्टरव्यू में बहुत नर्वस हो गयी तो ? संजय को कह रही हूँ कि वह भी साथ चले; पर उसे आँकिस से छुट्टी नहीं मिल सकती है । एक तो नया शहर, फिर इण्टरव्यू ! सच, अपना कोई साथ होता तो वड़ा सहारा मिल जाता । मैं कमरा लेकर अकेली रहती हूँ, यों अकेली घूम-फिर भी लेती हूँ, तो संजय सोचता है, मुझमें वड़ी हिम्मत है, पर सच, वड़ा डर लग रहा है ।

बार-बार मैं यह मान लेती हूँ कि मुझे नौकरी मिल गयी है और मैं संजय के साथ वहाँ रहने लगी हूँ । सच, कितनी सुन्दर कल्पना है, कितनी मादक ! पर इण्टरव्यू का भय मादकता में भरे इस स्वप्न-जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है...

काश, संजय भी किसी तरह मेरे साथ चल पाता !

० ०

गाड़ी जब हावड़ा स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर प्रवेश करती है तो जाने कैसी विचित्र आशंका, विचित्र-से भय से मेरा मन भर जाता है । प्लेटफ़ार्म पर खड़े असंख्य नर-नारियों में मैं इरा को ढूँढ़ती हूँ । वह वहीं दिखायी नहीं देती । नीचे उतरने के बजाय खिड़की में से ही दूर-दूर तक नज़रें दौड़ाती हूँ... आखिर एक कुली को बुलाकर, अपना छोटा-सा

सूटकेस और विस्तर उतारने का आदेश दे, मैं नीचे उतर पड़ती हूँ। उस भीड़ को देख-
कर मेरी दहशत जैसे और वह जाती है। तभी किसी के हाथ के स्पर्श से मैं बुरी तरह
चौंक जाती हूँ। पीछे देखती हूँ, तो इरा खड़ी है।

रमाल से चेहरे का पसीना पोंछते हुए कहती हूँ, “सच, तुझे न देखकर मैं घबरा
रही थी कि तुम्हारे घर भी कैसे पहुँच़गी !”

वाहर आकर हम टैक्सी में बैठते हैं। अभी तक मैं स्वस्थ नहीं हो पायी हूँ। जैसे
ही हावड़ा पुल पर गाड़ी पहुँचती है, हुगली के जल को स्पर्श करती हुई ठंडी हवाएं तन-
मन को एक ताजगी से भर देती हैं। इरा मुझे इस पुल की विशेषता बताती है और मैं
विस्मित-सी उस पुल को देखती हूँ, दूर-दूर तक फैले हुगली के विस्तार को देखती हूँ,
उसकी छाती पर खड़ी और विहार करती अनेक नीकाओं को देखती हूँ, बड़े-बड़े जहाजों
को देखती हूँ...

उसके बाद बहुत ही भीड़-भरी सड़कों पर हमारी टैक्सी रुकती-रुकती चलती
है। ऊँची-ऊँची इमारतों और चारों ओर के बातावरण से कुछ चिचित्र-सी विराटता का
आभास होता है, और इस सबके बीच जैसे मैं अपने की बड़ा खोया-खोया-सा महसूस
करती हूँ। कहाँ पटना और कानपुर और कहाँ यह कलकत्ता ! सच, मैंने बहुत बड़े शहर
देखे ही नहीं !

सारी भीड़ को चीरकर हम रेड रोड पर आ जाते हैं। चौड़ी शान्त सड़क। मेरे
दोनों ग्रीष्म लम्बे-चौड़े खुले मैदान।

“क्यों इरा, कौन-कौन लोग होंगे इण्टरव्यू में ? मुझे तो सच बड़ा डर लग रहा
है !”

“श्रेरे, सब ठीक हो जायेगा ! तू और डर ? हम-जैसे डरें तो कोई बात भी
नहीं। जिसने अपना सारा कैरियर अपने-आप बनाया, वह भला इण्टरव्यू में डरे !” किर
कुछ देर ठहरकर कहती है, “अच्छा, भैया-भाभी तो पटना ही होंगे ? जाती है कभी
उनके पास भी या नहीं ?”

“कानपुर आने के बाद एक बार गयी थी। कभी-कभी यों ही पत्र लिख देती हूँ।”

“भई, कमाल के लोग हैं, वहन को भी नहीं निभा सके !”

मुझे यह प्रसंग कर्तव्य पसन्द नहीं। मैं नहीं चाहती कि कोई इस विषय पर बात
करे। मैं मौन ही रहती हूँ।

इरा का छोटा-सा घर है, सुन्दर ढंग से सजाया हुआ। उसके पति के दौरे पर
जाने की बात मुनकर पहले मुझे अफसोस हुआ था; वह होते तो कुछ मदद ही करते।
पर किर एकाएक लगा कि उनकी अनुपस्थिति में मैं ज्ञायद अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव
कर सकूँ। उनका बच्चा भी बड़ा ध्यारा है।

शाम को इरा मुझे कॉफी-हाउस ले जाती है। अचानक मुझे वहाँ निशीथ
दिखायी देता है। मैं सकपकाकर नजर धुमा लेती हूँ। पर वह हमारी मेज पर ही आ
पहुँचता है। विवश होकर मुझे देखना पड़ता है, नमस्कार भी करना पड़ता है, इरा का
परिचय भी करवाना पड़ता है। इरा पास की कुर्सी पर बैठने का निमन्त्रण दे देती है।

मुझे लगता है, मेरी सांस रुक जायेगी।

“कव आयीं ?”

“आज सवेरे ही ।”

“अभी ठहरोगी ? ठहरी कहाँ हो ?”

जबाब इरा देती है । मैं देख रही हूँ, निशीथ बहुत बदल गया है । उसने कवियों की तरह बाल बड़ा लिये हैं । यह क्या शौक चर्चाया ? उसका रंग स्थाह पड़ गया है । वह दुबला भी हो गया है ।

विशेष वातचीत नहीं होती और हम लोग उठ पड़ते हैं । इरा को मुन्नू की चिन्ता सता रही थी और मैं स्वयं घर पहुँचने को उतावली हो रही थी । कॉफी-हाउस से घर्मतल्ला तक वह पैदल चलता हुआ हमारे साथ आता है । इरा ही उससे बात कर रही है, मानो वह इरा का ही मित्र हो । इरा अपना पता समझा देती है और वह दूसरे दिन नी बजे आने का बायदा करके चला जाता है ।

पूरे तीन साल बाद निशीथ का यों मिलना ! न चाहकर भी जैसे सारा अतीत आँखों के सामने खुल जाता है । कितना दुबला हो गया है निशीथ ! … लगता है, जैसे मन में कहीं कोई गहरी पीड़ा छिपाये वैठा है ।

मुझसे अलग होने का दृश्य तो नहीं साल रहा इसे ?

कल्पना चाहे कितनी ही मधुर क्यों न हो, एक तृप्तियुक्त आनन्द देनेवाली क्यों न हो, पर मैं जानती हूँ यह भूठ है । यदि ऐसा ही था तो कौन उसे कहने गया था कि तुम इस सम्बन्ध को तोड़ दो । उसने अपनी इच्छा से ही तो यह सब किया था ।

एकाएक ही मेरा मन कटु हो उठता है । यही तो है वह व्यक्ति, जिसने मुझे अपमानित करके सारी दुनिया के सामने छोड़ दिया था महज उपहास का पात्र बनाकर ! ओह ! क्यों नहीं मैंने उसे पहचानने से इन्कार कर दिया ? जब वह मेज के पास आकर खड़ा हुआ, तो क्यों नहीं मैंने कह दिया कि माफ़ कीजिए, मैं आपको पहचानती नहीं । जरा उसका खिसियाना तो देखती ! वह कल भी आयेगा । सच, मुझे उसे साफ़-साफ़ मना कर देना चाहिए था कि मैं उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहती; मैं उससे नफरत करती हूँ ! …

अच्छा है, आये कल ! मैं उसे बता दूँगी कि जल्दी ही मैं संजय से विवाह करने वाली हूँ । यह बता दूँगी कि मैं पिछला सब-कुछ भूल चुकी हूँ । यह भी बता दूँगी कि मैं उससे घृणा करती हूँ और उसे इस ज़िन्दगी में कभी माफ़ नहीं कर सकती…

यह सब सोचने के साथ-साथ, जाने क्यों, मेरे मन में यह बात भी उठ रही है कि तीन साल हो गये, अभी तक निशीथ ने विवाह क्यों नहीं किया ? करे न करे, मुझे चाया ! …

क्या वह आज भी मुझसे कुछ उम्मीद रखता है ? हुँ ! मूर्ख कहीं का !

संजय ! मैंने तुमसे कितना कहा था कि तुम मेरे साथ चलो, पर तुम नहीं आये … इस समय जवाहि मुझे तुम्हारी इतनी-इतनी याद आ रही है, बताओ मैं क्या कहूँ !

सूटकेस और विस्तर उतारने का आदेश दे, मैं नीचे उत्तर पड़ती हूँ। उस भीड़ को देख-
कर मेरी दहशत जैसे और बढ़ जाती है। तभी किसी के हाथ के स्पर्श से मैं बुरी तरह
चौंक जाती हूँ। पीछे देखती हूँ, तो इरा खड़ी है।

स्माल से चेहरे का पसीना पोंछते हुए कहती हूँ, “सच, तुझे न देखकर मैं घबरा
रही थी कि तुम्हारे घर भी कैसे पहुँचूँगी !”

वाहर आकर हम टैक्सी में बैठते हैं। अभी तक मैं स्वस्थ नहीं हो पायी हूँ। जैसे
ही हावड़ा पुल पर गाड़ी पहुँचती है, हुगली के जल को स्पर्श करती हुई ठंडी हवाएं तन-
मन को एक ताजगी से भर देती हैं। इरा मुझे इस पुल की विशेषता बताती है और मैं
विस्मित-सी उस पुल को देखती हूँ, दूर-दूर तक फैले हुगली के विस्तार को देखती हूँ
उसकी छाती पर खड़ी और विहार करती अनेक नीकाग्रों को देखती हूँ, बड़े-बड़े जहाजों
को देखती हूँ...

उसके बाद बहुत ही भीड़-भरी सड़कों पर हमारी टैक्सी रुकती-रुकती चलती
है। ऊँची-ऊँची इमारतों और चारों ओर के बातावरण से कुछ विचित्र-सी विराटता क
आभास होता है, और इस सबके बीच जैसे मैं अपने को बड़ा खोया-खोया-सा महसूस
करती हूँ। कहाँ पटना और कानपुर और कहाँ यह कलकत्ता ! सच, मैंने बहुत बड़े शहर
देखे ही नहीं !

सारी भीड़ को चीरकर हम रेड रोड पर आ जाते हैं। चौड़ी शान्त सड़क। मैं
दोनों ओर लम्बे-चौड़े खुले मैदान।

“क्यों इरा, कौन-कौन लोग होंगे इण्टरव्यू में ? मुझे तो सच बड़ा डर लग रह
है !”

“अरे, सब ठीक हो जायेगा ! तू और डर ? हम-जैसे डरें तो कोई बात भी
है। जिसने अपना सारा कैरियर अपने-आप बनाया, वह भला इण्टरव्यू में डरे !” फिर
कुछ देर ठहरकर कहती है, “अच्छा, मैया-भाभी तो पटना ही होंगे ? जाती है कर्भ
उनके पास भी या नहीं ?”

“कानपुर आने के बाद एक बार गयी थी। कभी-कभी यों ही पत्र लिख देती हूँ।”

“भई, कमाल के लोग हैं, वहन को भी नहीं निभा सके !”

मुझे यह प्रसंग कर्तव्य पसन्द नहीं। मैं नहीं चाहती कि कोई इस विषय पर बात
करे। मैं जौन ही रहती हूँ।

इरा का छोटा-सा घर है, सुन्दर ढंग से सजाया हुआ। उसके पति के दौरे पर
जाने की बात सुनकर पहले मुझे अफसोस हुआ था; वह होते तो कुछ मदद ही करते
पर फिर एकाएक लगा कि उनकी अनुपस्थिति में मैं शायद अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव
कर सकूँ। उनका बच्चा भी बड़ा प्यारा है।

शाम को इरा मुझे कॉफी-हाउस ले जाती है। अचानक मुझे वहाँ निशीथ
दिखायी देता है। मैं सकपकाकर नजर घुमा लेती हूँ। पर वह हमारी मेज पर ही अ
पहुँचता है। विवश होकर मुझे देखना पड़ता है, नमस्कार भी करना पड़ता है, इरा का
परिचय भी करवाना पड़ता है। इरा पास की कुर्सी पर बैठने का निमन्त्रण दे देती है।

मुझे लगता है, मेरी सांस रुक जायेगी।

“कब आयीं ?”

“आज सवेरे ही !”

“अभी ठहरोगी ? ठहरी कहाँ हो ?”

जवाब इरा देती है। मैं देख रही हूँ, निशीथ वहुत बदल गया है। उसने कवियों की तरह वाल बढ़ा लिये हैं। यह क्या शौक चर्चाया ? उसका रंग स्याह पड़ गया है। वह दुबला भी हो गया है।

विशेष वातनीत नहीं होती और हम लोग उठ पड़ते हैं। इरा को मुन्नू की चिन्ता सत्ता रही थी और मैं स्वयं घर पहुँचने को उतावली हो रही थी। कॉफी-हाउस से वर्मतल्ला तक वह पैदल चलता हुआ हमारे साथ आता है। इरा ही उससे बात कर रही है, मानो वह इरा का ही मित्र ही। इरा अपना पता समझा देती है और वह दूसरे दिन नी बजे आने का वायदा करके चला जाता है।

पूरे तीन साल बाद निशीथ का यो मिलना ! न चाहकर भी जैसे सारा अतीत आँखों के सामने खुल जाता है। कितना दुबला हो गया है निशीथ ! ... लगता है, जैसे मन में कहीं कोई गहरी पीड़ा छिपाये वैठा है।

मुझसे अलग होने का दुःख तो नहीं साल रहा इसे ?

कल्पना चाहे कितनी ही मधुर क्यों न हो, एक तृप्तियुक्त आनन्द देनेवाली क्यों न हो, पर मैं जानती हूँ यह भूठ है। यदि ऐसा ही था तो कौन उसे कहने गया था कि तुम इस सम्बन्ध को तोड़ दो। उसने अपनी इच्छा से ही तो यह सब किया था।

एकाएक ही मेरा मन कटु हो उठता है। यही तो है वह व्यक्ति, जिसने मुझे अपमानित करके सारी दुनिया के सामने छोड़ दिया था महज उपहास का पात्र बनाकर ! ओह ! क्यों नहीं मैंने उसे पहचानने से इन्कार कर दिया ? जब वह मेज के पास आकर खड़ा हुआ, तो क्यों नहीं मैंने कह दिया कि माफ़ कीजिए, मैं आपको पहचानती नहीं। जरा उसका खिसियाना तो देखती ! वह कल भी आयेगा। सच, मुझे उसे साफ़-साफ़ मना कर देना चाहिए था कि मैं उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहती; मैं उससे नफरत करती हूँ ! ...

अच्छा है, आये कल ! मैं उसे बता दूँगी कि जल्दी ही मैं संजय से विवाह करने वाली हूँ। यह बता दूँगी कि मैं पिछला सब-कुछ भूल चुकी हूँ। यह भी बता दूँगी कि मैं उससे घृणा करती हूँ और उसे इस जिन्दगी में कभी माफ़ नहीं कर सकती...।

यह सब सोचने के साथ-साथ, जाने क्यों, मेरे मन में यह बात भी उठ रही है कि तीन साल हो गये, अभी तक निशीथ ने विवाह क्यों नहीं किया ? करे न करे, मुझे चाहा ! ...

क्या वह आज भी मुझसे कुछ उम्मीद रखता है ? हुँ ! मूर्ख कहीं का !

संजय ! मैंने तुमसे कितना कहा था कि तुम मेरे साथ चलो, पर तुम नहीं आये ... इस समय जबकि मुझे तुम्हारी इतनी-इतनी याद आ रही है, बताओ मैं क्या करूँ !

० ०

कलकत्ता

नौकरी पाना इतना मुश्किल है, इसका मुझे गुमान तक नहीं था। इरा कहती है कि डेढ़ सौ की नौकरी तक के लिए खुद मिनिस्टर सिफारिश करने पहुँच जाते हैं; फिर यह तो तीन सौ का जॉब है... निशीथ सवेरे से शाम तक इसी चक्कर में भटका है, यहाँ तक कि उसने अपने आँफिस से भी छुट्टी ले ली है। वह क्यों मेरे काम में इतनी दिलचस्पी ले रहा है? उसका परिचय बड़े-बड़े लोगों में है और वह कहता है कि जैसे भी होगा, वह यह काम मुझे दिलाकर ही भानेगा। पर आखिर क्यों?

कल मैंने सोचा था कि अपने व्यवहार की रुखाई से मैं स्पष्ट कर दूँगी कि अब वह मेरे पास न आये। पौने नी बजे के करीब, जब मैं अपने टूटे हुए बाल फैक्ने खिड़की पर गयी, तो देखा, घर से थोड़ी दूर पर निशीथ टहल रहा है। वही लम्बे बाल, कुरता-पाजामा। तो वह समय के पहले ही आ गया! संजय होता तो घारह बजे से पहले नहीं पहुँचता; समय पर पहुँचना तो वह जानता ही नहीं।

उसे यों चक्कर काटते देख मेरा मन जाने कैसा हो आया! ... और जब वह आया तो मैं चाहकर भी कटु नहीं हो सकी। मैंने उसे कलकत्ता आने का मक्कसद बताया, तो लगा कि वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वहीं बैठे-बैठे फ़ोन करके उसने इस नौकरी के सम्बन्ध में सारी जानकारी प्राप्त कर ली। कैसे क्या करना होगा, इसकी योजना भी बना डाली, और वहीं बैठे-बैठे फ़ोन से आँफिस में सूचना भी दे दी कि आज वह आँफिस नहीं आयेगा।

विचित्र स्थित मेरी ही रही थी। उसके इस अपनत्व-भरे व्यवहार को मैं स्वीकार भी नहीं पाती थी, नकार भी नहीं पाती थी। सारा दिन मैं उसके साथ घूमती रही, पर काम की बात के अतिरिक्त उसने एक भी बात नहीं की। मैंने कई बार चाहा कि संजय की बात बता दूँ, पर बता नहीं सकी। सोचा, कहीं यह सब सुनकर वह दिलचस्पी लेना कम न कर दे। उसके आज-भर के प्रयत्नों से ही मुझे काफ़ी उम्मीद हो चली थी। यह नौकरी मेरे लिए कितनी आवश्यक है। मिल जाय तो संजय कितना प्रसन्न होगा, हमारे विवाहित जीवन के आरम्भक दिन कितने सुख में बीतेंगे!

शाम को हम घर लौटते हैं। मैं उसे बैठने को कहती हूँ, पर वह बैठता नहीं, वस खड़ा ही रहता है। उसके चौड़े ललाट पर पसीने की बूँदें चमक रही हैं। एकाएक ही मुझे लगता है इस समय संजय होता तो? मैं अपने आँचिल से उसका पसीना पोछ देती, और वह... वह क्या बिना बांहों में भरे, बिना प्यार किये यों ही चला जाता?

“अच्छा, तो चलता हूँ।”

यन्त्रचालित-से मेरे हाथ जुड़ जाते हैं, वह लौट पड़ता है और मैं ठगी-सी देखती रहती हूँ।

सोते समय मेरी आदत है कि मैं संजय के लाये हुए फूलों को निहारती रहती हूँ। यहाँ वे फूल नहीं हैं तो वड़ा सूना-सूना-सा लग रहा है।

पता नहीं संजय, तुम इस समय क्या कर रहे हो। तीन दिन हो गये, किसी ने

यहो सच है

वाहों में भरकर प्यार तक नहीं किया ।

० ०

कलकत्ता

आज सदेरे मेरा इण्टरव्यू हो गया । मैं शायद बहुत नर्वस हो गयी थी और जैसे उत्तर मुझे देने चाहिएँ वैसे नहीं दे पायी । पर निशीथ ने आकर बताया कि मेरा चुना जाना क्रीव-क्रीव तय ही हो गया है । मैं जानती हूँ, यह सब निशीथ की बजह से ही हुआ ।

दलते सूरज की धूप निशीथ के बायें गाल पर पड़ रही थी, और सामने बैठा निशीथ इतने दिन बाद एक बार फिर मुझे बड़ा प्यारा-सा लगा ।

मैंने देखा, मुझसे ज्यादा वह प्रसन्न है । वह कभी किसी का एहसान नहीं लेता, पर मेरी खातिर उसने न जाने कितने लोगों का एहसान लिया ! आखिर क्यों ? क्या वह चाहता है कि मैं कलकत्ता आकर रहूँ उसके साथ, उसके पास ? एक अजीव-सी पुलक से मेरा तन-मन सिहर उठता है । वह ऐसा क्यों चाहता है ? उसका ऐसा चाहना बहुत गलत है, बहुत अनुचित है ! … मैं अपने मन को समझाती हूँ, ऐसी कोई बात नहीं है, शायद वह केवल मेरे प्रति किये गये अपने अन्याय का प्रतिकार करने के लिए यह सब कर रहा है । पर क्या वह समझता है कि उसकी मदद से नीकरी पाकर मैं उसे क्षमा कर दूँगी या जो कुछ उसने किया है, उसे भूल जाऊँगी ? असम्भव ! मैं कल ही उसे संजय की बात बता दूँगी ।

“आज तो इस खुशी में पार्टी हो जाये !”

काम की बात के अलावा यह पहला बाक्य मैं उसके मुँह से सुनती हूँ । मैं इरा की ओर देखती हूँ । वह प्रस्ताव का समर्थन करके भी मुनूँ की तबीयत का बहाना लेकर अपने को काट लेती है । अकेले जाना मुझे कुछ अटपटा-सा लगता है । अभी तक तो काम का बहाना लेकर धूम रही थी, पर अब ? फिर भी मैं मना नहीं कर पाती । अन्दर जाकर तैयार होती हूँ । मुझे याद आता है, निशीथ को नीला रंग बहुत पसन्द था, मैं नीली साड़ी ही पहनती हूँ, बड़े चाव और सतर्कता से अपना प्रसाधन करती हूँ, और बार-बार अपने को टोकती भी जाती हूँ—किसको रिभाने के लिए यह सब हो रहा है ? क्या यह निरा पागलपन नहीं है ?

सीढ़ियों पर निशीथ हल्की-सी मुसकराहट के साथ कहता है, “इस साड़ी में तुम बहुत मुन्दर लग रही हो !”

मेरा चेहरा तमतमा जाता है; कनपटियाँ सुख हो जाती हैं । मैं सच मुच ही इस बाक्य के लिए तैयार नहीं थी । यह सदा चुप रहनेवाला निशीथ बोला भी तो ऐसी बात !

मुझे ऐसी बातें सुनने की जरा भी आदत नहीं है । संजय न कभी मेरे कपड़ों पर ध्यान देता है, न ऐसी बातें करता है, जबकि उसे पूरा अधिकार है । और यह बिना अधिकार के ऐसी बातें करे ? …

पर जाने क्या है कि मैं उस पर नाराज नहीं हो पाती हूँ, बल्कि एक पुलकमय सिहरन महसूस करती हूँ । सच, संजय के मुँह से ऐसा बाक्य सुनने को मेरा मन तरसता रहता

है, पर उसने कभी ऐसी वात नहीं की। पिछले ढाई साल से संजय के साथ रह रही हैं, रोज ही शाम को हम घूमने जाते हैं, कितनी ही बार मैंने शुंगार किया, अच्छे कपड़े पहने, पर प्रशंसा का एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं सुना। इन बातों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता; वह देखकर भी जैसे यह सब नहीं देख पाता। इस बाक्य को सुनने के लिए तरसता हुआ मेरा मन जैसे रस से नहा जाता है। पर निशीथ ने यह बात क्यों कही? उसे क्या अधिकार है?

क्या सचमुच ही उसे अधिकार नहीं है? ... नहीं है?

जाने कौसी मज़बूरी है, कौसी विवशता है कि मैं इस बात का जवाब नहीं दे पाती हूँ। निश्चयात्मक दृढ़ता से नहीं कह पाती कि साथ चलते इस व्यक्ति को सचमुच ही मेरे विषय में ऐसी अवांछित बात कहने का कोई अधिकार नहीं है।

हम दोनों टैक्सी में बैठते हैं। मैं सोचती हूँ आज मैं इसे संजय की बात बता दूँगी।

“स्काई-एस! ” निशीथ टैक्सीवाले को श्रादेश देता है।

टून की घण्टी के साथ मीटर ढाउन होता है और टैक्सी हवा से बात करने लगती है। निशीथ बहुत सतर्कता से कोने में बैठा है, बीच में इतनी जगह छोड़कर कि यदि हिचकोला खाकर भी टैक्सी रुके तो हमारा स्पर्श न हो। हवा के भोंके से मेरी रेशमी साड़ी का पल्लू उसके समूचे बदन को स्पर्श करता हुआ उसकी गोद में पड़कर फरफराता है। वह उसे हटाता नहीं है। मुझे लगता है, वह रेशमी, सुवासित पल्लू उसके तन-मन को रस में भिगो रहा है, यह स्पर्श उसे पुलकित कर रहा है। मैं विजय के अक्यनीय आह्वाद से भर जाती हूँ।

चाहकर भी मैं संजय की बात नहीं कह पाती। अपनी इस विवशता पर मुझे खीभ भी आती है, पर मेरा मुंह है कि खुलता ही नहीं। मुझे लगता है कि मैं जैसे कोई बहुत बड़ा अपराध कर रही होऊँ। पर फिर भी बात मैं नहीं कह सकती!

यह निशीथ कुछ बोलता क्यों नहीं? उसका यों कोने में टुककर निविकार भाव से बैठे रहना मुझे कर्तव्य अच्छा नहीं लगता! एकाएक ही मुझे संजय की याद आने लगती है। इस समय वह यहाँ होता तो उसका हाथ मेरी कमर में लिपटा होता। यों सड़क पर ऐसी हरकतें मुझे स्वयं पसन्द नहीं, पर आज, जाने क्यों, किसी की बांहों की लपेट के लिए मेरा मन ललक उठता है। मैं जानती हूँ कि जब निशीथ बगल में बैठा हो, उस समय ऐसी इच्छा करना, या ऐसी बात सोचना भी कितना अनुचित है। पर मैं क्या करूँ? जितनी द्रुत गति से टैक्सी चली जा रही है, मुझे लगता है, उतनी ही द्रुत गति से मैं भी वही जा रही हूँ, अनुचित, अवांछित दिशाओं की ओर!

टैक्सी झटका खाकर रुकती है तो मेरी चेतना लौटती है। मैं झटके से दाहिनी ओर का फाटक खोलकर कुछ इस हड्डी से उतर पड़ती हूँ, मानो अन्दर निशीथ मेरे साथ कोई बदतमीजी कर रहा हो।

“अबी, इधर से नहीं उतरना चाहिए कभी!” टैक्सीवाला कहता है, तो अपनी गलती का भान होता है। उधर निशीथ खड़ा है, इधर मैं, बीच में टैक्सी!

पैसे लेकर टैक्सी चली जाती है तो हम दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने हो जाते हैं। एकाएक ही मुझे ख्याल आता है कि टैक्सी के पैसे आज मुझे देने चाहिए थे। पर अब क्या हो सकता था? चूपचाप हम दोनों अन्दर जाते हैं। आसपास बहुत-कुछ है, चहल-पहल, रोशनी, रीनक। पर मेरे लिए जैसे सबका अस्तित्व ही मिट जाता है। मैं अपने को सबकी नज़रों से ऐसे बचाकर चलती हूँ, मानो मैंने कोई अपराध कर डाला हूँ, मानो कोई मुझे पकड़ न ले।

क्या सचमुच ही मुझसे कोई अपराध हो गया है? आमने-सामने हम दोनों बैठ जाते हैं। मैं हीस्ट हूँ, किर भी उसका पाठ वही अदा कर रहा है। वही आईर देता है। बाहर की हलचल और उससे भी अधिक मन की हलचल में मैं अपने को खोया-खोया-सा महसूस करती हूँ।

हम दोनों के सामने बैरा कोल्ड कॉफी के गिलास और खाने का कुछ सामान रख जाता है। मुझे बार-बार लगता है कि निशीथ कुछ कहना चाह रहा है। मैं उसके होंठों की घड़कन तक महसूस करती हूँ। वह जल्दी से कॉफी का स्ट्रॉमूँह में लगा लेता है।

मूर्ख कहीं का! वह सोचता हूँ मैं देवकूँक हूँ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि इस समय वह क्या सोच रहा है।

तीन दिन साथ रहकर भी हमने उस प्रसंग को नहीं छेड़ा। शायद नीकरी की चात ही हमारे दिमागों पर छायी हुई थी। पर आज... आज अवश्य ही वह बात आयेगी! न आये, यह कितना अस्वाभाविक है! पर नहीं, स्वाभाविक शायद वही है! तीन साल पहले जो अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया, उसे उलटकर देखने का साहस शायद हम दोनों में से किसी में नहीं है। जो सम्बन्ध टूट गये, टूट गये। अब उन पर कौन बात करे? नहीं कहेंगी। पर उसे तो करनी चाहिए। तोड़ा उसने था, बात भी वही आरम्भ करे। मैं क्यों कहूँ, और मुझे क्या पढ़ी है? मैं तो जल्दी ही संजय से विवाह करनेवाली हूँ। क्यों नहीं मैं इसे अभी संजय की बात बता देती? पर जाने कैसी विवशता है, जाने कैसा मोह है कि मैं मुँह नहीं खोल पाती। एकाएक मुझे लगता है जैसे उसने कुछ कहा।

“आपने कुछ कहा?”

“नहीं तो!”

मैं खिसिया जाती हूँ।

फिर वही मौन! खाने में मेरा जरा भी मन नहीं लग रहा है, पर यन्त्रचालित-सी मैं खा रही हूँ। शायद वह भी ऐसे ही खा रहा है। मुझे फिर लगता है कि उसके होंठ फड़क रहे हैं, और स्ट्रॉपकड़े हुए अंगुलियाँ काँप रही हैं। मैं जानती हूँ वह पूछना चाहता है, ‘दीपा, तुमने मुझे माफ़ तो कर दिया न?’

वह पूछ ही क्यों नहीं लेता? मान लो, यदि पूछ ही ले तो क्या मैं कह सकूँगी कि मैं तुम्हें जिन्दगी-भर माफ़ नहीं कर सकती, मैं तुमसे नकरत करती हूँ, मैं तुम्हारे साथ धूम-फिर ली, या कॉफी पी ली, तो वह मत समझो कि मैं तुम्हारे विश्वासघात की बात को भूल गयी हूँ?

और एकाएक ही पिछला सब-कुछ मेरी आँखों के आगे तैरने लगता है। पर यह

क्या ? असह्य अपमानजनित पीड़ा, कोध और कटुता क्यों नहीं याद आती ? मेरे सामने तो पटना में गुजारी सुहानी सन्ध्याओं और चाँदनी रातों के बे चित्र उभर आते हैं, जब घण्टों समीप बैठे, मौन भाव से एक-दूसरे को निहारा करते थे । विना स्पर्श किये भी जाने कैसी मादकता तन-मन को विभोर किये रहती थी, जाने कैसी तन्मयता में हम डूबे रहते थे...एक विचित्र-सी, स्वप्निल दुनिया में !...मैं कुछ बोलना भी चाहती तो वह मेरे मुँह पर आँगुली रखकर कहता, आत्मीयता के ये क्षण अनकहे ही रहने दो, दीप !

आज भी तो हम मौन हैं, एक-दूसरे के निकट ही हैं । क्या आज भी हम आत्मीयता के उन्हीं क्षणों में गुजर रहे हैं ? मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर चीख पड़ना चाहती हूँ, नहीं !...नहीं !...नहीं !...पर काँकी सिप करने के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कर पाती । मेरा यह विरोध हृदय की न जाने कीन-सी भ्रतल गहराइयों में डूब जाता है !

निशीथ मुझे बिल नहीं देने देता । एक विचित्र-सी भावना मेरे मन में उठती है कि छीना-झपटी में किसी तरह मेरा हाथ उसके हाथ से छू जाय ! मैं अभने स्पर्श से उसके मन के तारों को झनझना देना चाहती हूँ । पर वैसा अवसर नहीं आता । बिल वही देता है, मुझसे तो विरोध भी नहीं किया जाता ।

मन में प्रचण्ड तृक्फान ! पर फिर भी निर्विकार भाव से मैं टैक्सी में आकर बैठती हूँ...फिर वही मौन, वही दूरी । पर जाने क्या है कि मुझे लगता है कि निशीथ मेरे बहुत निकट आ गया है, बहुत ही निकट ! बार-बार मेरा मन करता है कि क्यों नहीं निशीथ मेरा हाथ पकड़ लेता, क्यों नहीं मेरे कन्धे पर हाथ रख देता ! मैं जरा भी दुरा नहीं मानूँगी, जरा भी नहीं ! पर वह कुछ भी नहीं करता ।

सोते समय रोज़ की तरह मैं आज भी संजय का ध्यान करते हुए ही सोना चाहती हूँ, पर निशीथ है कि बार-बार संजय की आकृति को हटाकर स्वयं आ खड़ा होता है...
○ ○

फलकता

अपनी मजबूरी पर खीझ-खीझ जाती हूँ । आज कितना अच्छा मौका था सारी वात वता देने का ! पर मैं जाने कहाँ भटकी थी कि कुछ भी नहीं वता पायी ।

शाम को मुझे निशीथ अपने साथ 'लेक' ले गया । पानी के किनारे हम घास पर बैठ गये । कुछ दूर पर काफ़ी भीड़-भाड़ और चहल-पहल थी, पर यह स्थान अपेक्षाकृत शान्त था । सामने लेक के पानी में छोटी-छोटी लहरें उठ रही हैं । चारों ओर से वातावरण का कुछ विचित्र-सा भाव मन पर पड़ रहा था ।

"अब तो तुम यहाँ आ जाओगी ?" मेरी ओर देखकर उसने कहा ।

"हाँ ।"

"तौकरी के बाद वया इरादा है ?"

मैंने देखा, उसकी आँखों में कुछ जानने की ग्रातुरता फैलती जा रही है, शायद कुछ वहने की भी । मझे यछ जानकर वह अपनी बान कहेगा ।

"कुछ नहीं !" जाने क्यों मैं यह कह गयी । कोई है जो मुझे कचोटे हाल रहा है । क्यों नहीं मैं वता देती फि तौकरी के बाद मैं संजय से विवाह करूँगी, मैं संजय से

प्रेम करती हूँ, वह भी मुझसे प्रेम करता है ! वह बहुत अच्छा है, बहुत ही ! वह मुझे तुम्हारी तरह धोखा नहीं देगा !

पर मैं कुछ भी तो नहीं कह पाती। अपनी इस वेवसी पर मेरी आँखें ढल दला आती हैं। मैं दूसरी ओर मुँह फेर लेती हूँ।

“तुम्हारे यहाँ आने से मैं बहुत खुश हूँ !”

मेरी साँस जहाँ-की-तहाँ रुक जाती है आगे के शब्द सुनने के लिए। पर शब्द नहीं आते। वड़ी कातर, करण और याचना-भरी दृष्टि से मैं उसे देखती हूँ, मानो कह रही होऊँ कि तुम कह क्यों नहीं देते निशीथ, कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो, तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो ! कह.दो, निशीथ, कह दो ! … यह सुनने के लिए मेरा मन अकुला रहा है, छटपटा रहा है ! मैं बुरा नहीं मानूँगी, ज़रा भी बुरा नहीं मानूँगी। मान ही कैसे सकती हूँ, निशीथ ? इतना सब हो जाने के बाद भी शायद मैं तुम्हें प्यार करती हूँ—शायद नहीं, सचमुच ही मैं तुम्हें प्यार करती हूँ !

मैं जानती हूँ—तुम कुछ नहीं कहोगे, सदा के ही मितभाषी जो हो। फिर भी कुछ सुनने की आतुरता लिये मैं तुम्हारी तरफ देखती रहती हूँ। पर तुम्हारी नजर तो लेक के पानी पर जमी हुई है… शान्त, मौन !

आत्मीयता के ये क्षण अनकहे भले ही रह जायें, पर अनवृक्षे नहीं रह सकते। तुम चाहे न कहो, पर मैं जानती हूँ, तुम आज भी मुझे प्यार करते हो, बहुत प्यार करते हो ! मेरे कलकत्ता आ जाने के बाद इस टूटे सम्बन्ध को फिर से जोड़ने की बात ही तुम इस समय सोच रहे हो। तुम आज भी मुझे अपना ही समझते हो, तुम जानते हो, आज भी दीपा तुम्हारी है ! … और मैं ?

लगता है, इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस मुझमें नहीं है। मुझे डर है कि जिस आधार पर मैं तुमसे नफरत करती थी, उसी आधार पर कहीं मुझे अपने से नफरत न करनी पड़े।

लगता है, रात आधी से भी अधिक ढल गयी है।

○ ○

कानपुर

मन में उत्कट अभिलापा होते हुए भी निशीथ की आवश्यक मीटिंग की बात सुनकर मैंने कह दिया था कि तुम स्टेशन मत आना। इरा आयी थी, पर गाड़ी पर विठाकर ही चली गयी, या कहूँ कि मैंने जवरदस्ती ही उसे भेज दिया। मैं जानती थी कि लाख मना करने पर भी निशीथ आयेगा, और विदा के उन अन्तिम क्षणों में भी उसके साथ अकेली ही रहना चाहती थी। मन में एक दबो-सी आशा थी कि चलते समय ही शायद वह कुछ कह दे !

गाड़ी चलने में जब दस मिनट रह गये तो देखा, वड़ी व्यग्रता से डिव्वों में झाँकता-झाँकता निशीथ आ रहा था… पागल ! उसे इतना तो समझना चाहिए कि उसकी प्रतीक्षा में मैं यहाँ वाहर ही खड़ी हूँ !

मैं दौड़कर उसके पास जाती हूँ, “आप क्यों आये ?” पर मुझे उसका आना वड़ा अच्छा लगता है। वह बहुत थका हुआ लग रहा है। शायद सारा दिन वहूत व्यस्त रहा और दौड़ता-दौड़ता मुझे सी-आँफ करने यहाँ आ पहुँचा। मन करता है कुछ ऐसा कहें, जिससे इसकी सारी थकान दूर हो जाय। पर क्या कहें ? हम डिव्वे के पास आ जाते हैं।

“जगह अच्छी मिल गयी ?” वह अन्दर झाँकते हुए पूछता है।

“हाँ !”

“पानी-वानी तो है ?”

“है !”

“विस्तर फैला लिया ?”

“मैं खीभ पड़ती हूँ। वह शायद समझ जाता है, सो चुप हो जाता है। हम दोनों एक क्षण को एक-दूसरे की ओर देखते हैं। मैं उसकी आँखों में विचित्र-सी छायाएँ देखती हूँ, मानो कुछ है, जो उसके मन में घुट रहा है, उसे मथ रहा है, पर वह कह नहीं पा रहा है। वह क्यों नहीं कह देता; क्यों नहीं अपने मन की इस घुटन को हलका कर लेता ?”

“आज भीड़ विशेष नहीं है,” चारों ओर नज़र ढालकर वह कहता है।

मैं भी एक बार चारों ओर देख लेती हूँ, पर नज़र मेरी बार-बार घड़ी पर ही जा रही है। जैसे-जैसे समय सरक रहा है, मेरा मन किसी गहरे अवसाद में डूब रहा है। मुझे कभी उस पर दया आती है तो कभी खीभ। गाड़ी चलने में केवल तीन मिनट रह गये हैं। एक बार फिर हमारी नज़रें मिलती हैं।

“उपर चढ़ जाओ, अब गाड़ी चलनेवाली है !”

बड़ी असहाय-सी नज़र से मैं उसे देखती हूँ, मानो कह रही होऊँ, ‘तुम्हें चढ़ा दो’… और फिर धीरे-धीरे चढ़ जाती हूँ। दरवाजे पर मैं खड़ी हूँ और वह नीचे प्लेट-फार्म पर।

“जाकर पहुँच की खबर देना। जैसे ही मुझे इधर कुछ निश्चित रूप से मालूम होगा, तुम्हें सूचना दूँगा।”

मैं कुछ बोलती नहीं, वस उसे देखती रहती हूँ…

सीटी… हरी झण्डी… किर सीटी। मेरी आँखें छलछला आती हैं।

गाड़ी एक हल्के-से झटके से साथ सरकने लगती है। वह गाड़ी के साथ क़दम आगे बढ़ाता है और मेरे हाथ पर धीरे-से अपना हाथ रख देता है। मेरा रोम-रोम सिहर उठता है। मन करता है चिल्ला पड़ूँ—मैं सब समझ गयी, निशीथ, सब समझ गयी ! जो कुछ तुम इन चार दिनों में नहीं कह पाये, वह तुम्हारे इस क्षणिक स्पर्श ने कह दिया ! विश्वास करो यदि तुम मेरे हो तो मैं भी तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, एकमात्र तुम्हारी ! … पर मैं कुछ कह नहीं पाती, वस, साथ चलते निशीथ को देखती-भर रहती हूँ। गाड़ी के गति पकड़ते ही वह हाथ को जरा-सा दवाकर ढोड़ देता है। मेरी छल-छलायी आँखें मुंद जाती हैं। मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है,

वाक़ी सब भूठ है, अपने को भूलने का, भरमाने का, छलने का असफल प्रयास है !

आँसू-भरी आँखों से मैं प्लेटफार्म को पीछे छूटता हुआ देखती हूँ। सारी आकृतियाँ धूंधली-सी दिखायी देती हैं। असंख्य हिलते हुए हाथों के बीच निशीथ के हाथ को, उस हाथ को, जिसने मेरा हाथ पकड़ा था, मैं ढूँढ़ने का असफल-सा प्रयास करती हूँ। गाड़ी प्लेटफार्म को पार कर जाती है, और दूर-दूर तक कलकत्ता की जगमगाती वत्तियाँ दिखायी देती हैं। धीरे-धीरे वे सब भी दूर होती जाती हैं; पीछे छूटती जाती हैं। मुझे लगता है, यह दैत्याकर ट्रेन मुझे मेरे अपने घर से कहीं दूर-दूर ले जा रही है—ग्रनदेखी, अनजानी राहों में गुमराह करने के लिए, भटकाने के लिए !

बीफिल मन से मैं अपने फैलाये हुए विस्तर पर लेटजाती हूँ। आँखें बन्द करते ही सबसे पहले मेरे सामने संजय का चित्र उभरता है...कानपुर जाकर मैं उसे क्या कहूँगी ! इतने दिनों तक उसे छलती आयी, अपने को छलती आयी, पर अब नहीं !...मैं उसे सारी बात समझा दूँगी। कहूँगी—संजय, जिस सम्बन्ध को टूटा हुआ जानकर मैं भूल चुकी थी, उसकी जड़ें हृदय की किन अतल गहराइयों में जमी हुई थीं, इसका अहसास कलकत्ता में निशीथ से मिलकर हुआ। याद आता है, तुम निशीथ को लेकर सदैव ही सन्दिग्ध रहते थे, परतव मैं तुम्हें ईर्ष्यालु समझती थी; आज स्वीकार करती हूँ कि कि तुमजीते, मैं हारी !

सच मानना संजय, दाईं साल से मैं स्वयं भ्रम में थी और तुम्हें भी भ्रम में डाल रखा था, पर आज भ्रम के, छलना के, सारे ही जाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं। मैं आज भी निशीथ को प्यार करती हूँ। और यह जानने के बाद, एक दिन भी तुम्हारे साथ और छल करने का दुस्साहस कैसे करूँ ! आज पहली बार मैंने अपने सम्बन्धों का विश्लेषण किया तो जैसे सब-कुछ स्पष्ट हो गया और जब मेरे सामने सब-कुछ स्पष्ट हो गया, तो तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगी, तुम्हारे सामने मैं चाहूँ तो भी भूठ नहीं बोल सकती ।

आज लग रहा है, तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो भी भावना है, वह प्यार की नहीं, केवल कृतज्ञता की है। तुमने मुझे उस समय सहारा दिया था, जब अपने पिता और निशीथ को खोकर मैं चूर-चूर हो चुकी थी। सारा संसार मुझे बीरान नज़र आने लगा था, उस समय तुमने अपने स्नेहिल स्पर्श से मुझे जिला दिया। मेरा मुरझाया-मरा मन हरा हो उठा, मैं कृतकृत्य ही उठी, और समझने लगी कि मैं तुमसे प्यार करती हूँ। पर प्यार की बेसुध घड़ियाँ, वे विभोरक्षण, तन्मयता के बे पल, जहाँ शब्द चुक जाते हैं, हमारे जीवन में कभी नहीं आये। तुम्हीं वताओ, आये कभी ? तुम्हारे असंख्य आँलिगनों और चुम्बनों के बीच भी, एक क्षण के लिए भी तो मैंने कभी तन-मन की सुध विसरा देनेवाली पुलक या मादकता का अनुभव नहीं किया ।

सोचती हूँ, निशीथ के चले जाने के बाद मेरे जीवन में एक विराट धून्यता आ गयी थी, एक खोखलापन आ गया था, तुमने उसकी पूर्ति की। तुम पूरक थे, मैं गलती से तुम्हें प्रियतम समझ वैठी ।

मुझे क्षमा कर दो संजय, और लौट जाओ ! तुम्हें मुझ-जैसी अनेक दीपाएँ मिल जायेंगी, जो सचमुच ही तुम्हें प्रियतम की तरह प्यार करेंगी। आज एक बात अच्छी तरह जान गयी हूँ कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है, बाद में किया हुआ प्रेम तो

अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास-मात्र होता है...

इसी तरह की असंख्य वातें मेरे दिमाश में आती हैं, जो मैं संजय से कहूँगी। कह सकूँगी यह सब ? लेकिन कहता तो होगा ही। उसके साथ अब एक दिन भी छल नहीं कर सकती। मन से किसी और की आराधना करके तन से उसकी होने का अभिनय करती रहूँ ? छी : !

नहीं जानती, यही सब सोचते-सोचते मुझे कब नींद आ गयी। लौटकर अपना कमरा खोलती हूँ, तो देखती हूँ, सब-कुछ ज्यों का त्यों है, सिर्फ़ फूलदान के रजनीगन्धा तुरभा गये हैं। कुछ फूल भरकर जमीन पर इधर-उधर भी बिखर गये हैं।

आगे बढ़ती हूँ तो जमीन पर पड़ा एक लिफाफा दिखायी देता है। संजय की लिखाई है, खोला तो छोटा-सा पत्र था :

‘दीपा,

तुमने तो कलकत्ता जाकर कोई सूचना नहीं दी। मैं आज आँफिस के काम से कटक जा रहा हूँ। पाँच-छः दिन में लौट आऊँगा। तब तक तुम आ ही जाओगी। जानने को उत्सुक हूँ कि कलकत्ता में क्या हुआ।

तुम्हारा—संजय ।

एक लम्बा निःश्वास निकल जाता है। लगता है, एक बड़ा बोझ हट गया। इस अवधि में तो मैं अपने को अच्छी तरह तैयार कर लूँगी।

नहा-धोकर सबसे पहले मैं निशीथ को पत्र लिखती हूँ। उसकी उपस्थिति में जो हिचक भेरे होंठ बन्द किये हुए थी, दूर रहकर वह अपने-आप ही टूट जाती है। मैं स्पष्ट शब्दों में लिख देती हूँ कि चाहे उसने कुछ नहीं कहा, फिर भी मैं सब-कुछ समझ गयी हूँ साथ ही यह भी लिख देती हूँ कि मैं उसकी उस हरकत से बहुत दुखी थी, बहुत नाराज भी, पर उसे देखते ही जैसे सारा क्रोध वह गया। इस अपनत्व में क्रोध भला टिक भी कैसे पाता ! लौटी हूँ, तब से न जाने कैसी रंगीनी और मादकता मेरी आँखों के आगे छायी है...

एक खूबसूरत-से लिफाफे में उसे बन्द करके मैं स्वयं पोस्ट करने जाती हूँ।

रात में सोती हूँ तो अनायास ही मेरी नज़र सूने फूलदान पर जाती है। मैं कर-वट बदलकर सो जाती हूँ।

○ ○

कानपुर

आज निशीथ को पत्र लिखे चौथा दिन है। मैं तो कल ही उसके पत्र की राह देख रही थी, पर आज की भी दोनों डाकें निकल गयीं। जाने कैसा सूना-सूना, अनमना-अनमना लगता रहा सारा दिन। किसी भी तो काम में जी नहीं लगता। क्यों नहीं लौटती डाक से ही उत्तर दे दिया उसने ? समझ नहीं आता कैसे समय गुजारें !

मैं बाहर बालकनी में जाकर खड़ी हो जाती हूँ। एकाएक खायाल आता है, पिछले ढाई सालों से क्रीराव इसी समय, यहीं खड़े होकर मैंने संजय की प्रतीक्षा की है। क्या आज भी मैं संजय की प्रतीक्षा कर रही हूँ ? या मैं निशीथ के पत्र की प्रतीक्षा कर रही

हूँ ? शायद किसी की नहीं, क्योंकि जानती हूँ कि दोनों में से कोई भी नहीं आयेगा । किर ?

निरुद्देश्य-सी मैं कमरे में लौट पड़ती हूँ । शाम का समय मुझसे घर में नहीं काटा जाता । रोज ही तो संजय के साथ घूमने निकल जाती थी । लगता है, यहीं वैठी रही तो दम ही घुट जायेगा । कमरा बन्द करके मैं अपने को घकेलती-सी सड़क पर ले आती हूँ...शाम का धूंधलका मन के दीभ को और भी बढ़ा देता है । कहाँ जाऊँ ? लगता है जैसे मेरी राहें भटक गयी हैं, मंजिल खो गयी है । मैं स्वयं नहीं जानती, आखिर मुझे जाना कहाँ है । किर भी निरुद्देश्य-सी चलती रहती हूँ । पर आखिर कब तक यों भटकती रहूँ ! हारकर लौट पड़ती हूँ ।

कमरे पर आते ही मेहता साहब की बच्ची तार का एक लिफाफ़ा देती है ।

घड़कते दिल से मैं उसे खोलती हूँ । इरा का तार था :

'नियुक्ति हो गयी है । वधाई !'

इतनी बड़ी खुशखबरी पाकर भी जाने क्या है कि मैं खुश नहीं हो पाती । यह खबर तो निशीथ भेजनेवाला था । एकाएक ही एक विचार मन में आता है, क्या जो-कुछ मैं सोच गयी, वह निरा अम ही था, मात्र मेरी कल्पना, मेरा अनुमान ! नहीं-नहीं ! उस स्पर्श को मैं अम कैसे मान लूँ, जिसने मेरे तन-मन को डुबो दिया था ? जिसके द्वारा उसके हृदय की एक-एक परत मेरे सामने खुल गयी थी ? ...लेक पर विताये उन मधुर क्षणों को कैसे भ्रम मान लूँ, जहाँ उसका मौन ही मुखरित होकर सब-कुछ कह गया था ? आत्मीयता के बे अनकहे क्षण ! तो फिर उसने पत्र क्यों नहीं लिखा ? क्या कल उसका पत्र आयेगा ? क्या आज भी उसे वही हिचक रोके हुए है ?

तभी सामने की बड़ी टन-टन करके तौ बजाती है । मैं उसे देखती हूँ । यह संजय की लायी हुई है...लगता है, जैसे यह बड़ी घंटे सुना-सुनाकर मुझे संजय की याद दिला रही है । फरफराते ये हरे परदे, यह बुक-रैक, यह टेबल, यह फूलदान, सभी तो संजय के लाये हुए हैं । मेज पर रखा यह पेन उसने मुझे सालगिरह पर लाकर दिया था ।

अपनी चेतना के इन विखरे सूत्रों को समेटकर मैं फिर पढ़ने का प्रयास करती हूँ, पर पढ़ नहीं पाती । हारकर मैं पलंग पर लेट जाती हूँ ।

सामने के फूलदान का सूनापन मेरे मन के सूनेपन को और अधिक बढ़ा देता है । मैं कसकर आँखें मूँद लेती हूँ...एक बार फिर मेरी आँखों के आगे लेक का स्वच्छ, नीला जल उभर आता है, जिसमें छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं । उस जल की ओर देखते हुए निशीथ की आकृति उभरकर आती है । वह लाख जल की ओर देखे, पर चेहरे पर अंकित उसके मन की हलचल को मैं आज भी, इतनी दूर रहकर भी महसूस करती हूँ । कुछ न कह पाने की मजबूरी, उसकी विवशता, उसकी घुटन आज भी मेरे सामने साकार हो उठती है । धीरे-धीरे लेक के पानी का विस्तार सिमटता जाता है, और एक छोटी-सी राइटिंग टेबल में बदल जाता है, और मैं देखती हूँ कि एक हाथ में पेन लिये और दूसरे हाथ की श्रृंगुलियों को बालों में उलझाये निशीथ बैठा है...वही मजबूरी, वही विवशता, वही घुटन लिये...वह चाहता है, पर जैसे लिख नहीं पाता । वह कोशिश करता है, पर

उसका हाथ वस काँपकर रह जाता है...ओह ! लगता है, उसकी घुटन मेरा दम धोंटकर रख देगी—मैं एकाएक ही आँखें खोल देती हूँ। वही फूलदान, वही परदे, वही मेज़, वही घड़ी...!

० ०

कानपुर

आखिर आज निशीथ का पत्र आ गया। घड़कते दिल से मैंने उसे खोला। इतना छोटा-सा पत्र !

‘प्रिय दीपा,

तुम्हें अपनी नियुक्ति का तार तो मिल ही गया होगा। मैंने कल ही इराजी को फोन करके सूचना दे दी थी, और उन्होंने बताया था कि वह तार दे देंगी। आँकिस की ओर से भी सूचना मिल जायेगी।

इस सफलता के लिए मेरी ओर से हार्दिक बधाई स्वीकार करना। सच मैं बहुत खुश हूँ कि तुम्हें वह काम मिल गया ! मेहनत सफल हो गयी।

शेष किर।

शुभेच्छा,
निशीथ।’

वस ? धीरे-धीरे पत्र के सारे शब्द आँखों के आगे लुप्त हो जाते हैं, रह जाता है केवल ‘शेष किर’ !

तो अभी उसके पास ‘कुछ’ लिखने को शेष है ! वयों नहीं लिख दिया उसने अभी ? क्या लिखेगा वह ?...

“दीप !”

मैं मुड़कर दरवाजे की ओर देखती हूँ। रजनीगन्धा के ढेर-सारे फूल लिये मुस-कराता-सा संजय खड़ा है। एक क्षण मैं संजाशून्य-सी उसे इस तरह देखती हूँ, मानो पहचानने की कोशिश कर रही होऊँ। वह आगे बढ़ता है, तो मेरी खोयी चेतना लौटती है, और विक्षिप्त-सी दौड़कर मैं उससे लिपट जाती हूँ।

“क्या हो गया तुम्हें ? पागल हो गयी हो क्या ?”

“तुम कहाँ चले गये थे, संजय ?” और मेरा स्वर टूट जाता है। अनायास ही आँखों से आँसू वह चलते हैं।

“क्या हो गया ? कलकत्ता का काम नहीं मिला क्या ?...मारो भी गोली काम को ! तुम इतनी परेशान क्यों हो रही हो उसके लिए !”

पर मुझसे कुछ नहीं बोला जाता। वस, मेरी वाँहों की जकड़ कसती जाती है, कसती जाती है। रजनीगन्धा की महक धीरे-धीरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के आधरों का स्पर्श महसूस करती हूँ, और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, अम था...“

और हम दोनों एक-दूसरे के आलिगन में बैंधे रहते हैं—चुम्बित, प्रति-चुम्बित !

दूध और दवा

वात वहुत छोटी-सी है, नाजुक और लचीली, पर मोक्षा पाते ही सिर तान लेती है। कोई काम शुरू करने, सोने या पल-भर को आराम से पहले लगता है, कुछ देर इस प्यारी वात के साथ रहना कितना अच्छा है! वैसे मुझे काम करना, करते रहना और करते-करते उसी में खो जाना प्रिय है। इसी की वात भी मैं लोगों से करता हूँ और दूसरों से यही चाहता भी हूँ, पर यह सब तभी होता है, जब मेरे चारों ओर लोग होते हैं। ऐसा नहीं कि लोगों में मेरे बीबी-वच्चे शामिल नहीं हैं। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है, जैसे मैं किसी भीड़ में खड़ा हूँ और असह्य धनिया मेरे कानों के परदे को छेदने लगती हैं। मैं भागकर अपने कमरे में घुस जाना चाहता हूँ, पर उसकी बड़ी-बड़ी, आँसुओं में डूबी हुई आँखें... मैं क्या करूँ इनका? देखते हो, अब मुन्नी भी दूध के लिए जिद करती है!... ऐसा नहीं कि वात मेरे मन में गहरे तक नहीं उतरती, मैं तो मुन्नी को स्कूल जाने के लिए एक छोटी मोटर खरीदना चाहता हूँ। हल्के, गुलाबी रंग के फाक में लड़खड़ाती, दीड़ती मुन्नी को देखते की मेरी कौसी विचित्र लालसा है, जो कभी पूरी होती ही नहीं दिखायी देती!

सुवह-सुवह विस्तरे से उठते ही वह जोर-जोर से चीखने लगती है, जब उसकी माँड़े से सूजी आँखें और भी सूजी होती हैं। कई बार मन में डॉक्टर की वात उठती है, डर लगता है, कहों मुन्नी की माँ की पतली, लम्बी, किश्ती-सी आँखों का पुराना छेद फिर न खुल जाये और सवेरे-सवेरे डूबने-उतरने की ममन्तिक पीड़ा में मुझे लिखना-पढ़ना छोड़-कर सड़क का चक्कार काटना पड़े! मैं चुपचाप एक निश्चय करके कमरे में चला जाता हूँ... पहले डॉक्टर का इन्तज़ाम करके ही उससे चर्चा करूँगा। पर फिर वही नहीं-सी वात!... तुम्हें खोजने लगता हूँ, तुम, जो इस कड़ी जमीन की चुभन से पलभर को उठाकर मुझे एक सुनहले, फिलमिलाते लोक में खींच ले जाती हो... तुम्हारे सीने के बीच, मुलायम, उजले देह-भाग में मुँह डालकर पलभर को सांस लेना कितना अच्छा लगता है मुझे! शायद तुम्हें याद होगा... वात मकड़ी के जाले की तरह तनने लगती है, लेकिन घंटों और घंटों आँखें बन्द रखने पर भी शिकार कोई नहीं फँसता और मैं बीवियों और मजदूरों के बारे में सोचने लगता हूँ... आखिर इन दोनों को हरदम शिकायतें क्यों रहती हैं? क्यों इन दोनों के सीने में खारे पानी का इतना विशाल समुद्र फफाया रहता है मृत्यु की आखिरी कराह की तरह इस समुद्र की लहरें चीड़ती हैं, पर किसी खोखले आँखी की तरह मिथ्या बनकर विखर जाती हैं। मैं इन विनाशकारी लहरों को दुनिया को नि-

जाते देखने के लिए व्याकुल हो उठता हूँ, पर हल्की-सी मुसक्कराहट या वह भी नहीं तो बस मुलायम कलाइयों की पकड़ और उस समय कुछ भी और न सुनने की वात... जाने भी दो ! ... कमर के नीचे नंगी, खुली... मैं इस असामयिक मृत्यु से बचना चाहता हूँ, पर कोई चारा नहीं ! मुन्नी की माँ के जीने का यही सहारा है और मेरे पास उन मृत्यु की घाटियों के मूनेपन को दूर करने का यही उपाय । वह विश्वास नहीं करती, पर मैं सच कहता हूँ कि मुझे इतना बहुत अच्छा लगता है ! इसलिए मैं समझ नहीं पाता कि स्त्रियाँ और मजदूर मालिकों को क्यों आँखे हुए हैं, महज इतनी-सी वात के लिए, या मुन्नी की आँखों के माँड़े की दवा या उसके दूध के लिए !

...ये प्रश्न उसके साथ नहीं उठते, क्यों आखिर ? क्या उसे बच्चे नहीं हो सकते या वे दूध पीनेवाले बच्चे नहीं होंगे ? धीरे-धीरे यह 'क्यों' धूंधलाता है; पानी, सिर्फ़ एक बूँद; स्याही, जाने कैसी फैलकर एक भील, भूरी आँखों की तरह, वह भी सतही, उथली ... अछूता कच्चा, नुकीला फूल, आसमान में उड़नेवाली लरजती पतंग की लम्बी पूँछ... किसी बैंगले के फटे, पुराने परदे... मुल्क में बदआमनी और भूख... वे मित्र जिन्हें नौकरी के लिए पत्र लिखे हैं, जो चाहें तो मैं भी उन्हीं की तरह का लगा, वेएतवार और ऊंचे दरजे का नौकरी देनेवाला मुलाजिम... लेकिन वह नौकरी से चिढ़ती है—तुम नौकरी करोगे ? फिर तो मोटर, बैंगले और सुख की श्रेष्ठ कोटियाँ हैं । मेरे लिए जगह कहाँ होगी ? मैं गरीब वाप की बेटी हूँ ।—अजीब वात है, तुम भूख में जी सकती हो, लेकिन वह तो कहती है कि उसके सीने में एक भयंकर ज्वालामुखी दवा पढ़ा है, जो कभी भी नहीं भड़केगा, मुन्नी की माँ यह भी जानती है । पर क्यों नहीं भड़केगा, क्यों उसके लावा से मेरा धर-आँगन नहीं पट जायेगा ? इसलिए न कि मैं लिखूँगा और लिखने से पैसे मिलेंगे और पैसे उसे ठंडा करते रहेंगे । वह यही तो कहती है कि पैसा दिल को ठंडा और शरीर को गरम रखने की अद्भुत दवा है—गरीब दुनिया का सबसे अच्छा इत्सान है, गरीब लड़की की मुहब्बत दुनिया की सबसे पवित्र निधि ! —कभी-कभी वह स्कूल-टीचर की तरह बोलती है ! आखिर यह सब और है ही क्या ?

मुन्नी जब जन्मी थी, तो उसके लिए मैंने एक भूला खरीदा था, बहुत-सारे कपड़े बने थे और उसे दूध में ग्लूकोज और बाहद दी जाती थी... केंच सीखेगी मेरी बेटी, मैं चाहता हूँ, वह पेन्टर बने... सिर्फ़ तीस रुपये तो लगते हैं उसके दूध के । तीस में ऐसा क्या रखा है ? ... साल ही भर बाद रुकू आया तो कितना उत्साह था ! ... कोई वात नहीं, दोनों के लिए एक गाड़ी होगी, दोनों काँवेंट जाएँगे... लेकिन यह क्या फ़िज़ूल की बातें हैं, देशोर-द्वार की । मैं भटके से उठ बैठता हूँ और लिखने की कापी के भसीदे कई बार उलट-पुलटकर देखने लगता हूँ । कई अच्छी चीजें लिखे विना पड़ी रह गयी हैं । पर इसी समय उन्हें उठाया तो नहीं जा सकता । मामूली स्तर पर वात बनाने से मुझे चिढ़ है, लेकिन सहसा मुझे मकड़ी के नन्हे तार की स्मृति किर हो आती है और मैं विस्तर छोड़कर उठ खड़ा होता हूँ, कहीं जाला फिर न तनने लगे ! मुन्नी की माँ ऐसे ही समय आ जाती है, "कहीं बाहर जा रहे हों क्या ?" एक तेज़ भजक दिमाग में बज उठती है, पर मैं उस पर तुरन्त हाथ रख देता हूँ । कोई कड़वी चीज़ निगलता हूँ, "हाँ, कोई काम है क्या ?"

“नहीं तो, ऐसे ही पूछ लिया। अभी तो वूप बहुत तेज़ है, कुछ रुककर जाते !”

और वह कह ही क्या सकती है ? यकी भी तो है, वेहद। रुकू ने सारी दोपहरी परेशान किया है। चौका-चरतन, सामान की संभाल-सहेज, कपड़ों की सफाई; अभी तो उसे पिलाकर सुलाया है। ब्लाउज़ के बटन खुले ही हैं।

“मुन्नी भी सो रही है क्या ?”

“नहीं, सब जग रहे हैं।” वह उगती हुई हँसी को दवाती है, चेहरे पर खून की पतली-सी छलक होती है और फिर क्षण ही भर में सूखकर धीरे-धीरे गाढ़ी होने लगती है। वह दरवाजा छोड़कर कमरे में आती है, “आज मुन्नी की आँखों में बहुत दर्द है। चेहरा सुख्ख हो गया है। अभी-अभी तो सिर में तेल डालकर बहुत देर तक सहलाती रही हूँ, तब जाकर सोयी है।”

वह चारपाई पर बैठ जाती है। मैं पास आकर कहता हूँ, “ब्लाउज़ के बटन तो ठीक कर लो, तुम्हें अब ठीक ढंग से बाँड़ी पहनना चाहिए।”

वह बटन बन्द करते-करते बोलने लगती है, “अब इसके सुख की कल्पना मेरे पास नहीं है, न ही तुम्हारे मन में है और अगर है, तो नहीं होनी चाहिए।” उसका बदन गर्म होने लगता है……“मेरे सीने में एक बन्द ज्वालामुखी है, जो कभी नहीं भड़केगा, यह मैं जानती हूँ”……ऐसी ही वातचीत के धरातल पर वह ज्वालामुखी तक पहुँचती है। और मुझे ऐसी ही मन्त्र-सी वातचीत से डर लगता है। मैं ईंधन नहीं डालता और वह उठ खड़ी होती है। कहीं जैसे कोई दर्द रेंग गया हो। मैं चाहता हूँ, जाते-जाते उससे कुछ कहकर जाऊँ, पर ऐसे समय कुछ कहने का मतलब है, कुछ सुनने की सम्भावना।

शायद जिस तरह उसे मालूम है कि मैं कहाँ जाता हूँ, उसी तरह मुझे भी मालूम है कि मैं कहाँ नहीं जा रहा हूँ, पर जा रहा हूँ, यह ठीक है।

मेरे घर के सामने एक चौड़ा नाला है और उसके परे कँटीली भाड़ी का एक बड़ा-सा गुम्बद। मैंने कभी इसमें एक खरगोश के जोड़े को घुसते देखा था। वैसे मैं पल-भर की पिछली बात को भूल जाता हूँ, पर उसे आज भी नहीं भूला। घर से निकलता हूँ, तो पल-भर रुककर उधर ज़र्हर देख लेता हूँ। स्कूल से लड़कियों को ढोनेवाली गाड़ियाँ बोलती हैं, तीर की तरह सड़क को चीरती हुई कोई चिड़िया उड़ जाती है, पर वह खर-गोश का जोड़ा ! ……मुन्नी अब तक उठकर मुझे ज़र्हर ढूँढ़ गयी होगी और फिर अपने कमरे में जाकर लौटी होगी। मेरी मेज़ की गर्द-भरी सतह पर अपने हाथ की थाप बनाने के लिए या तो कुर्सी पर चढ़ गयी होगी या लुढ़ककर गिरी होगी तो उसकी माँ कुर्सी को दो चपत मारकर उसे चूप करने के बाद समझा रही होगी कि आखिर उसे इसे मेज़ पर रोज़ अपने हाथों के निशान छोड़ने से मिलता क्या है !

“पापा छे कैछे कहूँगी कि मैं तुम्हें खोजती थी ?” वह रोज़ कहती है और मैं रोज़ भुड़ला देता हूँ। लेकिन वह मानती नहीं, मेरी आँगुली पकड़कर मेज़ के पास तक खींच ले जाती है। मेरी आँखों में धूँधलके की एक परत छा जाती है।

उसकी माँ कहती है, “खिड़की कितनी ही बन्द रखो, गद आकर ही मानती है।” और मैं……देखता हूँ कि मुन्नी की हयेली की थाप बढ़ती ही जा रही है। कभी-कभी इन

यापों की रेखाओं में मनुष्यता का पूरा भविष्य पढ़ा गया है, और कभी आग की वेतरतीव लहरें किसी अनहोने-से वस्तु-सत्य के बीरान आँधेरे से दौड़-दौड़कर मेरे सीने से सट्टी चली आती हैं...चौकड़ी भरते हिरनों की लम्बी कतारें और पीछे लोलुप, अन्धा दुप्पन्त...।

मैं खुद अपने आगे खड़ा हूँ, मान्यताओं की सलीब पर टैंगा हुआ, लहलुहान ! ... पत्थर का एक बहुत बड़ा ढेर है और लोग आँखें मूँदकर पत्थर मारते हैं...लोग फूल चढ़ा रहे हैं मान्यताओं पर...आदमी को बार-बार की नोची-छिछड़ी को दाँतों से नोच-नोच-कर फेंक रहे हैं...लोग नंगी श्रीरत के कोमल शरीर को खुरदरे जूट के रस्सों से जकड़-कर बाँध रहे हैं...सिर्फ़ एक लाचारी का आरोप...आदमी नहीं, टूटा हुआ, पुराना खण्डहर...आखिर क्यों ? फिर मैं शिकायतों के बारे में सोचता हूँ, पर वीवियों और मज़दूरों की नहीं, अपनी ही...तुम रुककर कुछ पूछ नहीं सकती थीं, तुम्हें इतना भी खयाल नहीं कि मैं इतनी तेज़ धूप में कितनी दूर चलकर आया हूँ । तुम्हें पता है, हम कितने दिन पर एक-दूसरे को देख रहे हैं । यायद तुम इसीलिए नहीं रुक सकी कि तुम्हारे साथ तुम्हारी सखी थी और उस पर तुम यह जाहिर होने देना नहीं चाहती थी कि तुम मुझे जानती हो ! ...गोल-गोल चक्कर खाकर हवा ऊपर को उड़ गयी है और सड़क के किनारे खड़े मौलसरी के पेड़ की तमाम सूखी पत्तियों के पर लग गये हैं । इनके साथ उस कोने की धूल भी है, जहाँ पार्क में बच्चों के खेलने ने घास को उड़ा दिया है और इस लम्बे युक्लिप्ट्स की छरहरी शाखें अब भी थरथरा रही हैं ।

मैं धीरे-धीरे चल रहा हूँ । चारों ओर झलिस्तान है । सड़क के नीचे, और ऊपर की हवा तक में बाँतों के टूटे-फूटे अस्थिरंजर उभर आये हैं । मैं सिर्फ़ चुभन, टीस और प्रतारणा को चुन-चुनकर अपने तरकश में भरता जाता हूँ । एक विकलांग, विक्षिप्त योद्धा की तरह मैं पसीने और गर्दे से लयपथ हो रहा हूँ । हवा एकदम चुपचाप खड़ी है, मौलसरी की पत्तियाँ दम साथे हैं, युक्लिप्ट्स की लम्बी शाखें भर गयी हैं और बच्चों के पार्क की बेघास की उजली जमीन घिसी हुई, निर्जीव हड्डी की तरह चमक रही है । मैं चाहता हूँ, हवा किर गोल-गोल चक्कर खाकर ऊपर उठे और किर वही सालभर पुराना सब-कुछ आज घट जाये, मौलसरी की पत्तियों, युक्लिप्ट्स की डालों, पार्क की जमीन और मेरे साथ...।

मैं थककर टूक-टूक हो रहा हूँ । पलभर कहीं दैठना चाहता हूँ और कुछ देर सब बाहर का ही देखना चाहता हूँ, जैसे कोई मकान का दरबाजा लगाकर बरामदे में आ जाये । लेकिन अब बहुत देर हो गयी है, लीटने में काफ़ी समय लगेगा...लगता है, वह घर से निकल नहीं पायी...क्यों नहीं निकल पायी ? उसे निकलना चाहिए था । उसे लोहे की जूतियाँ पहनकर काटों को कुचलते हुए आना चाहिए था, लेकिन वह कहती है, “मैं खून से लयपथ होना चाहती हूँ, मैं उन सारे दागों को अपने शरीर पर मुखर रखना चाहती हूँ, मैं सारे घावों की मवाद और गन्दगी को लोगों को दिवाना चाहती हूँ ! देखो, सत्य यह है, तुम्हारी सच्चाइयों वी तरावीर यह है ! तुमने घर को इसलिए स्वर्ग बना रखा है कि तुम्हारी दीवी तुम्हारी कमाई ढाती है और एक खरीदे हुए दास जे भी ददतर टैग

से तुम्हारी सेवा करती है। तुम्हें अगर यह पता लग जाये कि वह तुम्हें नहीं किसी और को चाहती है, तो तुम हवा में नज़र आते हो, क्योंकि तुम्हें अपने से ज्यादा अपने पैसों पर भरोसा है। यही एक पुरानी टकीरी है तुम्हारे पास !” “एक नन्हा-सा आँक्सीजन बैलून हवा में उड़ता चला जाता है, उसमें तुम बैठी हो... गरदन दर्द करने लगती है देखते-देखते, लेकिन तुम किसी मायाविनी की तरह पीछे से हँसती हुई गोद में बैठ जाती हो, “मुझे प्यार करो, मेरे जाने का समय हो गया, मैं चाहती हूँ, इसकी याद वनी रह जाय !” पर मुन्नी का बैलून तो मेरे कमरे की निचली ही छत में अटका रह जाता है। वह पैर पटकने लगती है, “पापा ! उतारों इछे ! देखो यह छत चला लही है मेला गुब्बाला, तुम्हीं ने छिखाया है !”

“मैं कैसे पहुँचूँ इतनी ऊँचाई तक ?”

“अच्छा, मुझे कन्धे पल उठाओ !”

“फिर भी तो नहीं पहुँचोगी ।”

“कुल्छी पल खले हो जाओ !”

उसकी माँ विगड़ती हुई आती है, “यह क्या तमाशा है ! अभी तो आँख ही नयी है, अब हाथ-पांव भी तोड़कर बैठोगी ?”

मैं चुपचाप खड़ा हूँ और वह मुन्नी के उत्तरने का इन्तजार करती है। लेकिन यह तो आँक्सीजन ही निकल गयी गुब्बारे से ! “मुन्नी !... मुन्नी !”

“अब उसे जाने भी दो ! और हाँ, कल रात कुछ लिख रहे थे, वे कागज कहाँ चाये ?”

“...मुन्नी की दवा और दूध... चुपके से मन में कुछ कांपता है—मैं ऐसी ही नन्ही-नन्ही वातों को लेकर परेशान होता हूँ।

००

उसका स्वर कानों में बज उठता है, “आखिर इसमें क्या ऐसा रखा है, जो तुम्हें विचलित कर देता है ? मैं रुकी नहीं, कुछ कहा नहीं, तो क्या आसमान फट पड़ा ? मैं पूछती हूँ कि मुन्नी के दूध और दवाइयों का क्या हुआ ? तुम कुछ लिखकर मुझे देनेवाले थे न ?”

और इतने ही समय में यह कुछ धीमी-सी हो गयी है। मैं चुप जो रह गया।

“क्या सोच रहे हो ? मैंने तो समझा कोई कहानी लिख रहे थे। आज किसी को देकर कुछ रूपये लाते तो अच्छा था। कल दो रूपये का सामान मँगाया था, आज भर और चलेगा ।”

इस नन्हे-से अवसर से संभल गया हूँ, इसलिए बात बनने में देर नहीं लगती, “वह तो पश्चथा ! तुम्हें गोदावरी ने लिखा था न कि कितावें भिजवा दो, वही प्रकाशक को लिखा कि उसे भेज दें !... अरे रुको, देखो, दह क्या है ?”

“कहाँ ?”

“रुको तो ! अरे, यह तो बही तिल है !” अँगुलियाँ काँप जाती हैं। चेहरे पर चुनचुनाहट की तरह कुछ बहुत नन्हा-नन्हा उग आता है, एक अजीब-सी खुशी की

एक और जिन्दगी

“...और उस एक क्षण के लिए प्रकाश के हृदय की धड़कन जैसे रुकी रही। कितना विचित्र था वह क्षण—आकाश से टूटकर गिरे हुए नक्षत्र-जैसा! कोहरे के वक्ष में एक लकीर-सी खींचकर वह क्षण सहसा व्यतीत हो गया।

कोहरे में से गुजरकर जाती हुई आकृतियों को उसने एक बार फिर ध्यान से देखा। क्या यह सम्भव था कि व्यक्ति की आँखें इस हृदय तक उसे धोखा दें? तो जो कुछ वह देख रहा था, वह यथार्थ ही नहीं था?

कुछ ही क्षण पहले जब वह कमरे से निकलकर बालकनी पर आया था, तो क्या उसने कल्पना में भी यह सीधा था कि आकाश के ओर-छोर तक फैले हुए कोहरे में, गहरे पानी की निचली सतह पर तैरती हुई मछलियों जैसी जो आकृतियाँ नजर आ रही हैं, उनमें कहीं वे दो आकृतियाँ भी होंगी? मन्दिरवाली सड़क से आते हुए दो कुहरीले रंगों पर जब उसकी नजर पड़ी थी, तब भी क्या उसके मन में कहीं ऐसा अनुमान जागा था? फिर भी न जाने क्यों उसे लग रहा था जैसे वहृत समय से, बल्कि कई दिनों से, वह उनके वहाँ से गुज़रने की प्रतीक्षा कर रहा हो, जैसे कि उन्हें देखने के लिए ही वह कमरे से निकलकर बालकनी पर आया हो और उन्हीं को ढूँढ़ती हुई उसकी आँखें मन्दिरवाली सड़क की तरफ मुड़ी हों। यहाँ तक कि उस धानी आँचल और नीली नेकर के रंग भी जैसे उसके पहचाने हुए हों और कोहरे के विस्तार में वह उन दो रंगों को ही खोज रहा हो। वैसे उन आकृतियों के बालकनी के नीचे पहुँचने तक उसने उन्हें पहचाना नहीं था। परन्तु एक क्षण में सहसा वे आकृतियाँ इस तरह उसके सामने स्पष्ट हो उठी थीं जैसे जड़ता के क्षण में अबचेतन की गहराई में ढूवा हुआ कोई विचार एकाएक चेतना की सतह पर कोंव गया हो।

नीली नेकरवाली आकृति धूमकर पीछे की तरफ देख रही थी। क्या उसे भी कोहरे में किसी की खोज थी? और किसकी? प्रकाश का मन हुआ कि उसे आवाज दे दे, मगर उसके गले से शब्द नहीं निकले। कोहरे का समुद्र अपनी गम्भीरता में खामोश था मगर उसे उसकी अपनी खामोशी एक ऐसे तूफान की तरह थी जो हवा न मिलने से अपने अन्दर ही धुमड़कर रह गया हो। नहीं तो क्या वह इतना ही असमर्य था कि उसके गले से एक शब्द भी न निकल सके?

वह बालकनी से हटकर र कमरे में आ गया। वहाँ आते ही अपने अस्त-व्यस्त सामान पर नजर पड़ी, तो शरीर में निराशा की एक सिहरन दौड़ गयी। क्या यही वह

जिन्दगी थी जिसके लिए उसने...? परन्तु उसे लगा कि उसके पास कुछ भी सोचने के लिए समय नहीं है। उसने जल्दी-जल्दी कुछ चीजों को उठाया और रख दिया जैसे कि कोई चीज ढूँढ़ रहा हो जो उसे मिल न रही हो। अचानक खँटी पर लटकती हुई पतलून पर नज़र पड़ी, तो उसने पाज़ामा उतारकर जल्दी से उसे पहन लिया। फिर पलभर सोया-सा खड़ा रहा। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या चाहता है। क्या वह उन दोनों के पीछे जाना चाहता था? या बालकनी पर खड़ा होकर पहले की तरह उन्हें देखते रहना ही चाहता था?

अचानक उसका हाथ मेज पर रखे हुए ताले पर पड़ गया, तो उसने उसे उठा लिया। जल्दी से दरवाजा बन्द करके वह जीने से उतरने लगा। जीने पर आकर पता चला कि जूता नहीं पहना। वह पलभर के लिए ठिककर खड़ा रहा मगर लौटकर नहीं गया। नीचे सड़क पर पहुँचते ही पाँव की चड़ में लथपथ हो गये। दूर देखा—वे दोनों आकृतियाँ घोड़ों के अड्डे के पास पहुँच चुकी थीं। वह जल्दी-जल्दी चलने लगा। पास से गुज़रते हुए एक घोड़ेवाले से उसने कहा कि वह आगे जाकर नीली नेकरवाले वच्चे को रोक ले—उससे कहे कि कोई उससे मिलने के लिए पीछे आ रहा है। घोड़ेवाला घोड़ा दौड़ाता हुआ गया मगर उन दोनों के पास न रुककर उनसे आगे निकल गया। वहाँ जाकर उसने न जाने किसे उसका सन्देश दे दिया।

जल्दी-जल्दी चलते हुए भी प्रकाश को लग रहा था जैसे वह बहुत आहिस्ता चल रहा हो, जैसे उसके घुटने जकड़ गये हों और रास्ता बहुत-बहुत लम्बा हो गया हो। उसका मन इस आशंका से बेचैन था कि उसके पास पहुँचने तक वे लोग घोड़ों पर सवार होकर वहाँ से चल न दें और जिस दूरी को वह नापना चाहता था, वह ज्यों की त्यों न बनी रहे। मगर ज्यों-ज्यों फ़ासला कम हो रहा था, उसका कम होना भी उसे अखबर रहा था। क्या वह जान-बूझकर अपने को एक ऐसी स्थिति की ओर नहीं ले जा रहा था जिससे उसे अपने को बचाना चाहिए था?

उन लोगों ने घोड़े नहीं लिये थे। जब वह उनसे तीन-चार गज दूर रह गया, तो सहसा उसके कदम रुक गये। तो क्या सचमुच अब उसे उस स्थिति का सामना करना ही था?

“पाशी !” इससे पहले कि वह निश्चय कर पाता, अनायास उसके मुँह से निकल गया।

वच्चे की बड़ी-बड़ी आँखें अचानक उसकी तरफ़ धूम गयीं—साथ ही उसकी माँ की आँखें भी। कोहरे में अचानक कई-कई विज़िनियाँ कींव गयीं। प्रकाश दो-एक कदम और आगे बढ़ गया। वच्चा विस्मित आँखों से उसकी तरफ़ देखता हुआ अपनी माँ के साथ सट गया।

“पलाश, इबर आ मेरे पास !” प्रकाश ने हाथ से चुटकी बजाते हुए कहा, जैसे कि यह हर रोज़ की एक साधारण घटना हो और वच्चा अभी कुछ मिनट पहले ही उसके पास ने अपनी माँ के पास गया हो।

वच्चे ने माँ वी तरफ़ देखा। वह अपनी आँखें हटाकर दूसरी तरफ़ देख रही

यी। वच्चा और भी उसके साथ सट गया और उसकी आँखें विस्मय के साथ-साथ एक शरारत से चमक उठीं।

प्रकाश को वहाँ खड़े-खड़े उलझन हो रही थी। उसे लग रहा था कि खुद चलकर उस दूरी को नापने के सिवाय उसके पास कोई चारा नहीं है। वह लम्बे-लम्बे डग भरकर बच्चे के पास पहुँचा और उसे उसने वाँहों से उठा लिया। बच्चे ने एक बार किलकारकर उसके हाथों से छूटने की चेष्टा की, परन्तु दूसरे ही क्षण अपनी छोटी-छोटी वाँहें उसके गले में डालकर वह उससे लिपट गया। प्रकाश उसे लिये हुए थोड़ा एक तरफ़ दो हट आया।

“तूने पापा को पहचाना नहीं था क्या ?”

“पैताना था,” वच्चा वाँहें उसके गले में डालकर भूलने लगा।

“तो तू झट से पापा के पास आया क्यों नहीं ?”

“नहीं आया,” कहकर बच्चे ने उसे चूम लिया।

“तू आज ही यहाँ आया है ?”

“नहीं, तल आया ता।”

“रहेगा या आज ही लौट जायेगा ?”

“अबी तीन-चाल दिन लहौदा।”

“तो पापा के पास मिलने आयेगा न ?”

“आऊँदा !”

प्रकाश ने एक बार उसे अच्छी तरह अपने साथ सटाकर चूम लिया, तो बच्चा चिल्लाकर उसके माथे, आँखों और गालों को जगह-जगह चूमने लगा।

“कंसा वच्चा है !” पास खड़े एक कश्मीरी मज़दूर ने सिर हिलाते हुए कहा।

“तुम तहाँ लहते हो ?” वच्चा वाँहें उसकी गरदन में डाले हुए जैसे उसे अच्छी तरह देखने के लिए थोड़ा पीछे को हट गया।

“वहाँ !” प्रकाश ने दूर अपने कमरे की बालकनी की तरफ़ इशारा किया, “तू कव तक वहाँ आयेणा ?”

“अबी ऊपल जाकल दूद पिऊँदा, उछके बाद तुमाले पाछ आऊँदा।” बच्चे ने एक बार अपनी माँ की तरफ़ देखा और उसकी वाँहों से निकलने के लिए मचलने लगा।

“मैं वहाँ बालकनी में कुर्सी डालकर बैठा रहूँगा और तेरा इत्तजार करूँगा,” वच्चा वाँहों से उत्तरकर अपनी माँ की तरफ़ भाग गया, तो प्रकाश ने पीछे से कहा। क्षण-भर के लिए उसकी आँखें बच्चे की माँ से मिल गयीं, परन्तु दूसरे ही क्षण दोनों हूँसरी-दूसरी तरफ़ देखने लगे। वच्चा जाकर माँ की टाँगों से लिपट गया, तो वह कोहरे के पार देवदारों की धुंधली रेखाओं को देखती हुई उससे बोली, “तुझे दूध पीकर आज खिलनमर्य नहीं चलना है क्या ?”

“नहीं,” बच्चे ने उसकी टाँगों के सहारे उछलते हुए सपाठ जवाब दिया, “मैं दूद पीतल पापा ते पाछ जाऊँदा।”

तीन दिन तीन रातों से आकाश विरा हुआ था। कोहरा धीरे-धीरे इतना

घना हो गया था कि वालकनी से आगे कोई रूप, कोई रंग नज़र नहीं आता था—आकाश की पारदर्शिता पर जैसे गाढ़ा सफेदा पोत दिया गया था। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, कोहरा और घना होता जा रहा था। कुरसी पर बैठे हुए किसी-किसी क्षण महसूस होने लगता था जैसे वह वालकनी पहाड़ियों से धिरे हुए खुले विस्तार में न होकर अन्तरिक्ष के किसी रहस्यमय प्रदेश में बनी हो—नीचे और ऊपर केवल आकाश ही आकाश हो, जिसके अंत में वालकनी की सत्ता एक अपने-आप में पूर्ण और स्वतन्त्र लोक की तरह हो”

उसकी आँखें इस तरह एकटक सामने की तरफ देख रही थीं—जैसे आकाश में और कोहरे में उसे कोई अर्थ ढूँढ़ना हो—अपनी वालकनी के बहाँ होने के रहस्य को जानता हो।

हवा से कोहरे के बादल कई-कई रूप लेकर इधर से उधर भटक रहे थे—अपनी गहराई में फैलते और सिमटते हुए वे अपनी थाह नहीं पा रहे थे। बीच में कहीं-कहीं देवदारों की फुनगियाँ एक हरी लकीर की तरह निकली हुई थीं—कोहरे के आकाश पर लिखी गयी एक अस्त-व्यस्त लिपि-जैसी। देखते-देखते वह लकीर भी गुम हो जाती थी—कोहरे का हाथ उसे रहने देना नहीं चाहता था। लकीर को मिटाए देखकर स्नायुओं में एक तनाव-सा आ रहा था—जैसे किसी भी तरह वह उस लकीर को मिटाने से बचा लेना चाहता हो। परन्तु जब एक बार लकीर मिटकर बाहर नहीं निकली, तो उसने सिर पीछे को डाल लिया और दुब भी कोहरे में कोहरा होकर पड़ रहा...

० ०

श्रीत के कोहरे में कहीं वह एक दिन भी था जो चार वरस बीत जाने पर भी आज तक बीत नहीं सका था...

वच्चे की पहली वर्षगाँठ थी उस दिन—वही उनके जीवन की सबसे बड़ी गाँठ बन गयी थी...

विवाह के कुछ महीने बाद से ही पति-पत्नी अलग-अलग रहने लगे थे। विवाह के साथ जो सूत जुड़ना चाहिए था, वह जुड़ नहीं सका था। दोनों अलग-अलग जगह काम करते थे और अपना-अपना स्वतन्त्र ताना-वाना बुनकर जी रहे थे। लोकाचार के नाते साल-छः महीने में कभी एक बार मिल लिया करते थे। वह लोकाचार ही इस वच्चे की संसार में ले आया था...

बीना समझती थी कि इस तरह जान-बूझकर उसे फैसा दिया गया है। प्रकाश सोचता था कि अनजाने में ही उससे एक अंपराध ही गया है। परन्तु जन्म के पांचवें या छठे रोज़ वच्चे की हालत सहसा बहुत खराब हो गयी, तो वह अपने कमरे में अकेला बैठा हवा में वच्चे के आकार को देखता हुआ कहता रहा था, “देख, तुझे जीना है। तू इस तरह नहीं जा सकता। सुन रहा है? तुझे जीना है। हर हालत में जीना है। मैं तुझे जाने नहीं दूँगा। समझा?”

साल-भर में वच्चा माँ के पास ही रह रहा था। बीच में वच्चे की दादी छः-सात महीने उसके पास रह आयी थी।

पहली वर्षगांठ पर बीना ने लिखा था कि वह वच्चे को लेकर अपने पिता के यहाँ लखनऊ जा रही है। वहीं पर वच्चे के जन्मदिन की पार्टी करेगी।

प्रकाश ने उसे तार दिया था कि वह भी उस दिन लखनऊ आयेगा। अपने एक मित्र के यहाँ हज़रतगंज में ठहरेगा। अच्छा होगा कि पार्टी वहाँ पर की जाये। लखनऊ के कुछ मित्रों को भी उसने सूचित कर दिया था कि उसके वच्चे की वर्षगांठ के अवसर पर वे उसके साथ चाय पीने के लिए आयें।

उसने सोचा था कि बीना उसे स्टेशन पर मिल जायेगी, परन्तु वह नहीं मिली। हज़रतगंज पहुँचकर नहांधो चुकने के बाद उसने बीना के पास सन्देश भेजा कि वह वहाँ पहुँच गया है, कुछ लोग साढ़े चार-पाँच बजे चाय पर आयेंगे, इसलिए वह उस समय तक वच्चे को लेकर अवश्य वहाँ पहुँच जाये। परन्तु पाँच बजे, छः बजे, सात बज गये, बीना वच्चे को लेकर नहीं प्राप्ती। दूसरी बार सन्देश भेजने पर पता चला कि वहाँ उन लोगों की पार्टी चल रही है। बीना ने कहला भेजा कि वच्चा आठ बजे तक खाली नहीं होगा, इसलिए वह उस समय उसे लेकर नहीं आ सकती। प्रकाश ने अपने मित्रों को चाय पिलाकर विदा कर दिया। वच्चे के लिए खरीदे हुए उपहार बीना के पिता के यहाँ भेज दिये। साथ में यह सन्देश भी भेजा कि वच्चा जब भी खाली हो, उसे थोड़ी देर के लिए उसके पास भेज दिया जाये।

परन्तु आठ के बाद नी बजे, दस बजे, बारह बज गये पर बीना न तो वच्चे को लेकर ही आयी और न ही उसने उसे किसी और के साथ भेजा।

प्रकाश रातभर सोया नहीं। उसके दिमाग को जैसे कोई छैनी से छीलता रहा।

सुबह उसने किर बीना के पास सन्देश भेजा। इस बार बीना वच्चे को लेकर आ गयी। उसने बताया कि रात को पार्टी देर तक चलती रही, इसलिए उसका आना सम्भव नहीं था—ग्रगर वास्तव में उसे वच्चे से प्यार था, तो उसका कर्तव्य था कि वह अपने उपहार लेकर खुद उनके यहाँ पार्टी में आ जाता…

उस दिन सुबह से आरम्भ हुई बात आधी रात तक चलती रही। प्रकाश बार-बार कहता रहा, “बीना, मैं इस वच्चे का पिता हूँ। पिता होने के नाते मुझे यह अधिकार तो है ही कि मैं वच्चे को अपने पास बुला सकूँ।”

परन्तु बीना का उत्तर था, “आपके पास पिता का दिल होता, तो क्या आप पार्टी में न आते? आप मुझसे पूछें, तो मैं तो कहूँगी कि यह एक आकस्मिक घटना ही है कि आप इसके पिता हैं।”

“बीना!“ वह फटी-फटी आँखों से उसके चेहरे की तरफ देखता रह गया, “तुम बताओ, तुम चाहती क्या हो?”

“कुछ भी नहीं। मैं आपसे क्या चाहूँगी?”

“तुमने सोचा है कि इस वच्चे के भविष्य का क्या होगा?”

“जब हम अपने ही भविष्य के बारे में नहीं सोच सकते, तो इसके भविष्य के बारे में क्या सोचेंगे?”

“क्या तुम यह पसन्द करोगी कि वच्चे को मुझे सौंप दो और खुद स्वतन्त्र

हो जाओ ?”

“बच्चे को आपको सौंप दूँ ?” वीना के स्वर में वितृष्णा गहरी हो गयी, “इतनी मूर्ख में नहीं हूँ ।”

“तो क्या तुम यहीं चाहती हो कि इसका निर्णय करने के लिए अदालत में जाया जाय ?”

“आप अदालत में जाना चाहें, तो मुझे उसमें भी ऐतराज नहीं है । जल्हरत होने पर मैं सुप्रीम कोर्ट तक लड़ूँगी । आपका बच्चे पर कोई अधिकार नहीं है ।”

‘बच्चे को पिता से ज्यादा माँ की जल्हरत होती है,’ कई दिन…कई सप्ताह वह मन-ही-मन संघर्ष करता रहा—‘जहाँ उसे दोनों न मिल सकते हों, वहाँ उसे माँ तो मिलनी चाहिए ही । अच्छा है तुम बच्चे की बात भूल जाओ और नये सिरे से अपनी जिन्दगी बनाने की कोशिश करो ।’

‘यगर…’

‘फिजूल की हुजूत में कुछ नहीं रखा है । बच्चे-बच्चे तो होते ही रहते हैं । तुम सम्बन्ध विच्छेद करके फिर से ध्याह कर लो, तो घर में बच्चे ही बच्चे हो जायेंगे । समझ लेना कि इस एक बच्चे के साथ कोई दुर्घटना हो गयी थी…’

सोचने-सोचने में दिन, सप्ताह और महीने निकलते गये । क्या सचमुच इन्सान पहले की जिन्दगी को मिटाकर नये सिरे से जिन्दगी आरम्भ कर सकता है ? क्या सचमुच जिन्दगी के कुछ वर्षों की एक दुःस्वप्न की तरह भूलने का प्रयत्न किया जा सकता है ? वहूत-से इन्सान हैं जिनकी जिन्दगी कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी दोराहे से गलत दिशा की ओर भटक जाती है । क्या यहीं उचित नहीं कि इन्सान उस रास्ते को बदलकर अपनी गलती सुधार ले ? आखिर इन्सान को जीने के लिए एक ही जीवन तो मिलता है—वही प्रयोग के लिए और वही जीने के लिए । तो क्यों इन्सान एक प्रयोग की असफलता को जीवन की असफलता मान ले ?

○ ○

कोर्ट में कागज पर हस्ताक्षर करते समय छत के पंखे से टकराकर एक चिड़िया का बच्चा नीचे आ गिरा ।

“हाय-हाय, चिड़िया मर गयी !” किसी ने कहा ।

“मरी नहीं, अभी जिन्दा है,” कोई और बोला ।

“चिड़िया नहीं है, चिड़िया का बच्चा है,” किसी तीसरे ने कहा ।

“नहीं, चिड़िया है !”

“नहीं, चिड़िया का बच्चा है !”

“इसे उठाकर बाहर हवा में छोड़ दो ।”

“नहीं, यहीं पड़ा रहने दो । बाहर इसे कोई विल्ली खा जायेगी ।”

“यह पर्याप्त आया किस तरह ?”

“जाने किस तरह ? रोशनदान के रास्ते आ गया होगा ।”

“बैचारा कैसे तड़प रहा है !”

“शुक्र है पंचे ने इसे काट ही नहीं दिया।”

“काट दिया होता, तो वल्कि अच्छा था। अब इस तरह वेचारा क्या जियेगा?”

तब तक पति-पत्नी दोनों ने कागज पर हस्ताक्षर कर दिये थे। वच्चा उस समझ कोट के अहाते में कीवों के पीछे भागता हुआ किलकारियाँ मार रहा था। वहाँ धूल उड़ रही थी और चारों तरफ मटियाली-सी धूप फैली थी…

○ ○

फिर वही दिन, सप्ताह और महीने…!

अद्वाई साल गुजर जाने पर भी प्रकाश फिर से जिन्दगी आरम्भ करने का निश्चय नहीं कर पाया था। उस अरसे में वच्चा तीन दार उसके मिलने के लिए आया था। वह नीकर के साथ आता था और दिन-भर रहकर अँधेरा होने पर लौट जाता था। पहली बार वह उससे शरमाता रहा था, मगर बाद में उसके हिल-मिल गया था। प्रकाश वच्चे को लेकर धूमने जाता था, उसे आइसक्रीम खिलाता था, खिलाने ले देता था। वच्चा जाने के समय हठ करता था, “अबी नहीं जाऊँदा। दूद पीतल जाऊँदा। थाना यातल जाऊँदा।”

जब वच्चा इस तरह की बात कहता था, तो उसके अन्दर सहसा कोई चीज़ सुलग उठती थी। उसका मन होता था कि, नीकर को किड़कर बापस भेज दे और वच्चे को हमेशा-हमेशा के लिए अपने पास रख ले। जब नीकर वच्चे से कहता था, “वावा, चलो, अब देर हो रही है,” तो प्रकाश का शरीर एक हताश आवेश से काँपने लगता और बहुत कठिनता से वह अपने को संभाल पाता। आखिरी बार वच्चा रात के नी बजे तक रुका रह गया, तो एक अपरिचित व्यक्ति उसे लेने के लिए चला आया था।

वच्चा उस समय उसकी गोदी में बैठा खाना खा रहा था।

“देखिए, अब वच्चे को भेज दीजिए, इसे बहुत देर हो गयी है।” अजनबी ने आकर कहा।

“आप देख रहे हैं वच्चा खाना खा रहा है,” उसका मन हुआ कि मुक्का भारकर उस आदमी के दांत तोड़ दे।

“हाँ, हाँ आप खाना खिला दीजिए,” अजनबी ने उदारता के साथ कहा, “मैं नीचे इन्तजार कर रहा हूँ।”

गुस्से के मारे प्रकाश के हाथ इस तरह काँपने लगे कि उसके लिए वच्चे के खाना खिलाना असम्भव हो गया।

जब नीकर वच्चे को लेकर चला गया, तो उसने देखा कि वच्चे की टोपी वही पर रह गयी है। वह टोपी लिये हुए भागकर नीचे पहुँचा, तो देखा कि नीकर और अजनबी के श्रावावा वच्चे के साथ कोई और भी है—उसकी माँ। वे लोग चालीस-पचास गज आगे पहुँच गये थे। उसने नीकर को आवाज़ दी, तो चारों ने मुड़कर एक साथ उसकी तरफ पहुँच गये थे। उसने नीकर को आवाज़ दी, तो चारों ने मुड़कर एक साथ उसके चलते रहे।

उस रात वह एक दोस्त की छाती पर सिर रखकर देर तक रोता रहा।

नये सिरे से फिर वही सवाल मन में उठने लगा। क्यों वह अपने को इस अतीत से पूरी तरह मुक्त नहीं कर लेता? यदि वसा हुआ घर-बार हो, तो अपने आस-पास

हो जाओ ?”

“वच्चे को आपको सौंप दूँ ?” वीना के स्वर में वित्तणा गहरी हो गयी, “इतनी मूर्ख में नहीं हूँ ।”

“तो क्या तुम यही चाहती हो कि इसका निर्णय करने के लिए अदालत में जाया जाय ?”

“आप अदालत में जाना चाहें, तो मुझे उसमें भी एतराज़ नहीं है। ज़रूरत होने पर मैं सुप्रीम कोर्ट तक लड़ूँगी। आपका वच्चे पर कोई अधिकार नहीं है।”

‘वच्चे को पिता से ज्यादा माँ की ज़रूरत होती है,’ कई दिन... कई सप्ताह वह मन-ही-मन संघर्ष करता रहा—‘जहाँ उसे दोनों न मिल सकते हों, वहाँ उसे माँ तो मिलनी चाहिए ही। अच्छा है तुम वच्चे की बात भूल जाओ और नये सिरे से अपनी जिन्दगी बनाने की कोशिश करो।’

‘भगव...’

‘फिजूल की हुज्जत में कुछ नहीं रखा है। वच्चे-अच्चे तो होते ही रहते हैं। तुम सम्बन्ध विच्छेद करके फिर से व्याह कर लो, तो घर में वच्चे ही वच्चे हो जायेंगे। समझ लेना कि इस एक वच्चे के साथ कोई दुर्घटना हो गयी थी...’

सोचने-सोचने में दिन, सप्ताह और महीने निकलते गये। क्या सचमुच इन्सान पहले की जिन्दगी को मिटाकर नये सिरे से जिन्दगी आरम्भ कर सकता है? क्या सचमुच जिन्दगी के कुछ वर्षों को एक दुःस्वप्न की तरह भूलने का प्रयत्न किया जा सकता है? वहुत-से इन्सान हैं जिनकी जिन्दगी कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी दोराहे से गलत दिशा की ओर भटक जाती है। क्या यही उचित नहीं कि इन्सान उस रास्ते को बदलकर अपनी गलती सुधार ले? आखिर इन्सान को जीने के लिए एक ही जीवन तो मिलता है—वही प्रयोग के लिए और वही जीने के लिए। तो क्यों इन्सान एक प्रयोग की असफलता को जीवन की असफलता मान ले?

○ ○

कोर्ट में कागज पर हस्ताक्षर करते समय छत के पंखे से टकराकर एक चिड़िया का वच्चा नीचे आ गिरा।

“हाय-हाय, चिड़िया मर गयी !” किसी ने कहा।

“मरी नहीं, अभी जिन्दा है,” कोई और बोला।

“चिड़िया नहीं है, चिड़िया का वच्चा है,” किसी तीसरे ने कहा।
“नहीं, चिड़िया है !”

“नहीं, चिड़िया का वच्चा है !”

“इसे उठाकर बाहर रखने में ढोड़ दो।”

“नहीं, यहीं पड़ा रहने दो। बाहर इसे कोई बिल्ली द्वा जायेगी।”

“यह यहाँ आया किस तरह ?”

“जाने किस तरह ? रोशनदान के रास्ते आ गया होगा।”

“वेचारा कैसे तड़प रहा है !”

“शुक्र है पंखे ने इसे काट ही नहीं दिया ।”

“काट दिया होता, तो वल्कि अच्छा था । अब इस तरह बेचारा क्या जियेगा ?”

तब तक पति-पत्नी दोनों ने कागज पर हस्ताक्षर कर दिये थे । बच्चा उस समय कोई के अहते में कीवों के पीछे भागता हुआ किलकारियाँ मार रहा था । वहाँ धूल उड़ रही थी और चारों तरफ मटियाली-सी धूप फैली थी…

○ ○

फिर वहाँ दिन, सप्ताह और महीने…!

अद्वाइ साल गुजार जाने पर भी प्रकाश फिर से जिन्दगी आरम्भ करने का निश्चय नहीं कर पाया था । उस अरतों में बच्चा तीन दार उससे मिलने के लिए आया था । वह नौकर के साथ आता था और दिन-भर रहकर अंधेरा होने पर लौट जाता था । पहली बार वह उससे शरमाता रहा था, मगर बाद में उसने हिल-मिल गया था । प्रकाश बच्चे को लेकर धूमने जाता था, उसे आइसकीम खिलाता था, खिलाने ले देता था । बच्चा जाने के समय हठ करता था, “अबी नड़ीं जाऊँदा । दूद पीतल जाऊँदा । थाना यातल जाऊँदा ।”

जब बच्चा इस तरह की बात कहता था, तो उसके अन्दर सहसा कोई चीज़ सुलग उठती थी । उसका मन होता था कि, नौकर को फिड़कर वापस भेज दे और बच्चे को हमेशा-हमेशा के लिए अपने पास रख ले । जब नौकर बच्चे से कहता था, “वावा, चलो, अब देर हो रही है,” तो प्रकाश का शरीर एक हताश अविश से कांपने लगता और बहुत कठिनता से वह अपने को संभाल पाता । आखिरी बार बच्चा रात के नी घजे तक रुका रह गया, तो एक अपरिचित व्यक्ति उसे लेने के लिए चला आया था ।

बच्चा उस समय उसकी गोदी में बैठा खाना खा रहा था ।

“देखिए, अब बच्चे को भेज दीजिए, इसे बहुत देर हो गयी है ।” अजनबी ने आकर कहा ।

“आप देख रहे हैं बच्चा खाना खा रहा है,” उसका मन हुआ कि मुक्का मारकर उस आदमी के दाँत तोड़ दे ।

“हाँ, हाँ आप खाना खिला दीजिए,” अजनबी ने उदारता के साथ कहा, “मैं नीचे इन्तजार कर रहा हूँ ।”

गुस्से के मारे प्रकाश के हाथ इस तरह काँपने लगे कि उसके लिए बच्चे को खाना खिलाना असम्भव हो गया ।

जब नौकर बच्चे को लेकर चला गया, तो उसने देखा कि बच्चे की टोपी वहीं पर रह गयी है । वह टोपी लिये हुए भागकर नीचे पहुँचा, तो देखा कि नौकर और अजनबी के श्लावा बच्चे के साथ कोई और भी है—उसकी माँ । वे लोग चालीस-पचास गज आगे पहुँच गये थे । उसने नौकर को आवाज़ दी, तो चारों ने मुड़कर एक साथ उसकी तरफ देखा । नौकर टोपी लेने के लिए लौट आया और शैय तीनों आगे चलते रहे ।

उस रात वह एक दोत्त की छाती पर सिर रखकर देर तक रोता रहा ।

नये सिरे से फिर वही सवाल मन में उठने लगा । क्यों वह अपने को इस अतीत से पूरी तरह मुक्त नहीं कर लेता ? यदि वसा हुआ घर-बार हो, तो अपने आस-पास

वच्चों की चहल-पहल में वह इस दुःख को भूल नहीं जायेगा ? उसने अपने को वच्चे से इसीलिए तो अतग किया था कि अपने जीवन को एक नया मोड़ दे सके —फिर वह इस तरह अकेली जिन्दगी की यन्त्रणा किसीलिए सह रहा था ?

परन्तु नये सिरे से जीवन आरम्भ करने की कल्पना में सदा एक आशंका मिली रहती थी । वह उस आशंका से जितना ही लड़ता था, वह उतनी ही और प्रवल हो उठती थी । जब एक प्रयोग सफल नहीं हुआ, तो यह कैसे कहा जा सकता था कि दूसरा प्रयोग सफल होगा ही ?

वह पहले की भूल को दोहराना नहीं चाहता था, इसलिए उसकी आशंका ने उसे बहुत सतर्क कर दिया था । वह जिस किसी लड़की को अपनी भावी पत्नी के रूप में देखता, उसी के चेहरे में उसे अपने पहले जीवन की छाया नज़र आने लगती । हालाँकि वह स्पष्ट रूप से इस विषय में कुछ भी सोच नहीं पाता था, फिर भी उसे लगता था कि वह एक ऐसी ही लड़की के साथ जीवन विता सकता है, जो हर दृष्टि से बीना के विपरीत हो । बीना में वहुत अर्ह था, वह उसके बराबर पढ़ी-लिखी थी, उससे ज्यादा कमाती थी । उसे अपनी स्वतन्त्रता का बहुत मान था और वह समझती थी कि किसी भी परिस्थिति का वह अकेली रहकर मुकाबला कर सकती है । शारीरिक दृष्टि से भी बीना काफ़ी लम्बी-ऊँची थी । और उस पर भारी पड़ती थी । बातचीत भी खुले मरदाना ढंग से करती थी, वह अब एक ऐसी लड़की चाहता था जो हर तरह से उस पर निर्भर करे, जिसकी कमज़ोरियाँ एक पुरुष के आश्रय की अपेक्षा रखती हों ।

और कुछ ऐसी ही लड़की थी निर्मला — उसके एक धनिष्ठ मित्र कृष्ण जुनेजा की वहन । उसने दो-एक बार उस लड़की को देखा था । बहुत सीधी-सादी मासूम-सी लड़की थी । बात करते हुए उसकी आँखें नीचे को झुक जाती थीं । साधारण पढ़ी-लिखी थी और बहुत साधारण ढंग से ही रहती थी । उसे देखकर अनायास मन में सहानुभूति उमड़ आती थी । छव्वीस-सत्ताईस दरस की होकर भी देखने में वह अठारह-उन्नीस से ज्यादा की नहीं लगती थी । वह जुनेजा के घर की कठिनाइयों को जानता था । उन कठिनाइयों के कारण ही शायद इतनी उम्र तक उस लड़की का विवाह नहीं हो सका था । उसके साथ निर्मला के विवाह की बात चलायी गयी, तो उसके मन के किसी कोने में सोया हुआ पुलक सहसा जाग उठा । उसे सचमुच लगा जैसे उसका खोया हुआ जीवन उसे बापस मिल रहा हो; जैसे अन्दर की एक टूटी हुई कल्पना फिर से आकार ग्रहण कर रही हो । हृवा और आकाश में उसे एक और ही आकर्षण लगने लगा, रास्ते में विकती हुई फूलों की वेनियाँ पहले से कहीं सुगन्धित प्रतीत होने लगीं । निर्मला व्याह कर उसके घर में आयी भी नहीं थी कि वह शाम को लौटते हुए उसके लिए वेनियाँ खरीदकर घर लाने लगा । अपना पहले का घर उसे छोटा लगने लगा, इसलिए उसने एक बड़ा घर ले लिया और उसे सजाने के लिए नया-नया सामान खरीद लाया । पास में ज्यादा पैसे नहीं थे इसलिए कर्ज ले-लेकर भी उसने निर्मला के लिए न जाने क्या कुछ बनवा डाला……

निर्मला हँसती हुई उसके घर में आयी—और हँसती ही रही……

पहले तो कुछ दिन वह नहीं समझ सका कि वह हँसी क्या है । निर्मला जब

कभी विना वात के हँसना शुरू कर देती और देर तक हँसती रहती, वह ग्रवाक् होकर उसे देखता रहता। तीन-तीन चार-चार साल के बच्चे भी उस तरह आकस्मिक ढंग से नहीं हँस सकते जैसे वह हँसती थी। कोई व्यक्ति उसके सामने गिर जाता या कोई चीज़ किसी के हाथ से गिरकर टूट जाती तो उसके लिए अपनी हँसी रोकना असम्भव हो जाता। लगातार दस-दस मिनट तक वह हँसी से बेहाल हो रहती। वह उसे समझने की चेष्टा करता कि ऐसी वातों पर नहीं हँसा जाता, तो निर्मला को और भी हँसी छूटती। वह उसे डॉट देता, तो वह उसी तरह आकस्मिक ढंग से विस्तर पर लेटकर हाथ-पैर पटकती हुई रोने लगती, चिल्ला-चिल्लाकर अपनी मरी हुई माँ को पुकारने लगती और अन्त में बाल विखेरकर और देवी का रूप धारण करके घर-भर को शाप देने लगती। कभी अपने कपड़े फाड़कर इधर-उधर छिपा देती और गहने जूतों के अन्दर सँभाल देती। कभी अपनी बाँह पर फोड़े की कल्पना करके वह दो-दो दिन उसके दर्द से कराहती रहती और फिर सहसा स्वस्थ होकर कपड़े धोने लगती और सुबह से शाम तक कपड़े ही धोती रहती।

जब मन शान्त होता, तो मुँह गोल किये वह ग्रॅंथूठा चूसने लगती।

उठते-बैठते, खाते-पीते प्रकाश के सामने निर्मला के तरह-तरह के रूप आते रहते और उसका मन एक अध्ये कुएँ में गिरने लगता। रास्ते पर चलते हुए उसके चारों तरफ एक शून्य-सा घिर आता और वह कई बार भौंचवका-सा सड़क के किनारे खड़ा होकर सोचते लगता कि वह घर से क्यों आया है और कहाँ जा रहा है? उसका किसी से भी मिलने और कहीं भी आने-जाने को मन न होता। उसका मन जिस शून्य में भटकता रहता, उसमें कई बार उसे एक बच्चे की किलकारियाँ सुनायी देने लगतीं और वह विलकून जड़ होकर देर-देर तक एक ही जगह पर खड़ा या बैठा रहता। एक बार चलते-चलते खम्भे से टकराकर वह ताली में गिर गया। एक बार बस पर चढ़ने की कोशिश में नीचे गिर जाने से उसके कपड़े पीछे से फट गये और वह इससे बेखबर दूसरी बस में चढ़कर आगे चल दिया। उसे पता तब चला जब किसी ने रास्ते में उससे कहा, “जेंटलमैन, तुम्हें क्या घर जाकर कपड़े बदल नहीं लेने चाहिएँ?”

उसे लगता था जैसे वह जी न रहा हो, सिर्फ़ अन्दर-ही-अन्दर घृट रहा हो। क्या यही वह जिन्दगी थी जिसे पाने के लिए उसने वर्षों तक अपने से संघर्ष किया था?

उसे ब्रोध आता कि जुनेजा ने उसके साथ इस तरह का विश्वासघात क्यों किया? उस लड़की को किसी मानसिक चिकित्सालय में भेजने की जगह उसा। व्याह क्यों कर दिया? उसने जुनेजा को इस सम्बन्ध में पत्र लिखे, परन्तु उसकी ओर से उसे कोई उत्तर नहीं मिला। उसने जुनेजा को बुला भेजा, तो वह आया भी नहीं। वह स्वयं जुनेजा से मिलने के लिए गया, तो उसे जवाब मिला कि निर्मला अब उसकी पत्नी है—निर्मला के मायके के लोगों का उस मामले में अब कोई दखल नहीं है।

ओर निर्मला घर में उसी तरह हँसती और रोती रही...!

“तुम मेरे भाई से क्या पूछने के लिए गये थे?” वह बाल विखेरकर ‘देवी’ का रूप धारण किये हुए कहती, “तुम बीना की तरह मुझे भी तलाक देना चाहते हो?

किसी तीसरी को घर में लाना चाहते हो ? मगर मैं वीना नहीं हूँ ! वह सती नारी नहीं थी । मैं सती नारी हूँ । तुम मुझे छोड़ने की बात भी मन में लाशोगे, तो मैं इस घर को जलाकर भस्म कर दूँगी—सारे शहर में भूचाल ले आऊँगी । लाऊँ भूचाल ?” और वहाँ फैलाकर वह कहने लगी, “आ, भूचाल, आ…आ ! मैं सती नारी हूँ, तो इस घर की ईंट से ईंट बजा दे । आ, आ, आ !”

वह उसे शान्त करने की चेष्टा करता, तो वह कहती, “तुम मुझसे दूर रहो । मेरे गरीर को हाथ मत लगाओ । मैं सती हूँ । देवी हूँ । साध्वी हूँ । तुम मेरा सतीत्व नष्ट करना चाहते हो ? मुझे खराब करना चाहते हो ? मेरा तुमसे व्याह कब हुआ है ? मैं तो अभी तक कुँवारी हूँ । छोटी-सी मासूम बच्ची हूँ । संसार का कोई भी पुरुष मुझे नहीं ढूँसकता । मैं आध्यात्मिक जीवन जीती हूँ । मुझे कोई छूकर देखे तो सही…!”

और बाल विखेरे हुए इसी तरह बोलती हुई कभी वह घर की छत पर पहुँच जाती और कभी बाहर निकलकर घर के आस-पास चक्कर काटने लगती । प्रकाश ने दो-एक बार होठों पर हाथ रखकर उसका मुँह बन्द कर देना चाहा, तो वह और भी जोर से चिल्ला उठी, “तुम मेरा मुँह बन्द करना चाहते हो ? मेरा गला धोटना चाहते हो ? मुझे मारना चाहते हो ? तुम्हें पता है मैं साक्षात् देवी हूँ ? मेरे चारों भाई मेरे चार शेर हैं ! वे तुम्हें नौंच-नौंचकर खा जायेंगे । उन्हें पता है—उनकी वहन देवी का स्वरूप है । कोई मेरा बुग चाहेगा, तो वे उसे उठाकर ले जायेंगे और काल-कोठरी में बन्द कर देंगे । मेरे बड़े भाई ने श्रमी-श्रमी नयी कार ली है । मैं उसे चिट्ठी लिख दूँ, तो वह अभी कार लेकर आ जायेगा और हाथ-पैर वाँधकर तुम्हें कार में डालकर ले जायेगा । छः महीने बन्द रखेगा, फिर छोड़ेगा । तुम्हें पता नहीं वे चारों-के-चारों शेर कितने जालिम हैं ? वे राक्षस हैं राक्षस । आदमी की बोटी-योटी काट दें और किसी को पता भी न छले । मगर मैं उन्हें नहीं बुलाऊँगी । मैं सती नारी हूँ, इसलिए अपने सत्य से ही अपनी रक्षा करूँगी…!”

सब प्रथलों से हारकर प्रकाश थका हुआ अपने पढ़ने के कमरे में बन्द होकर पड़ जाता, तो श्राद्धी रात तक वह साथ के कमरे में उसी तरह बोलती रहती । किर बोलते-बोलते अचानक चूप कर जाती और थोड़ी देर बाद उसका दरवाजा लटकटाने लगती ।

“क्या बात है ?” वह कहता ।

“इस कमरे में मेरी साँस रक रही है,” निर्मला उत्तर देती, “दरवाजा खोलो, मुझे अस्पताल जाना है ।”

“इस समय सो जाओ,” वह कहता, “सुबह तुम जहाँ कहोगी, वहाँ ले चलूँगा ।”

“मैं कहती हूँ दरवाजा खोलो, मुझे अस्पताल जाना है ।” और वह जोर-जोर से घदके देकर दरवाजा तोड़ने लगती ।

प्रकाश दरवाजा खोल देता, तो वह हँसती हुई उसके सामने आ जाती ।

“तुम्हें हँसी किस बात की आ रही है ?” प्रकाश कहता ।

“तुम्हें लगता है मैं हँस रही हूँ ?” वह और भी जोर से हँसने लगती, “यह हँसी नहीं रोना है रोना !”

“तुम अस्पताल चलना चाहती हो ?”

“क्यों ?”

“अभी तुम कह रही थीं… !”

“मैं अस्पताल चलने के लिए कहाँ कह रही थी ? मैं तो कह रही थी कि मुझे उस कमरे में डर लगता है, मैं यहाँ तुम्हारे पास सोऊँगी ।”

- “देखो निर्मला, इस समय मेरा मन टीक नहीं है । तुम घोड़ी देर में चाहे मेरे पास आ जाना, मगर इस समय थोड़ी देर के लिए…”

“मैं कहती हूँ, मैं अकेली उस कमरे में नहीं सो सकती । मेरे-जैसी मासूम बच्ची क्या कभी अकेली सो सकती है ?”

“तुम मासूम बच्ची नहीं हो, निर्मला !”

“तो तुम्हें मैं बड़ी नज़र आती हूँ ? एक छोटी-सी बच्ची को बड़ी वहते तुम्हारे दिल को कुछ नहीं होता ? इसलिए कि तुम मुझे अपने पास सुलाना नहीं चाहते ? मगर मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी । तुम्हें मुझे अपने साथ सुलाना पड़ेगा । मैं विधवा हूँ जो अकेली सोऊँगी ? मैं सुहागिन नारी हूँ । कोई सुहागिन व्या कभी अकेली सोती है ? मैं भाँवरें लेकर तुम्हारे घर में आयी हूँ, ऐसे ही उठाकर नहीं लायी गयी । देखती हूँ तुम कैसे मुझे उस कमरे में भेजते हो ?” और वह प्रकाश के पास लेटकर उससे लिपट जाती ।

कुछ देर में जब उसके स्नायु शान्त हो चुकते, तो वह लगातार उसे चूमती हुई कहती, “मेरा सुहाग ! मेरा चाँद ! मेरा राजा ! मैं तुम्हें कभी अपने से अलग रख सकती हूँ ? तुम मेरे साथ एक सी छत्तीस वरस की उम्र तक जियोगे । मुझे यह वर मिला हुआ है कि मैं एक सी छत्तीस वरस की उम्र तक सुहागिन रहूँगी । जिसकी भी मुझसे शादी होती, वह एक सी छत्तीस वरस की उम्र तक जीता । तुम देख लेना मेरी बात सच्ची निकलती है या नहीं । मैं सती नारी हूँ और सती नारी के मुँह से निकली हुई बात कभी भूठी नहीं हो सकती…”

“तुम सुवह मेरे साथ अस्पताल चलोगी ?” प्रकाश कहता ।

“क्यों, मुझे क्या हुआ है जो मैं अस्पताल जाऊँगी ? मृझे तो आज तक सिरदर्द भी नहीं हुआ । मैं अस्पताल क्यों जाऊँ ?”

एक दिन प्रकाश उसके लिए कई-एक कितावें खरीद लाया । उसने सोचा था कि शायद पढ़ने ते निर्मला के मन को एक दिशा मिल जाये और वह धीरे-धीरे अपने मन के अँधेरे से बाहर निकलने लगे । मगर निर्मला ने उन कितावों को देखा, तो मुँह विचकाकर एक तरफ हटा दिया ।

“ये कितावें मैं तुम्हारे पढ़ने के लिए लाया हूँ,” प्रकाश ने कहा ।

“मेरे पढ़ने के लिए ?” निर्मला शाश्वर्य के साथ दोली, “मैं इन कितावों को पढ़कर क्या कहूँगी ? मैंने तो मार्क्सवाद, मनोविज्ञान और सभी कुछ चौदह साल की उम्र में पढ़ लिया था । अब इतनी बड़ी होकर मैं ये कितावें पढ़ने लगूंगी ?”

और उसके पास से उठकर अँगूठा चूसती हुई वह कमरे से बाहर चली गयी ।
“पापा !”

कोहरे के बालों में भटका हुआ मन सहसा बालकनी पर लौट आया। खिलन-मर्ग को जानेवाली सड़क पर बहुत-से लोग घोड़े दौड़ाते जा रहे थे—एक धुंधले चित्र की तुझी-तुझी आकृतियों जैसे। वैसी ही तुझी-तुझी आकृतियाँ बलब से बाजार की तरफ आ रही थीं। वायीं और वर्फ़ से ढँकी हुई पहाड़ी की एक चोटी कोहरे से बाहर निकल आयी थी और जाने किधर से आती हुई सूर्य की किरण ने उसे दीप्त कर दिया था। कोहरे में भटके हुए कुछ पक्षी उड़ते हुए उस चोटी के सामने आ गये, तो सहसा उनके पंख सुनहरे हो उठे—मगर अगले ही क्षण वे फिर धुंधलके में खो गये।

प्रकाश कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और झाँककर नीचे सड़क की तरफ देखने लगा। क्या वह आवाज पलाश की नहीं थी? परन्तु सड़क पर दूर-दूर तक ऐसी कोई आकृति दिखायी नहीं दे रही थी जिसे उसकी आँखें उस बच्चे के ल्प में पहचान सकें। आँखों-ही-आँखों टूरिस्ट होटल के गेट तक जाकर वह लौट आया और गले पर हाथ रखकर जैसे निराशा की चुभन को रोके हुए फिर कुर्सी पर बैठ गया। दस के बाद ग्यारह, बारह और फिर एक भी बज गया था और बच्चा नहीं आया था। क्या बच्चे के पहले जन्म-दिन की घटना आज किर दोहरायी जानी थी? मुट्ठियाँ बन्द किये उन पर माथा रखकर वह बालकनी पर भुक गया।

“पापा !”

उसने चौकर सिर उठाया। वही कोहरा और वही धुंधली सुनसान सड़क। दूर घोड़ों की टापें और धीमी चाल से उस तरफ को आता हुआ एक कश्मीरी मजदूर! क्या वह आवाज उसे अपने कानों के परदों के अन्दर से ही सुनायी दे रही थी?

तभी उन परदों के अन्दर दो नन्हे पैरों की आवाज भी गूंज गयी और उसकी बाँहों के बहुत पास ही बच्चे का स्वर किलक उठा, “पापा !” साथ ही दो नन्ही-नन्ही बाँहें उसके गले से लिपट गयीं और बच्चे के झंडूले बाल उसके होंठों से छू गये।

प्रकाश ने एक बार बच्चे के शरीर को सिर से पैर तक छूकर देख लिया कि यह आकार भी उसकी कल्पना का स्वप्न तो नहीं है। विश्वास हो जाने पर कि बच्चा सच-मुच उसकी गोदी में है, उसने उसके माथे और आँखों को कसकर चूम लिया।

“तो मैं जाऊँ, पलाश ?” एक भूली हुई मगर परिचित आवाज ने प्रकाश को फिर चौका दिया। उसने धूरकर पीछे देखा। कमरे के दरवाजे के बाहर बीना दायीं और न जाने किस चीज पर आँखें गड़ाये खड़ी थीं।

“आप ?…आ जाइए आप…!” कहता हुआ बच्चे को बाँहों में लिये प्रकाश अस्त-व्यस्त-सा कुर्सी से उठ खड़ा हुआ।

“नहीं, मैं जा रही हूँ,” बीना ने किर भी उसकी तरफ नहीं देखा, “मुझे इतना चता दीजिए कि बच्चा कव तक लौटकर आयेगा ?”

“आप…जव कहें, तभी भेज दूँगा।” प्रकाश बालकनी की दहलीज लाँघकर कमरे में आ गया।

“चार बजे इसे दूध पीना होता है।”

“तो चार बजे तक मैं इसे वहाँ पहुंचा दूँगा।”

“इसने हल्का-सा स्वेटर ही पहन रखा है। दूसरे पुलोवर की ज़रूरत तो नहीं पड़ेगी ?”

“आप दे दीजिए। ज़रूरत पड़ेगी, तो मैं इसे पहना दूँगा।”

बीना ने दहलीज़ के उस तरफ से ही पुलोवर उसकी तरफ बढ़ा दिया। उसने पुलोवर लेकर उसे शाल की तरह बच्चे को ओढ़ा दिया। “आप...” उसने बीना से कहना चाहा कि वह अन्दर आ जाये, उससे कहा नहीं गया। बीना चुपचाप ज़ीने की तरफ चल दी। प्रकाश कमरे से निकल आया। ज़ीने से बीना ने फिर कहा, “देखिए, इसे आइसक्रीम मत खिलाइएगा। इसका गला बहुत जल्द खराब हो जाता है।”

“अच्छा !”

बीना पल-भर रुकी रही। शायद उसे और भी कुछ कहना था। मगर फिर बिना कुछ कहे वह नीचे उतर गयी। बच्चा प्रकाश की गोदी में उछलता हुआ हाथ हिलाता रहा, “ममी, टा-टा ! टा-टा !” प्रकाश उसे लिये बालकनी पर लौट आया, तो वह उसके गले में बाँहें डालकर बोला, “पापा, मैं आइच्छलीम जलूल थाऊंदा !”

“हाँ, हाँ, बेटे !” प्रकाश उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा, “जो तेरे मन में आये, सो खाना। हाँ ?”

और कुछ देर के लिए वह अपने को, बालकनी को और यहाँ तक कि बच्चे को भी भूला हुआ आकाश को देखता रहा।

○ ○

कोहरे का परदा धीरे-धीरे उठने लगा, तो भीलों में फैले हुए हरियाली के रंग-मंच की धुंधली रेखाएँ सहसा स्पष्ट हो उठीं।

वे दोनों गालफ्रांड धारकरके क्लक की तरफ जा रहे थे। चलते हुए बच्चे ने पूछा, “पापा, आदमी के दो टाँगें क्यों होती हैं ? चार क्यों नहीं होती ?”

प्रकाश ने चौंककर उसकी तरफ देखा और कहा, “ब्रे !”

“क्यों पापा,” बच्चा बोला, “तुमने ‘ब्रे’ क्यों कहाँ है ?”

“तू इतना साफ़ बोल सकता है, तो अब तक तुतलाकर क्यों बोल रहा था ?” प्रकाश ने उसे बाँहों में उठाकर एक अभियुक्त की तरह अपने सामने कर लिया। बच्चा खिलखिलाकर हँस पड़ा। प्रकाश को लगा कि यह वैसी ही हँसी है जैसी कभी वह स्वयं हँसा करता था। बच्चे के चेहरे की रेखाओं से भी उसे अपने बचपन के चेहरे की याद आने लगी। उसे लगा जैसे एकाएक उसका तीस वरस पहले का चेहरा उसके सामने आ गया हो और वह स्वयं उस चेहरे के सामने एक अभियुक्त की तरह खड़ा हो।

“ममी तो ऐছे ही अच्छा लदता है,” बच्चे ने कहा।

“क्यों ?”

“मैले तो नहीं पता। तुम ममी छे, पूछ लेना।”

“तेरी ममी तेरे को ज़ोर से हँसने से भी मना करती है ?” प्रकाश को वे दिन याद आ रहे थे जब उसके खिलखिलाकर हँसने पर बीना कानों पर हाथ रख लिया करती थी।

वच्चे की बाँहें उसकी गरदन के पास कस गयीं। “हाँ,” वह बोला, “ममी तहती है अच्छे वच्चे जोल द्ये नहीं हॉछते।”

प्रकाश ने उसे बाँहों से उतार दिया। वच्चा उसकी ओंगुली पकड़े हुए घास पर चलने लगा। “त्यों पापा,” उसने पूछा, “अच्छे वच्चे जोल द्ये त्यों नहीं हॉछते?”

“हॉसते हैं, बेटे !” प्रकाश ने उसके सिर को सहलाते हुए कहा, “सब अच्छे वच्चे जोर से हॉसते हैं।”

“तो ममी मेले तो त्यों लोतती है ?”

“नहीं रोकती, बेटे। अब वह तुझे नहीं रोकेगी। और तू तुतलाकर नहीं, ठीक से बोला कर। तेरी ममी तुझे इसके लिए भी मना नहीं करेगी। मैं उससे कह दूँगा।”

“तो तुमने पहले ममी द्ये त्यों नहीं तहा ?”

“ऐसे नहीं, कह कि तुमने पहले ममी से क्यों नहीं कहा ?”

वच्चा फिर हॉस दिया। “तो तुमने पहले ममी से क्यों नहीं कहा ?”

“पहले मुझे याद नहीं रहा। अब याद से कह दूँगा।”

कुछ देर दोनों चुपचाप चलते रहे। फिर वच्चे ने पूछा, “पापा, तुम मेरे जन्म-दिन की पार्टी में क्यों नहीं आये ? ममी कहती थी तुम विलायत गये हुए थे।”

“हाँ, बेटे, मैं विलायत गया हुआ था।”

“तो पापा, अब तुम फिर से विलायत नहीं जाना।”

“क्यों ?”

“मेरे को अच्छा नहीं लगता। विलायत जाकर तुम्हारी शकल और ही तरह की हो गयी है।”

प्रकाश एक रुखी-सी हँसी हँसा और बोला, “कैसी हो गयी है शकल ?”

“पता नहीं कैसी हो गयी है। पहले दूसरी तरह की थी, अब दूसरी तरह की है।”

“दूसरी तरह की कैसे ?”

“पता नहीं पहले तुम्हारे बाल काले-काले थे। अब सफेद-सफेद हो गये हैं।”

“तू इतने दिन मेरे पास नहीं आया, इसीलिए मेरे बाल सफेद हो गये हैं।”

वच्चा इतने जोर से हँसा कि उसके कदम लड़कड़ा गये। “अरे पापा, तुम तो विलायत गये हुए थे,” उसने कहा, “मैं तुम्हारे पास कैसे आता ? मैं क्या अकेला विलायत जा सकता हूँ ?”

“क्यों नहीं जा सकता ? तू इतना बड़ा तो है।”

“मैं सचमुच इतना बड़ा हूँ न पापा ?” वच्चा ताली बजाता हुआ बोला, “तुम मह बात भी ममी से कह देना। वह कहती है मैं अभी बहुत छोटा हूँ। मैं छोटा नहीं हूँ न, पापा ?”

“नहीं, तू छोटा कहाँ है ?” कहकर प्रकाश मैदान में दीड़ते लगा, “तू भागकर मुझे पकड़।

वच्चा अपनी छोटी-छोटी टाँगें पटकता हुआ दीड़ते लगा। प्रकाश को फिर अपने बचपन की एक बात ही आयी। तब उसे दीड़ते देखकर एक बार किसी ने

कहा था, “अरे, यह बच्चा कैसे टाँगे पटक-पटककर दोड़ता है। इसे ठीक से चलना नहीं आता है क्या ?”

० ०

बच्चे की अँगुली पकड़े हुए प्रकाश क्लव के वारहम में दाखिल हुआ, तो वार-मैन अब्दुल्ला उसे देखते ही दूर से मुस्कराया। “साहब के लिए दो बोतल वियर !” उसने पास खड़े वैरे से कहा, “साहब आज अपने एक मेहमान के साथ आया है।”

“बच्चे के लिए एक गिलास पानी दे दो,” प्रकाश ने काउंटर के पास पहुँचकर कहा, “इसे प्यास लगी है।”

“खाली पानी ?” अब्दुल्ला बच्चे के गालों को प्यार से सहलाने लगा, “और सब दोस्तों को साहब वियर पिलाता है और इस बेचारे को खाली पानी ?” और ठंडे पानी की बोतल खोलकर वह गिलास में पानी डालने लगा। जब वह गिलास बच्चे के मुँह के पास ले गया, तो बच्चे ने वह उसके हाथों से ले लिया। “मैं अपने-आप रिझैगा,” उसने कहा, “मैं छोटा थोड़े ही हूँ ? मैं तो बड़ा हूँ।”

“अच्छा तू बड़ा है ?” अब्दुल्ला हँसा, “तब तो तुझे पानी देकर मैंने गलती की। वडे लोगों को तो मैं वियर पिलाता हूँ।”

“वियर क्या होता है ?” बच्चे ने मुँह से गिलास हटाकर पूछा।

“वियर होता नहीं, होती है।” अब्दुल्ला ने झुककर उसे चूम लिया, “तुझे पिलाऊँ क्या ?”

“नहीं,” कहकर बच्चे ने अपनी बाँहें प्रकाश की तरफ फेला दीं। प्रकाश उसे लेकर ड्यूधी की तरफ चला, तो अब्दुल्ला भी उन दोनों के साथ-ही-साथ बाहर चला आया। “किसका बच्चा है, साहब ?” उसने धीमे स्वर में पूछा।

“मेरा लड़का है,” कहकर प्रकाश बच्चे को सीढ़ी से उतारने लगा।

अब्दुल्ला हँस दिया। “साहब बहुत खुशदिल आदमी है,” उसने कहा।

“क्यों ?”

अब्दुल्ला हँसता हुआ सिर हिलाने लगा। “आपका भी जवाब नहीं है।”

प्रकाश गुस्से में कुछ कहने को हुआ मगर अपने को रोककर बच्चे को लिये हुए आगे चल दिया। अब्दुल्ला ड्यूधी में रुका हुआ पीछे से सिर हिलाता रहा। वैरा घोर मुहम्मद अन्दर से निकलकर आया, तो वह फिर खिलखिलाकर हँस दिया।

“क्या बात है ? अकेला खड़ा-खड़ा कैसे हँस रहा है ?” घोर मुहम्मद ने पूछा।

“साहब का भी जवाब नहीं है,” अब्दुल्ला किसी तरह हँसी पर काढ़ पाकर चोला।

“किस साहब का जवाब नहीं है ?”

“उस साहब का,” अब्दुल्ला ने प्रकाश की तरफ इशारा किया, “उस दिन बोलता था कि इसने अभी इसी साल शादी की है और आज बोलता है कि यह पांच साल का बाबा इसका लड़का है। जब आया था, तो अकेला था और आज इसके लड़का भी हो गया !” प्रकाश ने एक बार धूमकर तीखी नज़र से उसी तरफ देव लिया। अब्दुल्ला

एक दार किर खिलविला उठा । “ऐसा खुशदिल आदमी मैंने आज तक नहीं देखा ।”
००

“पापा, घास हरी क्यों होती है ? लाल क्यों नहीं होती ?” कलव से निकलकर प्रकाश ने बच्चे को एक घोड़ा किराये पर ले दिया था । लिनेनर्मग को जानेवाली पग-डण्डी पर वह खुद उसके साथ-साथ पैदल चल रहा था । घास के रेखामी विस्तार पर कोहरे का आकाश इस तरह भुक्ता हुआ था जैसे वासना का उन्माद उसे फिर से घिर गाने के लिए प्रेरित कर रहा हो । बच्चा उत्सुक आँखों से आस-पास की पहाड़ियों को और बीच से वहकर जाती हुई पानी की पतली धार को देख रहा था । कभी कुछ क्षणों के लिए वह अपने को भूला रहता, फिर किसी अज्ञात भाव से प्रेरित होकर काठी पर उछलने लगता ।

“हर चीज का अपना रंग होता है,” प्रकाश ने बच्चे की एक जाँध को हाथ से दबाये हुए कहा और कुछ देर के लिए स्वयं भी हरियाली के विस्तार में खोया रहा ।

“हर चीज का अपना रंग क्यों होता है ?”

“यह कुदरत की वात है, वेटे, कुदरत ने हर चीज का अपना रंग बना दिया है ।”

“कुदरत क्या होती है ?”

प्रकाश ने भुक्कर उसकी जाँध को चूम लिया । “कुदरत यह होती है,” उसने हँसकर कहा । जाँध पर गुदगुदी होने से बच्चा भी हँसने लगा ।

“तुम भूठ बोलते हो,” उसने कहा ।

“क्यों ?”

“तुमको इसका पता ही नहीं है ।”

“अच्छा, मुझे पता नहीं है, तो तू बता घास का रंग हरा क्यों होता है ?”

“घास मिट्टी के अन्दर से पैदा होती है, इसलिए इसका रंग हरा होता है ।”

“अच्छा ? तुमको इसका पता चल गया ?”

बच्चा उछलता हुआ लगाम की झटकने लगा । “मेरे को ममी ने बताया था ।”

प्रकाश के होंठों पर एक विकृत-सी मुसकराहट आ गयी, जिसे उसने किसी तरह दबा लिया । उसे लगा जैसे आज भी उसके और बीना के बीच में ढन्ढ चल रहा हो और बीना उस ढन्ढ में उस पर भारी पड़ने की चेष्टा कर रही हो । “तेरी ममी ने तुम्हें और कथा-कथा बता रखा है ?” वह बच्चे को थपथपाकर बोला, “यह भी बता रखा है कि आदमी के दो टाँगे क्यों होती हैं और चार क्यों नहीं ?”

“हाँ, ममी कहती थी कि आदमी के दो टाँगे इसलिए होती हैं कि वह आधा जमीन पर चलता है और आधा आसमान में !”

“अच्छा !” प्रकाश के होंठों पर हँसी और मन में उदासी की रेखा फैल गयी । “मुझे इसका पता नहीं था,” उसने कहा ।

“तुमको तो कुछ भी पता नहीं है, पापा ?” बच्चा बोला, “इतने बड़े होकर भी पता नहीं है !”

घास, वर्फ़ और आकाश के रंग दिन में कई-कई बार बदल जाते थे। बदलते हुए रंगों के साथ मन भी और से और होने लगता था। सुबह उठते ही प्रकाश बच्चे के आने की प्रतीक्षा करने लगता। बार-बार वह बालकनी पर चला जाता और होटल की तरफ़ आँखें किये देर-देर तक खड़ा रहता। नाश्ता करने या खाना खाने के लिए भी वह बहाँ से नहीं हटना चाहता था। उसे डर लगता था कि बच्चा इस बीच आकर लौट न जाये। तीन दिन में उसे साथ लिये हुए वह कितनी ही बार धूमने के लिए गया था, उसके घोड़े के पीछे-पीछे दौड़ा था और उसके साथ घास पर लोटता रहा था। कभी एक दोस्त की तरह वह उसके साथ बिलिंगिलाकर हँसता, कभी एक नीर की तरह उसके हर ग्रादेश का पालन करता। बच्चा जान-वूक़हर रास्ते के घीचड़ में अपने पाँव लयपथ कर लेता और फिर होंठ विसोरकर कहता, “पापा, पाँव धो दो।” वह उसे उठाये हुए इवर-उधर पानी ढूँढता फिरता। बच्चे को वह जिस कोण से भी देखता, उसी कोण से उसकी तसवीर ले लेना चाहता। जब बच्चा थक जाना और लौटकर अपनी ममी के पास जाने का हठ करने लगता, तो वह उसे तरह-तरह के प्रलोभन देकर अपने पास रोक रखना चाहता। एक बार उसने बच्चे को अपनी माँ के साथ दूर से आते देखा था और उसे साथ लाने के लिए उतरकर नीचे चला गया था। जब वह पास पहुँचा, तो बच्चा दीड़कर उसकी तरफ़ आने की बजाय माँ के साथ फोटोग्राफर की दूकान के अन्दर चला गया। वह कुछ देर सड़क पर रुका रहा; फिर यह नीचकर ऊपर चला आया कि फोटोग्राफर की दूकान से खाली होकर बच्चा अपने-आप ऊपर आ जायेगा। मगर बालकनी पर खड़े-खड़े उसने देखा कि बच्चा दूकान से निकलकर उस तरफ़ आने की बजाय हठ के साथ अपनी माँ का हाथ खींचता हुआ उसे बापस टूरिस्ट होटल की तरफ़ ले चला। उसका मन हुआ कि दोड़कर जाये और बच्चे की अपने साथ ले जाये, मगर कोई चीज़ उसके पैरों को जकड़े रही और वह चूपचाप बहाँ खड़ा उसे देखता रहा। शाम तक वह न जाने कितनी बार बालकनी पर आया और कितनी-कितनी देर तक खड़ा रहा। आखिर उससे नहीं रहा गया, तो उसने नीचे जाकर कुछ चेरी खरीदी और बच्चे को देने के बहाने टूरिस्ट होटल की तरफ़ चल दिया। अभी वह टूरिस्ट होटल से कुछ दूर ही था कि बच्चा अपनी माँ के साथ बाहर आता दिखायी दिया। मगर उस पर नज़र पड़ते ही वह बापस होटल की गैलरी में भाग गया।

प्रकाश जहाँ था, वहाँ खड़ा रहा। उस समय पहली बार उसकी आँखें बीना से मिलीं। उसे महसूस हुआ कि बीना का चेहरा पहले से कहाँ साँवला हो गया है और उसकी आँखों के नीचे स्पाह दायरे-से उभर आये हैं। वह पहले से काफ़ी दुबली भी लग रही थी। कुछ क्षण उसे रहने के बाद प्रकाश आगे चला गया और चेरीबाला लिफाफा बीना की तरफ़ बढ़ाकर उसने खुश गले से कहा, “यह मैं बच्चे के लिए लाया था।”

बीना ने लिफाफा ले लिया मगर साथ ही उसकी आँखें दूसरी तरफ़ हट गयीं। “पलाश!” उसने कुछ अस्थिर आवाज़ में बच्चे को पुकारकर कहा, “यह ने, तेरे पापा तेरे लिए चेरी लाये हैं।”

“मैं नहीं लेता!” बच्चे ने गैलरी हे बहा और मालकर और भी इर चना

गया ।

बीना ने एक असहाय दृष्टि वच्चे पर ढाली और फिर प्रकाश की तरफ देखकर बोली, “कहता है मैं पापा से नहीं बोलूँगा । वह सुवह रुके क्यों नहीं, चले क्यों गये थे ?”

प्रकाश बीना को उत्तर न देकर गैलरी में चला गया और कुछ दूर तक वच्चे का पीछा करके उसे बांहों में उठा लाया । “मैं तुमसे नहीं बोलूँगा, कभी नहीं बोलूँगा !”

बच्चा छुड़ाने की चेष्टा करता हुआ कहता रहा ।

“क्यों, ऐसी क्या बात है ?” प्रकाश उसे पुचकारने की चेष्टा करने लगा, “पापा से भी इस तरह नाराज होते हैं क्या ?”

“तुमने मेरी तसवीरें क्यों नहीं देखीं ?”

“कहाँ थीं तेरी तसवीरें ? मुझे तो पता ही नहीं था ।”

“पता क्यों नहीं था ? तुम दूकान के बाहर से ही क्यों चले गये थे ?”

“अच्छा ला, पहले तेरी तसवीरें देखें, फिर धूमने चलेंगे ।”

“यह सुवह आपको दिखाने के लिए ही तसवीरें लेने गया था,” बीना के साथ खड़ी नवयुवती ने कहा । प्रकाश इस बात को भूल ही गया था कि उन दोनों के साथ कोई और भी है ।

“तसवीरें मेरे पास थोड़े ही हैं ! उसी के पास हैं ।”

“सुवह फोटोग्राफर ने नेगेटिव ही दिखाये थे, पॉजिटिव वह अब इस समय देगा,” उस नवयुवती ने फिर कहा ।

“तो चल, पहले दूकान पर चलकर तेरी तसवीरें ले लें । हाँ, देखें तो सही कैसी हैं !” कहकर प्रकाश फोटोग्राफर की दूकान की तरफ चलने लगा ।

“मैं ममी को साथ लेकर जाऊँगा,” वच्चे ने उसकी बांहों में मचलते हुए कहा ।

“हाँ, हाँ, तेरी ममी भी साथ आ रही हैं,” प्रकाश ने एक बार निखाय-सी दृष्टि से पीछे की तरफ देख लिया और जैसे किसी अदृश्य व्यक्ति से कहा, “देखिए, आप भी साथ आ जाइए, नहीं तो यह रोने लगेगा ।”

बीना हाँठ दाँतों में दबाये हुए कुछ क्षण अर्धसे भपकती रही, फिर चुपचाप साथ चल दी ।

फोटोग्राफर की दूकान में दाखिल होते ही वच्चा प्रकाश की बांहों से उत्तर गया और आदेश के स्वर में फोटोग्राफर से बोला, “मेरे पापा को मेरी तसवीरें दिखाओ ।” उसके स्वर से कुछ ऐसा भी लगता था जैसे वह अपने पर लगाये गये किसी अभियोग का उत्तर दे रहा हो । फोटोग्राफर ने तसवीरें निकालकर मेज पर फैला दीं, तो वच्चा उनमें से एक-एक तसवीर चुनकर प्रकाश को दिखाने लगा । “देखो पापा, यह वहीं की तसवीर है न जहाँ से तुमने कहा था कि सारा कश्मीर नज़र आता है ? और यह तसवीर भा देखो पापा, जो तुमने मेरे घोड़े पर उत्तारी थी...”

“दो दिन से बिलकुल साफ बोलने लगा है,” बीना की सहेली ने बीरेंसे कहा, “कहता है पापा ने कहा है कि तू बड़ा हो गया है, इसलिए अब तुतलाकर न बोला जा ।”

प्रकाश कुछ न कहकर तसवीरें देखता रहा । फिर जैसे कुछ धाद हो आते ते

उसने दस रुपये का एक नोट निकालकर फोटोग्राफर को देते हुए कहा, “इसमें से आप अपने पैसे काट लीजिए !”

फोटोग्राफर पल-भर असमंजस में उसे देखता रहा। फिर बोला, “देखिए, पैसे तो अभी आप ही के मेरी तरफ निकलते हैं। मैम साहब ने जो बीस रुपये परसों दिये थे, उनमें से दो-एक रुपये अभी बचते होंगे। कहें, तो हिताव कर दूँ ?”

“नहीं, रहने दीजिए, हिताव फिर हो जायेगा,” कहकर प्रकाश ने नोट वापस जैवूमें रख लिया और बच्चे की अङ्गुली पकड़े हुए दूकान से बाहर निकल आया। कुछ कदम चलने पर उसे पीछे से बीना का स्वर सुनायी दिया, “यह आपके साथ घूमने जा रहा है क्या ?”

“हाँ !” प्रकाश ने चौंककर पीछे देख लिया, “मैं अभी थोड़ी देर में इसे वापस छोड़ जाऊँगा !”

“देखिए, आपसे एक बात कहनी थी……”

“कहिए……”

बीना पल-भर सोचती हुई चुप रही। फिर बोली, “इसे ऐसी कोई बात न चताइयेगा जिससे यह……”

प्रकाश को लगा जैसे कोई चीज़ उसके स्नायुओं को चीरती चली गयी हो। उसकी आँखें भूक गयीं और उसने धीरे-से कहा, “नहीं, मैं ऐसी कोई बात इससे नहीं कहूँगा।” उसे खेद होने लगा कि एक दिन पहले जब बच्चा हठ करके कह रहा था कि ‘पापा’ और ‘पिताजी’ एक ही व्यक्ति को नहीं कहते—‘पापा’ पापा को कहते हैं और ‘पिताजी’ ममी के पापा को कहते हैं—तो वह क्यों उसकी जलतफहमी दूर करने का प्रयत्न करता रहा था ?

वह बच्चे के साथ अकेला क्लब की सड़क पर चलने लगा, तो कुछ दूर जाकर बच्चा सहसा रुक गया। “हम कहाँ जा रहे हैं, पापा ?” उसने पूछा।

“पहले क्लब चल रहे हैं,” प्रकाश ने कहा, “वहाँ से थोड़ा लेकर आगे घूमने जायेंगे।”

“नहीं, मैं वहाँ उस आदमी के पास नहीं जाऊँगा।” कहकर बच्चा सहसा पीछे की तरफ चल दिया।

“किस आदमी के पास ?”

“वह जो वहाँ पर क्लब में था। मैं उसके हाथ से पानी भी नहीं पिऊँगा।”

“व्यरों ?”

“मुझे वह आदमी अच्छा नहीं लगता।”

प्रकाश पलभर बच्चे के चेहरे को देखता रहा, फिर वह भी वापस चल दिया। “हाँ, हम उस आदमी के पास नहीं चलेंगे,” उसने कहा, “मुझे भी वह आदमी अच्छा नहीं लगता।”

० ०

बहुत दिनों के बाद उस रात प्रकाश को गहरी नींद आयी थी। एक ऐसी

विस्मृति-सी नींद जिसमें स्वप्न-दुःस्वप्न कुछ न हो, उसके लिए लगभग भूली हुई चीज़ हो चुकी थी। किर भी जागने पर उसे अपने में एक ताजगी का अनुभव नहीं हुआ—अनुभव हुआ एक खालीपन का ही। जैसे कि कोई चीज़ उसके अन्दर उफनती रही हो, जो गहरी नींद सी लेने से चुक गयी हो। रोज़ की तरह उठकर वह बालकनी पर गया। देखा आकाश साफ़ है। रात को सोया था, तो वापो हो रही थी। परन्तु उस धुले-निखरे हुए आकाश को देखकर आभास तक नहीं होता था कि कभी वहाँ बादलों का अस्तित्व भी था। सामने की पहाड़ियाँ सुबह की धूप में नहाकर बहुत उजली हो उठी थीं।

प्रकाश कुछ देर वहाँ खड़ा रहा—श्रान्तिरहित और विचारहीन। किर सहसा दूर के छोर में उठते हुए बादल की तरह उसे कोई चीज़ अपने में उमड़ती हुई प्रतीत हुई और उसका मन एक अज्ञात आशंका से सिहर गया। तो क्या...?

वह बालकनी से हट आया। पिछली शाम को बच्चे ने बताया था कि उसकी ममी कह रही है कि दिन साफ़ हुआ, तो सुबह वे लोग वहाँ से चले जायेंगे। रात को जिस तरह वर्षा हो रही थी, उससे सुबह तक आकाश के साफ़ होने की कोई सम्भावना नहीं लगती थी। इसलिए सोने के समय उसका मन इस ओर से लगभग निश्चिन्त था। परन्तु रात-रात में आकाश का दृश्यपट विलकुल बदल गया था। तो क्या सचमुच आज ही उन लोगों को वहाँ से चले जाना था?

उसने कमरे के बिखरे हुए सामान को देखा—दो-चार इनी-गिनी चीज़ें ही थीं। चाहा कि उन्हें सहेज दे। मगर किसी चीज़ को रखने-उठाने को मन नहीं हुआ। विस्तर की देखा जिसमें रोज़ से बहुत कम सलवटें पड़ी थीं। लगा जैसे रात की गहरी नींद के लिए वह विस्तर ही दोपी हो और गहरी नींद ही—वरसते हुए आकाश के साफ़ हो जाने के लिए! उसने विस्तर की चादर को हिला दिया कि उसमें और सलवटें पड़ जायें मगर उससे चादर में जो दो-एक सलवटें थीं, वे भी निकल गयीं। वह फिर से एक नींद लेने के इरादे से विस्तर पर लेट गया।

शरीर में थकान विलकुल नहीं थी, इसलिए नींद नहीं आयी। कुछ देर करवटें लेने के बाद वह नहाने-धोने के लिए उठ गया। लड़खड़ाते कदमों से सुबह दोपहर की तरफ बढ़ने लगी, तो उसके मन को कुछ सहारा मिलने लगा। वह चाहने लगा कि इसी तरह शाम हो जाये और फिर रात—और वच्चा उससे विदा लेने के लिए न आये। परन्तु इसी तरह जब दोपहर भी ढलने को आ गयी और वच्चा नहीं आया, तो उसके मन में धीरे-धीरे एक और ही आशंका सिर उठाने लगी। वह सोचने लगा कि दिन साफ़ होने से उसकी ममी कहीं सुबह-सुबह ही तो उसे लेकर वहाँ से नहीं चली गयी?

वह बार-बार बालकनी पर जाता—एक घड़कती हुई आशा और आशंका लिये हुए। बार-बार टूरिस्ट होटल की तरफ जानेवाले रास्ते पर नज़र डालता और एक अनिश्चित-सी अनुभूति लिये हुए कमरे में लौट आता। उसकी धमनियों में लहू का हर कण, मम्पिटण्क में चेतना का हर बिन्दु उत्कण्ठा से व्याकुल था। उसने कुछ खाया नहीं था, इसलिए भूख भी उसे परेशान कर रही थी। कुछ देर के बाद कमरा बन्द करके

वह खाना खाने चला गया। मोटे-मोटे कीर निगलकर उसने किसी तरह दो रोटियाँ गले से उतारीं और तुरन्त वापस चल पड़ा। कुछ क्षणों के लिए भी कमरे से बाहर और बालकनी से दूर रहना उसे एक अपराध की तरह लग रहा था। लौटते हुए उसने सोचा कि उसे खुद टूरिस्ट होटल में जाकर पता कर लेना चाहिए कि वे लोग कहाँ हैं या चले गये हैं। मगर सड़क की चढ़ाई चढ़ते हुए उसने दूर से ही देखा—बीना वच्चे के साथ उसकी बालकनी के नीचे खड़ी थी। वह हँफता हुआ तेज़-तेज़ चलने लगा।

वह पास जा पहुंचा, तो भी वच्चे ने उसकी तरफ नहीं देखा। वह अपनी माँ का हाथ खींचता हुआ किसी बात के लिए हठ कर रहा था। प्रकाश ने उसकी बांह को हाथ में ले लिया, तो वह उससे बांह छुड़ाने का प्रयत्न करने लगा। “मैं तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा!” उसने लगभग चीखकर कहा। प्रकाश अचकचा गया और मूँह-सा उसकी तरफ देखता रहा।

“क्यों, तू मुझसे नाराज़ है क्या?” उसने पूछा।

“ममी मेरे साथ क्यों नहीं चलती?” वच्चा फिर उसी तरह चिल्लाया।

प्रकाश और बीना की आँखें एक-दूसरे की तरफ उठने को हुईं, मगर पूरी तरह नहीं उठ पायीं। प्रकाश ने वच्चे की बांह फिर याम ली और बीना से कहा, “आप भी साथ आ जाइए न !”

“इसे आज जाने क्या हुआ है?” बीना भुंभलाहृष्ट के साथ बोली, “सुवह से ही तंग कर रहा है !”

“इस बबत यह आपके बिना ऊपर नहीं जायेगा,” प्रकाश ने कहा। “आप साथ आ क्यों नहीं जातीं ?”

“चल, मैं तुझे जीने तक पहुंचा देती हूँ,” बीना उसे उत्तर न देकर वच्चे से बोली, “ऊपर से जलदी ही लौट आना। घोड़ेवाले कितनी देर से तीयार खड़े हैं।”

प्रकाश को अपने अन्दर एक नश्तर-सा चुभता महसूस हुआ। मगर जल्द ही उसने अपने को सँभाल लिया। “आप लोग आज ही जा रहे हैं क्या?” वह किसी तरह कठिनाई से पूछ सका।

“जी हाँ,” बीना दूसरी तरफ देखती रही, “जाना तो सुवह-सुवह ही था मगर इसके हृष्ट की बजह से इतनी देर हो गयी है। अब भी यह...” और वह बात बीच में ही छोड़कर उसने वच्चे से फिर कहा, “तो चल तुझे जीने तक पहुंचा दूँ।”

वच्चा प्रकाश के हाथ से बांह छुड़ाकर कुछ दूर भाग गया, “मैं नहीं जाऊँगा,” उसने कहा।

“अच्छा, आ जा,” बीना बोली, “मैं तुझे जीने के ऊपर तक छोड़ आऊँगी—उस दिन की तरह।”

“मैं नहीं जाऊँगा,” और वच्चा कुछ कदम और भी दूर चला गया।

“आप साथ आ क्यों नहीं जातीं? यह इस तरह अपना हठ नहीं छोड़ेगा,” प्रकाश ने कहा।

बीना ने आधे क्षण के लिए उसकी तरफ देखा। २

अतिरिक्त न जाने क्या-क्या भाव था ! परन्तु आधे क्षण में ही वह भाव धुल गया और बीना ने अपने को सहेज लिया । उसके चेहरे पर एक तरह की दृढ़ता आ गयी और उसने बच्चे के पास जाकर उसे उठा लिया । “तो चल, मैं तेरे साथ चलती हूँ,” उसने कहा ।

बच्चे का स्थानांतर भाव एक क्षण में ही बदल गया और उसने हँसते हुए अपनी माँ के गले में बांहें डाल दीं । प्रकाश ने धीरे से कहा, “आइए,” और उन दोनों के आगे-आगे चलने लगा ।

ऊपर कमरे में पहुँचकर बीना ने बच्चे को नीचे उतार दिया और कहा, “ले, अब मैं जा रही हूँ ।”

“नहीं,” बच्चे ने उसका हाथ पकड़ लिया, “तुम भी यहाँ बैठो ।”

“बैठिए,” प्रकाश ने कुरसी पर पड़ी हुई दो-एक चीजें जल्दी से उठा दीं और कुरसी बीना की तरफ बढ़ा दी । बीना कुरसी पर न बैठकर चारपाई के कोने पर बैठ गयी । बच्चे का ध्यान सहसा न जाने किस चीज़ ने खींच लिया । वह उन दोनों को छोड़कर बालकनी में भाग गया और वहाँ से उच्चकर सड़क की तरफ देखने लगा ।

प्रकाश कुरसी की पीठ पर हाथ रखे जैसे खड़ा था, वैसे ही खड़ा रहा । बीना चारपाई के कोने पर और भी सिमटकर दीवार की तरफ देखने लगी । सहसा असावधानी के एक क्षण में उनकी आँखें मिल गयीं, तो बीना ने जैसे पूरी शक्ति संचित करके कहा, “कल इसकी जेव में कुछ रूपये मिले थे । आपने रखे थे ?”

प्रकाश सहसा ऐसे हो गया जैसे किसी ने उसे पकड़कर झकझोर दिया हो । “हाँ,” उसने लड़खड़ाते हुए स्वर में कहा, “सोचा था कि उनसे यह कोई चीज़...कोई चीज बनवा लेगा ।”

बीना पलभर चुप रही । फिर बोली, “वया चीज़ बनवानी होगी ?”

“कोई भी चीज़ बनवा दीजिएगा । कोई अच्छा-सा ओवरकोट या...”

कुछ देर फिर चुप्पी रही । फिर बीना बोली, “कैसा कोट बनवाना होगा ?”

“कैसा भी बनवा दीजिएगा । जैसा इसे अच्छा लगे, या...या [जैसा आप ठीक समझें ।”

“कोई खास कपड़ा लेना हो, तो बता दीजिए ।”

“नहीं, खास कोई नहीं । कैसा भी ले लीजिएगा ।”

“कोई खास रंग...”

“नहीं...हाँ...अगर नीले रंग का हो, तो ज्यादा अच्छा रहेगा ।”

बच्चा उछलता हुआ बालकनी से लौट आया और बीना का हाथ पकड़कर बोला, “अब चलो ।”

“पापा से तूने प्यार तो किया ही नहीं और आते ही चल भी दिया ?” प्रकाश ने उसे बाँहों में ले लिया । बच्चे ने उसके होंठों से होंठ मिलाकर एक बार अच्छी तरह उसे चूम लिया और फिर झट से उसकी बाँहों से उतरकर माँ से बोला, “अब चलो ।”

बीना चारपाई से उठ खड़ी हुई । बच्चा उसका हाथ पकड़कर उसे बाहर की तरफ खींचने लगा । “तलो न ममी, देल हो लही है,” वह फिर तुतलाने लगा और बीना

को साथ लिये हुए दहलीज़ पार कर गया।

“तू जाकर पापा को चिट्ठी लिखेगा न?” प्रकाश ने पीछे से पूछा।

“लिखूँदा।” मगर उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा। पीछे मुड़कर देखा एक बार बीना ने, और जल्दी से आँखें हटा लीं। उसकी आँखों के कोरों में श्रटके हुए आँसू उसके गालों पर वह आये थे। “तूने पापा को टा-टा नहीं किया,” उसने बच्चे के कन्धे पर हाथ रखे हुए कहा। आँखों की तरह उसका स्वर भी भीगा हुआ था।

“टा-टा, पापा!” बच्चे ने बिना पीछे की तरफ देखे हाथ हिला दिया और जीने से उतरने लगा। आधे जीने से किर उसकी आवाज सुनायी दी, “पापा का घल अच्छा नहीं है ममी, हमाले वाला घल अच्छा है। पापा के घल में तो कुछ भी ढामान ही नहीं है...”

“तू चुप करेगा कि नहीं?” बीना ने उसे फिड़क दिया, “जो मुँह में आता है बोलता जाता है।”

“नहीं तुप कलूँगा, नहीं कलूँगा तुप...!” बच्चे का स्वर फिर स्वर्णसा हो गया और वह तेज़-तेज़ कदमों से नीचे उतरने लगा। “पापा का घल गन्दा! पापा का घल थू...!”

° ° °

रात होते-होते आकाश फिर घिर आया। प्रकाश बलब के बारहम में बैठा एक के घाद एक वियर की बोतलें खाली करता रहा। बारमैन अब्दुल्ला लोगों के लिए रम और द्विस्की के पेग ढालता हुआ बार-बार कनिखियों से उसकी तरफ देख लेता था। इतने दिनों में पहली बार वह प्रकाश को इस तरह पीते देख रहा था। “आज लगता है इस साहब ने कहीं से बहुत माल मारा है,” उसने एक बार धीमे स्वर में शेर मुहम्मद से कहा, “आगे कभी एक बोतल से ज्यादा नहीं पीता और आज चार-चार बोतलें पीकर भी वस करने का नाम नहीं ले रहा।”

शेर मुहम्मद ने सिर्फ़ मुँह बिचका दिया और अपने काम में लगा रहा।

प्रकाश की आँखें अब्दुल्ला से मिलीं, तो अब्दुल्ला मुसकारा दिया। प्रकाश कुछ क्षण इस तरह उसे देखता रहा जैसे वह इन्सान न होकर एक धुंधला-ता साया हो और अपने सामने का गिलास परे सरकाकर उठ खड़ा हुआ। काउंटर के पास जाकर उसने दस-दस के दो नोट निकालकर अब्दुल्ला के सामने रख दिये। अब्दुल्ला वाकी पैसे गिनता हुआ खुशमदी स्वर में बोला, “आज साहब बहुत खुश नजर आता है।”

“अच्छा?” प्रकाश इस तरह उसे देखता रहा जैसे उसके देखते-देखते वह साया धुंधला होकर बादलों में गुम होता जा रहा हो। जब वह चलने को हुआ, तो अब्दुल्ला ने पहले सलाम किया और फिर पूछ लिया, “क्यों साहब, वह कौन था उस दिन आपके साथ? किसका लड़का था वह?”

प्रकाश को लगा जैसे वह साया अब बिल्कुल गुम हो गया हो और उसके सामने सिर्फ़ बादल ही बादल घिरा रह गया हो। उसने जैसे दूर बादल के गर्भ में देखने की चेष्टा करते हुए कहा, “कौन लड़का?”

अब्दुल्ला पल-भर के लिए भीचक्का-सा हो रहा, फिर सहसा खिलखिलाकर हँस पड़ा, “तब तो मैंने शेर मुहम्मद से ठीक ही कहा था……” वह बोला।

“क्या कहा था ?”

“कि हमारा साहब तबीयत का बादशाह है। जब चाहे जिसके लड़के को अपना लड़का बना ले और जब चाहे…… यहाँ गुलमर्ग में तो यह सब चलता है ! आप जैसा ही हमारा एक और साहब है……”

प्रकाश को लगा कि बादल बीच से फट गया है और चौलों की कई-एक पंक्तियाँ उस दर्द में से होकर दूर-दूर उड़ी जा रही हैं—वह चाह रहा है कि दर्दी किसी तरह भर जाय, जिससे वे पंक्तियाँ आँखों से ओझल हो जायें; मगर दर्द का मुहाना और-और वड़ा होता जा रहा है। उसके गले से एक अस्पष्ट-सी आवाज निकल पड़ी और वह अब्दुल्ला की तरफ से आँख हटाकर चुपचाप वहाँ से चल दिया।

° °

“वह एक बाजी और…… !” अपनी आवाज की गूँज प्रकाश को स्वयं बहुत अस्वाभाविक लगी। उसके साथियों ने हल्का-सा विरोध किया मगर पत्ते एक बार फिर बैठने लगे।

कार्ड-रूम तब तक लगभग खाली हो चुका था। कुछ देर पहले तक वहाँ काफ़ी चहल-पहल थी—नाज़ुक हाथों से पत्तों की नाज़ुक चालें चल रही थीं और शीशे के नाज़ुक गिलास रखे और उठाये जा रहे थे। मगर अब आस-पास चार-चार खाली कुर्सियों से धिरी हुई चौकोर मेज़ें बहुत अकेली और बहुत उदास लग रही थीं। पालिश की चमक के बावजूद उनमें एक बीरानगी आ गयी थी। सामने की दीवार में बुलारी की आग भी कब की ठण्डी पड़ रुकी थी। जाली के उस तरफ कुछ बुझे-अधबुझे गँगारे ही रह गये थे—सर्दी से ठिठुरकर स्याह पड़ते और राख में गुम होते हुए।

उसने पत्ते उठा लिये। हर बार की तरह इस बार भी सब देमेल पत्ते थे—ऐसी बाजी कि आदमी फेंककर अलग हो जाये। मगर उसी के अनुरोध से पत्ते बैठे थे, इस-लिए वह उन्हें फेंक नहीं सकता था। उसने नीचे से पत्ता उठाया, तो वह और भी देमेल था। हाथ से कोई भी पत्ता चलकर वह उन पत्तों का मेल बैठाने का प्रयत्न करने लगा।

बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही थी—पिछली रात जैसी वर्षा हुई थी, उससे भी तेज़। खिड़की के शीशों से टकराती हुई बूँदें बार-बार एक चुनौती लिये हुए आती थीं। परन्तु सहसा बैंबस होकर नीचे को ढूलक जाती थीं। उन बहती हुई धारों को देखकर लगता था जैसे कई एक चेहरे खिड़की के साथ सटकर अन्दर झाँक रहे हों और लगातार रो रहे हों। किसी क्षण हवा से किवाड़ खुल जाते थे, तो वे चेहरे जैसे हिचकियाँ लेने लगते थे। हिचकियाँ बन्द होने पर वे गुस्से से धूरने लगते। उन चेहरों के पीछे अँधेरा छटपटाता हुआ दम तोड़ रहा था।

“डिक्लेयर !” प्रकाश चौंक गया। उसके हाथ में पत्ते अभी उसी तरह थे—इस बार भी उसे फुल हँड ही देना था। पत्ते फेंककर उसने पीछे टेक लगा ली और फिर खिड़की से सटे हुए चेहरों को देखने लगा।

“तुम वहूँ ही खुशक्रिस्मत हो प्रकाश, सचमुच हम में सबसे खुशक्रिस्मत आदमी तुम्हीं हो…” प्रकाश की आँखें खिड़की से हट आयीं। पते उठाकर रख दिये गये थे और भेज पर हार-जीत का हिसाब किया जा रहा था। हिसाब करनेवाला व्यक्ति ही उससे कह रहा था, “कहते हैं न कि जो पत्तों में बदक्रिस्मत हो, वह जिन्दगी में खुशक्रिस्मत होता है! अब देख लो, सबसे ज्यादा तुम्हीं हारे हो, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि सबसे खुशक्रिस्मत आदमी तुम्हीं हो।”

प्रकाश ने अपने नाम के आगे लिखे हुए जोड़ को देखा। पल-भर के लिए उसकी घड़कन बढ़ गयी कि उसकी जेव में उतने पैसे हैं भी या नहीं। जेव में हाय डालकर उसने पूरी जेव खाली कर ली। लगभग हारी हुई रक्त के वरावर ही पैसे जेव में थे। वह रक्त अदा कर देने के बाद दो-एक छोटे-छोटे सिक्के ही पास में बच रहे—और उनके साथ वह मुचड़ा हुआ अन्तर्देशीय पत्र जो शाम की डाक से आया था और जिसे जेव में रखकर वह चलव चला आया था। पत्र निर्मला का था जो उसने अब तक खोलकर पढ़ा नहीं था। जेव में पड़े-पड़े वह पत्र काफ़ी मुचड़ गया था। निर्मला के अक्षरों की बनावट पर नज़र पड़ते ही निर्मला के कई-कई उन्मादी चेहरे उसके सामने आने लगे—उसके हाथ का लिखा एक-एक अक्षर जैसे एक-एक चेहरा हो! घर से चलने के दिन भी वह उसके कितने-कितने चेहरे देखकर आया था! एक चेहरा था जो हँस रहा था, एक था जो रो रहा था; एक बाल खोले हुए जोर-जोर से चिल्ला रहा था और धमकियाँ दे रहा था और एक…एक चेहरा भूखी आँखों से उसके शरीर को निगलना चाह रहा था! उसने रोज़ के इस्तेमाल का कुछ सामान साथ लाना चाहा था, तो एक चेहरा उसके साथ मल्लयुद्ध करने पर उतारू हो गया था।

“निर्मला!” उसने हृतप्रभ होकर कहा था, “तुम्हें इस तरह गुत्थम-गुत्था होते शरम नहीं आती?”

“क्यों?” निर्मला हँस दी थी, “मर्द और औरत रात-दिन गुत्थम-गुत्था नहीं होते क्या?”

वह बिना एक कमीज़ तक साथ लिये घर से चला आया था। बनियान, टॉलिया, कंधा, कमीज़ सब-कुछ उसने आते हुए रास्ते में खरीदा था—यह सोचने के लिए वह नहीं रुका था कि उसके पास जो चार-पाँच सौ रुपये की पूँजी है, वह इस तरह बितने दिन चलेगी! बिछाने-ओढ़ने का सामान भी उसे वहाँ पहुँचकर ही किराये पर लेना पड़ा था…!

और वहाँ आने के चौथे-पाँचवें रोज़ से ही निर्मला के पत्र आने लगे थे—वह उसके किसी मित्र के यहाँ जाकर उसका पता लगा आयी थी। उन पत्रों में भी निर्मला के वे सब चेहरे ज्यों-के-त्यों विद्यमान रहते थे…वह सद्वीभार है और अस्पतालजा रही है…उसके भाई पुलिस में खबर करने जा रहे हैं कि उनका वहनोई लापता हो गया है…वह रात-दिन बेचैन रहती है और दीवारों से पूछती है कि उसका “चाँद कहाँ है”…वह जोगिन का वेश धारण करके जंगलों में जा रही है…दो दिन के अन्दर-अन्दर पत्र का उत्तर न आया, तो उसके भाई उसे हवाई जहाज में विठाकर वहाँ भेज देंगे…उसके छोटे

भाई ने उसे बहुत पीटा है कि वह अपने 'खसम' के पास क्यों नहीं जाती...!

अन्तर्देशीय पत्र प्रकाश की आँगुलियों में भसल गया था। उसे फिर से जेव में रख-
कर वह उठ खड़ा हुआ। वाहर डचोड़ी में कुछ लोग जमा थे—कि वारिश रक्के, तो वहाँ
से जायें। उनके बीच से होकर वह वाहर निकल आया।

"श्राप इस वारिश में जा रहे हैं?" किसी ने उससे पूछा। उसने चुपचाप सिर
हिला दिया और कच्चे रास्ते पर चलने लगा। सामने केवल 'नीडोज होटल' की वत्तियाँ
जगमगा रही थीं—बाकी सब तरफ दायें-बायें और ऊपर-नीचे आँधेरा ही आँधेरा था।
कलव के अहाते से निकलकर वह सड़क पर पहुँचा, तो पानी और भी तेज हो गया।

उसका सिर पूरा भीग गया था और पानी की धारें गले से होकर कपड़ों के अन्दर
जा रही थीं। हाथ-पैर सुन्न हो रहे थे मगर आँखों में उसे एक जलन-सी महसूस हो रही
थी, कीचड़ से लयपथ पैर रास्ते में आवाज करते थे तो उसके शरीर में कोई चीज झन-
झना उठती थी। सहसा एक नयी सिहरन उसके शरीर में भर गयी। उसे लगा कि वह
सड़क पर अकेला नहीं है—कोई और भी अपने नन्हे-नन्हे पांव पटकता हुआ उसके साथ
चल रहा है। रास्ते की नाली पर बना हुआ लकड़ी का छोटा-सा पुल पार करते हुए उसने
घूमकर उस तरफ देखा। उसके साथ-साथ चल रहा था एक भीगा हुआ कुत्ता—कान
फटकता हुआ, खामोश और अन्तर्मुख !

विजेता

सौर का कमरा उस गन्ध से भरा हुआ था जो सुलगती हुई अजवाइन और कड़वे तेल के दीये से मिलकर बनती है और वह साझा पुराने कपड़ों में लिपटी हुई लेटी थी। वह दरवाजे पर आकर रुक गया, वह वहाँ होगी, उसे जो कुछ हुआ है उसके बाद कैसी और कितनी बदली हुई और वह भी वहाँ होगा जिसे अनेक बार उसने कामिनी के शरीर में अनुभव किया है, अपने और उसके बीच और उन दोनों से स्वतन्त्र। क्या वह जानता होगा कि मैंने उसके साथ क्या किया है? 'मैं उसे देखने को लालायित हूँ, जानते हुए कि मैंने उसे नहीं चाहा था, और वह फिर भी है', अशोक ने कहा, 'उसने मुझे क्षमा कर दिया है क्योंकि मेरे मन में उसके लिए सिर्फ प्यार है—अगर प्यार का शब्द ज़रा भी व्यक्त कर सकता है जो मेरे मन में है।'

वे दोनों अभी कुछ बँकूत तक सन्तान नहीं चाहते थे। दोनों के कारण अवश्य अलग-अलग रहे होंगे पर उसका क्या महत्व है, क्योंकि अपने शरीर के इस्तेनाल के बारे में दोनों के विचार निश्चित थे। उसने भी न चाहा था कि ऐसा हो पर असावधानी से जो कुछ हो गया था वह अन्ततः उसके ही कारण हुआ था और उसकी संगिनी नर्मवती थी। 'यह मैंने किया है और वह स्त्री मेरी स्त्री है, वह इसे नहीं चाहती है और मैं जो कि उससे ज्यादा ताक़तवर हूँ, इसका कारण हूँ। सब ठीक हो जायेगा', हँसकर उसने कहा। एक भयंकर-सी बोतल उसने निकाली—कत्थर्ड-सी तीखी गन्ध बाली चीज़ थी—सूंधा और आँखें आधी बन्द करके बोला, 'तबीयत खुश हो जायेगी और छूट्टी मिल जायेगी।'

दो दिन तक कामिनी का सारा शरीर जलता रहा जैसे गहरे अन्दर किसी अँगीठी में आग जला दी गयी हो। वह चुपचाप प्रतीक्षा करती रही। कभी-कभी आँखें खोलकर देखने की कोशिश करती मगर चारों ओर केवल लाल-लाल दिखायी देता। क्या चुरू हो गया? वह सोचती पर फिर अन्दर सब ठस हो जाता जैसे कोई तनकर खड़ा हो जाता है और वह झपक जाती। दो दिन बाद चोर की तरह उठी, बोली नहीं, और काम में लग गयी और कुछ दिन ऐसे ही बीत गये।

कुछ फ़ायदा नहीं हुआ? अशोक ने पूछा, मुझसे तो कहा गया था कि यह काफ़ी होगी, मगर जायद तुम्हें इससे ज्यादा तेज़ कुछ चाहिए। और वह मुसकराया जैसे औरत को गुदगुदा रहा हो।

'मैं सब ठीक कर दूँगा, तुम डरो नहीं।'

'तुम कर ही क्या सकते हो?' वह बोली।

भाई ने उसे बहुत पीटा है कि वह अपने 'खसम' के पास क्यों नहीं जाती…!

अन्तदेशीय पत्र प्रकाश की श्रृंगुलियों में मसल गया था। उसे फिरं से जेव में रख-
कर वह उठ खड़ा हुआ। बाहर ड्योढ़ी में कुछ लोग जमा थे—कि बारिश रुके, तो वहाँ
से जायें। उनके बीच से होकर वह बाहर निकल आया।

"श्राप इस बारिश में जा रहे हैं?" किसी ने उससे पूछा। उसने चुपचाप सिर
हिला दिया और कच्चे रास्ते पर चलने लगा। सामने केवल 'नीडोज होटल' की वत्तियाँ
जगमगा रही थीं—वाकी सब तरफ़ दायें-दायें और ऊपर-नीचे श्रृंघेरा ही श्रृंघेरा था।
कलव के अहाते से निकलकर वह सड़क पर पहुँचा, तो पानी और भी तेज़ हो गया।

उसका सिर पूरा भीग गया था और पानी की धारें गले से होकर कपड़ों के अन्दर
जा रही थीं। हाथ-पैर सुन्न हो रहे थे मगर आँखों में उसे एक जलन-सी महसूस हो रही
थी। कीचड़ से लथपथ पैर रास्ते में आवाज़ करते थे तो उसके शरीर में कोई चीज़ भन-
भना उठती थी। सहसा एक नदी सिहरन उसके शरीर में भर गयी। उसे लगा कि वह
सड़क पर श्रकेला नहीं है—कोई और भी अपने नन्हे-नन्हे पाँव पटकता हुआ उसके साथ
चल रहा है। रास्ते की नाली पर बना हुआ लकड़ी का छोटा-सा पुल पार करते हुए उसने
धूमकर उस तरफ़ देखा। उसके साथ-साथ चल रहा था एक भीगा हुआ कुत्ता—कान
भटकता हुआ, खामोश और अन्तर्मुख !

उसने दो कदम बढ़ाये । वह; वे वहाँ हैं । अपने बड़े से शरीर को कई जगह से मोड़ते हुए वह तिपाई पर बैठ गया । कामिनी इस तरफ पीठ किये लेटी थी । 'वह है मेरी स्त्री, कितनी सुन्दर और नयी, पर वही मेरी पत्नी ।' उसका दिल चाहा कि यह अन्तर जो हम दोनों के बीच है, हमेशा-हमेशा के लिए बना रह जाय ।

अचानक उसे अपने बच्चे की याद आयी । 'देखूँ, देखूँ', उसने कहा ।

कामिनी ने सिर धमाकर देखा । पहले तो वह लजायी और बच्चे की तरफ मुँह कर लिया जैसे छिप रही हो, फिर चिढ़ाती हुई-सी उसके पिता को देखने लगी ।

'क्यों मुझमें क्या खास बात है?' अशोक बोला ।

'कुछ नहीं, सिर्फ देख रही हूँ कि आदमी कैसा दिखता है', कामिनी ने मन में कहा, और बच्चे के मुँह पर से आँचल हटा लिया ।

अशोक का दिल बुरी तरह घड़कने लगा । 'वह कैसा होगा? प्रसन्न? या याद रखता हुआ कि मैंने क्या किया है? क्या उसने मुझे धमा कर दिया है? मुझे धमा कर दो', उसने कहा और उसका चेहरा खिल उठा ।

लाल मुट्ठियाँ बन्द किये हुए और उसकी स्त्री का स्तन मुँह में लिये वह अनायास अपना अधिकार भोग रहा था । न, उस पर कहीं कोई निशान न था, न कोई खरोंच या दाग, न कुछ । यह जीता हुआ आदमी है—अशोक ने कहा और हँसी रोकने से उसका चेहरा दीप्त हो उठा ।

लड़के ने अपने बाप की ओर देखा ही नहीं, न कुछ समझा कि यह कौन है और क्या चाहता है । उसे ज़हरत भी न थी । आँखें बन्द किये वह निःस्पृह भाव से अपना काम करता रहा और कद्दू-जैसा पड़ा रहा । उसने एक लड़ाई जीत ली थी और वह वहाँ था, अक्षत और सम्पूर्ण, जैसा कि वह दूसरों के बावजूद बना था और कुल इतने से ही उसे किलहाल भतलव था ।

‘क्यों, जब मैं एक काम कर सकता हूँ तो दूसरा भी कर सकता हूँ।’

कितना गन्दा इसका मुँह है, कामिनी ने सोचा और उसका जी मिचलाने लगा।

“तुम घबराती क्यों हो ? सिर्फ तुम्हें थोड़ी-सी तकलीफ होगी।”

इस बार कुछ निरीह सफेद टिकियाँ थीं और फिर चार दिन तक कामिनी जबर-दस्त बुखार में तड़पती रही। चिड़िया की तरह मुँह खोलकर वह हाँफती और उसका जी चाहता कि वह उड़ जाय। और कुछ देर के लिए उसे लगा कि वह शून्य में चली गयी है, कई बार वह वहाँ से गिरी और उसकी चेतना लौटी, मगर वह उस चीज़ को लिये पड़ी रही जो उसके भीतर खीलती हुई धातु की तरह सब तरफ़ को ढीड़ रही थी और बाहर नहीं आ रही थी। ‘ईश्वर ने मुझे बचा लिया’, उसने कहा।

‘वेवकूफ़ी की बात’, अशोक बोला, ‘यह तकलीफ़ तुम्हारा शरीर फेल ले गया, क्योंकि वह मजबूत था।’

सचमुच क्या यह कष्ट सब उसी ने उठाया था? कामिनी सोचने लगी—अकेले वह निश्चय ही नहीं उठा सकती थी। ‘मैं मर्हँगी नहीं, उसने कहा, क्योंकि अब मैं मरना नहीं चाहती।’

‘तुम मरोगी नहीं, सिर्फ़ डॉक्टर के यहाँ एक बार चलना होगा।’

‘नहीं, नहीं’, उसने कहा, ‘मैं नहीं जाऊँगी।’

‘सिर्फ़ एक बार थोड़ा कष्ट होगा और सब ठीक हो जायेगा।’

‘नहीं, नहीं’, कामिनी ने कहा, ‘अपने लिए मैं कह सकती हूँ कि कष्ट हो पर किसी दूसरे के लिए कैसे यह तय कर सकती हूँ। मैं अब तुम्हें कुछ न करने दूँगी।’ वह बोली।

‘वेवकूफ़, अभी तो उसमें जान भी नहीं पड़ी।’

‘पर वह है’, कामिनी ने कहा, ‘एक चीज़ थी जिसे तुम नष्ट कर देना चाहते थे और वह नष्ट नहीं हुई, यह प्रमाणित करते हुए कि वह है। मैं जानती हूँ कि वह है और दो बार तुम उस पर आक्रमण कर चुके हो और वह उन्हें बचा गया है।’ कितना विरोध किया होगा उसने, कामिनी ने सोचा, और तरस खाकर अपने पति की ओर देखा। ‘मैं जानती हूँ कि तुम उससे ज्यादा ताक़तवर हो पर तुम हार गये हो। अब तुम उसे रहने दो’, उसने कहा, ‘क्योंकि उसका होना आरम्भ हो गया है’, और मन में जोड़ा, ‘वह होगा और तुम्हें क्षमा कर देगा।’

अशोक ने एक पैर रखकर अन्दर भाँका। सामने केवल सरसों के तेल का प्रकाश था और एक विशेष प्रकार की स्वच्छता थी, दोनों एक-दूसरे से संयुक्त और जीवित। कहाँ हैं वे, उसने अपने से पूछा। अभी कल तक वह उसे अपने साथ-साथ उस क्षण तक लायी थी जिसे केवल वह ही अनुभव कर सकती थी। घंटों वे अपने बचपन के किस्से एक-दूसरे को सुनाया करते थे और वह भारी और थकी, निर्मल और शान्त बैठी रहती थी; ‘तुम मेरे पास ही कहीं रहना,’ उसने कहा था। ‘ज़रूर’, अशोक ने कहा था, चिना रत्ती-भर भी जाने हुए कि क्यों, पर उसके लिए और कोई दूसरी जगह ही ही नहीं सकती थी, उसने सोचा और अन्ततः वह वहाँ था, पास ही और उस अनुभव से अपने में गुज़रता हुआ जिसमें से उसकी पत्नी अपने सम्पूर्ण शरीर के साथ गुज़र रही थी।

‘‘याले पर तब तक भाषण देता रहा था, जब तक वह जाने को तैयार नहीं हो गया था। छुट्टू थोड़ा जिह्वा है, बिलकुल मौजीराम। हम दोनों भाइयों की उम्र में काफ़ी कठ्ठा है, मगर दोनों भाई से ज्यादा दोस्त हैं। मैंने उसे फिर यह भी कहा था, “मैं तुम्हारी जगह होता, छुट्टू, और ऐसी नीकर मिलती हो दौड़ लगाता हूँ आ जाता और तुरन्त जदान कर लेता। कॉलेजों में तो पांचों श्रेणियाँ धी में रहती हैं।

“और सिर कड़ाही में !”

“और सफलता चरण चूमती है वहाँ !”

“और चप्पलें सिर ?”

“चप्पलें दुश्मनों का सिर चूमें !” मैं नज़र टेढ़ी करके हँस दिया था।

“क्यों, बड़के ?” वह थोड़ा गम्भीर होकर बोला था, “मेरी तो नज़र फेंकने की आदत है यार, और वहाँ क्लास में रहेंगी लड़कियाँ !”

मैंने उसे एक धृष्ट लगा दिया था, “छात्राएँ तो अपनी बेटियों की तरह होती हैं।”

और हम दोनों की हँसियाँ काँफ़ीहाउस में यूँ तैरने लगी थीं, जैसे दीये-ख्वाड़ी नावें हों।

छुट्टू की तैयारी शुरू हो गयी। उसने मेरे भी आधे कपड़े साथ ले जाने को रख लिये, “वात यह है, बड़के, कि वहाँ जरा रोब गालिद करना पड़ेगा।”

फिर शाम को उसके लिए टाइयाँ और भोजे खरीदते रहे हम, जैसे नीकरी करने नहीं, लड़की देखने जा रहे हों।

“पर, बड़के, तुम तो उस कस्बे में छः महीने रहे हो।”

“उस बात को तो बरसों हो गये।”

“क्या छः महीने तक उस एश्रीकल्चर फ़ार्म पर ही अलख जगाते रहे ? ट्रेनिंग में गये थे या तपस्या करने ?”

मुझे सहसा याद आया था, “हाँ, छुट्टू, एक मोशाय थे वहाँ, मैं उन्हीं के कमरे में रहता था। कोई ‘जी’ थे वह—चटर्जी, मुखर्जी या वैनर्जी, याद नहीं। यार छुट्टू, बड़ी जीज से दिन कटे थे वहाँ। उनके नाम एक चिट्ठी लिख देता हूँ।”

दो दिनों बाद छुट्टू के जाने का दिन आ गया। वह हमारे भरे घर को छोड़ चला गया। मैंने खुद उसे जीर देकर भेजा था, पर उसकी बस जब चली तो मुझे खलाई आ गयी थी।

• • •

इस समय आकोस्ट्रा जमकर बजाया जा रहा है। विस्टो पीते लोगों के पांच ताल दे रहे हैं। चेरी-पिंग की धुन में ऐसी कुछ मस्ती है जैसे मेज पर रखी हुई बोतलें भी अपने-आप आपस में टकराने लगती हैं। फिर जिन्दा आदमी कैसे न भूमे ? लोग सब खा चुके हैं और मेरे चम्मच में रसगुल्ला रखा-का-रखा ही है। मेरी श्रेणियाँ चम्मच को पकड़े हैं सो पकड़े ही हैं। टेढ़ा भी नहीं होता मेरा हाथ कि रसगुल्ला नीचे गिर जाये। इस धुन के साथ तो रसगुल्ला उछलकर खाया जा सकता है। जो होता है कि मस्ती में आकर कोई जंगली आवाज अपनी जबान पर ने किसल जाने दे। हाथ अधर

शवरी

मैं कर ही क्या सकता हूँ सिवाय इसके कि कहीं अकेले में बैठकर अपने हाथ मींजूँ और आँखें बन्द कर सोचता ही चला जाऊँ । पर ऐसा भी कहाँ कर सकता है ? नहीं कर सकता, क्योंकि मेरे एक हाथ में प्लेट है और दूसरे में चम्मच । बफ़े के लिए हम सब लोग लॉन में सजायी गयी मेजों के आस-पास खड़े हैं । लोग आगे बढ़-बढ़कर अपनी-अपनी प्लेट में पसन्द की चीज़ें रख रहे हैं और मैं सबकी ओर देख रहा हूँ । देख इस सरह रहा हूँ, जैसे किसी की ओर भी नहीं देख रहा होऊँ । मुझे तो आगे बढ़कर लोगों का स्वागत करना चाहिए, मनुहार करनी चाहिए, पर मैं हूँ कि ऐसा ही गया है, जैसे शरीर का कोई हिस्सा रह गया हो । दायें हाथ का चम्मच जाने कैसे मेरे वायें हाथ की नीली प्लेट पर बज जाता है, जैसे मैं समय बजानेवाला होऊँ । नहीं, मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए, मुझे आगे जाकर अपनी प्लेट में कुछ ले लेना चाहिए । नहीं लूंगा तो एकदम सबकी नजरों में पकड़ा जाऊँगा और वे कभी देख लेंगे तो एट-होम का मजा ही जाता रहेगा । मेरी सेहत के बारे में हजारों जबाब तलब किये जायेंगे और मैं तुतलाने लगूंगा; कुछ बोल ही नहीं पाऊँगा । इस सबसे बेहतर यह है कि मैं किसी की नजर में न आऊँ । मुझे इस समय खुश दिखना चाहिए । मैं अपने-आपको भटक देता हूँ, आगे बढ़ता हूँ और एक रसगुल्ला अपनी नीली प्लेट में रख लेता हूँ—साँझ के नीलेकच आस-मान में चाँद की तरह । पर मुझे खाते समय उपमाएँ नहीं सोचनी चाहिए । मुझे केवल खाना चाहिए । मैं चम्मच में रसगुल्ला रख लेता हूँ और मेरा हाथ ऊपर उठता है । मुझे लगता है, जैसे कोई और हाथ मेरे मुँह की ओर वह चम्मच ला रहा है और मैं खाना नहीं चाहता । रसगुल्ला मेरी पसन्द की चीज़ है और उसी का टुकड़ा अगर बत्तीसी पर भटकता रहा, तो वेचारा अपने घर में बेगाना होगा । मेरी औँगुलियाँ रसगुल्ले का चम्मच पकड़े अधर में लटकी हैं, मैं खा भी सकता हूँ और नहीं भी…

“मैं जा भी सकता हूँ और नहीं भी !” यह छुट्टू ने कहा था ।

बात सुनकर मैं नाराज हो गया था । डॉटकर मैं बोला था, “जाओगे क्यों नहीं ? तुम एम० एस-सी० हुए । तुम्हें अच्छी नीकरी मिली । वह जगह छोटी है तो क्या हुआ ? वहाँ डिग्री कॉलेज है तो विल्कुल गाँव तो होगा नहीं वह ।”

छुट्टू कुछ नहीं बोला था । वह ठीक कहता है । इन्दौर छोड़कर कहीं गया नहीं न, इसीलिए डरता है । मगर ऐसा चांस छोड़ा तो हमेशा कॉर्सोरेशन में बलकी करता रहेगा । मैं शाम को उने अपने साथ कॉफीहाउस ले गया था और कड़वी वॉफ़ी के एक

कहीं रेलवे में है। इन्हें पेस्यान निलती है। लड़की पड़ती है। वह अंग्रेजी में प्राइवेट एम० ए० कर रही है। और नेरा सचेत है केमिस्ट्री। कोई पट्टी नहीं बैठती। नगर जो बात मैं कहता चाहता था, वह यह है बड़के, कि वह जो नोमदकार बाली लड़की है न, तुम्हें जानती है। कल याम तुम्हारा खत देने आयी थी—ओ याय गोड़! बड़के, ऐसे लम्बे बाल करनी नहीं देते! लूठ बालूं तो भेरे चम्पे का नम्बर बढ़ जाये! लूने बाल उसकी एड़ी को छू रहे थे। बोली थी कि तुम उनके (यानी तुम्हारे) छोटे भाई हो न! फिर यह भी पूछा था कि वे नुस्के (यानी उसे) जानते हैं क्या?

मैं तो उत पढ़ते-पढ़ते बन गया था। जैसे स्वयं को दौषिणी दा रहा था कि मैंने कर्नी उते याद कर्नी नहीं किया। मूझे नहीं याद कि उनके बाल लम्बे थे। तब उनका दरीर खूब भरा हुआ, रंग खूब साक़ और आँखों में खूब धरारत भरी थी। वह तब यायद नवीं में थी, यायद दसवीं में, वह सब मैं भूल चुका हूँ। कैसे आँदर कर नोगाय से परिचय हुआ, वह सब भी याद नहीं किया जा सकता। मैं उनके घर के ही एक आदमी की तरह रहता था। नोगाय रेज में हैडकर्नर थे। दिन-रात आँफ़िस का काम आँदर पुरानत मिलती तो शतरंज। मूझे आ पकड़ते थे। मैं बड़ी मुद्दिकल से छू दा रहता। अधिक समय क्लार्म पर ही कटता था मेरा। जितने समय भी घर रहता, लूकी भेरे कमरे में रहती।

“नोमदकार!” वह पीछे के दरवाजे से आती और कमरे में रखी इकलौती चोल मेज पर हाथ में अपने कर्ने की कोई किताब लिये आ बैठती।

“की?” वह नुस्कान के छल्ले बनाती।

“भालो,” मैं इतना कहते हाथ की काँसी उसके तिर पर दे भास्ता। वह गोल मेज पर धरारत से आवी लेट जाती। मैं उसे मनाता। पुकारता, “खुकी!”

वह नहीं बोलती।

“खुकी!” मैं फिर पुकारता और वह तृप्त ही रहती।

“खुकी!”

अब वह बोल देती, “कि?”

“खुकी, तुमि बोर!”

“आमि ना, तुमि!” वह चिढ़ जाती।

“खुकी, तुमि बोका!”

“कि बोलचे? बोका?” वह दोर ने हँस देती। फिर कहती, “आमि ना, तुमि-तुमि-तुमि!” और यही तुम-तुम की रट नगाती वह चलती जाती।

दिन निकलते फिर चाय लाती। नीली प्लेट में एक रसगुल्बा नेकर आनी—साँझ के नीलेकच ग्रासमाल में चाँद की तरह। मैं एक बार मैं ही रसगुल्बा खा जाता और क्लार्म की ओर जाने को होता। वह जानती थी कि मैं क्लार्म जाता हूँ, फिर भी पूछे जितना भी ही रहती, “कोत्ये, दादा?”

मैं उत्तर देने के बजाय उसका हाथ पकड़ नेता। वह चीतनी-चिल्लानी, “थेड़े दाप्तो!”...

और वही खुकी पूछ रही है, पूछ ददा रही है, पुछवा रही है कि मैं उने जानता

मैं चम्मच लिये दुख-सा आया है। मैं प्लेट नीचे रखकर रसगुल्लेवाला चम्मच उसमें बहुत आहिस्ता से रख देता हूँ। चम्मच टेढ़ा हो जाता है और रसगुल्ले का गोला उसकी गोद में से लुढ़ककर प्लेट के नीले विस्तरे पर लुढ़क जाता है। मैं उसकी ओर देखता रहता हूँ। मेरा जी चाहता है कि यह रसगुल्ला प्लेट में से भी लुढ़के और मेज की सफेद क्रीप पर आ जाये, फिर वहाँ से भी लुढ़के और हरी लॉन पर गिर जाये।

००

छुट्टू ने पहले खत में ही बहुत-सारी बातें लिख भेजी थीं—

एक—कल रात मैं तख्त पर से नीचे गिर गया। मुझे तख्त पर सोने की आदत नहीं और तुम्हारे उन मोशाय ने उस पर सुला दिया था। थका हुआ था, सो ऐसी नींद आयी कि नीचे गिर गया। सिर पर तुम्हारे उन मोशाय ने ही पट्टी बांधी। बड़के, बूढ़े आदमी इतने प्यारे होते हैं, यह मुझे नहीं मालूम था।

दो—मैं अब रसगुल्ले खाने लगा हूँ। पहले मुझे उनका भक्त सफेद रंग बहुत बोर लगता था, अब वही प्यारा लगता है।

तीन—पाँचों श्रृंगुलियाँ धी में ही सकती हैं, क्योंकि यहाँ धी का एक हिन्द महासागर कन्याकुमारी के आस-पास लहरे मार रहा है।

चार—तुम सब बहुत याद आते हो। एक दिन तुम्हें यहाँ आना होगा। तब तक तुम्हारे साथ खर्च करने के लिए मैं कुछ रुपया जोड़ लूँगा।

खत पढ़ते ही मैं भी लिखने बैठ गया—मौज से रहो, मगर सँभलकर। तुम्हें अभी जमना है। नयी नौकरी है, नयी जगह। हिन्द महासागर में डूब मत जाना...

लगता था, जैसे मेरा पत्र पाते ही वह भी लिखने बैठ जाता था—

बड़के, अब मैं ठीक से जम गया हूँ। फ़िक्र की कोई बात नहीं। कॉलेज के लड़के सभी सीधे हैं। हल्ला बै करते हैं, जिनकी समझ में कुछ आता है। इनकी समझ में ही नहीं आता कुछ, तो बैचारे क्या खाकर मुझे हूट करेंगे? हाँ, अब मैं उसी कमरे में रह रहा हूँ, जहाँ तुम रहते थे। एक बात लिखने को बड़ा मन है। शायद पढ़कर तुम्हें अच्छा लगेगा। बात यह है कि कल मोशाय ने एक कटीरी में कुछ खाने की दिया। गुड़ से बनी जाने क्या चीज़ थी। बोले—नवधान्य है यह। मैंने वह खा तो लिया, पर मुँह जाने कैसा हो गया। मोशाय मेरा मुँह देख भाँप गये। परदे की तरफ देख किसी को पुकारकर बोले—जौल! एक लड़की पानी लेकर आयी। मोशाय ऐसे बोलते हैं जैसे उनके दोनों गालों में हवा भरी हो और वह लड़की भी बैसे ही—नोमश्कार! यद्यों बड़के, तुमने हमसे कभी जिक्र ही नहीं किया कि यहाँ कोई लड़की भी है? एक औरत भी है यहाँ—श्रीमती मोशाय। माँ कहती है वह लड़की उन्हें। सुनते हैं वह माँ दिन-रात मानस-पूजा किया करती हैं। आँखें मूँदे बैठकर भगवान् की कल्पना किया करती हैं। भगवान् आ जाते हैं। वह बैसे में ही पूजा का सामान इकट्ठा करती हैं और अच्छे-से-अच्छे पकवान भोग लगाती हैं—यह सब-कुछ मानस में होता है। और मुझे तो ऐसा लगता है कि मोशाय भी मानस में कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। जब देखो, उनके हाथ में पेरी मेसन, कानन डायल या ब्लेक सीरीज़ के उपन्यास रहते हैं। उनका लड़का

कहीं रेलवे में है। इन्हें पेन्शन मिलती है। लड़की पढ़ती है। वह झंगेजी में प्राइवेट एम० ए० कर रही है। और मेरा सचेत है केमिस्ट्री। कोई पटरी नहीं चैठती। मगर जो बात मैं कहना चाहता था, वह यह है बड़के, कि वह जो नौमश्कार याली लड़ती है न, तुम्हें जानती है। कल शाम तुम्हारा खत देने आयी थी—सो माय गाँड़! बड़के, ऐसे लम्बे बाल कभी नहीं देखे! झूठ बोलूँ तो मेरे चरमे का नम्बर बड़ जाये! तुले बाल उसकी एड़ी को छू रहे थे। बोली थी कि तुम उनके (यानी तुम्हारे) छोटे भाई हो न! फिर यह भी पूछा था कि वे मुझे (यानी उसे) जानते हैं क्या?

मैं तो खत पढ़ते-पढ़ते थम गया था। जैसे स्वयं को दोषी पा रहा था कि मैंने कभी उसे याद क्यों नहीं किया। मुझे नहीं याद कि उसके बाल लम्बे थे। तब उसका चरीर खूब भरा हुआ, रंग खूब साफ़ और आँखों में खूब शारारत भरी थी। यह तब एापद नवीं में थी, शायद दसवीं में, यह सब मैं भूल चुका हूँ। कैसे और कब सोशाय रो परिचय हुआ, यह सब भी याद नहीं किया जा सकता। मैं उनके घर के ही एक आदमी थी तरह रहता था। सोशाय रेज में हेडकलर्क थे। दिन-रात आँफ़िस का काम और पुरस्त मिलती तो शतरंज। मुझे आ पकड़ते थे। मैं बड़ी मुश्किल से छूट पाता। अधिक समय फ़ाग़ पर ही कटता था मेरा। जितने समय भी घर रहता, खुक्की मेरे कमरे में रहती।

“नौमश्कार!” वह पीछे के दरवाजे से आती और कमरे में रखी इकलीती गोल मेज पर हाथ में अपने कोर्स की कोई किताब लिये आ चैठती।

“किं?” वह मुसकान के ढल्ले बनाती।

“भालो,” मैं इतना कहते हाथ की काँपी उसके सिर पर दे मारता। यह गोल मेज पर शारारत से आधी लेट जाती। मैं उसे मनाता। पुराता, “खुक्की!”

वह नहीं बोलती।

“खुक्की!” मैं फिर पुकारता और वह चुप ही रहती।

“खुक्की!”

अब वह बोल देती, “कि?”

“खुक्की, तुमि बोर!”

“ग्रामि ना, तुमि!” वह चिढ़ जाती।

“खुक्की, तुमि बोका!”

“कि बीलचे? बोका?” वह जोर से हँस देती। फिर कहती, “ग्रामि ना, तुमि-तुमि-तुमि!” और यही तुम-तुम वी रट लगाती वह चली जाती।

दिन निकलते फिर चाय लाती। नीली प्लेट में एक रसगुल्ला लेकर आती—साँझ के नीलेकच आसमान में चाँद वी तरह। मैं एक बार मैं ही रसगुल्ला या जाता और फ़ार्म की ओर जाने को होता। वह जानती थी कि मैं फ़ार्म जाता हूँ, फिर भी पूछे बिना कहीं रहती, “कोत्ये, दादा?”

मैं उत्तर देने के बजाय उसका हाथ पकड़ नेता। वह चीखनी-चिल्लानी, “ये दादो!”

और वही खुक्की पूछ रही है, पूछ क्या रही है, पुछवा रही है जि मैं उसे जानता

हूँ क्या ? मैं चत पर किर निगाह जमा लेता हूँ ।

तो, बड़के, जवाब देते हुए यह लिखो कि तुम उसे जानते हो क्या ? माँ की यह भी शिकायत है कि बड़ा भाई (यानी तुम) बड़ा मिलनसार था और तुम (यानी मैं) नहीं हो । मोशाय से तो मैं ठीक-ठाक वात कर लेता हूँ, लेकिन माँ से जाने वर्षों मुझे डर लगता है और नोमश्कार वाली लड़की जब सामने पढ़ जाती है तो उसके एड़ी तक लम्बे वाल मेरे दिमाग पर हावी हो जाते हैं । कहीं पढ़ा था शायद कि ऐसे लम्बे वालों वाली को एलोकेशी कहते हैं । कहते हैं क्या ? और हाँ, बड़के, अब मैं बैंगला सीख रहा हूँ । एक सप्ताह में ही आश्चिच-जादिच बोलने लगा हूँ । और क्या लिखूँ ? . . .

और क्या कहूँ मैं ? यह रसगुल्ला नीचे नहीं गिरने का । यों चुप है, जैसे सो गया है । कोई तभी विमटो की एक बोतल मुझे दे जाता है । मैं उसे एक ही हाथ से पकड़े-पकड़े स्ट्रॉ मुँह से लगा लेता हूँ, पर साँसें ऐसी थक गयी हैं कि विमटो मुझसे स्ट्रॉ में खींचा ही नहीं जाता । मैं नजर नीची कर स्ट्रॉ की पारदर्शक सफेदी में लाल रंग के साथ बननेवाले हवा के सफेद मोतियों की भीड़ देखता हूँ । जैसे-तैसे एक साँस ऊपर खिचती है तो विमटो मृँह में भर आता है । लेकिन तबीयत होती है, इसे पीऊँ नहीं, थूक दूँ . . .

“तुमि जोल खावे ?”

“ना खुकी, आमि मस्तिष्क खावे !” मैं तेजी से ढोड़कर उसे कमर से पकड़ लेता । वह मुझसे छूटने को कसमसाती । फिर एक रोशगुल्ले की या एक सन्देश की या एक प्लेट नवधान्य की शर्त पर मैं उसे छोड़ देता । मैं क्रार्म के बोर्डिंग में खाना खाता था, पर हर तीसरे-चौथे दिन मोशाय मुझे निमन्त्रित कर लेते । मैं सभभ जाता कि आज भात-माछ बना है । फिर आम को सहन में सज इकट्ठे होते । माँ पीढ़े पर बैठी रहतीं, मैं एक कुरसी पर । मोशाय आँफिस के थके आरामकुरसी पर लेट जाते और खुकी टहलती रहती । मोशाय गीत सुनने को कहते तो वह मन-ही-मन गुनगुनाती और किर रोबीन्ड्र संगीत की लहरों से सहन गूँज उठता । मोशाय को पसन्द था—

आमादेर पाकवे ना चुल गो, मोदेर पाकवे ना चुल

आमादेर भरवे ना फुल गो, मोदेर भरवे ना फुल . . .

सुनते-सुनते वह डूब जाते । फिर खुकी अपनी पसन्द गुनगुना उठती—

जोदि तोर डाक शुने केउ ना आओ . . .

किसे कुरसत थी फिर सुनने की !

एक बार रात को मुझे क्रार्म जाना था । खुकी बैठी पढ़ रही थी । मैंने पुकारा, “खुको !”

“कि ? कि, दादा ?” वह मुझसे आ लगी ।

उसका गीत मुझसे लहरों में टकरा रहा था । सीढ़ियाँ उनरता बोला, “आमार डाक शुनि केउ ना आओ, खुकी !”

“प्रो-प्रोरे औ अभागा !” वह हँस दी थी, “आमाय कि नाई डाक देवो ? तोमार डाक शुनि आमि . . .”

मोजाय ने यह सुना था और बोले थे, “कलकत्ता क्वा छोड़ा कि हमारी बेगला ही विगड़ गयी ! वहाँ इसका यह बोलना सुनेंगे तो लोग हँसेंगे ।” किर मोजाय ने कहा था, “जाओ, खुकी ! दादा के साथ जाती हो तो घूम आओ ।”

मैंने प्रश्न भरकर उसकी ओर देखा, “आपि जाच्छिए...?”

वह मेरे साथ थी । मैं अपने प्रयोग के फ़ार्म पर उसे ले गया । चांद था तो पर मैंने उसकी ओर देखा ही नहीं । उसे एकदम निगलेकर दिया । हम फ़ार्म में घूम रहे थे ।

“खुकी, इस समय गाओगी ?”

“ना,” उसने इन्कार कर दिया ।

“खुकी !”

उसने मेरी तरफ़ देखा ।

मैं धीरे-से बोला, “खुकी, तुमि बोर, तुमि बोर, तुमि बोका !”

वह चिढ़ गयी, “तुमि...तुमि...तुमि !” और मेरे पीछे आ मुकियाँ मारने लगी । मैंने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये तो वह दाँत से काटने लगी । हम दोनों एक-दूसरे से गुंथ गये थे । किर मैंने उसे पास खींच लिया था । उसका चेहरा मेरे सामने था, जुही के छोटे-से मैंडवे की तरह बहुमुझे लगी खड़ी थी । मैंने फिर पुकारा, “खुकी !” तो वह हाथों से छूटी और भागी, और मैं उसके पीछे । उसके स्कर्ट का बढ़ा घेर तरह-तरह के बृत्त बनाता जाता । माँ कहती थी, इसके स्कर्ट में आधा बार कपड़ा ज्यादा लगता है, इसे घेर वहुत पसन्द है । और ऊपर से पेटी ऐसे कसकर बांधनी है कि बकलस को एक-एक मिलीमीटर पीछे हटाने में उसे पाँच-पाँच मिनट लग जाते हैं ।

एक बार हम सभी बलव जाने वाले थे । ज्यामा संगीत का प्रोग्राम था और खुकी ने पेटी ऐसे कसकर बांधी थी कि कमर को गायब कर देने पर ही तुल आयी थी । माँ ने एक धप्प जमायी और खुकी को बुरी तरह ढाँटा । किर उससे पेटी दीली करवाकर ही माँ ने उसे साथ चलने दिया । वह सारे समय मुँह फुलाये बैठी रही थी । मुझसे भी नहीं बोली थी ।

और मैं भी किसी से नहीं बोल रहा हूँ । मुँह में स्ट्रॉलिये बैसा-का-बैसा ही खड़ा हूँ । लोगों को लग रहा है कि मैं पी रहा हूँ, पर मैं बोतल में फूँक मारकर विमटो को हलकी आवाज से बुड़बुड़ाता जा रहा हूँ । कुछ लोग तो धन्यवाद देकर चल भी दिये हैं । आर्केस्ट्रा पर रॉक-ए-रॉल की ट्रियून चल रही है । कोई और सामने नहीं आया तो आर्केस्ट्रा वालों में से ही एक लड़का, जो काँड़ायि पेट पहने हैं, लॉन में सामने आकर नाचने लगता है—अपने शरीर को अजीब-अजीब ढंग से हिलाता है । नयी उम्र के लड़के ढक्कन खुलवाकर विमटो फिर हाथ में ले लेते हैं और मैं हूँ कि मुझने एक बोतल ही न पी गयी है । मैं इन्तजार करता हूँ सामने वाले लोगों के हटने का कि ये हृष्टे और मैं इस भीड़ से कटकर अलग हो जाऊँ...”

रोज मुझे उसके खत का इन्तजार रहता था । एक दिन बड़ा मोटा लिफाफा आया । लिखा था, बड़े सनसनीखेज ढंग से—

आज मैं ज़ज़ब की एक बात लिख रहा हूँ । याद करो, बड़के, कि फ़ार्म को ट्रैनिंग

खतम होने पर जब तुम यहाँ से गये थे, तो यहाँ उस नोमश्कार वाली लड़की को क्या दें गये थे?...“

मैं खुत हाथ में लिये सोचने लगता हूँ...हाँ, मैं अपने फ़ार्म में एक पौधा दे आया था। मैंने पचासियों पौधे लगाये थे—गुलाव से लेकर गेंदे, गुलबकावली तक और कास्मिस से लेकर कारनेशन, कैक्टस तक। जब भी फुरसत में होता, खुकी से फूल-पौधों की बात शुल्ह हो जाती। वह यही कहती, “पौधा तो ऐसा होना चाहिए, दादा, कि आज लगाया और कल फूल देने लगे। नहीं तो महीनों पानी देने पर फूल आयें तो किस काम का वह पौधा?”

“हो गयी फिर तुमसे बायवानी! फूल कोई माँ की तरह मानस-पूजा करने से थोड़े लगते हैं! उसके लिए करनी होती है मेहनत। अब गुलबकावली यानी त्यूलिप में तो सात साल बन्द फूल आते हैं...फिर?”

उसने उस समय त्यूलिप को दुनिया का सबसे सड़ा फूल बतलाया था। पर मेरी जब ट्रेनिंग समाप्त हुई और मेरा सामान ब्रैंथ गया तो कहने लगी, “दादा, गुलबकावली का एक गमला देते जाओ!”

मैंने उसे पास खींचकर अपने से दबा लिया था, “उसमें तो सात बरस में फूल आते हैं!”

उसने मुझमें खुद को ढीला करते कहा था, “फूल तो आते हैं न?”

जब वह जिद पर ही आ गयी तो फ़ार्म से गुलबकावली वा एक गमला ला दिया मैंने ग्रीर चला आया था। मुझे कोई भी स्टेशन छोड़ने नहीं आया था—न मोशाय, न माँ, न खुकी। खुकी तो उस समय गुलबकावली को सींच रही थी। तो, यही तो मैं उसे दे आया था?...”

मैं पत्र आगे पढ़ता हूँ—याद आया, बड़के? तुम उसे गुलबकावली का पौधा दे गये थे...और वह सात साल से सींचती रही है उसे। वह कहती है, वह गमला जान से ज्यादा प्यारा है। सात साल में वह गुलबकावली की तरह भूम आयी है, बड़के! जबान लड़कियों के शरीरों पर जुही, रातरानी, गुलाव, गुलबकावली-जैसे फूलों के लगने की व्यवस्था भी गाँड़ को करनी चाहिए थी, पर बिना इसके भी वह नोमश्कार वाली-एलो-केशी पूरी एक गाड़न लगनी है। हाँ, तो कल ही उसने बतलाया है कि उस गुलबकावली की उम्र सात बरस की हो गयी है और उसमें फूल लग आये हैं। मैंने कहा, तुम बड़के को लिख देना। सो, इस पत्र के मन्त्र में उसने कुछ लिखा है, मैं अभी तक बैगला अक्षर सीख नहीं सका, सो पढ़ नहीं सकता कि क्या लिखा हैः...”

मैं उसकी—खुकी की—लिखावट देखने को उतावला हो जाता हूँ। पत्र के पन्ने पलटता हूँ, मोती-जैसे अक्षरों में लिखा है उसने—

आजि कुट्टल तोमार औइ गुलबकावली में...आजि तुम्हारी उसी गुलबकावली में फूल आ गये...फूल आ गये आज तुम्हारी उस गुलबकावली में...उसी गुलबकावली में तुम्हारी, आज आ गये फूल...पत्र मेरे हाथ से छूट गिरा था!...क्या वह फ़क्त नाइन्थ में पढ़ते समय भी सब-कुछ समझती थी!...क्या वह मेरे लिए ही इतना कसकर पेटी

बाँधती थी ? ... क्या वह रोबीन्स संगीत गुंजाते समय 'ओरे-ओरे ओ अभाग' के स्वर खींचती हुई मेरी और ही देखती रहती थी ? ... क्या वह मेरे शरीर में भूम जाने के लिए ही 'आमि ना' कहकर 'तुमि-तुमि-तुमि' की नाराची बतलाती थी ? ... मुझे अपने-आप पर उस दिन-सा गुस्सा कभी और नहीं आया । लेकिन मैं तो जैने बचपन में सीखे पहाड़े भूल गया, वैसे ही खुकी को भी मूल बैठा । अब कोई मुझसे पूछे छच्चीस पंजे या ननाईस छक्के या अट्ठाइस अट्ठे, तो मैं नहीं बतला सकता; मिनटों तक सोचना होगा तब कहीं बतला सकूँगा । वैसे ही अब खुकी के बारे में कुछ नहीं कह सकता । पहले हर पांधा खुकी था, हर फूल खुकी, हर पत्ती खुकी, हर फल खुकी... मैंने ट्रेनिंग ने लोटकर वहाँ एकाध पत्र भी लिखा था । माँ-मोशाय कहाँ पत्र लिखने लगे ! पर खुकी तो पत्र लिख सकती थी । वह पत्र लिखती तो आज फूल आने के दिन मैं यहाँ ऐसी बैचैनी महसूस करता क्या ? उसने कुछ तो कहा होता... 'कुछ कहा तो होता'... फ़क़त एक सतर ही निख भेजनी कि मैं तुम्हारी गुलबकावली को सींच रही हूँ... मगर तब तक कोई कैसे कुछ सोचता ? पांच-पांच मिनट में बकलस को एक-एक मिलीमीटर पीछे हटानेवाली लड़की क्या सोचती ? 'आमि ना' की जिद करके मुझे मुक्कियों से पीटनेवाली लड़की क्या कहती ? आज मैं आधा बार ज्यादा घेर के स्कर्ट बाली उच्च में गुलबकावली में फूल आने के सात लम्बे वर्ष जोड़ता हूँ तो मेरे सामने एड़ी-छूते केंद्रोंवाली खुकी नोमश्कार करती आ खड़ी होती है । पर अब वह खुकी कैसे ? जिस दिन उसने स्कर्ट पहनना छोड़ा होगा उसी दिन वह नाम उसके आधा बार अधिक घेर के साथ गोल चक्कर खाकर नीचे गिर गया होगा । अब मैं वहाँ जाऊँ भी तो वह सामने आते शरमा जायेगी । मैं अब उसे न 'वोर' कह पाऊँगा, न 'वोक्का' ही । उसकी उच्च में सात वर्ष जुड़े तो वह गुलबकावली के फूलों में खिल आयी और मुझमें सात वर्ष जुड़े तो मैं कावुलीवाला हो गया—कल शाम जैल से छूटा कावुलीवाला, तीन बच्चों का पापा कावुलीवाला । लेकिन सब उलटा हो गया । मिनो पहचानती है कावुलीवाला को और कावुलीवाला अपने भाई का खत पड़ता है—

लेकिन वड़के, मैंने कभी गुलबकावली देखी ही नहीं । सो, उस नोमश्कार बाली एलोकेशी से पूछा मैंने, कैसे होते हैं गुलबकावली के फूल ? उसने कल दिखाने का बायदा किया है । अब कल फूल देखकर आगे लिखूँगा । कॉलेज भी जाना है, आज नड़कों के प्रैक्टिकल हैं ।

लेकिन फूल कैसे लग आये ? खत मेरे हाथ में निर्जीव पंछी की तरह था और मैं पंख फैलाये भटक रहा था । कलम गुलाब की लगती है, गुलबकावली की नहीं । खुकी जब बहुत ही पीछे पड़ गयी तो एक गमले में मैंने मिट्टी-भरी और त्वृलिप की एक टहनी उसमें रोपकर उसे दे आया था । वह टहनी तो दो या तीन या हाद चार दिन में सूख गयी होगी । मुझे ऐसा मजाक नहीं करना चाहिए था । वह सूखी टहनी को पानी देती नहीं होंगी, पानी देती रही होगी...''

हाँ, तो अभी मैं उसे नोमश्कार बाली एलोकेशी के महन ने आ रहा हूँ । उसने कहा— मैं रोज़ सबेरे और शाम पानी देती रही । गुलबकावली में नयी-नयी पत्तियाँ आयीं, पांधा उछर गया । पीली पत्तियाँ मैं तोड़ देती और नये कोंपल-कल्लों को पोसती । सात

साल बीते और कल उसमें फूल आ गये। देखो वह रहा गमला ! और बड़के, उसने जिस प्रोर अँगुली उठायी, उस और मैंने देखा—एक मिट्टी-भरा गमला था, उसमें न कोई पोधा था, न टहनी, न कोंपल-कल्ला, न फूल। मैंने हँसकर कहा, आप तो मजाक कर रही हैं, तो वह भी हँस दी। बोली, आप मेरी बात को देकार मैं सिरियसली ले रहे हैं। वह हँसती ही रही और कहने लगी, मैं जैसे भगवान् की मानस-पूजा करती हैं, वैसे ही मैं गुलबकावली की मानस-पूजा करती रही। मैं तो, बड़के, बात सुन ठिठका ही रह गया...

मैं खत आगे नहीं पढ़ सका। खत है कि कोई लम्बी कहानी जैसे ! और यह खुकी मानस-पूजा करने लगी—ग्रामें भीचे बैठे-बैठे रोबीन्ड्र के गीत गाती रही और गुलब-कावली के फूल खिला लिये उसने। पर वे फूल किसे दिखाऊँ अब ? अपने बच्चों से कहूँ कि आओ बेटा, तुम्हारे पापा के लिए किसी ने गुलबकावली के फूल खिलाये हैं ? ...

लोग रॉक-एन-रोल समाप्त होने पर तालियाँ पीट-पीटकर खुशियों के फूल खिला रहे हैं। मुझे भी ताली तो बजाना चाहिए था, पर मैं नहीं बजाता... अब बजा दूँ ? पर जब सब चुप हैं तब ताली बजाना तो और भी अजूवा लगेगा, सोचुप भला। मैं फिर वही विमटो मुँह से लगा लेता हूँ। थूक से भीगकर स्ट्रॉं की कमर लचक गयी है, सो उसे निकाल देता हूँ और वैसे ही बोतल से एक धूंट पीता हूँ। सामने से कोई आ रहा है। कहता है, "हल्लो !" मैं भी 'हल्लो' तो कहता हूँ, पर उसे पहचानता नहीं। वह मजाक में, मुझे बोतल से विमटो पीते देख हाथ आगे बढ़ाकर कहता है, "स्मेल प्लीज ! " मैं यों ही अपनी बोतल उसकी नाक तक ले जाता हूँ। वह उसे हल्ले से सूंधकर बड़ी श्रद्धा से कहता है, "सौरी, मुझे शक हुआ था !" और अपने मुँह में स्ट्रॉं धुमाता आगे बढ़ जाता है। विलकुल जोकर-सा लग रहा है, पर मुझे हँसी ही नहीं आती। लाख चाहूँ, फिर भी नहीं हँस सकता।

और लाख चाहे भी खुकी के बारे में सोचे बिना नहीं रह सकता। छुट्टू उसकी तारीफ के पुल अपने खतों में अक्सर वाँधा करता और मैं उसके खतों के लिए घंटों जाने क्या-क्या सोचा करता। पत्ती, बच्चे मेरे सपनों के चलते समय बीच में पड़ जाते तो सन्त्यासी होने की तबीयत हो आती। एक बार छुट्टू ने पूछा, तो बड़के, एक बात पूछते हैं कि नोमश्कार बाली यह एलोकेश्नी है कैसी लड़की ? मुझे तो, गुस्ताखी माझ हो, बड़ी बोर लगती है... बोर ! बोर ! बो-र ! ना, आभि-ना तुमि-तुमि-तुमि ! मैं उसी समय पैड से एक पन्ना फाइता हूँ और छुट्टू को खत लिखता हूँ—

नहीं, छुट्टू, वह बड़ी अच्छी लड़की है, बोर तो हो ही नहीं सकती। यों ही चंगाली लड़कियाँ बड़ी अच्छी होती हैं और वह तो बेहद मीठी है, वह तो जैसे संस्कृति की एक लड़कीर है...

मैं लिखता ही चला गया। जब खत दुवारा पढ़ा तो सोचा कि छुट्टू मेरे इस लिखे को पढ़कर जाने क्या सोचेगा ? पर खुकी के बारे में लिखता हूँ तो लिखे ही बल जाता हूँ। खुकी का भरा बदन पहले पानी से भीगी मिट्टी-सी मुग्नथ देता है। उसका आधा बार अधिक का बेर जुही के मैंडवे-सा लंगता है। उसकी खूब कंसी पेटी के ऊपर का

हिस्सा मोरपंखी की वनावट-सा लगता है… मैं कैसे नहीं लिखता खुकी की तारीफ ! लौटते समय ऐसा लगता रहा था मुझे, जैसे खुकी का यह बाहर को बरस पड़ता-सा शरीर मेरे हाथों का ही बनाया हुआ है। वह तो मोशाय की एक कलम थी, मैंने ही उस पर ढेरों फूलों को लादा था… ऐसा प्रताप मेरे मन अपनी तई ही चलता रहा।

पर एक दिन छुट्टू के खत ने मुझे चींका दिया। मैंने तो खुकी की खबर जानने को लिफाफा फाड़ा था, पर यह क्या लिखा… मैं जैसे उबल पड़ा। ऐसे लगने लगा, जैसे ज्वालामुखी जब्त ही नहीं हो पा रहा है—

बड़के, कभी जिन्दगी में सम्भव हुआ तो हम दोनों एक फिल्म बनायेंगे। मेरे साथ ऐसा हुआ है कि पूछो मत ! डिटेल में तो नहीं लिख सकूँगा, पर जो कुछ लिखूँ उससे अन्दाज लगा लेना। वही नोमश्कार वाली एलोकेशी कोई ऐसा गीत गा रही थी, जिसमें ‘अभागा’ शब्द बार-बार आता था। और वह इसे गते मेरी ओर देख लेती। कल शाम एक अजीव वात हुई कि वह वालों में जूँड़े के लिए सहन में बैठी गठान लगा रही थी। बड़के, मैंने उसके उठे हुए हाथों को ऊपर ही थाम लिया। फिर मैं तो ऐसा हो गया, जैसा काटो तो खून नहीं, मोशाय ने देख लिया था। मैंने पहले पत्र में लिखा था न, बूढ़े आदमियों में मोशाय मुझे बहुत प्यारे लगे हैं, सो उन्होंने मुझे अपने सामने विठा लिया और हम दोनों ने पूछा कि क्या हम एक-दूसरे को चाहते हैं ? मैंने, बड़के, तुमसे पूछे विना कभी कुछ नहीं किया, पर उस बार तो ‘हाँ’ कह दिया। मैं तो अचरज की मंभधार में ढूब गया जब नोमश्कार वाली एलोकेशी का सिर भी ‘हाँ’ में हित गया। पर कहार यह बरसा कि माँ नाराज है, वेहद नाराज। मोशाय ने यह कहा है कि वह उन्हें ठीक कर लेंगे। बोलो, बड़के, मैं क्या करूँ ? वहाँ अम्मा का डर है। कहीं यह बात सुनकर उनका ब्लड-प्रीशरं न बढ़ जाये, तुम उन्हें सर्पीना दे देना और देखभाल करना। जल्दी उत्तर दो। मैं बड़ी परेशानी में हूँ।

मैंने खत को हाथ में मोड़कर फेंक दिया। यह नहीं हो सकता… कैसे हो सकता है यह ? नहीं, छुट्टू उस खुकी से जादी नहीं करेगा ! … तो खुकी की तारीफ वा यह मतलब था, यह मतलब कि कुंवर साहब दिल दे वैठे उसे ! क्या गुलवकावली की बातें उनकी मोहब्बत की भूमिका थी ? बड़के को ही बना दिया इस छोकरे ने ! जिस थाली में खाया उसी में छेद ! … मैं अपने छोटे से, अन्दर जो-कुछ अनुभव कर रहा था, कह भी नहीं सकता था। मैं गुस्से में तक़रीबन पैर पटकाता उठा और पूजा पर बैठी अम्मा के सामने चिल्ला पड़ा, “मुना अम्मा, छुट्टू वहाँ नीकरी करने नहीं, एक बंगाली छोकरी के जाड़ से भेड़ा बनने गया है ! …” अम्मा सकक रह गयीं। पत्नी रोटी बेलते में वहाँ-की-वहीं रुक गयीं। बोली, “जरा समझाकर खत तो लिखो। वह तो तुम्हें सब-कुछ समझता है !”

अम्मा से कहा तो कुछ नहीं गया, पर उनके तर्पण में देवता विना नहाये, दही मले ही पड़े रहे। बोलीं तो यह, “छुट्टू को लिख दे कि अपने बाप की नाक न कटवाये और ऐसा ही करना हो तो समझ ले वह कि हम सब मर गये !”

अम्मा का ब्लड-प्रीशर बढ़ गया। मैंने उन्हें गोली दी। पत्नी पंखा करने लगी।

मैं कमरे में टहलते सोचते लगा, मुझ अम्मा से तो नहीं कहना चाहिए था……पर यह शादी नहीं होगी ! ……वह वंगालिन से तो क्या किसी चमारिन से भी शादी करता तो मैं राजी हो जाता, अम्मा को भी मना लेता, पर खुकी से वह शादी करे, यह कैसे हो सकता है ! …

योड़ी देर दुख मानकर अम्मा सो गयीं। वच्चे खेलने लगे। पत्नी कपड़े पछारने लगी और मैं कुर्सी पर बैठा छुट्टू को बेहद गुस्से में खत लिखने लगा—

तुमने यह तो सोचा होता कि जो लड़की तुम्हारे बड़के में सचि ले सकती है, वही एक मिनट में तुमसे शादी करने को कैसे तैयार हो जायेगी ? ……और अगर तैयार हो जाती है तो उस लड़की का क्या चरित्र ?

प्रश्न-चिह्न फन फैलाकर मेरे सामने खड़ा हो गया—जो लड़की सात वरस तक गुलबकावली में फूल आने की प्रतीक्षा कर सकती है, उसी के चरित्र का सवाल, तुम-तुम तीन बच्चों के पापा उठा रहे हो ? ……मैंने वह कागज फाड़कर फेंक दिया। मुझे ऐसा लग रहा था कि मुझे जरा ठंडे मन से इस पर विचार करना चाहिए……मैं सिर पर हाथ रखे बैठ गया……माना वह लम्बे वालों वाली है, उसके केश एड़ी ढृते हैं, वह एलो-केशी है……मगर मेरा अपना छोटा भाई, मेरा छुट्टू उसी से शादी करे और बाद मैं उसे पता लगे—वह मुझको लेकर सपने पाल रही थी तो ? ……हमारे घर की इमारत में दरार पड़ जायेगी ……छुट्टू के लिए तो मैं ऐसी अच्छी पत्नी लाऊंगा कि ……मेरी हालत पागलपन की सीमा को छूते लगी जैसे……पर उन दोनों के दिलों पर क्या बीतेगी ? मेरे ही मन में से यह एक गहार आवाज आयी—छुट्टू उससे शादी कर भी ले तो क्या बुरा है ? भाई, वह तो सब अब बीत गया। तुम अगर अविवाहित होते तो वात अलग थी। नाव तेजी से बहते-बहते जैसे किनारे की सिवार में फैस गयी है……हाँ, तब मैं बहुत छोटा था, अम्मा पूजा पर बैठी थीं। हमारे घर सत्यनारायण ने कथा थी। शहद वप्पा की दबाई में खत्म हो गया था। पंचामृत में एक अमृत की कमी थी। अम्मा बोलीं, बड़के, प्याली ले के जा और पुरोहितजी के घर से थोड़ा शहद तो ले आ। हाथ धोकर प्याली उठाना, पूजा के लिए चाहिए। मैं प्याली लेकर गया था। पुरोहितजी ने शहद दिया—ऐसा अच्छा शहद कि मैं उसे देखता ही रह गया। गली सूनी थी। मैंने इधर-उधर देखा, दूर तक कोई नहीं था। मैं प्याली अपने मुँह के क़रीब लाया और जबान आगे बढ़ा थोड़ा-सा शहद चाट लिया। मैंने उससे पहले कभी शहद नहीं चला था। और मैं उस सूनी गली में, हाथ में शहद लिये अपने-आपको रोक ही नहीं पाया था। घर आ प्याली अम्मा के हाथों देने वाला था कि हाथ काँप गये थे। अम्मा ने जाने कैसे ताड़ लिया था—इसे जूठा तो नहीं कर दिया ? मैं चुप खड़ा रहा। चाहता तो कह सकता था, मैंने इसे छुप्रा भी नहीं। अम्मा विश्वास भी कर लेतीं। पर मैं फूट-फूट-कर रोने लगा था। लगा था, अगर मैं झूठ बोला तो आज लीलावती-कलावती मेरे घर में आग लगवा देंगी। मेरे हाथ से प्याली छूट पड़ी थी। मैं मज़बूत शब्दों में बोल गया था, अम्मा, मैंने इसे चख लिया, यह जूठा है……और मैं, वही बड़के हूँ, जिसके मन में यह विचार आ रहा है कि छुट्टू खुकी से व्याह कर भी ले तो क्या बुरा है ? किर क्यों नहीं कह दिया था कि, अम्मा, मैंने शहद को छुआ भी नहीं।

मैं चेहरे पर से पसीना पोंछ लेता हूँ और एक क्षण में इस निर्णय तक पहुँच जाता हूँ कि यह शादी नहीं होगी। यह भी सोचता हूँ कि मन के तृफ़ान को वताने की कोई जरूरत नहीं है। सीधे-से मजबूत शब्दों में एक पत्र लिख देता हूँ—छुट्टू, तुम्हारा पत्र मिला। मेरी राय से यह शादी ठीक नहीं। तुम-जैसे क़ादिल लड़के के लिए हजार एलोकेशियाँ मिल जायेंगी। किसी लड़की का अच्छा होना एक बात है और अच्छी वह होना विलक्षुल दूसरी बात है। मेरा विश्वास है मेरी बात को तुम गम्भीरता से सोचोगे।

मैं खत लिफ़ाफ़े में रख ही रहा था कि पोस्टमैन एक एक्सप्रेस दे गया, लिफ़ाफ़ा छूट्टू का था। जल्दी में उसने लिखा था—

मेरा एक खत मिला होगा। यहाँ समस्या बहुत ढलभ गयी थी। पर मीशाय की राय से हमने कल रात आर्यसमाज में शादी कर ली। माँ को कुछ बुखार तो आया है, पर मेरा विश्वास है कि वह हमें क्षमा कर देंगी। बड़के, मेरी जगह तुम होते और समस्या ऐसी आ जाती, तो उसे तुम भी इसी तरह सुलझाते। अब उन्नीस, दुध की शाम पार्टी है। तुम एकदम आ जाओ, किर मैं छुट्टी लेकर घर चलूँगा। वहाँ अम्मा को समझाना तुम्हारा काम होगा...

मैं सिर डालकर आरामकुरसी पर लेट गया। अब मेरे मन में कोई तृफ़ान नहीं, कोई संघर्ष नहीं। मैं एक हारा हुआ, पस्त आदमी हूँ।

मुझे ऐसा निढ़ाल देख पत्नी पास आती है। छुट्टू का एक्सप्रेस पढ़ती है और मुसकराती है। कहती है, “लल्ला तो एकदम जिही और मीजीराम हैं। पर हुआ सो हुआ। मैं तुम्हारे कपड़े रखे देती हूँ। आखिर तुम्हारे छुट्टू की ही शादी तो हुई है। जाओ, आज चले जाओ। वहाँ पार्टी के टेम तक पहुँच जाओगे। उन दोनों को साथ ले ग्राना, तब तक मैं अम्मा को मना लूँगी। देखूँ तो लल्ला की वह वंगालन कैसी जादूगरनी है ! . . .”

मैं चुपचाप यहाँ आ गया। एक शब्द भी नहीं बोला। बोलता भी क्या ?

एट-होम चल रहा है। अब मैं कर ही क्या सकता हूँ सिवाय इसके कि कहीं अकेले में बैठकर अपने हाथ मींजूं और आँखें बन्द कर सोचता . . . सोचता ही चला जाऊँ। अब मैं ऐसा कर सकता हूँ क्योंकि बिना कुछ खाये ही मैंने चम्मच-प्लेट रख दिये हैं, अब मेरे हाथ में विमटो भी नहीं है। सभी क़रीब-करीब जा चुके हैं। छुट्टू और खुकी, खुकी नहीं नोमश्कार वाली एलोकेशी, मेरे पास आती है।

“अब तो नाराजी दूर करो, बड़के !” छुट्टू मेरे गले में हाथ डाल देता है।

मैं उसके साथ हो लेता हूँ।

“चलिए न, प्रेजेण्ट्स देवें !”

हम तीनों वहाँ आते हैं।

“तुम अगर नाराज हो बड़के, तो मैं इसे तलाक दे देता हूँ !” छुट्टू ने कहा है और खुकी, खुकी नहीं नोमश्कार वाली एलोकेशी, हँसने लगी है।

मैं अपने मन में कुछ अजीव-सा अनुभव करता हूँ, इसलिए बनावटी मुसकान से व्यस्त बना रहना चाहता हूँ।

“अरे, यह क्या ? यह भी उपहार है क्या ?” छुट्टू एक छोटी-सी टोकरी में

गदराये हुए वेरों को दिखाता पूछता है ।

“हमारे यहाँ एक छावड़ीवाली रोज़ सब्जी देने आती है, वही ये वेर दे गयी है ।” वह एक वेर उठा लेती है ।

“ओहो !” छुट्टू कह रहा है, “ये वेर तो बिलकुल तुम्हारे-जैसे हैं । शायद उसका इशारा गदरायेन की ओर हो । इसको मेरी बिलकुल शरम नहीं !”

“हाँ,” खुकी, खुकी नहीं नोमश्कार वाली एलोकेशन, हँसती हुई कहती है, “मुझ जैसे ही खट्टे हैं !”

“नहीं जी ! क्यों, बड़के ?” वह मेरी तरफ़ देखता है, किर उससे कहता है, “तुम अगर खट्टी होती तो बड़के तुम्हारी कभी तारीफ़ नहीं करते ! … और अगर इनको तुम नहीं जानती होती तो मैं तुमसे कभी शादी नहीं करता । तुम मीठी हो यह बड़के ने ही तो लिखा था ।”

मेरा सब-कुछ जैसे धम गया है—एक धागा टूटा तो सारा करघा रुक गया है जैसे ।

वे दोनों वेर खा रहे हैं । मैं उनकी ओर देख रहा हूँ, देखे जा रहा हूँ । वेर मीठे हैं, मीठे ही हैं, मैं जानता हूँ, इसी से चुप हूँ ।

टूटना

भूमि : गोडसे ने जिस दिन गांधीजी की हत्या की, उसके तीसरे रोज के एक छोटे-से समाचार ने देर तक—या कहूँ आज तक—मेरा ध्यान वाँधे रखा : जिला…के कस्बे के दारोगा श्रताडलमार्खा ने गोली मारकर आत्महत्या कर ली। उसका ख्याल था कि गांधीजी को सज्जा देने का यह हक्क सिफ्फ उसे ही था। कहते हैं कि डेढ़ वर्ष बाद ही उसे रिटायर होना था…

० ०

“श्री एन० किशोर वर्मा,
जनरल मनेजर,
विजारिया इण्डस्ट्रीज-ग्रुप लिमिटेड,
टैन्क प्लॉर…”

‘चसी-चसी…’ पता एकदम सही था। पलटकर देखा, लिफाफा जहाँ चिपका था, वहाँ मैला हो गया था। हाथ में पेपर-नाइफ़ लिये ही ऊपर रोशनी की तरफ उठाया, किधर से फाड़ा जाये कि खुत न फटे। अन्दर कहीं जगह खाली नहीं थी। कुछ तय करेकरे कि टेलीफोन वजा और कोई चीज़ करेण्ट की तरह तड़पकर खून में दीरा लगा गयी। पते के ऊपर लाल स्याही से लिये ‘पर्सनल’ पर निगाहें टिकाये, हाथ का पेपर-नाइफ़ उस पर आड़ा रख दिया। वह खुद भी जब पान-सनी जीभ से लिफाफे का गोंद गोला किया करता था, तो चिपकाने पर लाल धारी उभर आती थी, हालाँकि लीना को कभी भी उसकी यह हरकत…लीना का बाप कहता, ‘गंवार ! ’…

वही टेलीफोन है क्या…?

ग्रॉपरेटर ने बताया कि दिली की ट्रॅक-लाइन मिल गयी है। अनजाने ही एक दराज़ जरा-सी खोलकर जूता टिकाया और रिवॉल्वर पर पीछे भोक लेकर, हैलो, गुड मार्निंग, मिस्टर वर्टन…’ के साथ जब बातें कीं, तो दिल घड़-घड़ कर रहा था। घबराहट को तो यह सोचकर जीत लिया कि हुंह, ऐसी आखिर क्या बात है ! बड़े-बड़े गवर्नर-वॉयसरायों से दीक्षित जब ऐसे रोब से बातें कर सकता था, तो वह वयों नहीं कर सकता ? मान लिया, जार्ज मैकफेरी वर्टन इन-कॉरपोरेशन, बोस्टन का गवर्निंग डायरेक्टर छोटा-मोटा आदमी नहीं होता, लेकिन खा तो नहीं जायेगा ! यों इस समय उसकी चात का दुहरा महत्व है। बारह करोड़ रुपये का प्लाण्ट बैठेगा—साझे में। पिछ्ले साल सेठजी अमरीका गये थे, तभी इस साझे की बात का बीज पड़ा था। लेकिन इस बार

हो सकता है उसे वर्टन के साथ ही जाना पड़े—अपनी कम्पनी की ओर से या...या... उसके सामने फिर एक बहुत बड़ा चान्स आ गया है।

ऊपर से वह किसी तरह 'या:-या:-...राइट-राइट, ...वट यू सी, मिस्टर वर्टन...' के साथ अपनी बात करता रहा, लेकिन टाई की नॉट टोलती उसकी ग्रॅगुलियाँ काँपती रहीं। छः मिनट बाद जब उसने 'सो काइण आँफ यू' कहकर लाइन काटी, तो माथे पर भाष जम आयी थी, लेकिन चेहरे पर सन्तोष था। 'चस्सी ! चस्सी !' पीछे कुरसी की पीठ पर लटके कोट की जेव से रुमाल निकालकर मुँह पर फेरा...एक धूंट पानी पिया। दीक्षित साहब अपने को लाख खुदा लगाते रहे, इस आदमी से बातें करें, तो नानी याद आ जाये।

पिछले हफ्ते वर्टन कलकत्ता आये थे। 'लीग आँफ कॉमर्स' की मीटिंगें, दुनिया-भर के कॉकटेल डिनर्स का इतजाम उसने ही तो किया था। बीच-बीच में व्यावसायिक बातें भी होती रहीं। उस खुर्राट, तेज और अनुभवी व्यवसायी के सामने उसी धैर्य और स्तर से टिके रहना सचमुच कम कौशल और कॉन्फिडेंस की बात नहीं थी, हर क्षण नवरस हो जाने का खतरा रहता। सही है कि सारे आदेश सेठों के थे और वह उनका नीकर था; लेकिन एकाध मीटिंग-पार्टी में उपस्थित हो जाने के अलावा उन्होंने किया क्या ? और मोटे-मोटे नक्क-नुक्कसान, 'ले लो, बैच दो' के अलावा उन्हें पता क्या कि आज की व्यावसायिक दुनिया है कहाँ, कौसी है ? नीम की मोटी दातुन रोयते हुए 'विश्वमित्र' पढ़ लेना और बात है और शिल्टाचार की बारीकियों, उठने-बैठने के तौर-तरीकों को समझना दूसरी बात...देसी आदमी शायद आपके पैसों के रोब में आ भी जाये, लेकिन ऐसा व्यक्ति आपके पैसे को क्या गिनेगा, जो सात समन्दर पार से आपके यहाँ आकर करोड़ों रुपये लगा रहा है ? किशोर जानता है, अगर यह साझा हो गया, तो कहीं इसमें उसका बहुत बड़ा हाथ होगा और हो सकता है उस नयी फर्म में उसे ही सबसे महत्वपूर्ण पद संभालना हो...वर्टन के साथ मामलान भी पटे, तो भी सेठजी को उससे ज्यादा योग्य और विश्वस्त आदमी कहाँ मिलेगा ? और मान लो अगर...अगर ? ...

उसका मन एक नये सपने से थरथरा उठा। जब वह वर्टन को फैक्टरी की साइट दिखाने ले गया था, तो बहुत-सी बात करने का भौका मिला था—व्यक्तिगत और व्यावसायिक दोनों। 'सम आँफ अचर कैलीज रिपीटेडली' एडवाइस्ड अस, हैल, नॉट टु हैव ऐनी सच अण्डर्टिकिंग—आइ मीन—इन-कोलेबोरेशन विंद इंडियन विजनेस फोक। दे आर नॉट सपोर्ड टु बी फेयर-माइण्ड... वर्टन ने हँसते हुए कहा था, "स्पेशली योर हैल आँफ मारवारीज... हम लोग मशीनें भेज सकते हैं, इंजीनियर्स और आर्किटेक्ट भेज सकते हैं, इन्हें विजनेस ऐथिक्स तो नहीं सिखा सकते; सारा एटीट्यूड तो नहीं बदल सकते। पैसा हम भी कमाते हैं, और इनसे चौगुना कमाते हैं, वट नॉट दैट फ़िल्डी वे। पैसा कमाना बहुत बड़ी कला है, लेकिन खर्च करना उससे बड़ी कला।... बी हायर ए मैन आँफ फ़ायर ए मैन—करेक्ट; वट बी पे द प्राइस इन ईदर केसेज़। खर्च करने के नाम पर ये लोग सिफ़ धूस-रिश्वत देना जानते हैं। वयोंकि मैण्टली दे आर स्टिल पैटी ट्रेडर्स एण्ड ग्रॉसर्स...डिवाइड आँफ कल्चर आँर एज्यूकेशन..." (इसका अपने-आप उसके मन में अनुवाद

हुआ 'डण्डीमार') इण्डस्ट्री और इण्डस्ट्रियल कल्चर द्या होती है, इसका अभी इन्हें क...ख...ग भी नहीं आता। हम तो चाहते हैं, इन्हें कुछ दिनों अपने यहाँ रखकर कुछ इंटेलिजेण्ट किस्म के लोगों को आधुनिक व्यवसाय के तरीके और व्यापार-व्यवस्था सिखायें। आप लोगों की सरकारी नीति आड़े आती है, वरना हमें तो किसी भी सहयोग की ज़रूरत नहीं है...फिर भी मैं व्यक्तिगत रूप से चाहता हूँ कि तुम एक बार आकर हम लोगों के काम का आइडिया तो लो...''

वर्टन ने ये सारी बातें उसे बहुत विश्वास में लेकर, मजाक का पुट मिलाकर, दोस्ती का वास्ता देते हुए टुकड़ों-टुकड़ों में कही थीं; लेकिन किशोर को सारा रवैया पसन्द नहीं आया था—जैसे साला दान कर रहा हो। इस तरह की भीतरी और बाहरी प्रतिक्रियाओं के बावजूद वह उनके पीछे छिपे आशय को भी समझ रहा था। फिर जब वर्टन ने कहा, 'हमें टॉप-रिस्पोन्सिवल-पोस्ट्स के लिए ऐसे आदमियों की ज़रूरत पड़ेगी, जो काम के हमारे तौर-तरीके को भी जानते हों—गाईज़ लाइक यू (तुम्हारे जैसे नौ-जवान)....' तब तो कुछ समझने को नहीं ही रह गया....

इसलिए जब उसने दिल्ली के फोन के बाद ही ऑपरेटर से 'एटलस ट्रैवेल्स' मांग कर सुवह की प्लाइट से जैसे भी हो, दिल्ली का टिकट माँगा, तो कहीं कुछ कचोट रहा था, कुछ गलत कर रहा है... और उसी कचोट को दवाने के लिए उसने फोन पर सेक्रेटरी को आदेश दिया, "रामन, किसी को फौरन एटलस भेज दो। फोन पर बात हो गयी है। किसी नाम में हो, सुवह की प्लाइट से एक टिकट... ऊपर से जो लगे, लगा देना।"

० ०

दीक्षित की ऐसी-कम-तैसी... उसने परम तृप्ति के भाव से गहरी साँस फेककर ज़रीर ढीला छोड़ दिया। सामने के दाँतों की सन्धि से जीभ की नोंक अड़ाकर हवा खींची—च्सी-च्सी ! साथ ही ख्याल आया, उसकी इस हरकत को किसी ने देख-मूँह तो नहीं लिया ? चैम्बर में कोई नहीं था, पीछे से ग्राती एयर-कण्डीशनर की बेमालूम-सी आवाज थी, टीक-प्लाई-मढ़ी दीवारोंवाली छत के जालीदार कटाव में जलते नियॉन ट्रूव्स थे और मेज पर रखे तीन टेलीफोन, टेवल-लैम्प, कलेण्डर, ट्रे, सभी बहुत साफ़ थे... इस बार उसने और भी ज़ोर से 'च्सी-च्सी' किया और बच्चों जैसी अपनी शैतानी पर मुसकरा पड़ा। इस मुसकराहट के साथ ही भीतर की कचोट घुल गयी—कुछ नहीं जी, जार्ज मैकफ्री वर्टन इं-कॉर्पोरेशन की नौकरी इस सटोरिये की नौकरी से हरहालत में अच्छी रहेगी... यहाँ क्या है ? जब तक सेठ के हाथों में नाचो, तब तक ठीक है। जहाँ ज़रा भी अपना कुछ दिखाना चाहो, वहाँ... और दूसरी कम्पनियों के जनरल मैनेजरों के मुकावले पैसे बहुत कम... किसी को बताओ, तो शम आये... मैं एयरकण्डीशन चैम्बर, सेक्रेटरी, दो बैरे, फ्रॉन्टिश फ्लैट, ड्राइवर, गाड़ी और दो जी आदमियों का स्टाफ़ तो जो भी यहाँ हीता, उसे ही मिलता... मुझे तो वही दाई हजार और साज में बीनेक हजार ऊपर से देते हैं... लेकिन बट्टन में इससे दुगुना मिलेगा, तभी जाने की बात सोची जायेगी, नहीं तो... मगर इतना ही मिले, तब जी चले जाना चाहिए। बहुत बड़ी बात तो यह है कि वर्टन साला हमेशा यहाँ हिन्दुस्तान में थोड़े ही बैठा रहेगा, जेठ की तरह सिर पर...

फिर अमेरिकन फर्म की वात ही अलग है...

और इस तरह का धर्म-संकट उसे हर बार नौकरी बदलते हुए आया है, लेकिन हर बार कचोट पहले से कम तीखी होती गयी है... नहीं, वह किसी को घोखा नहीं दे रहा ... उसे तो सिर्फ़ एक आदमी को दिखा देना है... ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता और अब वह किसी भी अवसर को छोड़ना एकोई नहीं कर सकता। उसकी आँखों में लम्बे जहाज़ की तरह सरकती शानदार गाड़ी तैरती चली गयी... ('लाइफ' और 'टाइम' में उसने कई बार उन्हें छाँटा है।) ... जिस लेटेस्ट मॉडल की अमेरिकन गाड़ी में बैठकर किशोर घूमा करेगा, वह सेठ रामजीदास विजारिया को दो साल बाद मिल पायेगी...

उत्तेजना की झुरझुरी जब उससे नहीं सही गयी, तो वह कुरसी को अपने पीछे धूमते छोड़कर, खटके से उठकर खड़ा हो गया... फॉर्म-टॉप-रिस्पॉन्सिवल पोस्ट... गाई लाइक यू... गाई लाइक यू... मन हुआ कि जूते की एडी पर एक चक्करी लगा जाये और सीटी बजाने लगे... लेकिन तभी उसे किसी का ध्यान आ गया, जो उत्तेजना के ऐसे प्रावेश को कभी भी यों नहीं प्रकट होने दे सकता था। वह पीछेवाली बैनीशियन चिक खींचकर शीशे के पार देखता रहा... दस मंजिल की ऊंचाई से हर चीज़ का खिलौने-जैसा लगना अब उसे चकित नहीं करता... पतली दरार-जैसी सड़कों में काली-भूरी गाड़ियाँ कीड़े-मकोड़ों की तरह लगती हैं... सड़क पर राइटर्स-विल्डिंग चाहे जितनी ऊँची हो; लेकिन यहाँ से जमीन से जरा-सी ही उठी लगती है, जिसकी बजारी-विद्धि चौड़ी छत पर हजारों गमलों को दर्जनों मजबूर इधर से उधर रख रहे हैं, पूरा बगीचा लगा रखा है... बर्टनवाला मामला हो जाये, तो छः-सात हजार आदमी तो अपनी कम्पनी में भी होंगे... उसके नीचे ... तब वह अगले बैंगले में खूब बड़ा बगीचा लगायेगा और नियम से बायावानी किया करेगा... साला पेट निकलने लगा है, इसे कम करना होगा... गाई लाइक यू—उस-जैसे टॉप आदमी की पर्सनेलिटी स्मार्ट होनी चाहिए... और उसकी अँगुली अचानक नाक के नीचेवाले मस्ते पर चली गयी... वह उसे टटोलता रहा... बहुत बार कटवा दिया है, हर बार बढ़ जाता है, डॉक्टर बर्जनी कहते हैं, हर्ज़ क्या है! उसे क्या पता कि चेहरे पर यह कैसा लगता है... लाड़ में आकर लीना इसे दो अँगुलियों में दबाकर पूछती थी, 'इसमें दर्द नहीं होता? तुम्हारी पर्सनेलिटी में बस यही...'

अचानक उसे 'पर्सनल' बाले लिफाफे का खयाल हो आया। मेज़ से उसे उठाकर वह फिर वहीं आ खड़ा हुआ। नाइक वहीं छूट गया था, इसलिए जेब से गुच्छा निकाल एक पतली-सी चाबी से होशियारी से खोला, खत निकाला और फटा लिफ़ाक़ा मसलकर बाहर फेंक दिया। चार तह किया हुआ मोटा-सा कागज था और बिना किसी सम्बोधन के अंगूजी में एक लाइन घसीट दी गयी थी, "का'ण्ट वी फॉर्मेट द पास्ट!" नीचे 'लीना किशोर' और लत के एकदम नीचे, 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ इंग्लिश, सेण्ट मेरी गल्स कॉलेज' और तब शहर का नाम। उसने निहायत निरुद्धिग्न रहकर समझा—क्या हम अतीत को भूल नहीं सकते? कागज की उलटा-पुलटा और कुछ नहीं... वह यों ही चुपचाप बाहर देखता, खोया-खोया खड़ा रहा... आठ साल में यह पहला पत्र है।

पीछे खट-खट हुई। मेज़ पर बहुत-से टाइप किये हुए कागज पेपरवेट से दबाकर

रामन लौट रहा था। किशोर को धूमते देख रुका। किशोर ने भेज के पास आकर खड़े होकर ताजे टाइप किये हुए अक्षरों पर निगाहें टिकाये पूछा, “यह क्या है?”

“रोजर्स-नील वाले कागज हैं, लंच के पहले मार्गि हैं।” रामन ने बताया, तब तक किशोर ने खुद भी पढ़ लिया था। रोजर्स एण्ड नील, सॉलिसिटर्स ने लंच से पहले एपॉइंटमेण्ट था। फैरो-एलॉयवालों ने अभी तक रुपया नहीं दिया। फंकट था, हजार रुपये रोज़ का इंटरेस्ट कीन दे? वैक विजारिया-इण्डस्ट्रीज से माँगता था, लेकिन जब एलॉयवालों ने पेमेण्ट ही नहीं किया, तो इंटरेस्ट भी उन्हीं के जिम्मे जायेगा…“सारी चीजें उसके दिमांग में झटके से आ गयी, “ओहाँ, मेरे तो दिमांग से ही उत्तर गया था…!” और वह कागजों को गौर से देखता रामन द्वारा धुमाकर सीधी की गयी कुरसी पर बैठ गया। घड़ी देखी, एक घंटा है। सारे कागज इसी बीच तैयार हो जाने हैं…“

“क्या?” जैसे ही रामन ने नीचे पड़ा कागज उठाकर बहुत धीरे-से भेज पर रखा, किशोर चौंककर पूछ बैठा। असल में वह भूल ही गया था कि रामन अभी तक वहीं है। कागज पर निगाह गयी—अरे, लीनावाला खत है! बायद खिसककर नीचे गिर गया था। रामन ने पढ़ तो नहीं लिया? फौरन दोला, “तुम चलो…रोजर्स-नील के यहाँ शिपिंग-क्लेमवाले कागजों का भी खायल रखना…!” और जब रामन ने दरवाजा खोला, तो कुछ सोचते हुए धीरे-से कहा, “और सुनो…!” किर कई सैकण्ड याद करता रहा कि उसे रामन से क्या बात कहनी थी, “हाँ, वो एटलस में भेज दिया किसी को?”

“जी….”

विना रामन का जबाब सुने, मोटे फ्रेम का चश्मा नाक पर चढ़ाकर, हाथ में खुला क्लॅम लिये वह टाइप किये हुए अक्षरों को गौर से पढ़-पढ़कर दस्तखत करने लगा था…“अब जानती है न, कि मुझे चार, साढ़े चार हजार महीना पड़ता है…काण्ट वी फ्लॉरेंट द पास्ट…अब तो भूलने की बात आयेगी ही…”

टूं-टूं—टेलीफोन बजा, तो उसने विना उधर देखे ही हाथ बढ़ाकर टटोलते हुए चोंगा उठाया, “किशोर….”

“साढ़े पांच पर आ रहे हो न…?” क्राउन इन्व्योरेन्स का गर्ग था।

“कहाँ?” किशोर सचमुच भूल गया था।

“प्रिसेस, और कहाँ…!” गर्ग झुँझला उठा, “अजब आदमी हो…”

“यार, आज तो बहुत ही फँसा हूँ…”

“तेरा हैमेद्या यही रोना होता है।” गर्ग झुँझला उठा “अच्छा यार तू जनरल मैनेजर हुआ!…हमने मिसेज लालचन्दानी को भी बुला लिया है…”

“आइ एम अण्डर-स्टापड, जानता है मारवाड़ी कन्सर्न है यह। क्या कहूँ, अपनी चिट्ठीर्याँ तक देखने की फुरसत नहीं मिलती।” उसे लीना के खत का ध्यान आ गया, “अच्छा, यू डॉण्ट माइण्ड, मैं जरा लेट हो जाऊँगा…”

“ओड्यस,” गर्ग खुश हो गया, “तुझसे, यार, एक सलाह करनी थी। मिसेज लालचन्दानी की बहन वाला ही चक्कर है। तुझसे कहा था अपने दफ्तर में रख ले—आँपरेटर-कृम-रिसेप्शनिस्ट…”

“मुझे और पिटवा ! सचमुच की लड़की की बात दूर है, जानता है यहाँ लड़की की तसवीर तक नहीं लगती । फिर...जैसी बड़ी वहन है, वैसी ही छोटी भी होगी” उसने मजाक तो कर दिया, लेकिन ख्याल आया, मान लो ऑपरेटर टैप कर रहा हो ? जनरल मैनेजर साहब...उसे इस गर्ग का तून्तू करके बात करना भी पसन्द नहीं है । लेकिन आज कुछ कह भी नहीं सकता । पुराना दोस्त है, जब उसे कुल जमा छः सी रुपये मिलते थे तब का । इसलिए वह खुद गर्ग से बहुत ही इज्जत से बात करता है, लेकिन कमबहत हिण्ठ ही नहीं लेता...कहीं दीक्षित साहब के सामने...अचानक फोन पर उसकी आवाज कड़ी और सख्त हो गयी, और वह सामनेवाले कागजों को पढ़ता हुआ ‘हाँ, हूँ’ के संक्षिप्त उत्तर देता रहा । गर्ग को लालचन्दानी को लेकर कहीं जाना था, इसलिए किशोर की गाड़ी की ज़रूरत थी । दो घंटे के लिए । उसे ख्याल भी नहीं कि कब उसने कहा, “यह सब तो शाम को सुनेंगे, लेकिन आइ का’ण्ट विलीव...मुझे विश्वास नहीं होता कि उस जैसी जिह्वी औरत ऐसा लिखेगी...”

“कौन ? कौन ?” गर्ग चौंककर बोला, “कौन ऐसा लिखेगी ?”

अचानक किशोर ने जीभ काट ली...फौरन बोला, “सौरी, यह एक साहब यहाँ बैठे हैं । उनकी बात का जवाब दे रहा था । अच्छा, तो शाम को मिल रहे हैं...” और उसने झटकोन रख दिया । गजब हो गया न...! बया बात मुँह से निकल गयी...? एकदम सामने बैठे साहब की बात न सूझती, तो ? यही प्रत्युत्पन्न मति ही तो उसे यहाँ ले आ सकी है...कोई दूसरा होता, तो हाथ-पाँव फूल जाते...च्सी ! च्सी ! उसने दराज खोलकर पाइप निकाला, कागजों पर निगाहें टिकाये-टिकाये ही तम्बाकू भरी और दाँतों में दबाकर जलाने लगा...यह पाइप उसे बर्टन ने दिया था । तभी बैरे ने आकर धीरे-से एक चिट सामने रख दी...

“भेज दो ।” बैरा चला गया, तो ख्याल आया कि जनरल मैनेजर को एकदम किसी को नहीं बुलाना चाहिए—लगेगा, भीतर खाली बैठा था । चिट पर नाम के आगे ‘जयन्त’ और विजनेस के सामने ‘वाई एपॉइण्टमेण्ट’ लिखा था । इसका तो उसे ख्याल ही नहीं कि आज का समय दिया था । चिट रखी, तो रामन का पेपरवेट से दबाया गया खत सामने था, “का’ण्ट वी फॉरेट द पास्ट ?” जल्दी से मोड़कर पीछे लटके कोट की जेव में ढाल लिया—हर बार सामने पड़ जाता है...”

“गुड मॉनिंग, सर...” डरते-डरते-से एक नवयुवक ने इस तरह प्रक्षेप किया, मानो खेल शुरू हो जाने के बाद किसी ने सिनेमा-हॉल में कदम रखा हो, टटोलते हुए । पाइप बुझ गया था, उस पर जली माचिस छुलाये तीन-चार बार साँस खींचते-खींचते किशोर ने धीरे-से, सिर हिलाकर नमस्कार की स्वीकृति दी और एक हाथ से बैठने का इशारा किया ।

“जी, वो फर्नीचर वाले कोटेशन्स लाया हूँ,” सिर भुकाकर ब्रीफ-क्रेस के कागज निकालते-निकालते जयन्त बोला । वह ऑफिस के फर्नीचर के डिजाइन, नक्शे और दाम बताता रहा । गेहूंगा दुबला-सा नवयुवक, हैंडलूम की टाई, ट्रिलीन की आसमानी-कमीज, काली पतलून । पाइप के कश लगाता हुआ किशोर कभी उसके पीलापन लिये

हुए सच्चारे बालों को देखता और कभी दाहिने हाथ में पढ़ी लोहे पी श्रेष्ठी को, जिसमें नग की जगह स्क्रिप्ट का चेहरा बना हुआ था। परसों निशोर को जयन्त धानी पली के साथ न्यू मार्केट में मिल गया था। भरे शरीर की मुन्दर हँसमुग युवती थी। जयन्त के हाथ में पैकेट थे और माला के पास पसं। परिचय हुआ। उसे जयन्त का साफ़-गुरुरा, शिष्ट तौर-तरीका शुरू से ही पसन्द है। माला के परिचय के बाद ही लगा, जैसे जयन्त से उसे स्नेह भी हो। पता नहीं, कैसे भ्रम हो गया कि माला को वैदमिष्टन गीतना पसन्द है, और उसे क्रीम खाने का शोक है।

जयन्त के बड़े हुए हाथ से कागज लेकर नापरवाही से पूछा, “हाँ इज योर मिसेज ?”

“फाइन, थैंक्यू !” जयन्त ने पिनकुण्डन से पिन थीचकर दो कागज पिन लिंग और सामने सरका दिये, “एक स्कूल में पढ़ाती हैं—म्यूजिक !”

“क्यों, मॉडर्न-रिनोवेटर्स तुम्हें ठीक पैसे नहीं देने क्या ?” उन गूढ़ आधनमें हुआ कि वह यह सब क्यों पूछ रहा है।

“लेकिन ऑफिस-टु-ग्राफिस चक्कर लगाने का काम उंग पसन्द नहीं है।” अचानक जयन्त की आँखों में एक चमक आयी, “ग्रामके यद्दी कभी कोई उग्र होता है, ना...”

किशोर को एकदम काम और नमय का साथ ही लगान आया। दम्भलय करने से पहले कोने में कुछ लिखता हुआ बोला, “जबकर !” फिर नाचने लगा, बटें यारी कम्पनी में जयन्त को लिया जा सकता है। उसे जब्तन पसन्द भी है। जब्तन नो पढ़ी ही...“ग्राहि लाइक यू, तुम्हारी मिसेज वहूत अच्छा गती है क्या ?” जाने क्यों, उसके मन में आया कि कभी जयन्त की पत्नी को एक वहूत सूखमूर्त गॉ-मिलक की माझी जैंट देगा।

“जी हाँ...” जयन्त ने गद्गद होकर कहा “ग्रामके एक बार दूसरे लोग दुलार्हे। दो-एक बार रेडियो पर भी प्रोग्राम हुआ है...”

“जब्ज'एं शी हेट यू ?” जब तक वह नचेन हुआ, बाकी उसके मैंदू से नियम चुका था...उसने जल्दी से बुझे पाइप ने दोनों कम्पनी चक्कर कहा, “ग्राहि मीन, दोर वर्क...तुम ये फ़र्नीचर और दूसरी चीजों के एस्ट्रेसिट देने हिल्ने हो, उन्हें बुग नो लगता ही होगा ?”

“जी...जी, मैंने बताया न, वहूत पसन्द नो नहीं है। बात यह है ऐ, उसके घरवाले जरा-से अच्छे खाते-पीते लोग हैं, सो उन दृष्टि देने बाद ने नंदेंच छोड़ा है।” लेकिन जयन्त का चेहरा देखकर ही निशोर को लग रहा दि बात नैनी नहीं है। उन आश्चर्य और अफसोस होता रहा कि कैसे वह बात उसके मैंदू से नियम नहीं है या ही गया उसे ? जयन्त की बातों के जवाब में ‘झोड़ै’ कर्म उसके उच्ची से दम्भलय की, फिर भट्टके से दैरे की घंटी बजाकर उठते हुए देखा जाना चाहिए उसका उपर्युक्त जल्दी में है। मुझे लंबे से पहले ही रोजानीनीन के दृष्टि उच्च है, दैरि दिन दूसरा जल्दी में है। मुझे लंबे से पहले ही रोजानीनीन के दृष्टि उच्च है, दैरि दिन दूसरा जल्दी में है। राह देखे दोनों कन्धों पर गोट लगाते हुए येरे ही छाँड़िय दिन दूसरा जल्दी में कह दो, कागज लेकर नीचे गाझी में चलेगा। अद्यन्त दूसरा बड़ा दृष्टि है उसके ही

सारी वाँते समझा जाना।" पाइप ऐश-ट्रै में भाड़कर कोट वी जेव में रखा, तो तह किये कागज से हाथ का स्पर्श हुआ...का'ण्ट वी फॉर्मेट द पास्ट?...डज'ण्ट योर वाइफ हेट यू, आई मीन योर वर्क? वीवी तुमसे, मेरा मतलब तुम्हारे काम से घृणा नहीं करती? गाई लाइक यू...वडे वावू के चैम्बर तक आते-आते यही वाक्य उसके कानों में गूँजते रहे...वडे वावू, यानी रामजीदास के भाई कन्हैयालाल विजारिया, मैनेजिंग डाय-रेक्टर...

० ०

रामन ड्राइवर के पास बैठा था। पीछे वह अकेला बैठा-बैठा पाइप पीता रहा। चौराहे की लाल रोशनी ने जब रोका, तो अचानक कुछ याद आ गया हो, इस तरह कहा, "रामन, मैक्फ़ेरी वर्टनवाली फ़ाइल आते ही एकदम तैयार कर देनी है। शाम की लोकल डायरेक्टर्स की मीटिंग है। घर पर बोल देना, शायद कुछ देर हो जाये... और हाँ, क्राउनवाले गर्ग साहब को मना कर देना कि मैं शायद आ नहीं पाऊँगा।" फिर ड्राइवर को आदेश दिया, "गाड़ी पाँच बजे गर्ग साहब को चाहिए। सात, साढ़े सात तक यहीं आ जाना, हमें थोड़ा रुकना होगा।" वह जानता है, मिसेज गर्ग, यानी निर्मला भाभी ऐसी महिला हैं, जिन्हें देखकर श्रद्धा होती है—हताशा के अनेक क्षणों में उन्होंने ही किशोर को विखरने और टूटने से बचाया है...लेकिन जाने क्या चीज़ है, जो उसके भीतर सन्तुष्ट होती है और वह जो यों गर्ग को लालचन्दानी के साथ धूमन को गाड़ी दे देता है, उसे इसमें कुछ भी अनुचित नहीं लगता...लेकिन आज मानो विशेष तृप्ति हुई...उसने रामन से मजाक करना चाहा, इस उलटे-सीधे टाइम से तो तुम्हारी पत्नी खासी ओर हो जाती होगी; हो सकता है उस बेचारी ने आज कोई प्रोग्राम बना रखा हो...वह जेव से डायरी निकालकर कुछ देखता रहा, 'तुम्हारी पत्नी को देर से जाने पर शक नहीं होता?' उसे लगा, जैसे उसने यह वाक्य मजाक में रामन से कह दिया हो...लेकिन कहा नहीं था, सिर्फ़ सोचकर रह गया था, क्योंकि प्रतीक्षा के बाद भी रामन की ओर से कोई जवाब नहीं आया। ऐसा मजाक तो वह कभी कर ही नहीं सकता। तम्बाकू भरने के लिए पाउच को दोनों जेवों में देखा, तो लगा, सुवह से जिस चीज़ को वह टाले जा रहा है, वह जूते की कील की तरह और बाहर निकल आयी है, अधिक गहराई में छेदती है...

० ०

बलव के पोर्च से जब कि दोर की बैंगर्ड धूमकर बाहर निकली, तो ह्वाइट लेविल के पाँच-छः पैंग नसों में तीर रहे थे। सड़क तनी हुई डोरी की तरह हवा से थरथराती लगती थी। लेक के बीच से गुजरते हुए एक श्रीविरी-सी जगह में अचानक गाड़ी ठिठक गयी। स्टीयरिंग को दोनों हाथों से पकड़े देर तक वह यों ही शून्य-सा देखता रहा, फिर भटके से चाबी खींची, बाहर आया और फटाक से दरवाजा बन्द करके एक बैच पर आ बैठा। लगातार कोई चीज़ कानों में सन-सन गूँज रही थी—ठीक बैसी ही आवाज, जैसी रेल की मुनसान पटरियों के किनारे खड़े टेलीग्राफ़ के खम्भों में गूँजती है। वह महसूस करता रहा—सुवह से ही एक सवाल उसके आस-पास मँडरा रहा है, लीना ने आठ साल

वाद उसे क्यों लिखा ? … सुबह जब उसे लीना का खत मिला था, तो आयासपूर्वक उसने कुछ नहीं सोचा था—कुछ भी नहीं। एक तल्ख मुपकान्^{मृ}से सिर्फ़ उस लाइन को पढ़ लिया था, ‘क्या हम लोग अतीत को भुला नहीं सकते ?’ अतीत ? … कीन-सा अतीत ? अतीत को अरने साथ रखना अब उसका प्रभास नहीं रह गया है, इसलिए कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी। वस, मन में एक बात आयी थी कि आज में इस लायक हो गया हूँ, इसी-लिए न ? आठ साल बाद किस अतीत को भूतने की बात लीना करती है ? इन पिछले आठ वर्षोंताला अतीत या वह, जो इन्हें पहले बीता था ? और इसी तरह की कोई चीज लगातार कहीं धुमड़ रही है, इसे वह जड़ महत्व करता रहा। इस समय लगा, धुमड़ते हुए उस निराकार ने प्रायः स्पष्ट प्रक्ति का एक रूप न लिया है। आखिर उसने क्यों लिखा ? उस जिदी, दमभी, उद्घृत, स्वाभिनानिती औरत ने कितनी मुश्किल से अपने को यह पत्र लिखने के लिए तैयार किया होगा, वह सिर्फ़ किशोर ही महसूस कर सकता है। हो सकता है, इन पिछले आठ वर्षों में रात-दिन लगातार वह अपने-आपको इस बात के लिए ही तैयार करती रही हो—इस एक लाइन को जिखने के लिए। और क्या इस एक लाइन को कुछ यों-ही-से ढंग से लिखकर वह कहीं अपना ही पलड़ा तो भारी रखना नहीं चाहती ? … लेकिन उसका पहल करके, पत्र लिखने के धरातल तक ‘उत्तर’ आना ही क्या … और क्या वह स्वयं इसी की आदान-का-भरी प्रत्याशा नहीं कर रहा था ?

० ०

ऐसा नहीं है कि खुद किशोर के मन में हर दिन कम-से-कम एक बार यह बात न आनी हो कि बहुत हुआ, अब वह लीना को लिख दे; लेकिन हर रोज किसी ने उसका हाथ पकड़ लिया—पा कहो, जिसने उसका हाथ पकड़ा हुआ था, उसकी शक्ति का वह प्रतिरोध करता रहा। ‘ओल्ड मैन एण्ड द सी’ किल्म का एक दृश्य इन आठ वर्षों में हजारों ही बार उसके सामने आया … शराबबाने में ‘बूझी मेज पर कोहनी टिकाये किसी से वंगा लड़ा रहा है—पंजा नहीं, दोनों ने एक-दूसरे को हयेली की अपनी पकड़ में ले रखा है, और दो रों ताकून आजमा रहे हैं कि कव, कौन, किसके हाथ को मोड़कर मेज पर भुक्ता दे। ताकून से अधिक यह खेल धैर्य का है। एक सीमा पर आकर शक्ति रुक जाती है और धैर्यपूर्वक दूसरे की हिम्मत टूट जाने की प्रतीक्षा चलती रहती है। कभी-कभी उने लगता है, दूसरा हाथ लीना का है; लेकिन अक्सर प्रतिरोधी के हृष में जिमका हाथ वह महत्व करता रहा है, उस व्यक्ति का सिर्फ़ नाम सामने है; चेहरा आज स्पष्ट याद नहीं आना। अनेक चेहरों में वह इतना धुल-मिल गया है कि लगता है, उस तरह का कोई चेहरा कभी था ही नहीं। और यह संघर्ष निरन्तर उस निराशार चेहरेवाले व्यक्ति से चल रहा है। दाँत भीचे, साँस रोके दोनों प्रतीक्षा कर रहे हैं कि पहले किसी न सें ढीली पड़ती हैं …

लीना से वह आठ वर्षों से नहीं मिला और अब तो इस स्थिति को स्वीकार कर चुका है कि आगे मिलने की आदश्यकता भी नहीं है। लेकिन ताकून आजमाती पर्मीने से पसीजी एक सहज हयेली का स्पर्श एक पल को उसभी चेतना ने ग्रोकल नहीं हपा। सुबह शायद उने मुश्शी ही हुई थी—एक निर्देश मुश्शी कि ‘घट’ की धावाज के साथ-

उसने लीना के हाथ को झुके हुए पाया है... फिर लगा, वह हाथ लीना का नहीं, एक दूसरा सख्त हाथ है।

सुवह की यह निष्करण, क्रूर प्रसन्नता का सुख साँझ तक धीरे-धीरे अनजाने ही एक श्रजीव अवसाद में बदलता चला गया था और वह अचेतन की एक आदेगमयी इच्छा से लड़ता रहा कि सुवह दिली न जाकर प्लेन से सीधे लीना के पास जाये और उस हारी-थकी, जर्जर, पराजिता को वाँहों से उठा ले, 'लीना, मेरी लीना, मुझे माफ़ कर दो !' कैसी हो गयी होगी इन आठ वर्षों में लीना ? जब वे अलग हुए थे, तो वह छव्वीस की थी, आज चौंतीस की होगी। काले केशों में सफेद धारियाँ उभर आयी होंगी, चेहरे पर उम्र का पकाव भलकने लंगा होगा और शरीर फैल या सूखकर वह नहीं रह गया होगा, जिसे वह 'अंग-अंग साँचे में ढला' कहा करता था। नहीं, अब उस हारी-थकी, टूटी प्रौढ़ा का सामना करने का साहस भी तो किशोर में नहीं है। अपराध आरोपती निगाहों से वह कैसे दो-चार हो सकेगा ? सचमुच बेचारी कहीं बहुत मजबूर ही हो उठी होगी, बरना कैसे उसे यह पत्र लिख पाती ?

देर तक आँसू किशोर के गालों पर ढूलकते रहे। लेक के पार किनारे-किनारे रेल गुजर रही थी और उसकी रोशनियाँ पानी के भीतर सुनहरी काँतर-ज़सी सरकती जा रही थीं। क्या वे लोग सच ही दुर्भाग्य बनकर एक-दूसरे की ज़िन्दगी में आये थे ?

○ ○

...लेकिन सीधाग्य किसे कहते हैं, इसे ज़िन्दगी में पहली बार किशोर ने उसी दिन जाना था, जिस दिन लीना का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, 'लीना, तुम एक बार अपने मुँह से कह दो...' 'कहो, लीना ! देखो, मेरे पास तुम्हें देने को एक प्यार-भरे दिल के सिवाय कुछ भी नहीं है...' मुँह से लीना ने सिर्फ़ इतना ही कहा, 'सब कुछ शब्दों में कहकर ही बताया जाता है, किशोर !' किशोर को विश्वास नहीं हुआ था। लगा, जैसे संसार की हर चीज अवास्तविक, अनरीयल हो उठी हो। यूनिवर्सिटी के लड़के सुना-सुनाकर आपस में कहते, 'इसे कहते हैं छप्पर फाड़कर देना ! ज़िन्दगी साले की ट्यूशनें करते, फीशिप और स्कॉलरशिप के लिए इस मेस्वर से उस मेस्वर के यहाँ चक्कर लगाते बीती और आज देख लो, क्या पकड़कर असिस्टेण्ट कमिशनर का दामाद होने जा रहा है !'

'लेकिन वेटे, हाथी वाँध लो रहे हो, उसे खिलाओगे क्या ?'

'हाथी नहीं, हथिनी ! सफेद हथिनी ! जो इतना बड़ा जानवर देगा, वह दो-चार गन्ने के खेत भी देगा ही। असिस्टेण्ट कमिशनर इन्कमटैक्स कहते किसे हैं, कुछ पता है ?'

'यानी किशोर साहब वहाँ खेत पर जाकर ही मर्द़या डाल देंगे ?'

'खेत पर ? और वो जो कमिशनर साहब के तीन-तीन बुलडॉग बैठे हैं, सो—मोना-लिजा के भाई ! जमाईजी की बोखातिर करेंगे कि सीधे घर आकर ही...'

'और जो है सो है, पर यार, फाँसा खूब ! नोट्स तैयार करके पढ़ने के पार्टनर, मैं फायदे हैं, ममझे कुछ ? तुम ज़िन्दगी-भर बंठे-वैठे लाल स्याही से किताबों पर निशान लगाते रहना, वोई छमिया पूछने नहीं आयेगी। धाटूराम का सिर कड़ाही में और पाँचों धी में ! कॉलेज-लाइक एन्जाँच करनी है, तो ग्रादनी को चहिए, एक खूबसूरत-सी काँपी

में नोट्स तैयार करके श्रलग रख ले ।

‘मगर डालिग, यह हुआ कैसे ? वाप साले की आँखें हैं कि बटन ? उने टिप्पता नहीं है कि जो चुगद सारे दिन ट्यूशन करे, न जिसके सिर पर छत हो और न तने फर्म, वह क्या खिलायेगा विटिया को ?’

‘तिरिया-हठ मि-लॉड्ड, तिरिया-हठ ! लॉडिया विना खाये-पिये सत्याग्रह खिये पड़ी रहे, तो बोलो, वाप देचारा क्या करे ?’

‘अरे जनाव, करे क्यों नहीं ? मर्द बच्चा हो, तो हण्टरों से बो ठुकाई करे कि सारा रोमांस फालता हो जाय । श्रीर इन मजनूं साहब को तो यों चुटकियों में उड़ा दे… कटवा के बहा दे रातों-रात ! क्या मजाल, जो किसी को सुराग लग जाय जरा भी ! हिम्मत होनी चाहिए, मिस्टर, हिम्मत !’

‘हिम्मत तो भाईजान, किशोर की माननी पड़ेगी ।’

‘नॉनसेन्स ! उसकी तो आज भी हिम्मत उस वाडण्डी में घुसने की नहीं होती । वो तो हमारी मोना-लिजा ही सब कर रही हैं…’

‘हाय मोना, तेरी यह दुर्दशा !’

इन किकरों श्रीर कङ्कङ्कों के बीच किशोर भले ही अपने को हीरो के रूप में देखने लगा हो; लेकिन यह सच है कि लीना की दृढ़ता और साहस के ग्रामे कहीं वह अपने को बहुत छोटा श्रीर नमित महसूस करता था । श्रीर इसमें भी झूठ नहीं कि शादी हो चुकने के बादवाले दिन तक असिस्टेण्ट कमिशनर दीक्षित के बैंगले के फाटक का ‘विवेयर आँफ डॉग’ के ऊपरवाला कुण्डा खोलते उसका दिल घड़-घड़ करने लगता था । अल्सेशियन कुत्तों के डर से नहीं, लीना के भाइयों के डर से भी नहीं, बल्कि दीक्षित साहब की नजरों के डर से । खून को जमा देनेवाली उन ठण्डी निगाहों के सामने पड़कर वापस आ सकने लायक शवित भी उसमें रह जायेगी या नहीं ? आज तो लगता है, जो ‘कुछ उन दिनों हुआ’ किशोर उन सबका मात्र तटस्थ दर्शक था । शादी दीक्षित साहब के यहाँ नहीं, हुई थी कोई में । इसके पहले श्रीर बाद ट्रेजेडी और कासं दो नाटक हुए थे : यानी शादी से पहले मार डालने, उस लकंगे को कहीं का न रखने श्रीर पांच दिन भूमि रहने, कमरे में बन्द करके सड़ने देने का नाटक हुआ, जिसके अन्तिम अंक में एक दिन किशोर ने लीना को श्रलस्सुवह अपनी कोठरी के दरवाजे पर खड़ा पाया—बदहवास, खाली हाथ । ‘अपने घर रहने आयी हूँ । कितनी मुश्किल हुई है निकलने में कि बस ! अब कोई हमारा बया कर सकता है ? कानूनन हम लोग पति-पत्नी हैं ।’ फिर किस तरह ‘भाड़ में जाओ’ के श्रव्वाज में सब दिखावा करना पड़ा, किस तरह मसूरी के एक होटल में डबल-बेडहम का इन्तजाम करके उन्होंने दो ट्रैन-टिकट किशोर को दिये और स्टेशन पर जब अपनी ‘वेटी को बिटा’ किया, तो सहृती के मुखीटे का मोम पिघल आया था । उनकी आँखों में नमी तंर आयी, लेकिन एक तनाव बना रहा और उदासीनता का अभिनय करता किशोर गद्दन घकड़ाये अपने और दूसरों को विश्वास दिलाता रहा—वर्ग की दीवारें आखिर मनुष्यों की भावना को कितने दिनों और कुचलेंगी ? आदमी ही तो है, जो इतिहास को बनाता बदलता है । प्रतिष्ठा—धन की, जाति की, पोजीशन की प्रतिष्ठा—हम सोगों के

की निर्णयिक क्यों हो ? लेकिन ये सारे घिसे-पिटे वाक्य बातावरण में व्याप्त अपमान के डंक से उसे अद्यूता नहीं रख पाते थे ।

पापा ने कुछ नहीं दिया—देने की बात भी नहीं थी और किशोर उसकी उम्मीद भी नहीं कर रहा था; लेकिन स्टेशन पर यह मौन आश्वासन भी टूट गया । स्टेटफॉर्म की घड़ी के पास ऊपर हरी झण्डी हिली, तो उन्होंने लीना के हाथ में एक बन्द लिफाफ़ा रख दिया, 'इसे बाद में देखना ।' गाड़ी चली, तो किशोर को लगा कि दीक्षित साहब न तो उससे हाथ मिलाना चाहते हैं, न आँखें । वह योंही खोये-खोये-से सस्त चेहरा किये एक और खड़े रहे और उससे नहीं, लीना से उखड़े-उखड़े बोलते रहे । स्टेट-एक्सप्रेस का डिव्वा एक हाथ से दूसरे हाथ की याचा में मानसिक उत्तेजना प्रकट करता रहा । गाड़ी चली, लिफाफ़ा खुला—लीना के नाम पाँच हजार का एकाउण्ट-पेयी चैक था । पहली चीज़ किशोर के दिमाग में टकरायी, 'सिफ़ं पाँच हजार !' फिर लगा, यह पाँच हजार रुपयों का नहीं, पाँच हजार अविश्वासों का चैक है : जिस आदमी के साथ तुम जा रही हो, उसके साथ कभी भूती मरने लगो, तो इन रुपयों से काम चला लेना । किशोर का चेहरा पढ़कर लीना समझाती रही, 'पापा वेहद कट्टर सिद्धान्तवादी आदमी हैं । वे कहते हैं कि भूठे दिवावे और रुपये की वरवादी से क्या फायदा ? जो रुपया देना है, वह सीधे ही क्यों न दे दिया जाय ? वजाय इसके कि वे हमें कोई उलटी-सीधी चीज़ दे देते और हमें पसन्द न आती, क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं है कि हम अपनी ज़रूरत की चीज़ खरीद लें ?' वह कुछ नहीं बोला । अपने जुकाम की बार-बार रुभाल में साफ़ कर-करके रखते और स्टेट-एक्सप्रेस का टिन हाथ में लेकर बातें करते दीक्षित साहब की आकृति ही उसके सामने घूमती रही । ग्यारह-बारह साल हो गये, उस आकृति की रेखाएँ अब अलग-अलग लोगों के चेहरों में समा गयी हैं और उसे ज्याँ-का-त्याँ याद कर लेना भी उसके लिए सम्भव नहीं रह गया है । लेकिन उस दिनवाला प्रभाव आज भी दिमाग से नहीं जाता । मुँह की ओर बढ़ता सिगरेटवाला हाथ, और साँवले होंठों का उसे पकड़ने के लिए उदग्र हो आना —वाई-फोकल चद्मे से बाज-जैसी तेज आँखों का झाँकना—सुप्रीम कॉन्फिडेंस और हर चीज़ को आर-पार भेदकर उसको जाने वैठे होने का दम्भ—सब मिलाकर एक ऊँचाई पर खड़े, हिकारत से नीचे देखते व्यक्ति की ललकारती भंगिमा—मन-ही-मन दाँत भीचकर किशोर ने सोचा, 'साला शब्द से ही टोड़ी बच्चा लगता है । हमारी सरकार ने इन लोगों को रिटायर क्यों नहीं किया ?' फिर एक दूसरा शब्द दिमाग में आया, 'ध्यूरोकेंट्स !'

हवा ठंडी थी । खाना खाकर दोनों बाहर निकले थे और कुलड़ी, माल पार करके रिक्षा-स्टैण्ड के सामने ही दीवार पर, जरा एक और हटकर बैठ गये थे । अंधेरे में जगमगाती वत्तियों की आड़ी-तिरछी मालाएँ टूट-टूटकर नीचे ऊँच़-खाड़ अंधेरे में चली गयी थीं... कि-कों के गुच्छे के बाद, वस कहीं-कहीं वत्तियाँ सड़क का आभास देती थीं । नीचे बहुत दूर हल्के उजास को देखकर लगता था वहाँ देहरादून है ।

"कभी-कभी मैं सोचता हूँ, लीना," तीन दिनों से घुमड़ती बात को किशोर शब्द देने की कोशिश कर रहा था, "कहीं हम लोगों से कुछ गलत तो नहीं हो गया..." वह

तो खूब आगा-पीछा सोच लेती है। मुझे सभी तरह की जिन्दगी जीने की आदत है।” उसने किशोर का हाथ अपने हाथ में ले लिया, “आज तो तुम्हारी लैकचररशिप पक्की है न, इसलिए एक आधार है। यह न भी होती, तब भी मैंने तो आते का निर्णय कर ही लिया था। अब हम दोनों के सुख-दुख अलग कहाँ रह गये हैं? अरे, मैं तो कहती हूँ, इस साल मैं फ़ाइनल किये लेती हूँ; फिर निश्चिन्त होकर पी-एच० डी० कर डालो। ये द्यूयनें और नोट्स तो तुम बन्द ही कर दो। मैं भी कोई छोटी-मोटी नौकरी ले लूँगी।” फिर बहुत ही लाड़ और सान्तवना से उसके कन्धे पर बाँह रखकर बोली, “छोटी-सी जिन्दगी है, योही बीत जायेगी!……”

आज भी याद है, किशोर को लगा था कि लीना के मुँह से अपनी वात नहीं, फिल्में और रूमानी कितावें बोल रही थीं। घड़ी देखकर जब वे लोग उठे, तो लीना ने उसे इस तरह दिलासा दिया, जैसे वच्चे को समझा रही हो, “देखो, हम लोग ट्रेन में सफर करते हैं। बहुत तकलीफ़, असुविधाएँ, अपमान और बदमज़गी होती है। लेकिन यात्रा पूरी करने के बाद कोई भी उन्हें याद नहीं रखता। पापा ने गलत किया या सही, अब तो हमारी जिन्दगी अपनी और स्वतन्त्र जिन्दगी है। पापा उसमें कहाँ आते हैं?”

हाँ, पापा उसमें कहाँ आते हैं! न होगा, तो आगे उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे। उस दिन सुनसान माल पर किशोर ने लीना को कमर से अपने पास खीच लिया, “तुम बहुत समझदार हो लीना, पता नहीं मुझे क्या हो जाता है कभी-कभी! ये छोटी-छोटी बातें बहुत महत्वपूर्ण लगने लगती हैं। इसी तरह भटकाव में मुझे सहारा देती रहना……” मन में सोचा, लीना जिस वर्ग और जिन लोगों में रहती है, निर्णय-दृढ़ता और स्पष्ट-चिन्तन उन लोगों की बहुत बड़ी विशेषता है, क्योंकि परिस्थितियों पर उनका नियन्त्रण होता है……

○ ○

छोटी-छोटी बातों के महत्वपूर्ण लगने का सिलसिला शुरू कहाँ हुआ था—यह तो स्पष्ट याद नहीं, लेकिन वह खत्म वहाँ नहीं हुआ—खत्म हुआ किशोर और लीना को अलग करा के……एक नये सिलसिले की शुरुआत करके……आज लीना का आशय उसी अतीत से है क्या……? उसने पाइप निकाल लिया, सुलगाया और सिरे से पकड़कर पीता रहा……

○ ○

कुछ घटनाएँ अभी भी भलाये नहीं भूलती……और आज भी किसी लड़की को टेनिस खेलते देखकर, किसी पार्टी में, होटल में छुरी-काँटे उठाते-रखते याद आ जाती हैं……दीक्षित साहब की ओर से शादी का डिनर था—उनके लॉन में ही। छुरी-काँटे से दोस्तों के साथ कॉलेज कैण्टीन, या किसी के घर एट-होम पार्टी खा चुका था। लेकिन खास सुविधाजनक न होते हुए भी खाने में दिक्कत नहीं हुई। समाप्त करके उसने छुरी-काँटे का क्रॉस बनाकर खाली प्लेट में रख दिया, और चुपचाप होंठों पर फ़रमाइशी मुसकान लाकर मेहमानों की चुहल पर हँसने का प्रयास करने लगा……वे सब अपनी ही बातों में व्यस्त थे और शायद किसी को अहसास नहीं था कि जिसकी शादी की

पार्टी वे लोग था रहे हैं, वह व्यक्ति भी वहाँ उपस्थित है। पास बैठी लीना ने बहुत धीरे-से पूछा, 'अरे आप, खा चुके क्या?' लापरवाही से उसने 'हाँ' कहा और दीक्षित साहब का तह किये नेपकिन को होटोंसे से छुलाना देखता रहा। तभी औरों की निगाह बचाकर लीना ने धीरे-से उसकी प्लेट के छुरी-काँटे के क्रॉस को विगड़कर उन्हें दो समानांतर रेखाओं की तरह रख दिया। उसने भी देखा, खाना खत्म करनेवाले समानांतर ही रखते हैं और उसकी जानकारी गलत थी। घोड़ी देर वह उधर में ध्यान हटाये रहा, मगर बाद में जाने क्या हुआ कि फिर से उन्हें ब्रॉस वी शबल दे दी। मेज के नीने लीना ने धीरे-से उसका पाँव छुआ, तो उद्धत भाव से बोला, 'अभी एक कटलेट और लूंगा...'

तब से वह लीना के साथ खाते समय, खाना खत्म करके छुरी-काँटे को ब्रॉस की स्थिति में ही रखता...

फिर उसका गट-गट पानी पीना, चप-चप खाना, और 'हरि शोभ्म' की लम्बी डकार के साथ तृप्ति का सन्तोष प्रकट करना—लीना को पसन्द नहीं है—यह जानते हुए भी वह उसे चिढ़ाने के लिए यही करते हुए थाता। उसे लगता, इसमें लीना की व्यक्तिगत नापसन्दगी उतनी नहीं है, जितनी हिकारत की यह भावना कि 'तुम्हें सभ्य समाज में उठने-बैठने का मौका नहीं मिला, इसलिए शायद यह नहीं जानते कि यह अशिष्टता है।' कोई चीज स्वादिष्ट लगती, तो जल्दी-जल्दी लम्बी सड़केदार शावाज के साथ मुँह भर लेता, और झूम-झूमकर गुनगुनाते हुए उसका स्वाद लेता और लीना की आँखों में पढ़ता—'शायद पहली ही बार खा रहे हो, न?' हालांकि यह भी समझ लेता कि उसके ऐसा करते समय जान-बूझकर लीना दूसरी और मुँह करके रसोई में भाँकने लगी है।

लीना को घोड़ी की धुली, साफ़-सफेद इस्त्री की हुई साड़ी पहनकर सोने का थोक था, और उसका आग्रह रहता कि वह भी घोड़ी का धुला कुरता-पाजामा पहनकर नौये। लेकिन किशोर किसी भी तरह अपने मन को तैयार न कर पाता। जिस तरह के कपड़ों को वह दो-दो तीन-तीन दिन पहनता, और बाहर से लौटकर जिन्हें खूंटी या किवाड़ पर लटका देता रहा है कि अगले दिन पहनने लायक रहें, उन्हें पहने ही कैसे विस्तर में धूस जाये? दो घण्टे उन पर व्या इसीलिए बैचारे घोड़ी ने मेहनत की थी (अक्सर ही लीना इस्त्री ठीक न होने पर आधे कपड़े घोड़ी को लौटा देती थी) कि उन्हें पहनते ही विस्तर पर लेटकर बराबर कर देना है? लोटे में अंगारे भरकर रात को देर तक अपने हाथ के धुले कपड़ों पर इस्त्री करना उसे अभी तक याद है, इसलिए इस्त्री करने के परिश्रम को भी जानता है। वह उस कुरते-पाजामे को यों ही सिरहाने रखा छोड़कर कहीं से कोई गन्दे कपड़े निकाल लेता—व्या है, कहीं कोने में न पड़े रहे, शरीर पर ही रहे—सोना ही तो है! लीना चिढ़ाती, 'तुम्हें गन्दे कपड़े पहनने का चास थोक है।' उसे लगता, कह रही हो—साफ़ कपड़े पहनने की आदत नहीं है न?

००

इण्टरव्यू के लिए जाना था। लीना ने उसकी अट्ची-विस्तर तैयार किये। अपनी बैंत की चौकोर टोकरी में दो प्लास्टिक की प्लेटें, गिलास, तीलिया, नैपकिन,

केले-सन्तरे इत्यादि रख दिये। गुसलखाने से निकलकर गीले बालों को झटके-से काढ़ते, छीटे उड़ाते हुए किशोर ने पूछा, “अरे भई, ये सब क्या है?” लीना व्यस्त-भाव से सामान लगाती रही, “कुछ नहीं, रास्ते की तैयारी है। पापा की तैयारी में ही करती थी।” किशोर ने मुलायम स्वर में कहा, “वयों ये सब वेकार मेहनत कर रही हो? रास्ते में बेरा मन ही नहीं होता कुछ खाने-पीने को। फिर थर्ड बलास में आदमी खुद ही बैठ जाये, इतना काफ़ी है। ये ताम-भाम जितना कम हो, उतना अच्छा है। वेकार टूट-टाट जाये।” फिर जब कंधी अन्दर रखकर लौटा, तो असली बात वही, “इसके लिए एक कुली अलग से करना होगा। अटैची-विस्तर का क्या है—लिये और हाथ में लटका लिये!” लीना का हाथ रुक गया। उसने गौर से किशोर को देखा और उसके आगे बाईं-फोकल चश्मे से भाँकती दीक्षित साहब की आँखें आ गयीं…

००

लीना को शौक था, घर में अच्छे परदे हों; और उसे लगता, पुरानी साड़ियों के परदे क्या बुरे हैं? घर में जये टी-सेट की जरूरत थी। मैंट में मिले टी-सेट दीक्षित साहब के साथ ही—उस शहर में छूट गये थे और वह वहाँ जाना नहीं चाहता था। तय हुआ, शाम को साथ चलेंगे। लेकिन वह खुद ही कॉलेज से बाजार चला गया, और जब आया, तो सेकण्ड ग्रेड का टी-सेट साइकिल की डोल्ची में था। किसी बेसालूम-सी चटख या टेढ़ेपन को कौन गौर से देखता है? चीज़ तो आधे दामों में आ गयी। लीना ने देखा, तो नाक-भैंसिंड़ लीं, “क्या उठा लाये!” अगले दिन वह खुद जाकर नया सेट उठा लायी। बोली, “तुम्हारे पैसे नहीं खर्च किये हैं। अपने पैसों से लायी हूँ…” अपने पैसों को लेकर उसके मुँह तक कोई बात आयी भी—तभी कोई आ गया।

यह सब तो चला बिना बोले; लेकिन एक दिन जब रेस्तराँ से निकले, तो बोलने का लिहाज़ भी टूट गया। शायद उसे इतना बुरा न लगता, लेकिन साथ में था किशोर का एक सहकारी—अंग्रेजी विभाग का मेहता। लीना का फ़ाइनल था, इसलिए मदद करने अक्सर मेहता आ जाता था। शाम को प्रायः साथ ही प्रोग्राम बनता। कम-से-कम चाय साथ ही पीते थे। जब तक किशोर पैसे निकाले-निकाले कि मेहता ने झटके से पर्स निकालकर दस का नोट थाली में फेंक दिया। टिप के चार आने छोड़े और बाहर आते हुए बोला, “मैं समझता हूँ, इन बेचारों को जरूर कुछ-न-कुछ छोड़ना चाहिए। ये होटलवाले इन्हें देते ही क्या हैं? सारा गुजारा तो टिप्स पर हो चलता है इनका…”

“हमारे ‘ये’ टिप देने में सबसे ज्यादा तकलीफ़ पाते हैं,” लीना हँसकर बोली, “वहुत दिल कड़ा करके छोड़ा, तो एक आना छोड़ दिया।”

“हम पूछते हैं यों पैसा फेंकने से फ़ायदा?” उसने बचाव पक्ष की दलील दी, “एक तो दो पैसे की चीज़ के चार आने दो—फिर यह टैक्स! मैं कहता हूँ कि यह टिप-बाज़ी विदेशों में इतना बड़ा सिरदर्द हो गया है कि लोग परेशान हैं। दरबाज़ा खोला है, टिप दीजिए; लिफ्ट से लाये हैं, टिप दीजिए; टैक्सी का भाड़ा दिया है, टिप दीजिए; होटल के बैरे ने आपकी डाक लाकर दी है, टिप चाहिए! टिप न हुई, साली मुसीबत हो गयी। हमें तो इस सबको डिस्करेज करना चाहिए। भई, चीज़ों के दाम आप दो

पैसे और बढ़ा दीजिए—लेकिन टिप के नाम पर वह जेव-कतराई तो बन्द कीजिए… भी तो इसके एकदम खिलाफ है…” वह लीना से बहस के अन्दर में बोलता रहा।

“खंड, अच्छा या बुरा; सभ्य समाज का एक तरीका बन गया है।” लीना ने चताया।

“अच्छा सभ्य समाज है! एक पूरे वर्ग को बहुशिष्य और टिप्प पर पालना गुलामी है।” किशोर को गुस्सा आ गया।

“ऐसा न करें, तो ये लोग भी तो ठीक से सर्व नहीं करते—कोई मुनेगा ही नहीं…”

“यानी जिसके पास टिप देने को फ़ालतू पैसे न हों, उसे यहाँ आने का हक्क नहीं है…? उसे न खाने-पीने का हक्क है, न अच्छी जगह बैठने-उठने का!” उसकी वात में कड़वाहट आ गयी, “विल के पैसे हों न हों, लेकिन टिप ज़हर हो।”

“इसे पर्सनल बयों बनाते हो, किशोर?” लीना ने निर्णय के हांग पर कहा, “वहरहाल, आपकी वात ठीक भी हो, फिर भी मैंने देखा है कि पैसा आपसे ढूटता नहीं है।” लीना ने मेहता के बड़े हुए हाथ से पान लेकर मुँह भर लिया।

किशोर की आँखों के आगे ‘विवेयर श्रॉफ डॉग’ का फाटक धूम गया। बोला, “लीनाजी, मुझे मिलते हैं दो सौ रुपये—सो भी आज। और आपको रहते ही आदत है उस माहील में, जहाँ हजार रुपये तनखा और डेड हजार की ऊरी आमदनी होती है—वे लोग पांच रुपये के बिल पर एक रुपया टिप दे सकते हैं…”

० ०

उस दिन लीना की आँखों में आँसू आ गये थे, और घर आकर तो वह फूट-फूट-कर रोने लगी—रात-भर रोती रही और किशोर डरे बच्चे की तरह माकी माँगता रहा।

अबसर उसे दया भी आती थी। लीना सब्जी काटती या भाङ्ग लगाती, सफाई करती, कपड़े धोती, तो किशोर का मन एक अजीब करणा से भर-भर आता। बेचारी लाड-प्यार, नाज़-नखरों से पली लड़की कहाँ आ गयी है! तब वह आगे-आगे सारे काम कर देता। वह कपड़े भीगे छोड़कर आती, तो धोकर सुखा देता; वह दृश्य करती, तब तक खुद स्टोव जलाकर चाय बना देता। वह खाना बनाती, तो नहाने से पहले कमरे भाङ्ग देता। लीना किताबें खोले पढ़ रही होती, और वह चुपके से बरतन मल डालता। हालाँकि यह चीज़ उसे और भी चुभती कि लीना जान गयी है, फिर भी न जानने का बहाना करके बैठी पढ़ रही है। लेकिन देखकर अनदेखा करना मुदिकल हो जाता, तो लड़ती, और वह कहता, “देखो लीना, मुझे तो यह सब करने की आदत है। युह से किया है। भाभी बीमार या बाहर होती थीं, तो सभी कुछ करता था। लेकिन तुमने तो रसोई में भाँककर भी नहीं देखा होगा।” उसका गला हँथ जाता, “तुम भी क्या सोचती होगी, लीना। कहाँ…” लीना गहरी साँस लेकर झिङ्क देती।

जब वह सज-सेवकर बाहर निकलती, तो किशोर उसे देखता रह जाता—हैयर-स्टाइल, मैचिंग सेन्स, हर चीज का चुनाव और स्तर—सभी में कुछ ऐसी नफासत और अभिजात्य रहता कि लगता वह किशोर से बहुत दूर चली गयी है—अप्राप्य और

दुर्लभ हो उठी है। उसे अपना-ग्राप वहुत ही छोटा और अंकिचन महसूस होने लगता—वह खुद ही मानो अनधिकारी, गैर और अजनवी बनकर उसे ठगा-सा देखता रह जाता। उस क्षण उसे लीना के सौन्दर्य और सौन्दर्य-बोध पर गर्व-मिश्रित सन्तोष ज़रूर होता; लेकिन पीछे कहीं रीढ़ के भीतर आशंकित भय सुरुसुराया करता—सचमुच वह लीना के लायक नहीं है? कहाँ वह, और कहाँ लीना! ज़रूर लीना भी तो अपने-ग्रापको और उसे, देखकर कभी-कभी सोचती ही होगी कि वह कहीं गलत कर वैठी है। जाने कैसे उसे यह विश्वास हो गया था कि अब लीना को उसके साथ आने का अफसोस होने लगा है, इधर वह अधिक सुस्त और उदास रहने लगी है—कहाँ इस समय वह किसी शानदार गाड़ी में बैठी धूमने जा रही होती और कहाँ अब बार-बार धूप में झूमाल से गले-कनपटियों का पसीना पोछती, धूल-धक्कड़ में, रिक्शे में लदी, पहिये से साड़ी बचाती चली जा रही है...“साथ लगे इस बुद्धू, चुराद, धूने, मनहूस और कंजूस (या गरीब) को देखकर व्याहर क्षण घड़कते दिल से यही नहीं मानती होगी कि हाय राम, इस वक्त कोई जान-पहचान का न मिल जाये! हालाँकि वह खुद भी वहुत खयाल रखती थी कि जब किशोर उसके साथ हो, तो सबसे अच्छे कपड़ों में हो...”मगर उसके पास अच्छे कपड़े थे कहाँ...?

० ०

“देखो, कल एक जहाज कीश हो गया...आई० ए० सी० का विस्काउण्ट था...” अखबार पढ़ते-पढ़ते उसने मेहता और लीना को सुनाया। अक्सर जब वे तीनों बैठते, तो किशोर को लगता, जैसे उसके पास बात करने को कोई विषय ही नहीं है। अपनी इस कमज़ोरी को छिपाने के लिए वह कुछ उठाकर पढ़ने लगता—हालाँकि एकाध बार लीना ने बताया भी कि यह बदतमीज़ी है।

“व्या था?” लीना स्टोव के पास थी, जैसे कम सुनती हो, इस तरह कान पर जोर देकर पूछा। वैसे भी स्टोव की आवाज रसोई में गूंज रही थी। उसने डरते-डरते मेहता को देखा कि कहीं सुन तो नहीं लिया।

“इंडियन एयर-लाइन्स का विस्काउण्ट था,” किशोर ने दोहराया। वह और मेहता आँगन में मूँहों पर बैठे थे। लीना रसोई में, पास ही, चाय बना रही थी।

“विस्काउण्ट नहीं, प्रोफेसर साहब, वाइकाउण्ट बोला!” लीना ने हँसकर कहा, तो फिर वही वाई-फोकल शीशे और तुच्छता का अहसास कराती दो उपेक्षा-भरी आँखें उसे तिलमिलाता छोड़ गयीं।

“अरे हाँ-हाँ, ग्राप कॉन्वेंट में पढ़ी हैं। जरा स्पैलिंग तो देखो!” किशोर जिद करता रहा।

“मेहता साहब, जरा इन्हें बताइये,” वह वहीं से बोली।

मेहता अचकचा उठा। क्षमा माँगने के लहजे में कहा, “प्रोफेसर साहब, है तो वाइकाउण्ट ही...”

“अरे, इन अंग्रेजी शब्दों का कोई एक उच्चारण है?” किशोर भड़क उठा, “अंग्रेज और अमेरिकनों की बात छोड़ दीजिए। इंग्लैंड में खुद हजारों शब्दों के उच्चा-

रण तय नहीं हैं। एक अँग्रेज बोलता है डिरेक्शन, दूसरा कहेगा डायरेक्शन! एक कहेगा अॉफिन; दूसरा बोलेगा अॉफिटन! लिखा है ल्यूटिनेट, स्कीइंग—पढ़ रहे हैं, लैपिटनेट, शीइंग! स्पैलिंग है जी-ए-ओ-एल—बोला जा रहा है जेल! ... आई हेट दिस नैन्वेज, जो सिर्फ कॉन्वेंट के बच्चों की बपीती हो, यानी गरीब आदमी वी पहुंच से बाहर हो—द लैन्वेज ऑफ इम्पीरियलिस्ट्स एण्ड व्यूरोक्रेट्स! और इस शब्द के बाद आते ही उसे लगा, जैसे वह मेहता और लीना को नहीं, इन दोनों के पीछे कहीं छिपे खड़े दीक्षित साहब को यह राब सुना रहा है, "साले हमारे जवान को कहेंगे बनवियुलर..."! जानते हैं, बनवियुलर माने क्या होता है? बनवियुलर मीन्स द लैन्वेज ऑफ रोमन स्लेव्ज... जन्म-जन्मान्तर के गुलामों की जबान..."

उसके गुस्से पर लीना जोर से हँस पड़ी, "लेकिन इस पर इतना गुस्सा होने की वया ज़रूरत है? अपनी गलती मान लीजिए न, और नाराज होकर भी वही भाषा बोल रहे हैं, जिस पर नाराज हैं!" वह हत्थी टिकाकर हँसती रही।

"शाप्!" जाने उसे क्या हुआ कि जोर से उसने अखबार जमीन पर पटका और झटके से उठ खड़ा हुआ, "ठीक है, हम कॉन्वेन्ट में नहीं पढ़े हैं। हमारे उच्चारण खराब सही, लेकिन इसी कॉन्वेन्ट ने तुम्हारा दिमाग खराब कर दिया है..." और वह मेहता को स्तब्ध ठोड़कर बाहर चला आया—आते हुए कह आया, "मैं गरीब आदमी हूँ लीना, लेकिन मेरी अपनी इज्जत है!"

बाद में अपनी उत्तेजना पर उसे अफसोस होता रहा... तीन-चार दिनों के तनाव, रोने-घोने के बाद उसने खुद लीना से माफ़ी मांगी कि गलती उसी की थी, न मालूम उसे क्या हो गया था..."

क्या हो गया था नहीं, क्या होता चला जा रहा था—समझ में नहीं आता था। उसे जैसे लीना से, उसके सामने पड़ने से डर लगने लगा था। लीना की एक खास तरह की दृढ़ या ज़िदी मुद्रा है, जिसके सामने वह नर्वस हो जाता है, और या तो कुछ ऊन-जलूल कह बैठता है या उससे ऐसा ही कुछ हो जाता है। उसे हमेशा खतरा रहता है कि न मालूम किसी मज़ाक या गम्भीरता में वह क्या-कुछ कह दे और लीना का चेहरा साँवले गम्भीर चेहरे में बदल जाये और वहाँ वाई-फोकल चश्मा उभर उठे..."

० ०

वह अपनी थीसिस के सिलसिले में रोज़ साँझ को यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी जाता था, और लीना इम्तहानों की तैयारी करती थी। प्रीवियस में अट्ठावन प्रतिशत नम्बर थे और अगर इस बार तैयारी ठीक हो जाये, तो कभी पूरी करके फ़स्ट बलाम लाया जा सकता था। इसलिए नियमित रूप से मेहता की मोटर-साइकिल दरवाजे पर पांच बजे आ खड़ी होती थी। तीनों साथ चाय पीते। उस क्षण लीना सबसे अधिक प्रसन्न रहती। वैसे प्रायः उसकी यह शिकायत रहती थी कि न तो हम किसी के यहाँ जाने हैं, न किसी को चाय पर बुलाते हैं। तब उसे ख्याल हुआ था कि सचमुच उसका परिचय कितने कम लोगों से है—ऐसे लोगों से, जिनके साथ नम्बर्स रखने में लीना को प्रसन्नता हो। इसलिए वह अवसर ही नुपर रहता और ख्याल रखता कि कहीं चाय ने सुड़-मुड़ की

आवाज न हो, या वह दर्तों के पीछे जीभ लगाकर ग्रपनी प्रिय 'चस्सी ! चस्सी !' न कर बैठे। खाते के बाद एक दिन वह परम तृप्ति-भाव से यों ही दर्तों से जीभ लगाकर साँस खींच रहा था, जिससे आवाज होती थी। लीना खा रही थी। अचानक बोली, "फॉर गॉड्स सेक, यह मत करो—मुझे उल्टी हो जायेगी……" और तब से जब भी वह ऐसी आवाज निकालता कि लीना का यह वाक्य उसकी 'चस्सी ! चस्सी !' को बीच से ही रोक देता…… वह और मेहता कपड़ों की बातें करते, फ़िल्मों की बातें करते, दिल्ली और वम्बई के होटलों की बातें करते—ड्राइविंग और पार्टियों के दिलचस्प किस्से सुनाते, "मिसेज किशोर, आपने 'रेन्स ऑफ़ रांचीपुर' देखा है ? …… मुबाल संन्यासीवाले किस्से पर देस किया है—" और वह फ़िल्मों की कहानियाँ सुनाने लगता। लीना उत्सुक मुख्यता से सुनती रहती था कभी लीना सुनाती, "मुझे क्रीम खाने का शौक जरा ज्यादा ही था, फूट-क्रीम, क्रीम-जैली, आइसकीम…… पता नहीं, एक दिन पापा को क्या सूझा—दस सेर क्रीम उठा लाये—"

"दस सेर ! " मेहता ग्रथाह आश्चर्य दिखाता, "माई गॉड ! "

"हाँ-हाँ, दस सेर ! " लीना उत्साह से बताती, "कहते थे—जी भरकर खा लो। एक बार खुब नीयत भर लो, तो नामंल हो जाओगे। यह पापा का सिद्धान्त था।"—या—"उन दिनों दो घोड़ों की बोस्की, चार घोड़ों की बोस्की आती थी—और पापा ने घर-भर की चादरें उसी सिल्क की बनवा दी थी—"

"वह तो बड़ा कीमती सिल्क हुआ करता था ! " मेहता प्रशंसा से कहता।

"रुपये की तो पापा ने कभी चिन्ता ही नहीं की। मखमल के परदे, दो-दो हजार के गलीचे हैं उनके पास। आप सोचिए, उन दिनों के दो हजार……!" उस समय वह किशोर की उपस्थिति भूल जाती। "फर्स्ट क्लास से नीचे कभी सफ़र नहीं किया। और पापा वह सिगार पीते हैं—आप सोचिए, अंग्रेज कलवटर कहा करते थे—'मिं दीक्षित, आपके यहाँ जो सिगार मिलता है—वह हमें इंग्लैण्ड में नसीब नहीं है……' घर के हर आदमी पर एक बैरा तो आज भी है। पाँच-दस रुपयों का तो हिसाब ही नहीं माँगते……"

'कमाल है ! ' के भाव से मेहता सुनता रहता। वह खुद अच्छे परिवार का था और तनखा के अलावा सौ-दो सौ घर से मँगाकर खर्च कर देता था। वह तो यहाँ सिर्फ़ इन्तजार का बक्त टाई रहा था, वस्तुतः उसे तो आगे पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड जाना था। साफ़-सुधरा स्मार्ट-सा नीजबान; मुलायम, घने, बिना तेल के बालों का गुच्छा सामने झुका रहता और कभी 'वो' या कभी टाई में वह सचमुच प्रभावशाली लगता था। ग्रपने मस्से पर अंगुली रखे अक्सर किशोर उसे देखता। साँझ को प्रायः वह सफेद पेंट-कमीज में आता। आँगन में ही नैट लगाकर बैंडमिण्टन कोर्ट काढ़ लिया जाता—और घंटा-देह घंटा दोनों खेलते। "मेरे यहाँ बेकार पड़ा था," कहकर उसने बल्ले और शटल-कॉक्स का पूरा डिव्वा लाकर रख दिया था—तब पढ़ाई होती थी। एक बार उसके आते ही लीना ने वाक्य अवूरा छोड़ दिया, "इन्हें मिलता ही क्या है……?"

ने दस सेर कीम लाकर दी थी, और न बोस्की की बेड-शीट्स उसने देखी थीं—उसके पास कमीज़-कुरते तक सिल्क के नहीं रहे पहले। उसे लगता—अगर मेहता लीना का क्लासफैलो होता, तो ? …वह ये सारीं बातें सुनता और दाँत पीसता—शेखी…शेखी… यह वर्ग सिर्फ़ शेखी पर जिन्दा रहता है। एक की बात सुनकर प्रतीक्षा करता है, देखें अब दूसरा पक्ष कौन-सी शेखी इसके जवाब में खोजकर लाता है। मेहता के सधे हुए खेलने के ढंग और साड़ी का पल्ला कमर में खोंसकर बार-बार जूँड़ा खोलकर कमते हुए लीना का व्यस्त भाव से खेलना देखता, तो कहीं कचोट तीक्ष्णी हो जाती—कहीं कुछ गलत हो गया है। फिर किताब उठाकर चुपचाप बाहर चल देता और ‘प्राईने-अकवरी’ के अनुवाद में पढ़ने की कोशिश करता कि अकवर के प्रिय खेल क्या-क्या थे। उसे बार-बार वे दिन याद आते रहते, जब बी० ए० में वह लीना को हिस्टरी का पेपर तैयार कराता था और लीना मुख्य-भाव से जरा से होंठ खोलकर उसे एकटक सुनती रहती थी…‘मन होता था, बात आधी छोड़कर उन होंठों को धीरे-से नूम ले…कॉलेज की मोना-लिजा फ़तहपुर सीकरी में खड़ी नूरजहाँ बन जाती…मेहता के मुँह से ब्रैटले को भी तो ठीक उसी तरह सुनती होगी—और मेहता तो किशोर से हर हालत में आगे है…’ औरत का मन एक बार अगर आ सकता है, तो…! उसके पीछे भी तो वह पागल ही हो उठी थी। कभी भूल सकता है वह लीना के चेहरे के उस भाव को, जब मेहता ने कहा था, “मिसेज किशोर, आपकी अग्रेंजी तो सचमुच कमाल की है—मन होता है, घंटों सुनता रहूँ…कुछ भी कहिए साहब, कॉर्नेट की बात ही और है ! जो उन स्कूलों में एक बार पढ़ लेता है, जिन्दगी-भर उसकी छाप बनी रहती है…” और तब एक सख्त चेहरा, साँवले होंठों में दबा स्टेट-एक्सप्रेस से निकलता थुग्रां किशोर के मन-मस्तिष्क पर छा गया। किशोर डरता था और किसी भी तरह कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाता था—‘गेट आउट आँफ़ माई हाउस, यू स्काउंडल !’

००

लीना का जन्मदिन था। वह बैठा-बैठा काँच के गिलास में ब्लेड चिस रहा था। लीना नहा-धोकर साड़ी लपेटे निकली थी। गीले बालों को सिर पर पार्वती की तरह चाँध लिया था। भीगी साड़ी को ढोरी पर फैलाती हुई बोली, “ग्रभी प्रोफेसर मेहता पासपोर्ट के सिलसिले में दिल्ली गये थे। कहते थे, एक डॉक्टर है, जो शर्तिया मस्ता दूर कर देता है…”

“बीस बार तो दूर कर लिया, यार ! लोग कहते हैं, धोड़े का बाल बाँधो—फिर-नहीं होता; लेकिन हर बार ग्रा जाता है। इसीलिए मूँछे रखनी पड़ती हैं…” वह अफ़सोस से बोला।

“एक बार दिल्ला लेने में क्या हर्ज़ है ?” लीना ने स्नेह से कहा, “जब वे खुद जाकर डॉक्टर से मिले हैं, इतनी परेशानी उठायी है, तो एक बार यह भी कर देतो… और पता है, हमारे लिए जन्मदिन पर क्या लाये हैं ?”

“क्या ?” उसने हाय रोककर उत्सुक प्रश्नमुद्वाने उधर देखा।

लीना अन्दर से एक डिव्वा उठा लायी। ब्रॉन्ज घेड की रॉ-मिल्क साड़ी थी।

लीना बता रही थी, "दिल्ली में तो आजकल केज है रॉ-सिल्क..."

किशोर की हिम्मत छूकर कपड़ा देखने की नहीं पड़ रही थी। सूखे गले से शब्द ठेलकर कहा, "यह तो बड़ी क्लीमती होगी। सौ-सवा सौ से कम क्या होगा दाम...!"

"दाम तो नहीं बताये, लेकिन हाँ, इससे कम क्या होगी! एक व्लाउज़-पीस भी है।" उत्साह और आह्वाद से लीना ने साड़ी की नीचे रखे व्लाउज़-पीस को खीच लिया, "हमारे पास तो सच, अच्छी साड़ी भी नहीं रह गयी कोई। वह शादी के बक्त की चार-छः पड़ी हैं।"

"वस?" किशोर ने भोलेपन से पूछा, "साड़ी-व्लाउज़ ही दिये हैं? और कपड़े नहीं दिये?"

लीना जैसी खड़ी थी, वैसी ही रह गयी। बड़ी मुश्किल से सिर्फ़ इतना ही पूछा, "क्या मतलब?"

किशोर ने कोई जवाब नहीं दिया और डिव्वा एक और खिसकाकर ट्लेड घिसने लगा। तभी उसके कन्धों को छूकर करीब-करीब चीती आवाज में लीना ने पूछा, "मैं पूछती हूँ, मतलब बताओ?"

झटके से किशोर ने उधर मुँह घुमाया और दुगुनी ऊँची आवाज में पूछा, "मारोगी मुझे? लो, मारो... नहीं बताता मतलब! कर लो, जो तुम्हारा मन हा। मुझे भी वाप का चपरासी समझ लिया है, जो घूँड़ियों में आ जायेगा?... अन्धा हूँ? मुझे दिखायी नहीं देता?... हुँह, मुझे मिलता ही क्या है...."

लीना का स्वर गिर गया। वह न चीखी, न चिल्लायी। बहुत सख्त आवाज में बोली, "देखो किशोर, आज से—वल्कि इसी क्षण से हम लोग साथ नहीं रहेंगे। मैं भी भोच रही थी कि अब तुमसे बात कर ही ली जाये। न तुम अन्धे हो, न बहरे। तुम सिर्फ़ इन्फीरियाँरिटी कॉम्प्लेक्स के मारे हुए हो। इसलिए तुम्हें मेरी हर बात वह नहीं लगती, जो होती है। उसके पीछे और-और बातें दीखती हैं। मैं समझती थी कि मैनस, बात-चीत, उठने-वैठने के तौर-तरीके और व्यवहार ऐसी चीज़ें हैं, जिन्हें बहुत जल्दी बदला जा सकता है, सीखा और भुलाया जा सकता है। लेकिन इस कॉम्प्लेक्स का तो कोई इलाज ही नहीं... तुम्हें मेरे हँसने-बोलने-चलने—सबमें शेखी और दिखावा लगता है...."

"हाँ-हाँ, मैं जाहिल हूँ, वेवकूफ़ हूँ!" झटके से किशोर उठा और पूरी ताक़त से काँच के गिलास को जमीन पर पटककर बक्ता रहा, "लाट साहूव की बच्ची कहती हैं, हमें इन्फीरियाँरिटी-कॉम्प्लेक्स है!... हममें बातचीत, उठने-वैठने के मैनस नहीं हैं!... हम कंजूस और बदजवान हैं!... बड़े वाप की बेटी और मिठबोली तो आप हैं! या तो जो मन में आये, सो करने दो; या ये सब सुनो... जिन्दगी तबाह करके रख दी... भाई-भाभी के पास नहीं गये। माँ-वाप की तरह उन्होंने लिखाया-पढ़ाया और शादी के बाद से उन्हें बेले की मदद नहीं कर सके... अपने लिए एक रूमाल नहीं लिया। कुछ बचे, तो लें... दिन-रात कॉलेज में मेहनत करो, थीसिस के बहाने ट्रूयूशन करने जाओ... और यहाँ दिल में भरी है... कोटी-बेंगला, नौकर-चाकर... बाहर की नवाबी!...."

“देखो किशोर, पापा को……”

“वीस बार कहूँगा ! रोक, तू मुझे रोक। नक्कलची बन्दर कहीं के ! साले अंग्रेजों की नक्कल कर-करके, उनके जूते चाट-चाटकर आज साहब बन गये हैं……हांहांहा, साहब ! दस सेर क्रीम लाये थे……वोस्की वी चादरें……दो-दो हजार के गलीचे……”

पता नहीं बया-बया बकता-भकता वह बाहर चला गया और सारे दिन अपने-आपसे बातें करता सड़कों पर भटकता रहा। दिन छिपे के बाद जब डग्ता-डरता आया, तो दरवाजे पर ताला था और लीना चली गयी थी……

० ०

वह ‘पास्ट’—अतीत आठ साल पहले का है। दूसरा अतीत है आठ साल का यह काल—यानी अगले साल उसके खुद कलकत्ता चले गए के बाद बीता हुआ समय। उसका एक विद्यार्थी बहुत बड़ी जगह घरजमाई बनकर आया था, और उसने किशोर को चार सीं का स्टार्ट दिया था……यह इस अतीत का प्रारम्भ है।

“सारा खेल रुपये का है, और अब रुपया कमाना है,” उसने निश्चय किया और भूत की तरह रुपये के पीछे लग गया—भूल गया, कहीं कोई लीना है, कहीं कोई दीक्षित साहब हैं और कहीं कोई अतीत है। एक नौकरी पर पांच टिकाऊर दूसरी का सीदा होता रहा……पहला तल्ला……दूसरा तल्ला और एक दिन लिपट उसे दसवें तल्ले के इस चैम्बर में ले आयी जिसके दरवाजे पर लिखा था, ‘जनरल मैनेजर……’

० ०

मगर नहीं, सम्पर्क लीना और दीक्षित साहब से न रहा हो, और उसने दो साल पता न लगाया हो कि लीना कहाँ है—भूला वह दोनों में से एक को भी नहीं था। आज तो उसे लगता है, लीना नाम का एक परदा था, जिसके हटते ही उसने अपने-आपको दीक्षित साहब के रु-ब-रु खड़े पाया। परदा कहना भी गलत होगा, वह सिर्फ़ एक मेज का तख्ता थी और उस पर कोहनियाँ टिकाकर वह और दीक्षित साहब पंजा लड़ा रहे थे—अपनी-अपनी शक्ति आजमा रहे थे। जिस दिन उसने जाना कि लीना ने लैंकचरर-शिप ले ली है, उस दिन उसे सचमुच बहुत सन्तोष हुआ। ‘च्स्सी ! च्स्सी !’ की अभिव्यक्ति के साथ उसने महसूस किया कि अपराध का बोझ उसकी छाती से दूर हो गया है। दूसरे तरीकों से उसने यह सन्देश भी भिजवा दिया कि लीना चाहे, तो किसी के साथ—चाहे, तो मेहता के साथ ही—सैटिल हो जाये, उसे कोई आपत्ति नहीं होगी। वह चाहेगी, तो क्रानून भी भरसक सब-कुछ करने को तैयार है। उसे लीना से बोई शिकायत, कोई द्वेष नहीं है। बाद में सुना, मेहता इंग्लैण्ड से ही किसी को ले आया है……

बहरहाल, इस निश्चय के साथ ही उसे लगा कि वह लीना को मुला सकने में सफल हो गया है। सभी से गलत निर्णय हो जाते हैं—पूरे होश-हवास में सारा आगा-पीछा सोचने के बावजूद ! हम लोग एक-दूसरे के लायक नहीं थे। यों अक्सर ही उठते-बैठते, खाते-पीते लीना के साथवाले दिनों वी तसवीरें दिमाग़ में कौंधती थीं—और आज यह आँख सकना उसके लिए असम्भव हो गया है कि कितनी घटनाएँ और बातें बास्तव में हुई थीं और कितनी उसकी अपनी कल्पना वी उपज हैं। उनकी असलियत

में उसे खुद ही विश्वास नहीं है और उसने यह तो मान ही लिया है कि उन दिनों जिस अस्वाभाविक गान्धिक तनाव और दबाव से वह गुजर रहा था, उसके रहते हुए वातों को सही परिप्रेक्ष्य में ले सकना सचमुच उसके लिए असम्भव था। साथ ही वह इस बात को भी अच्छी तरह जानता था कि लीना भर जायेगी, आत्महत्या कर लेगी; लेकिन न तो किसी के साथ सैटिल होगी, न उसके सामने भुकेगी... भुकना, पछताना, समझौता करना उसके खून में ही नहीं है। एक तो वह खुद इतनी निर्णय-दृढ़ और फिर उसके अफसरी-वर्ग के संस्कार, जो व्यक्ति को तोड़ देते हैं, विचराकर चूर-चूर कर देते हैं, लेकिन भुकने नहीं देते... उसकी रग-रग में सिगरेटों से काले पड़े होंठ और वाई-फोकल चश्मे से भाँकती काली खुराट आँखें तैरती हैं—

किसी ने बताया था कि दीक्षित साहब हार्ट फेल हो जाने से चल वसे हैं। न उसे अफसोस हुआ, न खुशी। वे रहें, न रहें—उसकी दुनिया में कोई फर्क नहीं पड़ता। हाँ, वह प्रतीक्षा ज़हर कहीं मन में उन दिनों करता रहा कि उनकी मृत्यु की सूचना तो कम-से-कम उसे मिलेगी ही। लेकिन कोई सूचना नहीं दी गयी। 'स्टेट्समैन' के पर्सनल कॉलम ने उनके न रहने की सूचना को ज़हर पक्का कर दिया। लीना ने मसूरी में हैकमैन्स के सामने चलते हुए कहा था (उसे अभी भी वह जगह याद है), 'हमारी अपनी स्वतन्त्र ज़िन्दगी है। पापा उसमें कहाँ आते हैं !' लेकिन वह एक झूठ था—वहूत बड़ा और यन्त्रणादायक झूठ... क्योंकि जिस दिन उन्होंने लीना को स्टेशन पर विदा किया था, पांच हजार के चैक के साथ बन्द लिफ्टके में बैठकर वे खुद किशोर की ज़िन्दगी में भी घुस आये थे, और अनचाहे मेहमान की तरह उसके अस्तित्व पर हाथी हो गये थे—जिनसे सात जन्म में वह जाने को नहीं कह सकता था और जिनकी उपस्थिति उसकी नस-नस को तड़काये दे रही थी...

हाँ, जिस दिन लीना नाम का परदा बीच से हटा, या उसने जाना कि लीना सिर्फ़ मेज़ का तख्ता थी, और वे दोनों उस पर अपनी-अपनी कोहनियाँ टिकाये शक्ति आजमा रहे थे; उसी दिन महसूस किया कि उसकी असली लड़ाई दीक्षित साहब से है...

वह भैनेजर हुआ, तो पहली बात उसके मन में उभरी—दीक्षित साहब अब तो कमिशनर होकर रिटायर हो गये होंगे। इन्कम-टैक्स के मामलों में तो उनका कोई जवाब ही नहीं है। सरकारी आदमी रहे हैं—बीस ताल्लुकात होंगे और सारी भीतरी पोलें उन्हें पता होंगी—सेठ से कहकर क्यों न उन्हें यहाँ बुलवा लिया जाय ? उसके नीचे काम करेंगे और चैम्बर में आने से पहले खट्-खट् करके कहा करेंगे, 'मैं आई कम इन, सर ?' वह बैठा-बैठा उनकी फ़ाइल के कागजों पर दस्तखत करता रहेगा और वे अदब से एक और खड़े रहेंगे। वह भारी आवाज में कहेगा, 'मिस्टर दीक्षित, आपने वह 'जुपीटर-प्लाईवुड' का एनुअल स्टेटमेण्ट तैयार नहीं कराया ? उसे परसों जाना है। उसकी ही बजह से नये परमिट बहुत डिले हो रहे हैं...' और कल्पना में मेज़ के पास खड़े दीक्षित साहब से यह सब कहकर उसे आर्टिमिक प्रसन्नता हुई। तभी शंका हुई—उनके सामने वह यह सब-कुछ कह पायेगा ? उस समय न उसका स्वर हक्कलायेगा, न जवान लड़खड़ायेगा ? असम्भव ! वे बाज-ज़सी तेज़ निराहे—वह चेहरे की अभेद्य भावहीनता...

उस सबका सामना वह कभी भी नहीं कर पायेगा... घर्हा आकर वे जिन्दगी-भर कोई काम न करें—वह उनके सामने कभी जावान नहीं खोल सकेगा। चीये-पाँचवें कलास में जिन सिमियन साहब से उसने केन खाये हैं, उन्हें आज भी चाहे सवा सी रुपये ही मिलते हों, उनके सामने उसकी आँखें नहीं उठ सकतीं। वह भय श्रव उसकी प्रकृति बन गया है।

उसे याद है: चुपके से पीछेवाली वरामदे के पासवाली विड़की के नीचे वहसाइकिल खड़ी करता और बिना जूतों की आवाज बिये लीता को पढ़ाने लगा जाता। बाहर निकलता, तब तक दीक्षित साहब आ गये होते—या तो बीचवाने कमरे में चाय पी रहे होते या बाहर अलसेशियन कुत्ते को लिये लान में चहलकदमी कर रहे होते, माती को तरह-तरह के आदेश दे रहे होते। चोर की तरह वह वरामदा उत्तरता—कहीं निगाह न पड़ जाय, उसे बुला न लें। साइकिल लेकर ऐसा हड्डवड़ाता हुआ निकलता, मानो वे भी पीछे-पीछे आ रहे हों। बाहर सड़क पर आकर खुली साँस लेता और सिर दूस तरह झटकता, जैसे पानी की दमधोंट सतह के नीचे दबा जा रहा हो... वे देख लेते, तो बुना भी लेते, 'किशोर बेटे, कैसे हो ? लो, चाय पी लो...' उनके सामने रहना कितना कष्टकर अनुभव था ! वे बहुत ही कम बोलते थे, सिगार को हाँठों में धुमाकर पोलते हुए कुछ सोचते रहते, बार-बार माचिस जलाते रहते—लेकिन वे दो क्षण उसके लिए हृजार इम्तहानों में बैठने से ज्यादा दृसह हो उठते। 'जी, ठीक हूँ !' कहने में उसे चक्कर आ जाता, हक्काहट बढ़ जाती और पिण्डलियों तक पसीना तैर आता। दीक्षित साहब ने कभी उससे कुछ नहीं कहा। आज लगता है, कुछ न कहना उनका बहुत रिजर्व रहना नहीं, उसे बात करने लायक न समझना था। उनका अफसरी दबदबा, बाहर का रोब और घर का—लीना तक का—भय कुछ इस तरह उसकी चेतना पर छा गया था कि वह मजबूर हो उठता था...

दूसरों द्वारा सोंपा गया भय व्यक्तियों के लिए कितना घातक और प्राणान्तक हो सकता है, यह बात तर्क से चाहे समझ में न आती हो; लेकिन खुद किशोर जानता है : उसकी सारी दक्षितर्याँ इन आठ वर्षों में सिर्फ़ उसी भय से लड़ने में लगी रही हैं... नीकरियाँ बदलना, सांसारिक दृष्टि में सफल होते चले जाना, तो सिर्फ़ उस भय के सामने बार-बार पराजित होकर नये-नये हथियारों से लड़ने जैसा रहा है... ईसप के मेहक की तरह वह मानो इन एक-से-एक ऊँची जगहों पर खड़े हो-होकर हर बार अपने-आपसे सवाल करता : क्या वैल इतना बड़ा था ? क्या अभी भी वह दीक्षित साहब से डरता है ? क्या अभी भी वह उनसे छोटा है ? तभी ख्याल आता कि वे तो जाने कब के गुज़र चुके हैं...

बड़ी-बड़ी पाठियों में वह कुशलता से छुरी-नाँटों का इस्तेमाल करता, ज़ीमनी शराबें पीता, कोई पुरमजाक बात कहता, या रेस्टरांओं में पाँच-पाँच, दस-दस रुपयों की टिप छोड़ता, वेयरों-चपरासियों के सलाम लेता, तो कहीं बाई-फोकल चम्मे से गँड़कती दो आँखें—आँखें नहीं, आँखों का निराकार अहगास होता और उन्हें वह ज़ुनीती देकर दिखाता रहता—तुमने कभी पन्द्रह रुपयों की टिप छोड़ी है ? मन दी गहराई में उसे लगता ही नहीं था फ़ि वे नहीं हैं ! और ऐसे नीँदों पर वह दीक

धारण करने की कोशिश करता, जो उसके हिसाब से दीक्षित साहब ऐसे मौकों पर धारण कर सकते थे—वही सचेत लापरवाही…“ज्ञामत बनाते समय घण्टों वह अपने चेहरे को अलग-अलग कोणों से देखता—किधर से वह दीक्षित साहब जैसा रौबीला लगता है…उसने चेहरा अधिक रौबीला करने के लिए मोटे फ्रेम का चश्मा भी ले लिया था, जिसे वह झटके से उतारता और लगाता था…

हॉल-एण्डर्सन से हजार रुपये का नया सूट बनकर आया, तो पहनने से पहले उसने मन-ही-मन कहा, ‘तुमने देखा भी है ऐसा सूट ?’ पहना, तो मुँह से निकला, ‘आँखें फटी रह जायेंगी !’ लकड़क वरदी में जब ड्राइवर अदब से लपककर कार का दरवाजा खोलता, तो वह किसी से निश्चिन्द कहता, ‘अभी तक उसी हिलमैन को धकेलते होगे !’ किसी कर्मचारी की गलती पर उसे माफ़ करने को मन होता, तभी ध्यान आता, ‘वे’ उस समय क्या रवैया दिखाते ? और तभी भारी सख्त आवाज़ उसके गले से निकलती, ‘नो-नो, मिस्टर सेन ! मैं पूछता हूँ, ऐसा हुआ ही क्यों ? आप जानते हैं, मैं गलती किसी भी हालत में वरदाश्त नहीं कर सकता…’ उसे लगता, कहीं इस बात को ‘वह’ भी सुन रहा है और आवाज़ की सख्ती बढ़ जाती…किसी बहुत ज़रूरी काम से कोई छुट्टी मांगता तो एप्लीकेशन स्ट्रीकार करते-करते उसे सिगरेटबाज़े होंठों का ख़्याल हो आता और हाथ रुक जाता…

शुरू से ही एक अंगीव विद्येप-भरी धृणा भर गयी थी उसे नौकरी चाहनेवालों के प्रति—ऐसे प्रार्थना-पत्र वह बिना पढ़े फाड़ देता और कोई सामने ही पढ़ जाये, तो वेमुरब्बती से कह देता, ‘भूखे मर रहे हो, तो यहाँ क्या करने को रुके हो ? अपने घर क्यों नहीं जाते ? कोई ज़रूरी है कि कलकत्ता रहकर नौकरी ही करो ? कलक्टर के दामाद हो, जो योड़े में काम नहीं चलता ? मैंने कहा न, यहाँ कोई जगह नहीं है। नहीं सुना…?’ और बात पूरी होने से पहले ही बाहर खड़े बैरे के सिर पर घण्टी घनघना उठती—‘वह’ होता, तो ठीक यही व्यवहार करता—मैं तो चुप हूँ, ‘उसने’ जो इतनी देर में घबके देकर निकलवा दिया होता। उसे फुरसत थी इतना सब बकावास सुनने की…? इण्टरव्यू में जानवृक्षकर आड़े-टेढ़े प्रश्न पूछकर प्रार्थी को नर्वस कर देने में उसे अद्भुत कूर सन्तोष मिलता…ऐसे लोगों को तो वरदाश्त कर सकना ही उसके लिए मुश्किल था, जो हक्काते हैं; बात ठीक से नहीं कर पाते; पसीने-पसीने हो जाते हैं; मसले हुए बिना इस्त्री के, सस्ते-से कपड़े पहनकर आते हैं, और बाइकाउण्ट वह उसे बिलकुल-बिलकुल नहीं देखना चाहता…ऐसे किशोरों को धरती पर रहने का कोई हक्क नहीं है ! ऐसी परीक्षा में हर असफल प्रार्थी उसे फिजूल-फालतू कूड़े की तरह लगता था।

सिगरेट पीते-नीते अचानक उसे ख़्याल आता—अक्सर ‘वह’ जब बहुत चिन्ता-मग्न होता, तो आधी पी हुई सिगरेट को ही ऐश-ट्रे में डाल देता था। झट उसका हाथ दो कम पी हुई सिगरेट को ऐश-ट्रे में मरोड़ देता। धुंधना-सा ख़्याल आता—ये बारह पैरों कभी बहुत कीमती थे। कभी किसी जगह दो-चार सौ रुपये देने की बात आती और उसे

ध्यान आता कि 'उसे' रूपये की चिन्ता ही नहीं थी, तो वह क्षटके से रूपये लिखकर इस्तहुत कर देता—वह 'उससे' किस बात में कम है? अबसर जब वह खड़े होकर बातें करता तो सिगरेट का टिन ठीक उसी तरह उसके हाथों में उलता, जैसे लीना को बिदा करते समय 'उसे' करते देखा था। स्टेट एक्सप्रेस के सिवाय कोई सिगरेट जबान पर चढ़ती ही नहीं थी... जब उसने पहले-पहल कन्वे उचकाकर इन्कार करना सीखा था, तो अनन्द उसे दो बातें साथ याद आती थीं—जिस फ़िल्म में या व्यक्ति को उसने इस तरह कर्त्त्वे उचकाकर इन्कार करते देखा था, उसकी कैसी खूबसूरत नकल की है; हूसरी यह कि 'तुम' तो अभी भी सिर हिलाकर इन्कार करते होगे—सोलहवीं सदी का तरीका! जीमती रेशम का ड्रैसिंग गाउन पहनकर सिगार होंठों में घुमा-घुमाकर पपोलते हुए, जब वह विचारमन बालकनी में खड़ा होता, तो कई क्षण उसे भ्रम हो जाता. मानो 'वह' मुद दरवाजे पर ही ठिक्का खड़ा है, या ड्राइंगरूम में प्रतीक्षा कर रहा है और वह घूमने-वाला व्यक्ति स्वयं नहीं—दीक्षित है! लगता, कैसे आत्मविश्वास और दौव से वह चहलकदमी कर रहा है—जैसे एरिस्टोक्रेसी उसके खून की वूंद-वूंद में घूल गयी है—ऐसी शान से भला 'वह' क्या खाकर धूमेगा! ... कभी किसी कमजोर क्षण में अपने-आपने एक सबाल करता—उसे दीक्षित का भूत तो नहीं आता? ... शायद इसे ही 'भूत आना' कहते हैं? फिर अपने को किड़क देता—क्या भूत... वृत्त...

'तुम्हारे बाप ने भी कभी यह जहाज देखा है?' बोइंग-प्लेन में क़दम रखते ही पहला बाक्य मन में आया... किसी दूकान के सामने से गुजरते हुए कभी किसी चीज़ को खरीदने की ज़रूरत महसूस होती, दो-एक कदम उधर बढ़ाता भी—तभी ध्यान आता: 'वह' इस दूकान में क़दम रखना अपनी बैइज़न्टी समझता—और वह उलटे पांव लौट आता। ड्राइवर को नोट देकर भेजता... किसी भी व्यक्ति को देखकर पहला प्रश्न मन में उठता—जिसे वह किसी-न-किसी तरह से पूछ ही लेता—इसे कितना मिलता होगा? वह आदमी की क़ीमत उसको मिलनेवाले पैसे से लगाता। ज्यादा पैसे मिलने-वाले के प्रति अपने लापरवाह व्यवहार का उसे सचमुच अफसोस होता।

सिनेमाओं में, मैगजीनों में, आस-पास की दुनिया में, वह ध्यान से देखता-सुनता कि ऊँची पोस्ट और पोजीशनवाले लोग कैसे बोलते हैं, कैसे हँसते हैं, किस समय उनके चेहरे पर वया भाव रहता है, कैसे खड़े होते हैं और काम तथा आराम के समय उनके नया-वया पोज रहते हैं। और जब उन्हें निव्यजि सरलता से नकल कर नेता, तो सुनाता, 'सुना साहब वहादुर, ये नये अफसरों के उठने-बैठने, बोलने-चालने के छंग हैं! तुम सोलहवीं सदी के अंग्रेजों की नकल करके अपने लो बड़ा मॉडर्न लगाते हो! ...' नीचे-वाले कहते, 'वाँस बड़ा सख्त है!' तो मन में कोई कह उठता, 'देखा, इसे कहते हैं अफसरी! उस गाँव में तुम राजा बने वैठे हो। यहाँ आओ, तो आटे-दाल का भाव पता चले!' फिर सन्तोष से उसका चेहरा खिल उठता, 'द रिस्पैन्ड आई क-यट एन अनरीयलाइज़ ड्रीम फ़ॉर यू...'*

*मेरा जो रोव है, वह तुम्हें सपने में भी नसीब नहीं पा।

जब कभी वह घबरा जाता, या परेशानियों से देवैन हो उठता और उसके घुटने जबाब दे जाते, तब वह 'उसके' उस सुप्रीम-कॉन्फिडेंस का ध्यान करता, और सचमुच ही मन में एक उत्साह और शक्ति भर उठती। चेतना में कभी प्रसन्न सुख का विस्मय क्षण भी आता—कैसी अजीब वात है ! मैं 'उसी के' हथियारों से उससे लड़ रहा हूँ, सफलतापूर्वक लड़ रहा हूँ...

इस प्रकार एक अनवरत, अधोवित युद्ध था, जो हर पल अस्तित्व के रेते-रेते में चल रहा था; और उसकी उपस्थिति ही उसकी जीवनी-शक्ति का पर्याय बन गयी थी, जो धोड़े पर चढ़े उद्धत सवार की तरह ऐड़े मारती थी, काँचती थी—और यह सब उसके लिए सांस लेने जैसा स्वाभाविक ही उठा था...

० ०

लेक से उठकर किशोर गाड़ी के पास आया, तो उसका सिर धूम रहा था... अन्यमनस्क भाव से दरवाजे के हैंडिलवाली चावी का सूराख टटोलता रहा... फिर इंजिन स्टार्ट करके देर तक यों ही बैठा बाहर देखता रहा... अत्यन्त तटस्थ, निर्वेद, ऊँचाई पर खड़े होकर नीचे धाटी में पड़े धायल, पस्त सिपाही को देखकर मन में कहना उमड़ आयी थी। उसकी आँखें फिर सजल हो आयीं—दो दुर्दृष्ट शक्तियों के बीच लीना, एक निरोह लड़की लीना—पिस गयी !

'क्या हम अतीत को भुला नहीं सकते ?' किशोर को लगा, यह लीना ने माझी नहीं मांगी—पहली बार दीक्षित साहूव के वास्तव में मर जाने की खबर दी है... तो सच ही ताकत आजमाता दूसरा हाथ लीना का नहीं था ? लीना तो सिफ़र मेज़ का एक तऱता थी—वह दूसरा हाथ 'उसका' था... वेचारा ! उसे पहली बार लगा—महाराणा प्रताप के टूट जाने की खबर से अकवर को कैसा लगा होगा... एक बीर प्रतिद्वन्द्वी की पराजय पर कैसा लगता है...

० ०

फ्लैट पर आकर उसने सबसे पहले रामन को फोन किया : "रामन, सुबह बर्टन को फोन करना है दिल्ली... मैं शायद नहीं जा पाऊँगा। तबीयत अच्छी नहीं है... फिर वातें तो सारी प्रनिम रूप से बड़े बाबू को ही तय करनी हैं—मैं सुबह उनसे वातें कर लूँगा..."

फिर मानो अपने को जैसे-तैसे उठाकर उसने पलाँग पर डाल दिया। फेफड़ों में गहरी सांस लेकर धीरे-धीरे ढोड़ी, तो महसूस हुआ, वह बहुत-बहुत थक गया है—तीस-पेंतीस की उम्र तक आदमी में उत्साह होता है और हर नयी जगह उसे ललकारकर बुलाती है... चालीस-व्यालीस तक यकान शक्तियों को चूस डालती है... ऐसे ढीले तन और मन से अब जिन्दगी का ठर्रा बदलना... नये सिरे से नयी जिम्मेदारियों को ओढ़ना... और फिर आखिर उसे अब जहरत भी क्या है ? 'वह' अब रह ही कहाँ गया, जो...

सेलर

उस दिन शीशे में मुंह देखते समय अनायास ही जब उसकी नज़र अपनी आँखों पर पड़ी तो लगा, जैसे कहीं कुछ खो-सा गया हो। कब खोया, यह पता उसे नहीं चल सका, क्योंकि पिछली बार शीशे में कब उसने अपनी आँखें देखी थीं, यह कोणिध करने पर भी उसे याद नहीं आया। कुछ देर तक उसी प्रकार एक हाथ में शीशा लिये वह अनिदिच्चत, उदासीन भाव से देखता रहा—खुली-खुली, घून्घ-सी आँखें, जैसे दो दरवाजे अपने-आप खुल गये हों, जिनके बीच से दूर-दूर तक फैला उजाड़ दिखायी देता है।

और उस दिन, इतवार की उस सुबह, कम्पनी वारा में यदि कोई उसे देखता तो उसकी आँखें उस पर एक ऐसी अमिट छाप छोड़ जातीं, जो किसी अदृश्य छाया की भाँति उससे विपटी रहती।

परन्तु उस दिन कम्पनी वारा में लोग नहीं थे। अकेले उसने नुचित महसूस किया। दो घास के हिस्सों के बीच बनी पगड़ण्डी पर लाल बजरी उसके पैरों के बीच दबकर चर्च-चर्च करती रही। सूरज की तिरछी किरणें युक्तिपूर्ण के लम्बे पेड़ों के ऊपरी भाग पर चमक रही थीं। और फूल ये लाल, हरे, पीले। दो-चार के अतिरिक्त अन्य फूलों के नाम उसे मालूम नहीं थे, न कभी इसकी आवश्यकता उसने महसूस की। उस सुबह हवा ठण्डी थी।

उसे याद आया कि प्रातः शीशे में उसने देखा था कि आँखों में नहीं थे। कुछ गिर गया है, या इन्हीं में कुछ खो गया हो। परन्तु उसने चिन्ता नहीं की।

फिर सुबह की ताजी हवा में वह सब भूल गया। उसके बाल हवा में उड़ने लगे, रस्सी के खुले सिरे की भाँति। काले बालों में जब पहली बार उसने कुछ सफेद बाल देखे थे, तब भी एक हाथ में शीशा पकड़े वह घनी उदासीनता के धेर में सिमट गया था। अब उनसे अभ्यस्त हो गया है। आँखों से भी अभ्यस्त हो जायेगा।

लगभग एक ही मास तो हुआ, ठीक ने उसे याद नहीं आया, जब सनुर ने अपने कमरे में बुलाकर छोटी-सी भूमिका के बाद कहा था कि अपने और अपने पुत्र के हृचं के जो सौ रुपये वह हर महीने देता है, वे इस बढ़ती हुई महेंगाई में पर्याप्त नहीं हैं। उसने कथन को सत्य सावित करने के लिए उन्होंने आठा, दाल, धी, चावल आदि के याम बतलाये थे। फिर विजली, पानी, महरी और उसका कमरा... और उसकी झुगी हुई आँखें देखकर दवे स्वर में उन्होंने यह भी कहा था कि उसका पुत्र बड़ा होला या रहा है। जिससे उसकी खुराक भी बढ़ती जाती है। उसे चूप देखकर वह आत्मीयता-

कहने लगे, “मैं अकेला होता तो कोई बात नहीं थी। तुम्हारे साले भी अब बड़ हो गये हैं, उनकी सन्तान फैल रही है और अपनी कमाई में से वे किसी दूसरे को खिलाना नहीं चाहते। और आजकल तो अपने खून के रिश्तों तक को कोई नहीं पूछता। फिर बेटा……” एक क्षण रुककर कहा था, “अलग मकान लेकर रहते तो क्या सौ रुपयों में गुजारा होता? फिर वहाँ सब तरह के आराम हैं, अपने घर की तरह तो सब-कुछ है। तुम्हारी सास तुम्हारे बेटे से जितना प्रेम करती है, इतना उसे किसी पोते से भी नहीं है और वह बात बहुओं की आँखों में खटकती है। तुमसे कुछ छिपा तो नहीं है।”

और वह निरीह भाव से सब-कुछ सुनता रहा, मानो वह सब किसी अन्य व्यक्ति के विषय में कहा जा रहा हो। फिर अपने कमरे में बापस लौट आया था।

मुन्नू न होता तो वह कहीं एक कमरा किराये पर लेकर अपना अलग ठिकाना कर लेता। मुन्नू को लेकर अकेले कैसे रहेगा? अलग न रहने का उसके पास यह सबसे बड़ा शस्त्र था। फिर अलग रहकर अन्य चिन्ताएँ उसे धेर लेंगी—खाने की, घर-गृहस्थी की देखभाल। समुर की बात में उसे विद्वास नहीं था। वे सब मिलकर उसे लूटना चाहते हैं, उसे सीधा-सादा समझकर उसका फ़ायदा उठा रहे हैं। नहीं, वह सौ से अधिक नहीं होगा।

अचानक अपने सामने बैंच पर एक लड़के को बैठे पढ़ते देखकर वह चौंक-सा गया। उसे लगा, जैसे वह चोरी करता हुआ पकड़ लिया गया हो। यदि वह उस लड़के को दूर से ही देख लेता तो चूपचाप पीछे मुड़ जाता या दायें-दायें निकल जाता। वह लड़के को कुछ क्षण तक भूके पढ़ते देखता रहा और धीरे-धीरे उसके पास बैंच पर बैठने की उसकी इच्छा जोर पकड़ती गयी। वह दवे पांच बैंच के दूसरे कोने पर जा बैठा। लड़के ने उस पर एक दृष्टि डाली और कुछ देर तक उसे देखता रहा, मानो इस प्रकार का आदमी वह पहली बार देख रहा हो। फिर अपनी पुस्तक पर भुक गया। लड़के को अपनी तरफ देखते बृत वह मुसकराया, परन्तु कोई उत्तर न पाकर वह सीधा कुछ दूर पर चिखरे ऐतिहासिक खण्डहरों को देखने लगा।

उसकी पत्नी जीवित होती तो दूसरी बात थी। अब उसका वहाँ रहना सबको अखरने लगा है। उसके समुर का पिचका हुआ, विना दर्तों का चेहरा उसके सामने आ गया। उसे थोड़ी घबराहट-सी महसूस होने लगी। वे फिर तकाजा करेंगे और उसे याद दिलायेंगे। उसके बड़े साले की पत्नी प्रायः कर्कश स्वर में कहती सुनायी देती कि उससे इतनी रोटियाँ सेंकी नहीं जातीं। और जब उसकी सास उससे धीमे स्वर में कहती कि नीचे जमाई सुन रहा है, तो उसकी आवाज़ और भी तेज़ हो जाती, “मुझे किसी का डर नहीं है! सच्ची बातें कहने से हिचकूँ, ऐसी औरत मैं नहीं हूँ।” और वह नीचे अपनी कोठरी में बैठा सब सुनता था। कोठरी के बाहर दालान के ऊपर लगे जान में से ऊपर की सब बातें उसे सुनायी देती थीं।

“माझ कीजिए,” पास बैठे छात्र ने पूछा, “श्रापको मालूम है कि सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण पड़ने के क्या कारण हैं?”

वह चौंक-सा गया। कुछ देर तक फटी-फटी आँखों से वह छात्र की ओर देखता

रहा, जिसकी आँखों में हँसी छिपी हुई थी। मूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण... उसके दिमास में थोड़ा चून्य वड़ी तेजी से घुड़दीड़ लगाने लगे, मानो एक-दूसरे का पीछा कर रहे हैं।

“आपने भूगोल तो पढ़ा ही होगा?” छात्र ने पूछा। फिर धर्ण-भर तल उसके चेहरे को देखने के बाद कहने लगा, “अच्छा, यह बताइये कि वह कौन-न्ता देगा है, जहाँ छः महीने रात और छः महीने दिन रहता है?” फिर अपनी ओर ताकते देखकर छात्र के होंठों पर एक हँसी-सी फैल गयी। छात्र को अब विद्यास हो गया कि वह मैट्रिक पास भी नहीं है।

वह उसी प्रकार चुप बैठा रहा, जैसे इण्टरव्यू के बज़त किसी प्रश्न का उत्तर न दे सकने पर नीकरी का उम्मीदवार प्रश्न पूछनेवाले की ओर देखता है, ऐसा ही उसने सोचा। छात्र के चेहरे पर एक निश्चन्त-सी हँसी थी। आँखों में अँधेरी रात के तारे-जैसी झिलमिल करती हुई चमक थी—और प्रातः शीघ्र में जब उसने अपनी आँखें ढेरी थीं...

“मैं मैट्रिक की परीक्षा दे रहा हूँ,” वह हाथ में दबी पुस्तक बन्द करके ढोला, “मैं सेलर वन जाऊँगा परीक्षा के बाद, जिससे दुनिया-भर की सैर कर सकूँ। मुझे धूमने का बहुत शैक है और सेलर वनकर मैं विना पैसे के सारी दुनिया का चक्कर लगा सकता हूँ। अच्छा, क्या आप कभी जहाज में बैठे हैं?” छात्र उत्साह-भरे स्वर में कह रहा था। पहली बार उसे ऐसा व्यक्ति मिला था, जो अपना मुँह खोले विना दिलचस्पी के साथ उसकी बातें सुन रहा था।

अचानक उसने अनुभव किया कि छात्र को देखते बज़त उसकी आँखों के नामने मुन्नू का चेहरा ही धूमता रहा। उसे भी मुन्नू को किसी स्कूल में दाखिल करा देना चाहिए। घर में रहता है तो उसे खाली देखकर जब छोटे-मोटे काम करते रहते हैं—कभी हलवाई की दूकान से दही लाना, कभी उसके ससुर का हुक्का भरना, छोटे साले की रोती लड़की को गोद में लेकर चुप कराना... वह अपनी कोठरी में बैठा मुन्नू को दिये हुए आदेश सुनाता रहता है, विरोध में कभी कुछ नहीं कह सकता।

मुन्नू उससे डरता है। उसकी कोठरी में कभी पाँव रखा हो, उसे याद नहीं। जब ऊपर का कोई सन्देश देने उसे कोठरी में आना ही पड़ता, तो दहलीज पर ही बड़े-बड़े जल्दी से कह देता, “वड़ी मासी कहती हैं कि आटा पिसवा लाइए” या “आचार के लिए दस सेर कच्चे आम मण्डी ने ले आइए...” और फिर वह ऊपर भाग जाता।

उसे अन्दर बुलाने की इच्छा कई बार उसके मन में आती है, लेकिन बान कभी होंठों के बाहर नहीं निकलती। उसे देखकर लगता है, जैसे भीतर छाया कोहरा अपने-आप फटा जा रहा हो। किसी बच्चे से भगड़ा हो जाने पर मार भी उसे ही पड़ती है और वह उसके रोने की आवाज सुना करता है, परन्तु शिकायत करने कभी मुन्नू उसके पास नहीं आता। एक बार सद्गी खरीदकर जब वह थैला ऊपर देने गया, तो दूसरे बच्चों में मुन्नू को न देखकर उसे कुछ चिन्ता-सी हुई, परन्तु किसी से उसके विषय में पूछने का साहस ही नहीं हुआ। यह सोचकर कि वह शायद छत पर खेल रहा हो, वह सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आ गया। अँधेरे में उसे एक कोने से मुन्नू के सिसकने की आवाज सुनाय-

दी। उसे देखकर मुन्नू का रोना तुरन्त बन्द हो गया और उसने अपना चेहरा घुटनों में छिपा लिया।

“क्या हुआ, मुन्नू ?” उसने धीरे-से पूछा, “क्या किसी ने पीटा है ?” उससे अधिक नहीं कहा गया। हिचक हो रही थी। भिन्नते हुए उसने मुन्नू के सिर पर वहत प्यार से हाथ केरा, परन्तु वह और सिकुड़ गया जैसे उसकी सहानुभूति की आवश्यकता न हो। मुन्नू के बड़े-बड़े, स्वेच्छा, उलझे बाल उसकी अँगुलियों में फँस गये। उसे लगा, जैसे मुन्नू के बाल कटे दो-तीन महीने बीत चुके हों, उसकी कमीज कन्धों पर फटी हुई थी, निक्कर पर मैल और धूल की मोटी तह जम गयी थी। टांगों का खुरदरा मांस उसे सूखा चमड़ा जान पड़ा। और वे दोनों कितनी ही देर तक रात के अँधेरे में उसी प्रकार बैठे रहे और अनेक धूंध नी-धूंधली परछाइयाँ उसके चारों ओर धूमस्ती रहीं। लग रहा था, जैसे वह पहली बार अपने बेटे का स्पर्श कर रहा हो, मानो अभी उसका जन्म हुआ हो...

“अफीका के जंगलों में वहत भयानक बेर और गैडे लड़ते हुए दिखायी देते हैं, ऐसा मैंने अपनी एक किताब में पढ़ा था। अच्छा, आपने कभी समुद्र देखा है ? मैंने भी नहीं देखा। लेकिन जब सेलर बन जाऊँगा, तब तो समुद्र में ही रात-दिन रहना पड़ेगा। इसी से मुझे रंज नहीं होता कि कभी समुद्र नहीं देखा...”

छात्र को बैच के दूसरे सिरे पर बैठे देखकर उसे आश्चर्य हुआ। सुवह की हल्की-हल्की धूप उन तक पहुंच गयी। पेड़ों की लम्बी क़तार के नीचे उसे फूल दिखायी दे रहे थे—लाल, हरे, पीले... लेकिन फूलों के नाम उसे मालूम नहीं। उन्हें आँख-भर देख लेता ही पर्याप्त था।

“पढ़ाई में मेरा मन नहीं लगता। और पढ़कर होगा भी क्या ? मेरे बड़े भाई ने बी० ए० पास किया, लेकिन कहीं नौकरी नहीं मिली, सौ रुपये तक की नौकरी नहीं मिली, और शाखिर में वह घर से भाग गया,” छात्र कह रहा था, “और पिताजी को मेरा सेलर बनाना पसन्द नहीं है। अगर उन्होंने विरोध किया तो मैं भी घर से भाग जाऊँगा। अपनी किताबें बेचकर मुझे बम्बई तक के टिकट के पैसे मिल सकते हैं। मैंने एक सैकण्डहैंड किताबों के बुकसेलर से बात भी कर रखी है और वह मान गया है। अच्छा, आप तो बम्बई गये होंगे ? वहाँ तो सैकड़ों जहाज बदरगाह पर आते-जाते रहते हैं, क्या मुझे किसी में भी काम नहीं मिलेगा ? मिलेगा क्यों नहीं ?”

छात्र की आँखों में समुद्र की गहराई उभर आयी थी। कभी उसकी आँखें भी उत्तरी गहरी रही होंगी ? उसे लग रहा था, जैसे उस छात्र के साथ वह भी जहाज में बैठकर यात्रा कर रहा हो, चारों ओर नीचे समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरें हैं, जिनके बीच में जहाज आगे बढ़ा जा रहा है...

उसकी पत्नी भी कहती थी कि मुन्नू को खूब पढ़ायेगे। अपना खर्च कम करके उसे किसी प्रकार की तंगी नहीं होने देंगे। फिर आशाभरी मुद्रा में उसकी और देखती हुई कहती, “और तुम्हारी भी तो तरकी होती जायेगी। जिन्दगी-भर तक कोई सौ ही नहीं मिलते रहेंगे !” और वह हँसते हुए उसका साथ देता था... वह आज होती तो देखती कि उसके स्वप्न किस प्रकार साकार हो रहे हैं। इतवार की छुट्टी में घर पर

आराम न करके वह बात की सैर कर रहा है, एक बैंच पर बैटा एक शायर में बातों कर रहा है।

उसकी सास को बास्तव में मुन्तू से ज्ञेह है। कभी-कभी अपनी छोटी-सी जगा-पूँजी में से वह उसके लिए कोई कपड़ा बतवा देती, कभी मेले में भी कोई गिलोना गयीद लाती। परन्तु यह स्नेह उनकी बहुओं को अवश्रमा था, जिसके भय ने बहु कभी प्रकट हप से मुन्तू पर अपना प्रेम जाहिर नहीं करती थी। एक दिन मुन्तू को नकर ही घर में खगड़ा हो गया और दोनों बहुओं ने साज की जली-कटी मुनायाँ। गाय दिन-भर रोती रही। और शाम को उसके बापस लौटने पर उसकी कोठरी में आकर बढ़ते लगी, "बैटा, घर के हाल-चाल तुमसे दिये नहीं हैं। बृत ऐसा आ गया है कि सगे रिटेलर भी पराये बन गये हैं। फिर बहुएं पराये घर से आती हैं, जो अपनी गगुरात के पुराने रितों को निभा नहीं पातीं। तुम तो अब भी घर के जमाई हो..." धीती के कोने से वह अपनी आँखें पोछते लगीं। शायद जमाई के नाम से उन्हें अपनी बेटी की बाद आ गयी थी, "हमारे लिए डूब मरने का दिन है कि जमाई अपने खाने-पीने का खर्च खाद देना है और बहुओं को तुम्हारी दी रोटियाँ सेंकनी भी अवश्रमा हैं!" और दधे न्यर में उन्होंने भी यह गुकाय दिया था कि वह अपना अन्य ठिकाना देवे, यही बेहतर होगा। मुन्तू को, जब तक वह और बड़ा नहीं हो जाता, तब तक साल-दो साल के लिए वह अपने पास रहे रहेंगी। एक बार वह अलग हो जायेगा तो घर में सबको उसके सी रुपयों का अभाव अपरेंगा।

और उस रात कितनी ही देर तक अपनी चारपाई पर लौटा वह करवटे बदलता रहा था। अपनी पत्नी का चेहरा बार-बार उसकी आँखों के नामसे धूम जाता। उसकी मृत्यु न होती तो शायद इस समस्या का सामना उने नहीं करना पड़ता। उसने निश्चय किया कि वह अगले दिन ही नये मकान की तलाश करेगा। यहाँ भी तो एक कोठरी ही उसके पास है, जहाँ दिन में भी बत्ती जलाये बिना कुछ दिखायी नहीं देता और यदि रात को खाने के बाद कभी उसकी बत्ती जलती रहे तो समर ऊर जाल पर खड़े होकर सीधे उससे न कहकर शाम ऐलान करते हैं कि घर की सब बतियाँ तुरन्त बुझा दी जायें, नहीं तो जिस कमरे की बत्ती जलेगी, उसका तार वह काट देंगे। कोठरी के पास नारी बहती है, जहाँ ऊपर से बहुत गन्द दुर्गम्य फैलाता है। यदि उस बढ़वा से वह ग्रन्थित हो चुका है। लेकिन पहले-पहल जब अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद उसे ऊपर चाला कमरा खाली करके नीचे आना पड़ा था, तो कोठरी की सीनन और नारी की बढ़वा उस ग्रन्थित-नीय-सी लगती थी। ऐसी कोठरी दस-पन्द्रह रुपयों में उसे कही भी मिल नहीं है... परन्तु सुवह होते-होते उसका निश्चय हीला पड़ गया और कूल दिनों बाट वह अपने इरादे को पूर्ण रूप से भूल गया। जिन्हीं किर तियमित हप से बढ़ते लगी।

अपने दूसरे विवाह का विचार उसके दिमान में न आया हो, ऐसी बात नहीं। परन्तु अपने घर में कोई है नहीं और गगुरात बाने उसके दूसरे विवाह की बात दर्शी सीखेंगे! परन्तु एक दिन तबीयत भागी होने के कारण आयी छूट नेकर उद बहु दिए में ही लौट आया था, तो घर में किसी को उसके आने दी नहर नहीं। उसने गुना था, घर के काम में निवृत होकर उसके नामों की विद्या पढ़ी।

रही थी। वही कह रही थी कि जमाई बाबू का कहीं फिर व्याह हो जाये तो वह अपनी नयी समुगल जाकर वस जायेगे और उन्हें छुट्टी मिल जायेगी। बोठरी खाली होगी तो बच्चों को पढ़ने वा दमग मिल जायेगा। दोनों जोर-जोर से हँसने लगी थीं, लेकिन लोटी ने कहा कि कोटी खानी दोने पर बच्चों को नहीं मिलेगी, ससुर किराये पर उत्तर दिया अपनी गाँठ में दवायेन... मिर में दर्द होने पर भी वह कितनी ही देर नक इमी विषय पर सोचता रहा था।

अनायास ही सामने बैठे छात्र पर नजर पड़ी, तो वह पुस्तक पर भुका हुआ पढ़ रहा था। कुछ देर तक वह छात्र दो बड़े गीर में देखता रहा। होंठों के ऊपर हल्के-हल्के मंसूबों के बान उमने लगे थे, जैहरे पर नीई कहीं मलिन ढाया नहीं थी। पूरी जिन्दगी मपाठ मैदान की भाँति उमके सामने केंद्री हड्डी है, जिसके नये-नये अनुभव पाने की आशा उमके मन में छिपाए लेती हायी। नन को सोता होगा तो दुनिया-भर के सपने देखता होगा—जोर और गड़े की लडाई... वह देश जहाँ छः महीने रात और छः महीने दिन रहता है... नगर, पहाड़, मुद्रण-भर को उसे लगा, जैसे मुन्नू ही बड़ा होकर उमके सामने बैठा हो। वह भी तो इसी प्रकार स्वप्न देखता होगा। और उसकी पत्नी भी तो इसी स्वप्न देनी थी... उस नींद में कभी सपने दिखायी नहीं देते। कोशिश भी की नी अमफन रहा।

बड़े बैचे—इन लगा तो उमने छात्र की ओर एक आत्मीयता-भरी मुस्कराहट में देखा; वह अनुभव करने लगा था, मानो उन दोनों का पुराना परिचय ही और छात्र ने उसे अपने मन की बाने बनायी थीं, जो केवल अभिन्न मित्रों से ही कही जाती है; वह रहस्य, जिन्हें केवल वे दो ही जानते थे। परन्तु उसकी आवाज सुनकर छात्र ने क्षण-भर के लिए अपनी आँखें ऊपर उठाकर उसकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उसे पहचानने वाले कोशिश कर रहा हो। फिर उसकी चिन्ता न कर वह अपनी पुस्तक पढ़ने में बगड़ा गया। वह धीरे-धीरे अगे बढ़ गया। उसने अनुभव किया, जैसे उसकी आँखों में वही रिक्तना समा गयी हो, जो उसने प्रातः शीशे में देखी थी।

उमने एक बार फिर सूक्ष्मिण्टस के पेड़ों की कतार को देखा, जिन पर पूर्ण रूप में श्वर धप फैल गयी थी। आज इनवार है, वह कम्पनी वास में धूम रहा है और क्यारियों में फूल लगे हैं—लाल, हरे, पीले, जो सदा उसके लिए अपरिचित ही बने रहेंगे, जैसा बैचे पर बैठा वह छात्र है। चारों ओर गहरा सन्नाटा है।

ओर घर में शोरगुल हो रहा होगा। दोनों माले आज घर पर ही रहेंगे और यदि दोनों में से एक की ससुर में भड़प भी हो जाये तो आश्चर्य नहीं। बच्चों की भी स्कूल की छट्टी है। आपमें लड़ेंगे और कहीं मुन्नू बीच में फैस गया तो वही पीटा जायेगा। ऐसा ही उमने देखा है। घर में रहते हुए भी रोते हुए अपने पुत्र को वह सान्त्वना के दो बदल नहीं कह पाना। उसे लगा कि यदि वह घर वापस लौटकर न भी जाये तो कोई उमकी अनुपस्थिति महमूम नहीं करेगा। भोजन के समय उसकी प्रतीक्षा नहीं होनी। महरी उमकी खाली लगाकर उमकी कोठरी में ही दे जाती है उसे, और रोटी या मट्जी की आवश्यकता भी पड़े तो वह माँग नहीं सकता।

और समुर कहते थे कि उसका चर्चा नी ने अधिक है, मुन्नू के बड़े होने के बाद-साथ उसकी खुराक भी बढ़ती जा रही है। परन्तु उस दिन जब छत पर उसने मुन्नू को देखा था, तो मूर्झी टहनियों-जैसे उसके हाथ-पैर देखकर उसका बड़ा-न्ना सिर बहुत बेड़ील जान पड़ा था। और यह भी उसने समुर या शायद बड़े नाने हो कहते नुना था कि उसकी कोठरी के आसानी से चालीस नपये किराये के शा सकते हैं।

उसकी पत्नी के गहने भी समुर के पास बरे हैं। दिवाह के बाद जब वह यहीं आकर रहने लगा था, तो पत्नी ने गहने अपने पिता के पास रखवा दिये थे; जब आवश्यकता पड़ती तो माँगकर पहन लेती। और उसकी मृत्यु के बाद भी वे वहीं पड़े रहे। एक बार उसकी चर्चा चली तो समुर ने विना किसी भिन्नक के कहा कि मुन्नू की जादी होने पर उसकी वह को वे गहने दे दिये जायेंगे। उसने हाँ-ना कुछ न की। परन्तु एक दिन अपने छोटे साले की पत्नी को वही नेकलस पहने देखा था, जो उसकी पत्नी पहना करती थी। तब क्रोध आने पर भी वह चुप ही रह गया था। अलग मकान लेगा तो समुर से गहने भी माँग लेगा, परन्तु मन में कहीं आशंका थी कि वे अब उसे मिलेंगे नहीं।

घूमते-धूमते उसे लगा, जैसे वह कितने ही बोझ अपने सिर पर लादे चला जा रहा हो। एक-एक करके वे बढ़ते ही जाते हैं, कम नहीं कर पाता।

वास के एक कोने में स्थित वह किसी खण्डहर के सामने पहुँच गया। शायद किसी का मक्कवरा था। ऊपर बुर्जी पर बने हुए नीले पत्थरों के टुकड़े धूप की किरणों में चमक रहे थे। वह कुछ देर तक खड़ा दूर से खण्डहर की काली दीवारों और दीवारों के सुराखों को देखता रहा।

अचानक वेंच पर बैठे द्यात्र का चेहरा उसे याद आया तो अपने भीतर किसी के फड़फड़ाने का स्वर सुनायी दिया और वह विना हिले-हूले अपनी साँस रोके सुनता रहा, जैसे भीतर बनी गहरी खाई को कोई भर रहा हो।

अब मुन्नू को खुद ही पढ़ाया करूँगा। शाम को घर लौटने के बाद रोज़ दो घंटे पढ़ाया करूँ तो एक-दो साल बाद किसी स्कूल में चौथी या पाँचवीं में भरती हो सकता है। उससे छोटी उम्र के बच्चे स्कूल जाते हैं और वह घर में बैठा रहता है।

इस विचार से उसके पाँव अपने-आप घर की ओर बढ़ गये। रास्ते में एक दूकान से उसने एक प्राइमर, एक स्लेट और पेंसिल और एक कॉपी खरीदी। फिर कुछ सोचकर दूकानदार से उस सामान को अच्छी तरह एक अखबार के कागज में लपेट देने के लिए कहा, जिससे कोई देख न सके। उसे सोने के बाद सपने दिखायी नहीं देते, लेकिन कभी-कभी जागते हुए, चारपाई पर लेटे-लेटे, सूनी छत पर या दफ्तर में कुरसी पर बैठे हुए अपनी फ़ाइलों में उसे मोतियों-जैसी, भिलमिल करती हुई बूँदें दिखायी देतीं और वह उन्हें तंब तक देखता रहता, जब तक वे धीरे-धीरे धुँधली होती हुई उसकी आँखों से ओभल नहीं हो जातीं।

अपनी कोठरी में चुपचाप चारपाई पर बैठा वह प्राइमर के पन्नों को धीरे-धीरे सहला रहा है, मानो वर्षों से ऐसी मूल्यवान वस्तु उसने न देखी हो। दिन में अँधेरा होने पर भी वह बत्ती नहीं जलाता, उसे सब दिखायी देता है। ऊपर शोर हो रहा है

बच्चों का, उसके सालों की स्त्रियों का और रसोई से खाने की सुगन्ध आ रही है...“

तभी अपने ससुर को कोठरी की ओर आते देखकर उसका कलेजा धक से रह गया। वे कभी यहाँ आये हों उसे याद नहीं। उसने तुरन्त प्राइमर को कम्बल के नीचे छिपा दिया। उनके साथ एक अन्य व्यक्ति भी है और उसे लगा, जैसे उसने उस व्यक्ति को पहले कहीं देखा हो। फिर पास आने पर पता चला कि सुवह शीशे में जो अपना चेहरा दिखायी दिया था, उससे वह व्यक्ति बहुत मिलता-जुलता है। उसकी आँखों को देखकर अनुभव किया, जैसे उनमें से भी कुछ गिर गया है। दोनों को कोठरी बी देहरी पर खड़े देखकर वह चारपाई से उठ खड़ा हुआ। परन्तु उसके ससुर ने उस पर एक नजर तक नहीं डाली। उन्होंने कमरे की बत्ती जलाकर उस व्यक्ति से कहा, “यही कमरा है। पुताई होने के बाद इसका रंग निखर आयेगा। मेरे पास बित्तने ही आदमी इसे किराये पर लेने आये, लेकिन किसी अनजाने आदमी को कैसे दे दूँ? घर में औरतें हैं। आपको बकील साहब ने भेजा है और वह मेरे धनिष्ठ मित्रों में हैं, इसलिए उन पर विश्वास करके आपको देने पर राजी हुआ हूँ।” उस व्यक्ति को चुप देखकर वह फिर कहने लगे, “इस इलाके में खाली कमरा मिलना असम्भव है। फिर यहाँ सब बात का आराम है। कच्चरी, डाकखाना, चौक, मण्डी, सब-कुछ बहुत करीब पड़ते हैं। दस-पन्द्रह मिनट में पैदल ही सब जगह पहुँचा जा सकता है, रिक्शे के पैसे बचेंगे।”

उसे लगा, जैसे वह व्यक्ति कमरे में न देखकर उसकी ओर धूरे जा रहा है। उसने अपनी आँखें ऊपर नहीं उठायीं। उसे लग रहा था कि उससे आँखें मिलते ही वह व्यक्ति उसका गला दबोच लेगा। भय से उसका सारा शरीर पसीने में डूब गया।

उस व्यक्ति ने वह कमरा लेना स्वीकार कर लिया। ससुर के पिचके चेहरे पर हँसी फैल गयी। अगले इतवार तक वह अपना सामान ले आयेगा और तब तक कमरे की पुताई हो जायेगी, यह ससुर ने बायदा किया। जाने से पूर्व उस व्यक्ति ने फिर उसकी ओर ध्यान से देखा। परन्तु वह अपना सिर झुकाये ही रहा। सांस लेना भी उसे दूधर जान पड़ रहा था।

उनके चले जाने पर भी वह खड़ा ही रहा। चारपाई पर बैठने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ी, जैसे उसके बैठते ही ससुर या वह व्यक्ति आकर उसे उठा देंगे।

उस दिन दोपहर के बाद कोठरी खाली कर देनी पड़ी। ऊपर छत पर टीन से छँका एक गोदाम-सा था, जहाँ घर का बेकार का सामान पड़ा रहता था। बरसात में यहाँ चारपाईं, विस्तरे रखे जाते थे। दोनों सालों ने मिलकर उसके बिखरे सामान को तर-तीवरा एक कोने में लगा दिया और खाली स्थान पर, महरी ने भाड़ लगा देने के बाद उसकी चारपाई बिछा दी, उसका बक्स और दूसरा सामान एक कोने में रख दिया। वह कुछ नहीं बोला, जरा-सी भी आनाकानी नहीं की। सबके नीचे चले जाने पर वह चारपाई पर लेट गया, जहाँ से दूर-दूर तक फैला केवल आकाश ही दिखायी देता है। उसके ओर आकाश के बीच और कुछ नहीं है, यह सोचकर उसे अजीब-सा लगा। कुछ देर बाद उसे प्रसन्नता ही हुई। उसने अपने बक्स से प्राइमर, स्लेट और काँपी निकाली और दांहें बित्तनी ही देर तक देखता रहा; रलेट पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ खीचता रहा।

“अच्छा मुन्नू, तुम बड़े होकर क्या बनोगे ?” वह पास बढ़े मुन्नू की बड़ी-बड़ी खुली आँखों में डूबकर पूछता है।

परन्तु मुन्नू की आँखें खुली ही रहती हैं, जैसे कंकर फेंकने पर भी तालाब के पानी में कोई हलचल न हो।

“तुम पढ़-लिखकर कुछ तो बनोगे न ? ऐसे ही तो नहीं रहोगे ?” वह सीझकर कहता है, “कोई डॉक्टर बनता है, कोई बकील, कोई व्यापारी, कोई सेलर...” और यह सोचकर कि थायद मुन्नू को सेलर का मतलब मालूम न हो, वह उसकी व्याख्या करते लगता है, “सेलर जहाज में बैठकर बिना पैसा खर्च किये दुनिया-भर का चक्कर लगाता है। जिस बन्दरगाह पर जहाज रुकता है; वह अन्दर जाकर शहर धूम श्राता है। नये-नये लोग, दूकानों में नई-नई चीजें, कहीं शेर और गेंडे की लड़ाई, कहीं दिन में भी रात होती है और कहीं रात में भी सूरज चमकता रहता है। वहूत लंबे-ज़ंबे वर्फ से ढंके पहाड़, घने जंगल और मीलों तक फैला समुद्र...” वह सब देखता है। तुम भी क्या सेलर बनोगे, मुन्नू ?”

मुन्नू आश्चर्य से उसकी ओर देखे जा रहा है। क्षणभर को उसे लगा था, जैसे उसकी बातें सुनकर मुन्नू के होंठ विस्मय और कीटूहल से खुले रह गये हों, उसका दिल बहुत ज़ोर से घड़कने लगा हो और उसकी आँखों में मोतियों-जैसी चमक आ गयी हो, जैसा वह स्वयं यह सब सोचते हए अनुभव करता है और जैसी मुद्रा उसने बहुत पहले एक इतवार की सुवह बैंच पर बैठे हुए छात्र के मुख पर देखी थी। परन्तु मुन्नू में बाहर-भीतर ऐसी स्थिरता है, मानो दुनिया की बड़ी-से-बड़ी घटना भी उसके भीतर जलकर राख हो जायेगी। क्यों नहीं मुन्नू भी उस छात्र की भाँति उसे उत्साहित स्वर में बतनाना कि वह बड़ा होकर क्या बनने के स्वप्न देख रहा है।

“मैट्रिक पास करने के बाद तुझे वम्बर्ड मेज दूँगा। वम्बर्ड नक के टिकट के लिए मेरे पास रुपये हैं। वहाँ सैकड़ों जहाज रोज आते-जाते हैं। किसी-न-किसी में तुझे जहर काम मिल जायेगा। और जब तू बहुत बड़ा सेलर बन जायेगा, तो मैं भी एक बार तेरे साथ चलूँगा। हम दोनों इकट्ठे दुनिया-भर की संर करंगे। मैंने ऐसी रात कभी नहीं देखी, जब सूरज चमकता रहता है, जहाँ कभी औंधेरा नहीं होता।” उसके स्वर में वे सब चाही-अनचाही इच्छाएँ भर आयीं, सावुन में धुने पानी से निकले उन बुलबुलों की भाँति जिन्हें बचपन में वह दूर-दूर तक उड़ाया करता था।

मुन्नू को अपने सामने चूप बढ़े देखकर उसे आश्चर्य हुआ। वह तो समझ रहा कि मुन्नू अब तक सेलर बनकर जहाज में धूम रहा होगा। भयभीत मुद्रा में ही अपनी ओर ताकते हुए देखकर उसे क्रोध आ गया, “बोलता क्यों नहीं ? क्या वह भी ऐसा गँवार बना रहे ?”

उसका स्वर सुनकर मुन्नू की आँखें पत्तभर को मुंद-सी जाती हैं, लगते हैं और वह रोने लगता है। डर मे उसने अपना चेहरा धुटनों से लिया।

“वह रोना ही सीखा है अब तक तूने ?” उसका

मुन्नू के कान पकड़कर उसका सिर ऊपर उठाने की कोशिश करता है लेकिन मुन्नू पूर्ण शक्ति के साथ अपना सिर झुकाये ही रोता रहता है। उसके आंसू बहुत तेजी से घुटनों के नीचे बहते हुए उसकी सूखी टाँगों पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींच रहे हैं।

अचानक मुन्नू के कान छोड़कर वह अलग हो गया। उसके रोने की आवाज छत पर कोई सहारा न पाकर ऊपर उठती गयी। और एक मनहूस-सी खामोशी के धुंधलके के साथ चिपटी हुई उसके चारों ओर फैल गयी। वह शून्य आँखों से ऊपर मटियाले रंग के आकाश को देख रहा है, मानो समुद्र, पहाड़, जंगल खोज रहा हो।

मुन्नू का रोना धीरे-धीरे कम होकर सन्नाटे में खो गया। उसकी पतली-पतली टाँगें और टाँगों पर चमकती हुई नीली नसें और उनके ऊपर धरा उसका बड़ा-सा बेड़ील सिर, जिसके उलझे, रुखे, बढ़े हुए काले बाल उजाइ धरती में भाड़-भंखाड़-से जान पड़ते हैं। और वे दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर कितनी ही देर तक उसी प्रकार शान्त बैठे रहे।

सहसा घुटनों पर सिर टेके मुन्नू की आँखों को देखा। उसे लगा, जैसे किसी ने पहाड़ की चोटी से उसे नीचे धकेल दिया हो। झटके के साथ मुन्नू के पास पहुँचकर उसने उसका चेहरा अपने दोनों हाथों से ऊपर उठाया और मुन्नू की खुली, विना झपकती हुई आँखों को बहुत करीब से देखा और कुछ देर तक देखता रहा। मुन्नू की आँखों में भी जैसे कुछ खो गया है, जैसा कि उस इतवार को शीशे में अपनी आँखों को देखकर उसने महसूस किया था। मुन्नू की खुली-खुली, शून्य-सी आँखें, जैसे कोई बन्द दरवाजा खुल गया है जिसके बीच में से दूर-दूर तक वह झाँक सकता है। भीतर क्या है, इसे जानने के भय से उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

एक नाव के यात्री

कीर्ति मारे उत्सुकता के फिर साड़ी हो गयी। यह पाँचवाँ भृत्या था, लेकिन इस बार लगा कि सीटी की आवाज सचमुच दूर से काफ़ी नज़दीक होनी आ रही है और गाड़ी प्लेटफ़र्म में प्रवेश करे, इसमें अधिक देर नहीं…

घबराहट या चेहरे का पसीना पोंछने के लिए उसने हमाल टटोला। नहीं था। बैंच पर छूटने की गी कोई सम्भावना नहीं थी। जल्दी-जल्दी में यहाँ होता है, उसने सोचा। वह साड़ी से ही मुँह पोंछना चाहती थी, लेकिन नभी एकाएल सारे प्लेटफ़र्म में मुसाफिरों तथा सामान-लद्दे कुलियों की भगदड़ मच गयी…

“हलो !” सहसा उसी समय अपने कन्धे पर पड़े व्यर्थ ने कीर्ति चौंकी। चौंकी ही नहीं, घन-सी रह गयी। अण के छोटे-ने खण्ड में लगा था कि कहाँ रज्जन ही न हो, पर थीं वह मिसेज मित्तल। रॉ-सिल्क की आसमानी साड़ी में अच्छी तरह कमी-कसायी और चुस्त। किसी विदेशी सेंट की वहुत भीनी खुशबू एक अण के लिए हवा में ठहर गयी थी।

“ओर !” कीर्ति ने जल्दी से हाथ जोड़े, “कहाँ जा रही हैं ?”

“भोपाल,” मिसेज मित्तल ने इतने सहज भाव ने कहा जैसे उनका भोपाल जाना रोज़-रोज़ की वात हो, “आर तुम ?” उनकी आँखें बार-बार कम्पाएंगेण की ओर बढ़ते अपने कुली की ओर लगी हुई थीं।

“रज्जन आ रहा है !” मिसेज मित्तल के नये रूप वाले प्रभाव से मुक्त होने के लिए कीर्ति एक साँस में कह गयी। वैसे पिछले कई बारे से यह बाक्य उसे भीतर-भीतर तंग जहर कर रहा था लेकिन इस पल मिसेज मित्तल के अतिरिक्त वह और कोई वात नहीं सोच रही थी। वरसों वाद उन्हें इतना सिंगार-पटार किये कीर्ति देते और खुद उनकी जबानी भोपाल जाने की वात सुने तो फिर अविद्वास की कहाँ गुंजा-इश रह जाती है !

“अच्छा !” रज्जन की वात सुनकर एक पाँव से जमी और दूसरे से उड़ानी हुई मिसेज मित्तल ने अपनी आँखों को और फैला लिया, पूछ रही थीं, “इसी गाड़ी है ?”

“हाँ !”

“लेकिन रज्जन को लैण्ड किये तो कहाँ दिन हो गये न, जाने कीन कह ?” था कि…”

“उसे दिल्ली रुकना पड़ गया,” आगे कुछ अप्रिय न सुनना नहीं चाहे

जल्दी से कह दिया। फिर उन्हें देखती हुई जवरन मुसकरायी। गाड़ी तब बेतरह चिघाड़ती और घड़घड़ती हुई प्लेटफार्म में प्रवेश कर रही थी।

“अच्छा ! लौटकर मिलेंगे...” कहकर मिसेज मित्तल कब बढ़ गयीं, यह कीर्ति ने गाड़ी की हड्डवड़ी में नहीं देखा। उसकी घबराहट अब पहने की अपेक्षा कई गुना बढ़ गयी थी—पसीना, गले का सूखना और हल्क में चुभनेवाले काँटे। उसे अपनी स्थिति उस दिन जैसी लग रही थी जब अन्तिम परीक्षा का परिणाम आनेवाला था और उसे अखंधार की प्रतीक्षा थी। उत्सुकता की मारी वह उस दिन भी स्टेशन आ गयी थी।

वह आगे चली जाये ? क्या भीड़ या धक्कापेल की परवाह किये बिना निकल जाये ? एक बार कीर्ति ने सोचा, लेकिन एक सिरे से दूसरे सिरे तक उमड़ते लोगों के सैलाय को देखकर हिम्मत छूट गयी। वहाँ भी एक जगह खड़े रहने के बावजूद वह नाहक कई धक्के खा चुकी थी।

और रज्जन को वह पहचान भी सकेगी ? पिछले कई दिनों की तरह आज फिर आशंका उठी—अथवा क्या उसे दूर से ही देखकर रज्जन पहचान लेगा ? सात साल का अरसा कम नहीं होता—इतने में कल तक की बच्ची जवान हो जाती है, जवान के पांच ढलवान तक पहुंच जाते हैं और बूढ़े...“

वह कई दिनों के चुने हुए उस स्थान पर खड़ी थी जहाँ से ट्रेन के लोग और बाहर जाने का रास्ता, दोनों ठीक-ठीक दिखायी दे सकें।

भीड़ रोज जैसी थी, ये साल जैसी या शायद गुजरे हुए उन सात बरसों जैसी। कोई भी मौसम हो, चाहे जैसा दिन या घड़ी, यात्राओं का क्रम कभी नहीं टूटता। जब भी स्टेशन आये, भीड़ का एक ही रूप दिखायी देता है—अपने-अपने सामान, मित्र या परिवार से लदे-फंदे लोग, जो जाने कब से चढ़ या उत्तर रहे हैं। प्लेटफार्म में प्रतीक्षा करते वही आत्मीय और प्रियजन, जिनमें से कुछ सिल उठते हैं और अनेक...

“रज्जा ५५५८ !” फर्स्ट क्लास के एक कम्पार्टमेण्ट से किसी स्वस्थ-से युवक को उत्तरते देख कीर्ति के मुँह से न केवल यह आवाज निकली, वहिन वह झपटती हुई उधर भी बढ़ गयी थी, पर झेंपकर दूसरी ओर देखना पड़ा—और भला कुली के पीछे-पीछे कीन जा रहा है ? वह ग्रे-कलर के सूटवाला—ठेले के पास खड़ी स्कर्टवाली लड़की के पीछे...“बो...बो ?” और फिर हर गुजरनेवाले चेहरे को जल्दी-जल्दी झपकती आँखों से पकड़ने की कोशिश और पीछा...

वया आज फिर अकेले लौटना होगा ? अन्त में गेट के पास खड़े आखिरी समूह को देखते हुए कीर्ति ने सोचा, फिर पापा की उन्हीं आँखों का सामना जिनसे कीर्ति को दहशत होती है...“फिर माँ का वही विसूरना जिसे सुनकर उसकी आँखें गीली होती हैं, फिर वही तनाव...

क्यों ?

थोड़ी देर बाद जब गाड़ी रँगने लगी तो बावजूद भीड़-भाड़ के जाने के से मिसेज मित्तल ने उसे देख लिया था। तिड़की के बाहर सिर निकालकर वह हाथ के इशारे से पृछ रही थीं, “क्यों ?” अर्थात्—रज्जन नहीं आया ?

कीर्ति कई पल निरुत्तर-सी खड़ी मिसेज मित्तल को देखती रही। फिर जब कुछ नहीं सूझा तो हवा में हिलते संकड़ों रूमालों के बीच एक हाथ अपना भी उठाकर वह यों हिलाने लगी जैसे मिसेज मित्तल को ही छोड़ने स्टेशन आयी हो—गुड लक...गुड लक...

० ०

और कीर्ति ही नहीं, पिछले कई दिनों से सारा घर इसी तनाव में लटका हुआ जी रहा है। तेरह दिनों पहले मंगलवार को रज्जन ने वर्ष्वर्द्ध में लैण्ड किया था और उस दिन यहाँ घर-भर की बेचैनी सीमा पर पहुँच चुकी थी।

“वेटी, कितने बजे हैं?” पापा ने उस दिन कीर्ति के कमरे में तीसरी बार आकर पूछा था।

“चार।”

“वस दो घंटे और हैं,” पापा ने अपने ज्योतिहीन आँखों से एक और ताकते हुए कहा था, “छह बजे रज्जन का जहाज किनारे आ लगेगा।”

“तो कौन तुमसे वह तुरन्त आ मिलेगा?” यही बात जब उन्होंने फिर आधा घंटे बाद और सातवीं बार दीहरायी तो माँ एकाएक झल्ला पड़ी थीं, क्योंकि पापा की बेचैनी उनसे सही नहीं जा रही थी। अपने नगर से सात सी मील दूर रज्जन वर्ष्वर्द्ध में उतर रहा था। चाहने पर भी उसके लिए इस भौगोलिक दूरी को लांघकर फ़ीरन आ मिलना सम्भव नहीं था, लेकिन घर में ऐसी व्याकुलता समाई हुई थी मानो छह बजे की ट्रेन से वह सीधे यहाँ पहुँच रहा हो। यों रोज सुबह सबसे पहले पापा ही उठते थे, लेकिन उस दिन उन्होंने अपने साथ-साथ सभी को जल्दी जगा दिया था—पहले माँ, कीर्ति, फिर शोभा और यहाँ तक कि छड़ी टेकते-टेकते जाकर आउट हाउस में रहने-वाले श्यामलाल को भी उन्होंने सोने नहीं दिया था।

‘आज रज्जन पहुँच रहा है,’ इस वाक्य से वह दिन शुरू हुआ था और सारा दिन विसे हुए रेकार्ड की तरह घर के कोने-कोने में वह वाक्य बजता रहा था। फिर इस रेकार्ड से छूटने के बाद पति-पत्नी के बीच रज्जन की पुरानी स्मृतियाँ दुहरायी गयी थीं, उसकी कुछ आदतों, विशेषताओं और गुणों आदि के चर्चे हुए थे और चात कीर्ति की बड़ी देर तक पापा के जागने की आहट मिलती रही थी।

सात बर्ष पहले जब रज्जन इंजीनियरिंग के एक डिप्लोमा के लिए इंग्लैंड जाने लगा था तो किसी को कल्पना भी न थी कि वह इतने अरसे के लिए बहाँ रह जायेगा। केवल दो-ढाई बर्ष में लौट आने की बात थी। तब व्याह हुए सिफ़र छह बाह गुज़रे थे। रत्ना को उसने इसीलिए साथ कर लिया था कि विदेश के अकेलेपन से ठर लगता था। फिर अध्ययन के दौरान इधर या उधर का कोई तनाव न रहे और पति-पत्नी दोनों मिलकर वह समय काट आये, एक उद्देश्य शायद यह भी था।

लेकिन ढाई के बदले तीन बर्ष हो गये और रज्जन लोग नहीं लौटे। एक पत्र आया कि उसे कोई टेम्प्रेरी जाँच मिल गया है। क्षोचा, वयों न कर लें? कुछ नहीं-नी आया का ख़र्च ही निकल आयेगा और अगर सम्भव हुआ तो थोड़े-बहुत पैंते।

जायेंगे...” किर यह सूचना आयी कि रत्ना को भी वहाँ रेडियो में नौकरी मिल गयी है और दोनों मिलकर काफ़ी कमा लेते हैं। रज्जन के शुरू-शुरू के पदों से अवश्य लगता था कि उसे कहीं-न-कहीं वापस लौटने की उत्सुकता है पर बाद में वह इस टर्म में सोचने लगा था कि भारत में अगर वैसी अच्छी नौकरी न मिली तो ?

और इस बीच कई बड़ी-बड़ी और अप्रत्याशित घटनाएँ हो गयी थीं। शोभा के बादबाला भाई जाता रहा था। कीर्ति से बड़ी बहन नलिनी व्याह होकर बनारस चली गयी थी, पापा सरकारी नौकरी से रिटायर होकर घर बैठ गये थे, और इनमें सबसे बड़ा हादसा यह हुआ कि पापा की आँखें अक्समात् जाती रहीं।

‘मुझसे बड़ा अभागा और कौन होगा’, इस खबर के मिलते ही रज्जन ने बेहद दुखे स्वर में लिखा था, कि इतनी बड़ी बात हो जाय और मैं आपके पास न होऊँ। सच-मुच में नराधम हूँ या यह मेरे पूर्व-जन्म के पापों का फल है कि इतना सब होने के बाद भी मैं आपसे हजारों मील दूर पड़ा हूँ...लेकिन पापा, आप चिन्ता मत करें—मैं आज-कल में यहाँ के आई-स्पेशलिस्ट से कन्सल्ट कर रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि जिस दिन आपको यहाँ ले अँड़ेंगा, सब ठीक हो जायेगा।

खत सुनकर पापा रो पड़े थे। कीर्ति से पत्र लेकर कुछ देर बे उस पर यों हाथ फेरते रहे थे मानो आँखुलियों में आँखें उत्तर आयी हों, किर भरये कण्ठ से उन्होंने इतना ही कहा था, “कीर्ति दी माँ, ईश्वर की सौगन्ध ! अब मुझे आँखों का अफसोस नहीं रहा...”

और उस दिन कई महीनों के बाद समूचे घर के लोग पापा के कमरे में ढक्टे हुए थे। उन्हें घेरकर कीर्ति, शोभा और माँ सभी बैठ गयी थीं और पापा ने अपनी आदत के अनुसार नौकरी के दिनों बाले वरसों पुराने किस्से सुनाये थे—वे किस्से जिन्हें इससे पहले भी कई बार उन्होंने सारे घर को सुनाया था।

० ०

गेट के बाहर ही कीर्ति ठिक गयी।

तीन-चार दिनों से यही ही रहा था। स्टेशन से लौटते में वैदल तय करनेवाला रास्ता चाहे जल्दी से कट जाय, घर आते-आते अक्सर कदम धीमे पढ़ जाते थे। गेट-में से गुजरते बहुत लगता जैसे किसी ने पांवों में पत्थर बांध दिये हों, और...

बात बिलकुल नयी न थी लेकिन आज से पहले कीर्ति-ने अपने को इतना अवश कभी भी महसूस नहीं किया था। उसे लगा कि और दिन भले ही अम होता रहा हो, आज की स्थिति दूसरी है। आधारहीन ही सही, जाने वयों वह बहुत जोर से महसूस कर रही थी कि रज्जन जहर आ गया है और भीतर प्रवेश करके ही वह देखेगी कि वह पापा के पास बैठा हुआ है। बहुत मुमिन है कि स्टेशन की भीड़-भाड़ में वह मिस कर गयी हो, या उसने पहचाना ही न हो और रज्जन निकल आया हो।

मटियाले आँधेरे से धिरी हुई शाम...“हवा में हल्की-सी खुनबी थी। छिटपुट या इक्का-दुक्का घरों की वत्तियाँ मुहल्ले के सभी आँधेरे और निर्जन दोनों को धूर रही थीं। ऐसे में बेहद संदिग्म रोशनी में ढूवा हुआ अपना मकान एक क्षण के लिए कीर्ति

को भूतहा और रहस्यमय-सा लगा ! … यह सारे घर में अँवेन करों कर रखा है ? वह मन-ही-मन भल्लायी—इतने दिनों बाद रज्जन आये और किन भी उज्जाना न हो तो कब होगा ? … और आज इयामलाल वेवकत कैसे ? वह चाँपी, साइकिल लेकर दूसरे गेट से जलदी-जलदी वह दहाँ निकल गया ?

कीर्ति का जी अचानक जोर-जोर से धड़कते लगा । लम्बे-समय उग रे धड़-धड़ती हुई वह श्रहते का भीतर बाला मैदान, छोटा बरीचा और दानान पार करती हुई भीतर चली गयी । पर कहीं कोई न था । न कोई होलटाल-मूटकेस और न किसी की विदेशी स्लिपों बाली अटैची… वही रोज का मढ़िम रोमनी दाना दाना नाम, जिसमें तीन-चार लोग ऐसे खो जाते थे कि पना ही नहीं लगता था ।

“कीर्ति !”

लम्बा और संकरा गलियारा पार कर वह दूसरे छोर बाले करने की ओर जाना चाहती थी कि चाँक गयी । अँवेरे गलियारे में माँ प्रेत की नन्ही नृदी थीं !

“कौन ?” उसी समय सहसा पापा के कमरे से अर्दीचन्नी आदाज आयी, “क्या कीर्ति आ गयी ? कीर्ति…”

“हाँ, कीर्ति आ गयी !” दो धणों की चूपी के बाद भी माँ ने बमीठने हुए शब्दों में जवाब दिया । इस बीच केवल एक बार उन्होंने कीर्ति की ओर देखा, किन लट गयीं ।

और वस । किसी ने न कुछ कहा, और न कुछ नृता । जैसे न अद नह कीर्ति की प्रतीक्षा थी और न उसके साथ वँधी हुई कोई आदा ।

पिछले बारह दिनों से इस समय सारा घर कपड़ों में प्राय किंवद्देश रहता था । पल-पल कीर्ति की बाट देखी जाती थी । पहले दो दिन म्बवं दाया न्डिग्न तक तने गये थे, बम्बई से आनिबाली कई गाड़ियाँ उन्होंने देखी थीं । वह तो बाट में रहा चला था कि रज्जन यहाँ आने के बदले सीधे दिली चला गया था—रहा के बार । और कई बार बदले हुए तथा स्वयं निर्वासित किंवद्देश के बाबूद आउ नेव्हैटे दिन भी रज्जन का पता नहीं ।

अपने कमरे में पहुँचकर बड़ी देर तक कीर्ति की जाना रहा कि आज भी माँ जहर दवे-पाँव आयेगी । शायद और दिनों की जहर जान के बाबूद आउ नेव्हैटे कहें—‘कीर्ति, जा, रज्जन को एक तार और कर आ…’ उसने नैनिल बना रखा है । मरे, अगर यहाँ न आना था तो न आता । लिव-लिवर सबजी नैनिल बनदे की बार जल्लत थी !

पिछले दो तार ऐसे ही हुए थे और गये-दिन जो ‘इंटर’ जाना रहा रहा था, उसके पीछे भी बही था ।

पर सचमुच माँ नहीं आयीं । खाने की नूबना नैनिल बनदे की थीं ।

“आज मिसेज मित्तल मिल गयी थीं !”

खाने की भेज पर भी जब वही तनाव गिरे के दिनों में नैनिल बनदे की कीर्ति ने केवल बात करने के लिए सप्रयास बात शुरू की ।

“कहाँ ?” उदासीन भाव से माँ ने पूछा ।

“स्टेशन पर ।”

“अच्छा ।”

“वह भोपाल जा रही थीं,” कहकर कीर्ति ने तत्काल माँ की ओर देखा । उसका अनुमान ठीक था । मिसेज मित्तल के साथ भोपाल का नाम सुनते ही माँ बेतरह चौंकी । मुँह की तरफ बढ़ता उनका हाथ सहसा रुक गया, जैसे अचरज-भरी घटना की खबर दी गयी हो । साइर्चर्य पूछा, “किसने कहा ?”

“वह खुद कह रही थीं ।”

“विश्वास करने के प्रयास में माँ कीर्ति को धूरती रहीं । एक क्षण के लिए उनकी आँखों में अजव-सा भाव तैर आया । जाने वह छोटी-सी खुशी का था या अचानक लगे हल्के-से धयके का । कीर्ति से आँखें हटाकर, ठिठका हुआ जूठा हाथ लिये दो-एक पल वह एक अंधेरे कोने को धूरती रहीं, फिर ‘यही होता है’ का भाव लिये चुपचाप खाने लगीं…

उस दिन जिसने मिसेज मित्तल का उतना दृढ़ स्वरूप देखा हो, उसके लिए सचमुच यह विश्वास करना कठिन है कि आखिर वह उस विन्दु पर आ गयीं, जिसका वरसों से वह अकेले दम पर विरोध कर रही थीं ।

यों पड़ोसी-जैसी-पड़ोसी मिसेज मित्तल नहीं थीं । एक तो घर उनका दूर था और दूसरे स्वभाव से वह रुखी और घमण्डी लगती थीं । शायद इसीनिए आने के बाद भी काफी अरसे तक सभी से प्रपरिचय बना रहा । लेकिन जब कीर्ति से परिचय हुआ तो सारी दूरी तो जाती ही रही, वह रहस्य भी नहीं रह गया, जो उनके बारे में पहले दिन से, मुहल्ले ही नहीं सारे नगर में, बना हुआ था । विवाहिता और पराये शहर की होते हुए भी उन्होंने इस नयी जगह में आकर नीकरी कर ली थी । यहाँ उनका न कोई रिश्तेदार था और न कोई परिचित । वहुत सीधे-सादे ढंग से एक कमरा लंकर वह अकेली रहती थीं—अकेली ही नहीं, अलग-यत्न और सभी से कटी हुई । शायद इसीलिए लोगों में कानाफूसियाँ थीं कि क्या कोई भी जवान औरत किसी नये शहर में अकेली जान रह सकती है ? मिसेज मित्तल अगर सचमुच विवाहिता या सुहागन हैं तो कभी उनका पति उनके पास वयों नहीं आता, अथवा पिछले तीन वरसों में एक बार भी अपने पति के पास भोपाल वयों नहीं गयीं ?

“और समझ में नहीं आता कि लोगों को दूसरे की जिन्दगी में इतनी दिलचस्पी क्यों होनी चाहिए ?” कीर्ति से पहली या दूसरी भैंट पर ही अत्यन्त दुःखी होकर मिसेज मित्तल ने कहा था, “वयों में हर किसी से यह बताती फिर्हूँ कि मैं व्याहता या सुहागन हूँ… कि हम पति-पत्नी में कितना प्यार था… महेश ने अचानक कैसे मेरे साथ घोखा करना शुरू कर दिया और कैसे अलग होकर मैं इसी बात पर आज तक उससे लड़ रही हूँ ?”

और उसी दिन कीर्ति ने पहली बार जाना था कि इस भुखमरी दुनिया में श्राज भी ऐसे लोग हैं जो टूट भले ही जायें, भुकना या समझौते करना नहीं जानते । अगर प्रेम-विवाह के साल-दो साल बाद ‘ही महेश किसी रूप-जाल में उलझकर नये ‘अफेयर’

में फैस जाय तो मिसेज मित्तल जैसी कोई भी स्वाभिमानी अन्त और नया कर सकती थी ! ...

कीर्ति को लगा जैसे वह अकेली नहीं, चुपचार कीर डातो हुई माँ भी आज उसी दिन की बात सोच रही हैं—उव दिन जब शोभा के वर्षड़े के बाद मिसेज मित्तल आयी थीं। घर में बीते हुए एक छोटे-से उत्सव के अवशेषों के बीच उस दिन माँ को जाने वा सूझी कि ट्रैकों में एक जमाने से बन्द होर-से पुराने और कीमती कपड़े वह निकाल लायी थीं। फिर उन्हें मिसेज मित्तल के सामने फैलाकर बैठते हुए पूछा था, “तुम्हें रफू करना आता है ?”

मिसेज मित्तल ने हँसकर नाही कर दी थी।

“ये कपड़े मेरी शादी के हैं,” माँ बोली थीं, “कुछ शायद उसने भी पहले के। रखे-रखे फटते देख जो दुखता है, तो जानती हो क्या करती है ? रफू कर-करके फिर सहेज देती हूँ। मेरी तो अब पहनने की उम्र नहीं रही, कीर्ति-नलिनी से पहनने को कहती हूँ तो ये लोग हँसती हैं !”

मिसेज मित्तल एक-एक साड़ी का पल्ला लेकर उन पर किया हुआ सोने-चांदी का काम देखने लगी थीं।

“तुम भोपाल कब जा रही हो ?” और बीच में विलकुल अचानक, बिना किनी प्रसंग के माँ ने पूछ दिया तो कीर्ति ने स्पष्ट देखा कि मिसेज मित्तल का चेहरा एकदम उतर गया है ! अपने को जैसे-तैसे सैंभालकर उन्होंने भूखे होंठों से जबाब दिया था, “अभी तो ऐसी कोई बात नहीं... क्यों ?”

“क्यों क्या ?” माँ बोली थीं, “दुनिया में यह सब तो चलता हो रहता है, तुम अकेली कहाँ तक लड़ोगी ?... किसी चीज़-से अगर सचमुच प्यार हो या वह कीमती हो, तो टूट-फूट जाने पर भी उसका मोह नहीं जाता। मुझे देखो...”

और फिर पुराने कपड़े वाले उदाहरण के अतिरिक्त उनकी दोरों दुनियादारी की बातें, जिनमें से हरेक का इशारा वस एक ही और जाना था। यहाँ तक कि अन्त में मिसेज मित्तल घवराकर किसी वहाने से कीर्ति के कमरे में उठ आयी थीं। एकान्त में कीर्ति के सामने उन्होंने आँसू पोंछे थे। क्रोध और अपमान ने तमतमाया चेहरा लिये वह बड़ी देर तक चुप रही थीं और जब माँ के ही स्वर में कीर्ति ने तसलिलयाँ देनी चाही थीं तो आवेश में आकर उन्होंने अपने जूँड़े में खुंसा फल निकाल लिया था। कुछ देर वह उसकी पंखुड़ियों को सहलाती रही थीं, मानो कोई गहरा-सा जबाब देने के पहले अपने शब्दों को तोल रही हों। अन्त में उसकी एक पंखुड़ी को नाखून से चीरकर भरे गले से पूछा था, “इसे रफू कर सकती हो ?”...

“०

और कीर्ति को हाथ खींचते हुए देखकर माँ ने तहसा टोक दिया, “तूने तो कुछ खाया ही नहीं !”

“वस,” कीर्ति अनमने भाव से नठी और हाथ धोने के लिए वाघ-वेसिन की ओर बढ़ी।

“कहाँ ?” उदासीन भाव से माँ ने पूछा ।

“स्टेशन पर ।”

“अच्छा ।”

“वह भोपाल जा रही थीं,” कहकर कीर्ति ने तत्काल माँ की ओर देखा । उसका अनुमान ठीक था । मिसेज मित्तल के साथ भोपाल का नाम सुनते ही माँ बेतरह चौंकीं । मुँह की तरफ बढ़ता उनका हाथ सहसा रुक गया, जैसे अचरज-भरी घटना की खबर दी गयी हो । साश्चर्य पूछा, “किसने कहा ?”

“वह खुद कह रही थीं ।”

“विश्वास करने के प्रयास में माँ कीर्ति को घूरती रहीं । एक क्षण के लिए उनकी आँखों में अजव-सा भाव तैर आया । जाने वह छोटी-सी खुशी का था या या अचानक लगे हल्के-से धबके का । कीर्ति से आँखें हटाकर, ठिठका हुआ जूठा हाथ लिये दो-एक पल वह एक श्रंधेरे कोने को घूरती रहीं, फिर ‘यही होता है’ का भाव लिये चुपचाप खाने लगीं...”

उस दिन जिसने मिसेज मित्तल का उतना दृढ़ स्वरूप देखा हो, उसके लिए सचमुच यह विश्वास करना कठिन है कि आखिर वह उस बिन्दु पर आ गयीं, जिसका वरसों से वह अकेले दम पर विरोध कर रही थीं ।

यों पड़ोसी-जैसी-पड़ोसी मिसेज मित्तल नहीं थीं । एक तो घर उनका दूर था और दूसरे स्वभाव से वह रुखी और घमण्डी लगती थीं । शायद इसीनिए आने के बाद भी काफी अरसे तक सभी से घपरिचय बना रहा । लेकिन जब कीर्ति से परिचय हुआ तो सारी दूरी तो जाती ही रही, वह रहस्य भी नहीं रह गया, जो उनके बारे में पहले दिन से, मुहल्ले ही नहीं सारे नगर में, बना हुआ था । विवाहिता और पराये शहर की होते हुए भी उन्होंने इस नयी जगह में आकर नौकरी कर ली थी । यहाँ उनका न कोई रित्तेवार था और न कोई परिचित । बहुत सीधे-सादे हंग से एक कमरा लेकर वह अकेली रहती थीं—अकेली ही नहीं, अलग-थलग और सभी से कटी हुई । शायद इसीलिए लोगों में कानाफूसियाँ थीं कि क्या कोई भी जवान श्रीरत किसी नये शहर में अकेली जान रह सकती है ? मिसेज मित्तल अगर सचमुच विवाहिता या सुहागन हैं तो कभी उनका पति उनके पास वयों नहीं आता, अथवा पिछले तीन वरसों में एक बार भी अपने पति के पास भोपाल क्यों नहीं गयीं ?

“ओर समझ में नहीं आता कि लोगों को दूसरे की जिन्दगी में इतनी दिलचस्पी क्यों होनी चाहिए ?” कीर्ति से पहली या दूसरी मैट पर ही अत्यन्त दुःखी होकर मिसेज मित्तल ने कहा था, “वयों में हर किसी से यह बताती किहूँ कि मैं व्याहता या सुहागन हूँ...” कि हम पति-पत्नी में कितना ध्यार था... महेश ने अचानक कैसे मेरे साथ धोखा करना शुरू कर दिया और कैसे अलग होकर मैं इसी बात पर आज तक उससे लड़ रही हूँ ?”

ओर उसी दिन कीर्ति ने पहली बार जाना था कि इस भुखमरी दुनिया में आज भी ऐसे लोग हैं जो टृट भले ही जायें, भुकना या समझौते करना नहीं जानते । अगर प्रेम-विवाह के साल-दो साल बाद ‘ही महेश किसी रूप-जाल में उलझकर नये ‘अफेयर’

में फैस जाय तो मिसेज मित्तल जैसी कोई भी स्वाभिमानी आश्रत और क्या कर सकती थी ! ...

कीर्ति को लगा जैसे वह ग्रकेली नहीं, चुपचाप कोर डठाती हुई माँ भी आज उसी दिन की बात सोच रही हैं—उस दिन जब शोभा के बर्यंडे के बाद मिसेज मित्तल आयी थीं। घर में बीते हुए एक छोटे-से उत्सव के अवयोपीं के बीच उस दिन माँ को जाने क्या सूझी कि ट्रैकों में एक जमाने से बन्द हो-से पुराने और कीमती कपड़े वह निकाल लायी थीं। फिर उन्हें मिसेज मित्तल के सामने फैलाकर बैठते हुए पूछा था, “तुम्हें रफू करना आता है ?”

मिसेज मित्तल ने हँसकर नाही कर दी थी।

“ये कपड़े मेरी शादी के हैं,” माँ बोली थीं, “कुछ यायद उससे भी पहले के। रखे-रखे फटते देख जी दुखता है, तो जानती हो क्या करती है ? रफू कर-करके किर सहेज देती हैं। मेरी तो अब पहनने की उम्र नहीं रही, कीर्ति-नलिनी से पहनने को कहती हैं तो ये लोग हँसती हैं !”

मिसेज मित्तल एक-एक साड़ी का पत्ता लेकर उन पर किया हुआ सोने-चांदी का काम देखने लगी थीं।

“तुम भोपाल कव जा रही हो ?” और बीच में बिलकुल अचानक, विना किमी प्रसंग के माँ ने पूछ दिया तो कीर्ति ने स्पष्ट देखा कि मिसेज मित्तल का चेहरा एकदम उत्तर गया है ! अपने को जैसे-तैसे संभालकर उन्होंने नूचे होंठों से जवाब दिया था, “अभी तो ऐसी कोई बात नहीं...क्यों ?”

“क्यों क्या ?” माँ बोली थीं, “दुनिया में यह सब तो चलता ही रहता है, तुम अकेली कहाँ तक लड़ोगी ?...किसी चीज़-से अगर सचमुच प्यार हो या वह कीमती हो, तो टूट-फूट जाने पर भी उसका मोह नहीं जाता। मुझे देखो...”

और फिर पुराने कपड़े बाले उदाहरण के अतिरिक्त उनकी देरों दुनियादारी की बातें, जिनमें से हरेक का इशारा वस एक ही और जाता था। यहाँ तक कि अन्त में मिसेज मित्तल घबराकर किसी बहाने से कीर्ति के कमरे में उठ आयी थीं। एकान्त में कीर्ति के सामने उन्होंने आँसू पोछे थे। क्रोध और अपमान ने तमतमाया चेहरा लिये वह बड़ी देर तक चुप रही थीं और जब माँ के ही स्वर में कीर्ति ने तसलियाँ देनी चाही थीं तो आवेदा में आकर उन्होंने अपने जूँड़े में खुँसा फूल निकाल लिया था। कुछ देर वह उसकी पंखुड़ियों को सहलाती रही थीं, मानो कोई गहरा-सा जवाब देने के पहले अपने शब्दों को तोल रही हों। अन्त में उसकी एक पंखुड़ी को नाखून से चीरकर भरे गले से पूछा था, “इसे रफू कर सकती हो ?”...

“०

और कीर्ति को हाथ खींचते हुए देखकर माँ ने सहसा टोक दिया, “तूने तो कुछ खाया ही नहीं !”

“वस,” कीर्ति अनमने भाव से नठी और हाथ धोने के लिए वाश-वेसिन की ओर बढ़ी।

“मोने से पहले वक्ती बुझा देना,” जाती हुई कीर्ति को माँ ने रोज़ वी तस्ह हिदायत दी, “नाहक मुझे परेशान होना पड़ता है... और शोभा अगर जिद करे तो अपने पास ही सुला लेना, अच्छा ?”

रजन के बारे में कोई बात नहीं, एक भी शब्द नहीं...”

रात कई बार कीर्ति को भ्रम होता रहा कि माँ उसके कमरे में आयी है। वह कई बार अचकचाकर उठी, लेकिन रात के सन्नाटे में पापा के कमरे से खाँसने और बार-बार बैचैन करवटे बदलने के विरिक्त और कोई आहट नहीं आ रही थी।

लेकिन तेरह दिनों से जिस रजन के ग्रामी की इतनी धूम थी, वह आया तो तब जबकि उसे लेने के लिए घर की बहलीज पर भी कोई नहीं था।

सुबह के तीन बजे ये ग्राम सारा घर सो रहा था। कीर्ति से खबर सुनते ही पापा हड्डियाकर उठ चूंठे, अपनी छड़ी के लिए एक पल वह हवा में हाथ चलाते रहे, फिर केना के जवान पत्तों की तरह बांहें फैलाकर थरथराते हुए खड़े हो गये।

रजन ने ग्राम बढ़कर उनके पांव छुए। पीछे-पीछे रत्ना थी।

‘तूने तो बड़ा इत्तजार कराया’—अपने चरण छुए जाने के बीच माँ कहना चाहती थीं—‘यहाँ तो कई दिनों से वह हाल है कि...’ पर कहा नहीं गया। किसी से क़छु नहीं कहा। तभी वहाँ शोभा आ गयी और वरसों वाद हमड़ग्र भाई-बहनों के मिलने का बार सारे घर में गूँजता हुआ पास-पड़ोस तक जा पहुँचा।

“ओर, शोभा ! तू इतनी बड़ी हो गयी ?”

“ओर वहा उतनी ही बड़ी रहेगी ?” माँ बोलीं।

“रत्ना, तुम्हें याद है,” रजन ने दहा, “यह कितनी-सी थी। और कीर्ति को तो देखो, कमवर्त, अच्छी-जासी महिला बन गयी है ?”

“ओर जो मैंने एम० ऐ० पास बर लिया है, वो ?” कीर्ति बोली, “लेकचरर ही गयी हूँ, वो ? तुम लोगों के बराबर कमाने लगी हूँ, वो ? इनमें से किसी की बधाई नहीं ? रजन, इस बार तो मुझे भी अपने साथ इंगलैण्ड ले चल।”

“अच्छा ! अच्छा !!” रजन ने चिढ़ाया, “कभी आइने में अपनी शब्द देखी है ?”

शोभा उस घमाचीकड़ी में कीर्ति के विरिक्त किसी ने नहीं देखा कि पापा की उठी हुई बांहें कैसे नीचे गिरीं।

“देखो, मैं तुम सबके लिए बया-बया लेकर आया हूँ !” फिर बीच में ही उठ-कर रजन ने टूँक खोला और माँ के मना करने तथा यह कहने के बाबजूद कि दिन में देव लेंगे, उसने एक-एक करके सारी चीजें उत्साहपूर्वक फैला दीं—पापा के लिए ऊनी कोट, माँ के लिए काढिगन, शोभा के लिए नये प्रकार के खिलौने और कीर्ति-नलिनी के लिए स्वेटर तथा स्कार्फ !

रत्ना यह बताती रही कि उन प्रेजेण्ट्स के एक-एक पीस के लिए उन्होंने लन्दन की कितनी-कितनी दुकानें देखी थीं और कितने अम्बार में से पसन्द किया था !

पापा ज्योतिकीर्ति आँखों से अपने ही परिवार को धूरते हुए अपरचितों की

तरह सुन रहे थे।

अगला दिन कीर्ति के बर ऐसे आया जैसे वरसों पहुँचे कभी आया करता था। सुबह से मिलने-वैठनेवालों का तांता लग गया—उनमें पापा के निच थे, माँ भी परिचित महिलाएँ थीं, कीर्ति-ज्ञोभा की सहेलियाँ थीं और नवने अधिक संख्या थी रज्जन के उन दोस्तों की, जिनके साथ उसने बचपन और स्कूल के दिन गुजारे थे।

“द्वंद तो तुम्हारा साथ भी किंजूल है !” दोपहर को दिन-रात के संग-संग वैठने वाले शर्मजी ने कहा तो पापा एकाएक चाँके, “क्यों ?”

“अरे भाई, अब तुम यहाँ ही ही कितने दिन !” दूसरे मिन सक्सेना ने कहा, “चन्द दिन ही तो न ? रज्जन आ गया है। तुम्हें अबने साथ ले जाये बिना थोड़े ही मानेगा ।”

“श्रच्छा बोह……” पापा साँस छोड़कर बीरेने राहत-भरी हँसी हँगामे लगे, “देखो, क्या होता है ! पीछे तो वह बहुत दिनों से पड़ा है। मैं ही अब तक नुप बैटा रहा। कभी सोचता हूँ कि रज्जन की बात मान लूँ। कभी हिम्मत नहीं होती। इसी चक्कर में मैंने यहाँ किसी डॉक्टर को भी नहीं दिखाया……सच पूछिए तो शर्मजी, आपना देश छोड़ने के नाम पर ही जी कचोटता है।”

“तो कौन आपनो हमेशा के लिए जाना है !” शर्मजी बोले, “आँखें बापस मिल जायें, चले आना !”

पापा कुछ सोचने लगे, नानो उसी समय निर्णय कर रहे हों कि उन्हें रज्जन के साथ जाना है अथवा नहीं। निच्चय ही शर्मजी, सक्सेना या सभी लोगों को लग रहा था कि रज्जन के आने का अर्थ ही उनका जाना है। पत्नी-वच्चे ही नहीं, स्वयं उन्होंने यह बात कई लोगों से कह रखी थी। लेकिन आज जिस वास्तविकता का पता शर्मजी, सक्सेना या बाहरवालों में से किसी को नहीं था, उसे याद कर उन्हें श्रजीव-सी व्यापुलता हो रही थी। मन की चिकनी और वेहद विछलन-भरी दीवार पर जो साँप नी तरह चढ़ और गिर रहा था, वह यह भय था कि रज्जन कहीं अपने पत्र की बात भूल तो नहीं गया ! आने के बाद से आँखों के बारे में श्रीपचारिक-सी पूछताछ के अलावा और कोई बात नहीं हुई थी ! ऊँह, होगी……लड़का है। वरसों बाद आया है, पहले उसे दम मारने की फुरसत तो मिले !

रात को जब माँ ने उनसे खाने के लिए कहा तब भी वह शायद उसी मुद्रा में थे, बोले, “रज्जन को आने दो ।”

“उन लोगों का कोई ठीक भी है !” माँ ने कहा, “संर-सपाटे को गये हैं। जाने कद तक आते हैं !”

“आखिर आयेंगे तो,” पापा बोले, “कीर्ति-ज्ञोभा को भूव लगी हो, तो खिला दो ।”

पर जाने क्यों, भूख किसी को नहीं थी। पिछली रात की तरह नभी उस गत भी ग्यारह बजे तक रज्जन-रत्ना की प्रतीक्षा करते रहे। इस कोशिश में शोभा भूखी ही सो गयी और तब भी उठाये नहीं उठी, जब कि वे लोग लौट आये।

पाटियाँ और पिकचरें...

पहली दोपहर को कुछकर तीन दिनों में न कोई रात खाली गयी और न कोई दिन। पाटियों और पिकचरों का सिलसिला मुतवातिर चला और रज्जन को लगता रहा कि कुछ देर से घर आकर उसने सचमुच शलती की है। नगर में दोस्त या मिलने-जुलने वाले कथा एक-दो थे कि उन्हें आसानी से निपटा दिया जाता ! वहाँ तो जिसके साथ कोताही करो उसे ही शिकायत हो रही थी।

“रज्जन जाने की कह रहा था !” उस रात कीति ने पापा के कमरे में माँ को कहते सुना।

“किसके जाने की ?” पापा ने चाँककर पूछा, “मेरे ?”

“नहीं,” दूसरी ओर देखकर माँ धीरे-से बोलीं, “उसके अपने ही जाने की वात थी। कह रहा था, उसे जल्दी लौटना है और दिल्ली में भी एक-दो दिन का काम है।”

बड़ी देर तक पापा ने कुछ नहीं कहा।

“ये लोग नलिनी के पास बनारस जा रहे थे न ?”

“अब नहीं जा रहे।”

“क्यों ?”

“वक्त नहीं है,” माँ बोलीं, “मामा के पास जयपुर जाने वाला प्रोग्राम भी, सुना, रद्द कर दिया है। रत्ना कह रही थी कि उनके प्रेजेण्ट्स भिजवा दें .. देखते हो इतने वर्षों बाद आया और वहन से मिले बिना चला जाना चाहता है। सोचो, नलिनी क्या कहेगी !”

कुछ देर पापा और चुप रहे।

“रज्जन और कुछ कह रहा था ?”

“कब ?” कहकर माँ ने पापा को और देखा तो, लेकिन दूसरे ही क्षण संभल भी गयीं। अपने ही प्रश्न को समेटती हुई बोलीं, “अरे, उसे मेरे पास बैठने या वात करने की फुरसत कहाँ है ! कल यह ज़रूर पूछ रहा था कि पापा को कोट पसन्द आया !”

और तब चारपाई बजने की आवाज से कीति ने अनुमान लगाया कि पापा ने फिर वही बैचेन करवट बदली है।

○ ○

स्टेशन से बाहर आकर कीति ने मुखित की साँस ली। उसे लग रहा था जैसे एक लम्बे समय के बाद किसी भयंकर तनाव से छुटकारा मिला हो। अजीब वात है कि रज्जन और रत्ना को गाड़ी में बैठते देख उसे ज़रा भी कचोट महसूस नहीं हुई थी। उसे कुछ बैसे हल्केपन का अहसास हो रहा था जैसे किसी छोटी हैसियत के आदमी को बड़े मेहमानों के बिदा करने पर होता है !

चलने से पहले रज्जन और रत्ना दोनों ने अलगाव और विछोह के श्रीपञ्चारिक शब्द कहे थे, लेकिन कीति से कुछ भी नहीं बना था। उसने लाख चाहा था कि रज्जन की वात रख ले। कई बार रत्ना के सामने उसने भूमिका भी बांधी थी लेकिन लगा-

था जैसे भीतर कहीं से विद्रोह हो रहा है, और वह उसके नामने घुटने टेककर अवश्य हो गयी है।

“कीर्ति, तू मेरी एक बात मानेगी ?” प्लेटफार्म पर रज्जन ने किसी बहाने उसे रत्ना से अलग ले जाकर कहा था।

“क्या ?”

“सच बात तो यह है कि यह मैं तुझी से कह सकता हूँ, इसलिए कि तू वहन भी है और समझदार भी…… ये मदर-फादर को क्या हो गया है ? हम लोग इतने-इतने बरसों बाद आये, लेकिन लगा जैसे किसी को खुशी ही नहीं हुई। सारा वक्त पापा उखड़ी-उखड़ी बातें करते रहे और माँ का मुँह सूजा रहा। मैं तो खँर घर का हूँ, शिकायत करके भी कहाँ जाऊँगा ! रत्ना के दिल को इससे बड़ा धक्का लगा है। कह रही थी कि इतनी भावना से लाये हुए प्रेजेण्ट्स किसी ने एप्रिशियेट तक नहीं किये। पापा ने तो कोट को छूकर भी नहीं देखा। तू अगर उसे बातों-ही-बातों में यह विश्वास दिला दे कि उन प्रेजेण्ट्स से घर-भर के लोगों को कितनी खुशी हुई है तो …”

○ ○

उसे क्या हो गया था ! कीर्ति ने सोचा—रज्जन का इतना-सा आग्रह रखते उससे क्यों नहीं बना ? झूठ ही सही, क्या वह रत्ना से नहीं कह सकती थी कि……

“और भला तुमसे क्या कह गयी थी ?” अचानक उसके कन्धे पर हाथ रखकर रमा सेन पूछ रही थीं। कीर्ति सहम गयी। खीभ-सी हुई कि जो रमा सेन स्टेटन से उसके साथ-साथ टैक्सी में चली आ रही थी, उसकी उपस्थिति वह इतनी देर से कैसे मुला बैठी थी ! और कौन क्या कह गयी थीं ? कौन……हाँ, मिसेज मित्तल……रटेशन पर मिलने के बाद से वे लोग उन्हीं के बारे में बातें करती आ रही थीं। चाहे-अनजाहे, जगह-वेजगह मिसेज मित्तल का ही प्रसंग।

“मुझसे तो कहा था कि दो-चार रोज़ में आ जायेगी !”

“उन्होंने सभी से यही कहा आ,” रमा सेन बोलीं, “मुझसे भी ! लेकिन मैं तब भी जानती थी कि वह लौटकर नहीं आयेगी और इसी तरह एक दिन उनका इस्तीफा आ जायेगा। असल में, कीर्ति, जहाँ तक मैं जानती हूँ अपने किसी प्रियजन से प्रेम करना जितना आसान है, चोट लगने के बाद भी उससे धृणा करके रह सकना उतना ही मुश्किल । जिस दिन मैंने मिसेज मित्तल जैसी पढ़ी-लिखी महिला को चूँटियों बाले एक छोटे-से अपशकुन से ध्वराते देखा था उसी दिन मैं समझ गयी थी कि उनके सारे बन्द टूट गये हैं।”

“धर के लिए और कितना रास्ता बाकी है ?” ऊँची हुई कीर्ति ने मिडफी के बाहर सिर निकालकर देखा। उसे कम-से-कम उस समय मिसेज मित्तल बाली चर्चा में जरा भी रुचि नहीं रह गयी थी और रमा सेन की बातें बेतरह यक्षा रही थीं।

फिर वही अपने ही घर में प्रवेश करने का भय……

गेट में से गुज़रते हुए आज कीर्ति के पांच ठिके नहीं, लेकिन उन्हीं अचेन्न मन में बैठे हुए भय ने अपना सिर फिर उठा लिया था। वही मटि

आम, छिटपुट या इच्का-दुक्का घरों की वत्तियाँ, मुहल्ले के सूने तथा निर्जन कोने... और बेहद मढ़िम रोशनी में डूबा हुआ मकान...।

वरामदे में चोरों की तरह प्रवेश करते हुए कीर्ति को याद आया कि आज घर में शोभा भी नहीं है। रज्जन-रत्ना ने मिलते आयी मीसी के साथ ही वह चली गयी थी। घर और उजाड़ ही गया! वह जानती थी कि घर की क्या तसवीर होगी! जो पापा रज्जन को छोड़ने के लिए दहलीज तक भी नहीं आये थे, उनसे चारपाई छोड़ उठने की उम्मीद करना फिजूल की बात थी... और माँ? किसी अँधेरे कोने में चाराई ढाले पड़ी होंगी।

कीर्ति थक गयी थी। अच्छा हुआ कि आज शोभा भी नहीं थी। वह चाहती थी कि माँ या पापा किसी का भी सामना किये विना सीधे अपने कमरे में भागे और विस्तर पर टूट पड़े। उसने अँधेरा गलियारा पार भी कर लिया था, लेकिन पापा के कमरे से फूटने वाली रोशनी ने उसे तहसा चींका दिया।

गुजरते-गुजरते भी वह पापा के कमरे के पास ठहर गयी।

“कौन?” उसी समय भीतर मे पापा की आवाज आयी। कीर्ति भयभीत चोर की तरह दीवार से सटकर खड़ी हो गयी।

“कोई नहीं है,” एक ध्यान वाद इधर की आहट लेकर माँ ने आश्वस्त करते हुए कहा।

“अच्छा! मुझे लगा जैने कीर्ति आ गयी।”

सुनकर कीर्ति से बिलकुल रहा नहीं गया। कोई पाप होता है तो हुआ करे, नोचकर चलते-चलते ही सही, उसने कमरे में झाँककर देखा तो कई क्षण तक आशचर्य-चकित-सी देखती रह गयी—पापा ने वही कोट पहन रखा था, जिसे रज्जन के रहते उन्होंने छुआ भी नहीं था! सामने कांडिगन पहने माँ खड़ी थीं, और उन्हें कन्धों से पकड़े, कांडिगन के एक-एक हिस्से को अँगुलियों से टटोलते हुए पापा पूछ रहे थे, “इसका रंग कैसा है, नीला?”

नन्हों

“चिट्ठी !” डाकिये ने दरवाजे पर दस्तक दी तो नन्हों सहुआइन ने दाल की बटुली पर यों कलछी मारी जैसे सारा कम्भूर बटुली का ही है। हल्दी ने रेगे हाथ में कलछी पकड़े वे रसोई से बाहर आयीं और गुस्से के मारे जली-मुनीं, दो का एक डग मारतीं ड्यौड़ी के पास पहुँचीं।

“कौन है रे !” सहुआइन ने एक हाथ में कलछी पकड़े दूसरे से साँकल उतारकर दरवाजे से भाँका तो डाकिये को देखकर धक्के से पीछे हटीं और पल्लू से हल्दी का दाल बचाते, एक हाथ का धूंधट खींचकर दरवाजे की आड़ में छिपकली की तरह सिमट गयीं।

“अपने की चिट्ठी कहाँ ने आयगी, मुंशीजी, पता-ठिकाना ठीक से उचार लो, भूल-चूक होय गई होयगी,” वे धीरे-से फुसफुसायीं। पल्ले से केवल उनकी कनगुरिया दीख रही थी जो आशंका और घबराहट के कारण छिपकली की पूँछ की तरह ऐंठ रही थी।

“नहीं जी, कलकत्ता से किसी रामसुभग साहु ने भेजी है, पता-ठिकाना में कोई शलती नहीं...”

“रामसु...” अधकही बात को एक धूट में पीकर सहुआइन यों देखने लगीं जैसे पानी का धक्का लग गया हो। कनगुरिया का सिरा पल्ले में निश्चेष्ट कोल की तरह अङ्ग गया था।

“अपने की ही है मुंशीजी...”

मुंशीजी ने चिट्ठी आगे बढ़ायी, कनगुरिया फिर हिली, पतंगे की तरह फड़फड़ाती चिट्ठी को पंजे में दबोचकर नन्हों सहुआइन पीछे हटीं और दरवाजे को झटके से भेड़ लिया। आँगन के कोने में पानी रखने के चबूतरे के पास खड़ी होकर उन्होंने चिट्ठी को पढ़ा। रामसुभग आ रहा है, लिखा था चिट्ठी में। केवल तीन सतर की इवारत यी पूरी। पर नन्हों के लिए उसके एक-एक अक्षर को उचारने में पहाड़-सा समय लग गया जैसे। चबूतरे के पास कलसी के तीचे, पानी गिरने से जमीन नम हो गयी थी, जो के बीज गिरे थे जानें कव के। इकट्ठे एक में सटे हुए उज्ज्वल-हरे श्रृँखुवे फूटे थे। नन्हों सहुआइन एकटक उन्हें देखती रहीं बड़ी देर तक।

पाँच साल का समय कुछ कम तो नहीं होता। लम्बे-लम्बे पाँच साल। पूरे पाँच साल के बाद आज रामसुभग को भीजी की याद आयी है। पाँच साल में उमने एक बार भी कुशल-मंगल का हाल नहीं दिया। एक-बार भी नहीं पूछा ति भी जीती है कि मर गयी। जब अपना ही नहीं रहा हाल-चाल लेनेवाला, तो दूसरा कोन पूछता है किसे ?

नहीं सहुआइन ने चारपाई के पास से माची खींची और उस पर बैठ गयी। हल्दी-सनी औंगुलियों के निशान 'कार्ड' पर उभर आये थे— जैसे वह किसी के शादी-व्याह का न्यौता था। शादी-व्याह का ख्याल आते ही नहीं सहुआइन की आँखें चलवे मछली-सी चिलक उठीं। जाने कितनी बार सोचा है उन्होंने अपनी शादी के बारे में। कई दफे सोचा, इस दुखदायी बात को फिर कभी न सोचूँगी, जो भाग में न था उस पर पछतावा क्या? पर आँखत क्या जो अपनी शादी पर न सोचे और एक ऐसी ग्रीरत जिसकी शादी उसकी जिन्दगी का दस्तावेज बनाकर आयी हो, जिन्दगी सिफ़ उसकी गिरो ही नहीं बनी, उसने तो नहीं के समूचे जीवन को रेत-भरी परती की तरह बीरान कर दिया।

गाँव की सभी ग्रीरतों की तरह नहीं का भी व्याह हुआ। उसकी भी शादी में वही हुआ, जो सभी शादियों में होता है। वाजा-गाजा, हल्दी-सिन्धूर, भोज-उत्सव, हैसी-रुलाई—सब-कुछ वही।

एक बात में ज़रूर अन्तर था कि नहीं की शादी उसके मायके में नहीं, ससुराल में हुई। इस तरह की शादियाँ भी कोई नयी नहीं हैं। जो जिन्दगी के इस महत्वपूर्ण मौके को भी, उत्साह और इच्छा के बावजूद रंगीनियों से बांधने के उपकरण नहीं जुटा पाते वे वारात चढ़ाकर नहीं, डोला उतारकर शादी करते हैं। इसलिए नहीं की शादी भी डोला उतारकर ही हुई तो इसमें भी कोई सास बात तो नहीं हो गयी। नहीं का पति मिसरी-लाल एक पैर का लंगड़ा था, पैदाइशी लंगड़ा। उसका दायरा पैर जवानी में भी बच्चों की बाँह की तरह ही मुनायम और पतला था। डंडा टेककर फुदकता हुआ चलता। नाक-नक्शे में कोई बुरा नहीं था वैसे। काला चेहरा उभरी हुई हड्डियों की बजह से बहुत बीरान लगता। घर में किराने की दूकान होती, जिसमें खाने-पीने के जहरी सामानों के अलावा तम्बाकू, बीड़ी-सलाई और ज़रूरत की कुछ सविज़याँ भी विकतीं। अक्सर सविज़याँ वासी पड़ी रहतीं, क्योंकि अनाज से बरावर के भाव खरीदनेवाले अच्छे गृहस्थ भी मेहमान के आने पर ही इस तरह का सोदा किया करते।

मिसरीलाल की शादी पक्की हुई तो नहीं का बाप बड़ा खुश था, क्योंकि मिसरीलाल के नाम पर जो लड़का दिखाया गया वह शक्ल में अच्छा और चाल-चलन में काफ़ी दौड़ीन था। लम्बे-लम्बे उल्टे फेरे हुए बाल थे। रंग वैसे साँवला था, पर एक चिकनाई थी जो देखने में खूबसूरत लगती थी। इसीलिए लड़के बातों ने जब जोर दिया कि हमें वारात चढ़ाके शादी सहती नहीं, डोला उतारेंगे, तो धोड़ी-मीन-मेल के बाद नहीं का बाप भी तैयार हो गया क्योंकि इसमें उसका भी कम फ़ायदा न था। खर्च की काफ़ी बचत थी।

डोला आया, उसी दिन हल्दी-तेल की सारी रसमें बतौर टोटके के पूरी बी गयीं और उसी रात को वाजे-गाजे के बीच नहीं की शादी मिसरीलाल से हो गयी। बाजों की आवाजें हमेशा जैसी ही खुशी से भरी थीं, मण्डप की झंडियों और चौदोवे में हवा की खुशी-भरी हरकतें भी पूर्ववत् थीं, भाटिनों के मंगल-गीतों में राम और सीता के व्याह की वही पवित्रता गूंज रही थी, पर नहीं अपने हाथ-भर के धूंधट के नीचे आँसुओं को सुखाने बी बित्तनी कोशिश कर रही थी इसे किसी ने न देखा। एक भारी बदमूरत पत्थर

को गले में वाँधे वह वेदना और पीड़ा के अछोर समुद्र में उतार दी गयी, जहाँ से उसकी सिसकियों की आवाजें भी शायद ही सुनायी पड़तीं।

“कहो भौजी, बाबा ने देखा तो मुझको, पर शादी हुई मिसरी भैया की।” राम-सुभग ने दूसरे दिन कोने में बैठी नन्हों से मुसकराते हुए कहा, “अपना-अपना भाग है, ऐसी चाँद-सी वह पाने की किस्मत मेरी कहाँ है...” भौजी मजाक के लिए बनी है, पर ऐसे मजाक का भी क्या जवाब ? नन्हों की आँखों से भर-भर आँसू गिरने लगे जिन्हें वह पूरे चौबीस घंटे से लगातार रोके हुए थी। रामसुभग विलकुल घबरा गया, उसने दुःखी करने के लिए ही चोट की थी, पर घायल सदा पंख समेटे शिकारी के चरणों में ही नन्हों गिरता, कभी-कभी खन की वूँदे भर गिरती हैं और पंछी तीर को सीने में समाये ही उड़ता जाता है।

“ठीक कहा लाला तुमने, अपना-अपना भाग ही तो है...” नन्हों ने कहा और चुपचाप पलकों से आँसूओं की चट्टानों को ठेलती रही।

रामसुभग मिसरीलाल का ममेरा भाई है। अक्सर वह यहीं रहता, एक तो इस-लिए कि उसे अपना घर पसन्द न था। वाप सख्ती से काम कराता, और आनाकानी की तो बूढ़े वाप के साथ दूसरे भाइयों का मिला-जुला कोध उसके लिए वहुत भारी पड़ता। दूसरे मिसरीलाल का भी इरादा था कि वह अक्सर यहाँ आता-जाता रहे ताकि उसे दूकान के लिए सामान वर्गे रह खरीदवाने में आसानी पड़े। रामसुभग के लिए मिसरीलाल का घर अपना-जैसा ही था। उसने मिसरीलाल की शादी की बात सुनी तो वड़ा खुश हुआ था कि घर में एक औरत आ जायेगी, थोड़ी चूहल रहेगी और मुरव्वत में अक्सर जो उसे चूल्हा फूँकने का काम भी कर देना पड़ता, उससे फुसंत मिल जायेगी। पर नन्हों को देखकर रामसुभग को लगा कि कुछ ऐसा हो गया है जैसा कभी सोचा न था। नन्हों वह नहीं है जिसे मिसरीलाल की औरत के रूप में देखकर उसे कुछ अद्वन न मालूम हो। वह काफ़ी विश्वास के साथ आया था नन्हों से बात करने, उसे जता देने कि राम-सुभग भी कुछ कम नहीं है, मिसरीलाल का वड़ा आदर मिलता है उसे, यह घर जैसे उसी के सहारे टिका है, और भौजी के लिए रामसुभग-सा देवर भी कहाँ मिलेगा, और शादी के पहले तो नन्हों के बाप ने भी उसे ही देखा था... पर जाने क्या है नन्हों की उन झुकी हुई आँखों में कि रामसुभग सब भूल गया। चारपाई के नीचे बिछी रंगीन सुहागी चटाई पर पैरों को हाथ में लपेटे नन्हों बैठी थी गुड़ीमुड़ी, उसकी लम्बी वरीनियाँ वारिश में भीगे तितली के पैरों की तरह नम और विखरी थीं और वह एकटक कहीं देख रही थी। शायद मन के भीतर किसी वालियों से लदी फसल से ढँके लहराते हुए एक खेत को, जिसमें किसी ने अभी-अभी जलती हुई लुकाठी फेंक दी है।

रामसुभग बड़ी देर तक वैसे ही चुप बैठा रहा। वह कभी आँगन में देखता था, कभी मुड़ेर पर। वह चाहता था कि इस चूपी की नन्हों ही तोड़े, वही कुछ कहे, अपने मन से ही जो कहना ठीक समझे, क्योंकि उसके कहने से शायद बात कुछ ठीक बने, न बने, पर नन्हों तो कुछ बोलती ही नहीं।

त्याह के दूसरे दिन के रसम-रिवाज पूरे हो रहे थे, कमारी डाले में अक्षत-सिन्दूर लेकर गाँव की तमाम सतियों के चौरे पूज आयी थी, और सबसे मिसरीलाल की मृत माँ

की ओर मेर वर-वधु के लिए आशीर्वाद माँग आयी थी। रात-भर गाने से यकी हुई भाटिने अपने मोटे और भोंडे स्वरों में अब भी राम और सीता की जोड़ी को असीरे गा रही थीं। कुछ बच्चे-खुचे लोग एक तरफ बैठे खा रहे थे, पुरब-पत्तल इधर-उधर बिखरे पड़े थे।

“अच्छा भौजी...” रामसुभग इस मीन को और न भेल सका। चुपचाप उठकर आँगन में चला आया।

“व्यों बुब्रा, भौजी पसन्द आयी ?” एक मनचली भाटिन ने मोटी आवाज में पूछा।

“हाँ, हाँ, बहुत...” रामसुभग इस प्रश्न की चुभन को भाँप गया था। उसने मुसकराने की कोशिश की, पर गर्दन ऊपर न उठ सकी। वह चुपचाप सिर झुकाये दालान में जाकर मिसरीलाल के पास चारपाई पर बैठ गया। उस समय मिसरीलाल दो-एक नाते-रिश्ते के लोगों से बातें कर रहा था। पीले रंग की घोती उसके काले शरीर पर काफ़ी फव रही थी, पर उसके चेहरे की बीरानी में कोई अन्तर न था, खुशी उसके चेहरे पर ऐसी लग रही थी जैसे किसी ने मुर्चीली पिचकी हुई डिडिया में कपूर रख दिया है। उसके दाहिने हाथ का कंगन एक मरे हुए मकड़े की तरह फूल रहा था—जाने क्यों आज रामसुभग को मिसरीलाल बहुत बदसूरत लग रहा था, शादी के कपड़ों में कोई ऐसा भद्दा लगता है यह रामसुभग ने पहली बार देखा।

“सुभग,” मिसरीलाल ने बातचीत से निष्टकर, दालान में एवन्ट देखकर पूछा, “क्यों रे, भौजी कौसी लगी—सच कहना, अपनों से बया दुराच—गया था न, कुछ कह रही थी ?”

“नहीं तो,” रामसुभग ने कहा, “काफ़ी हँसमुख है, वैसे मायका छूटने पर तो सभी दुलहिने धोड़ी उदास रहती हैं।” मिसरीलाल अजीब तरीके से हँसा, ‘‘अरे वाह रे सुम्भु, तू तो भई दुलहिने पहचानने में बेजोड़ निकला, उदास क्यों लगती है भला वह ? किसी परिवार वाले घर में जाती, सास-जिठानियों की बौंस से कलेजा फट जाता, दिन-रात काँव-काँव, यहाँ तो बस दो परानी हैं, राज करना है, है कि नहीं ?” “हूँ”, रामसुभग गर्दन झुकाये चारपाई के नीचे देख रहा था, उसने वैसे ही हामी भर दी जैसे उसने पूरी बात सुनी ही न हो।

“मिसरी साह !” दरवाजे से कमारी ने पुकारा, “वावाजी बुला रहे हैं चौके पर, कंगन छूटने की साइत बीत रही है।” मिसरीलाल धीरे-ने उठा और फुदकता हुआ चौके पर जा बैठा। लाल चूनर में लपेटे, गुड़िया की तरह उठाकर नन्हों को कमारी ले आयी और उसने मिसरीलाल की बाल में बैठा दिया।

मिसरीलाल बी शादी हुए एक सतवारा बीत चुका था। इस बीच जाने कितनी बार रामसुभग नन्हों के पास बैठा। नन्हों के पास बैठने में उसे बड़ी सुटन महसूस होती, उसे हर बार लगता कि वह यानी से आ गया, उसका मन हर बार एक अजीब क़िस्म की उदासी ने भर जाता, वह सोचता कि अब उसके पास नहीं जाऊँगा, जो होना था सो हो गया, पर उन्होंने नहीं मानता। नन्हों ने इस बीच मुश्किल से उससे दो-चार बातें की होंगी। कभी यायद ही उसकी ओर देखा होगा, पर पता नहीं उन भुक्ती हुई बरानियों-

से घिरी आँखों में कैसा भाव है कि रामसुभग खिचा चला ग्राता है। वे आँखें उसे कभी नहीं देखतीं, कहों और देखती हैं, पर उनका इस तरह देखना रामसुभग के मन में आँधी की तरह धुमड़ उठता है। वह बार-बार सोचता है कि शायद नन्हों के बाप के सामने वह दूल्हा बनकर न खड़ा होता तो नन्हों आज यहाँ न होती। भुक्ती हुई पलकों से विनी इन आँखों की पीड़ा उसी की उपजायी हुई है। वही दोषी है, वही अपराधी है—रामसुभग इसीलिए नन्हों के पास जाने को विकल ही उठता है। पर पास पहुँचने पर यह विकलता कम नहीं होती। उसकी माँ ने वह को मुँहदेखाई देने के लिए दो रूपये भी आरे में उसे दे दे। वह बाजार से सिल्क का एक रुमाल भी खरीद लाया। रूपये उसी में वांध लिये। पर रुमाल हमेशा उसकी जेव में पढ़ा रहा, वह उसे नन्हों को दे न सका।

“क्यों लाला, इतने उदास क्यों हो ?” एक दिन पूछा था नन्हों ने, “यहाँ मन नहीं लगता, भाई-भीजाइयों की याद आती होगी…”

“नहीं तो, उदास क्याँ हूँ, तुम जो हो…” रामसुभग ने मुसकराते हुए कहा।

“मैं दूँ हाँ, मैं तो हूँ ही, पर लाला, मैं तो दुःख की साझीदार हूँ, सुख कहाँ है अपने पास, जो दूसरों को दूँ। उदासी में पली, उदासी में ही बढ़ी। जन्मी तो माँ मर गयी, बड़ी हुई तो बाप को बोझ बनी। मैं भला दूसरे की उदासी क्या दूर कर सकूँगी…”

“देखो भीजी…” रामसुभग ने पूरी समझदारी से कहा, “जो होना था वह हो गया… दिन-रात धूलते रहने से क्या फायदा… कुछ खुश रहा करो… थोड़ा हँसा करो…”

नन्हों मुसकराने लगी, “अच्छा लाला, तुम कहते हो तो खुश रहा करूँगी, हँसूँगी, पर बुरा न मानना बेबान के काम में थोड़ी देर लगती ही है।”

उस दिन रामसुभग बड़ा प्रसन्न था। सिर का भारी बोझ हट गया। जैसे किसी ने कलकते हुए काँटे को खींचकर निकाल दिया। नन्हों का मुसकराना भी अजब है, वह सोच रहा था। उदास रहेगी तब भी, मुसकरायेगी तब भी—हर हालत में जाने क्या है उसके चेहरे में जो रामसुभग का मन उचाट देता है। गाँव में धूमता रहे, बाजार से सौदा लाता रहे, लोगों के बीच में बैठकर गप्पे हाँकता रहे—नन्हों के चेहरे की सुध अति ही, एकरस सूत झटके से टूट जाता, सौधी सतह में लहरें बृत्ताकार धूमने लगतीं, सन्नाटे में जैसे मन्दिर के घंटे की अनुगूँज झनझना उठती…

चैती हवा में गर्मी बढ़ गयी थी। उसमें केवल नीम की सुत्रासित मंजरियों की गन्ध ही नहीं, एक नयी हरकत भी आ गयी थी… उसकी लपेट में सूखी पत्तियाँ, सूखे फूल, पक्की फ़सलों की टूटी बालियाँ तक उड़कर आँगन में विखर जातीं। दोपहर में खाना खाकर मिसरीलाल दालान में सो जाता, और रामसुभग बाजार गया होता, या कहाँ धूमने… नन्हों अपने घर में अकेली बैठी सूखे पत्तों का फडफड़ाना देखती रहती। उसके आँगन के पास भी खण्डहर में नीम का पेड़ था। ऐसे दिनों में जब नीम हरी निवीरियों से लद जाती, वह हेर-सी निवीरियाँ तोड़कर घर ले आती और उन्हें तोड़-तोड़कर उसके ताजे दूध से गालों पर तरह-तरह की तसबीरें बनाती… शीशे में ठीक ऐपत की पुतरी मालूम होती। रामलीला में देखा था, राम और सीता बननेवाले लड़कों

के गालों पर ऐसी ही तसवीरें बनायी थीं”

हवा का एक तेज झोंका आया, किवाड़ भटके से खड़खड़ाया, देखा, सामने रामसुभग खड़ा था मुसकराता हुआ।

“भीजी !” वह पास की चारपाई पर बैठ गया, “एक गिलास पानी पिला दो। बड़ी प्यास लगी है...”

“कहाँ गये थे हत्ती घूप में ?” नन्हों उठी और आँगन के कोने में चबूतरे पर रखी गगरी से पानी ढालकर ले आयी।

जाने क्या हो गया था उस दिन रामसुभग को कि उसने गिलास के साथ ही नन्हों की बाँह को दोनों हाथों से पकड़ लिया। एक भटके के साथ बाँह काँपी और साँप की तरह ऐंठकर सुभग के हाथों से छूट गयी—गिलास घब्ब की आवाज के साथ जमीन पर गिर पड़ा।

“सरम नहीं आती तुम्हें...!” नन्हों सौंपिन की तरह फुफकारती हुई थोली, “बड़े मद्द थे तो सबके सामने बाँह पकड़ी होती, तब तो स्वाँग किया था, दूसरे के एवज बने थे, सूरत दिखाकर ठगहारी की थी, अब दूसरे की बह का हाथ पकड़ते सरम नहीं आती...!”

“मैं...तो भीजी तुम्हें यह देने आया था...” रामसुभग ने रुमाल निकाला, जिसके त्वृत में दो रुपये बैंधे थे।

“क्या है यह ?” नन्हों ने गुस्से में ही पूछा।

“मुँहदेखाई के रुपये हैं। कई बार सोचा देने को, पर दे न सका।”

उसने रुमाल बहीं चारपाई पर रख दिया और लड़खड़ाता हुआ बाहर चला गया। सारा आँगन झूले की तरह डोल रहा था। गाँव की गलियाँ, दरवाजे जैसे उसकी ओर धूर रहे थे। उसी दिन वह अपने गाँव चला गया।

दो महीने बीत गये। रामसुभग का कोई समाचार न मिला। मिसरीलाल कभी उसकी चर्चा भी करता, तो नन्हों को चुप देख, एक-दो बातें चलाकर मौन हो जाता। दूकान के लिए सारी ज़रूरी चीजें रामसुभग ही खरीदकर लाता था। उसके न होने से मिसरीलाल को बहुत तकलीफ होती। किसी लद्दू-टटू या बैल वाले से सामान तो वह मँगवा लेता पर चीजें मन-माफिक नहीं मिलतीं, और उनके साथ वाजार जाकर चीजें खरीदने में उसे काफ़ी दिक्कत भी होती। दोपहर के बक्त, जबकि सूरज सिर पर तपता होता, लू में डड़े के सहारे टेकता, पसीने से लथपथ किसी तरह वह घर पहुँचता। इस तरह की आवाजाही में एक दिन उसे लू लग गयी और वह विस्तर पर गिर पड़ा। नन्हों ने आम के पने पिलाये, हाथों और पैरों में भूने आम की लुगदी भी लगायी, पर ताप कम न हग्या। पीड़ा के मारे वह छटपटाता रहा। नन्हों घर से निकलती न थी, किसी से मदद माँगना भी मुश्किल था। उसने कमारी को बुलाकर रामसुभग के गाँव भेजा। कहलाया कि बूछ सोचने-विचारने की ज़रूरत नहीं है, खबर मिलते ही जल्दी-से-जल्दी चले आँवे। तीन-चार घड़ी शत गये, रामसुभग मिसरीलाल के दरवाजे पर पहुँचा तो वहाँ काफ़ी भीड़ थी। भीतर ग्रीष्मों के रोने वीं चीत्कार गूंज रहीं थीं। बाहर मिसरी-

लाल का शब रखा था । नन्हों विवाह हो चुकी थी ।

रामसुभग मिसरीलाल के 'क्रिया-कर्म' में लगा रहा, नन्हों से कुछ कहने की उसे फुर्सत ही न मिली । कभी सामने नन्हों दिख भी गयी तो उसमें इतना साहस न हुआ कि सान्त्वना के दो शब्द भी कह सके । काँच की चूड़ियाँ भी क्रिस्मत का अजीब खेल खेला करती हैं । नन्हों जब इन्हें पहनना नहीं चाहती थी तब तो ये जबर्दस्ती उसके हाथ में पहनायी गयीं, और अब जब वह इन्हें उतारना नहीं चाहती, तो लोगों ने जबर्दस्ती हाथों से उतरवा दीं । कार-परोजन के घर में इतनी फुर्सत ही कहाँ थी कि नन्हों बैठे पाती, परन्तु कभी-कभी दोपहर में दो-एक घड़ी की फुर्सत मिलती तो वह अपनी उसी सुहानी चटाई पर बैठी हुई चुपचाप आँगन में देखा करती । रामसुभग उसके इस देखने के ढंग से इतना परेशान हो जाता कि काम-काज के बीच में ही नन्हों की वे तिरती आँखें उसके हृदय को बेधने लगतीं । आँगन में इधर-उधर आने-जाने में वह घबराता, कहीं नन्हों पर नज़र न पढ़ जाय, इसीलिए गाँव के दूसरे लोगों को काम सींपकर वह बाहर के कामों में सुवह से शाम तक जुता रहता । क्रिया-कर्म बीत जाने पर वह घर में कम ही बैठ पाता, अक्सर सौदा-सामान खरीदने वाजार निकल जाता या खाली रहा तो गाँव में किसी के दरवाजे पर बैठा दिन गुजार देता ।

कई महीने बीत गये, वरसात आयी और गयी । पानी सूख गया, बादलों का धिरना बन्द हो गया । बौछारों से टूटी-जर्जर दीवारों के धाव भर गये, नयी मिट्टी से सज-सँवरकर वे पहले-जैसी ही प्रसन्न मालूम होतीं । ऐसा लगता जैसे इन पर कभी बौछार की चोट पड़ी ही न हो, कभी इनके तन पर ठेस लगी ही न हो ।

उस दिन चमटोली में गादी लगी थी । कातिक की पूनो को हमेशा यह गादी लगती । बीच चौकी पर सतगुरु की तसवीर फूल-मालाओं से सजाकर रखी हुई थी । अगरवत्तियों के धुएँ से चमरीटी की गन्दी हवा भी खुशबूदार हो गयी थी । कीर्तन-मंडली बैठी हुई थी । गाँव की औरतें, धूड़े-बच्चे, इकट्ठे होकर भजन सुन रहे थे :

जड़ तुम वाँधे मोह फाँस हम प्रेम बन्धन तुम वाँधे

अपने छूटन की जतन करहु हम छूटे तुम अराधे

जो तुम गिरिधर तड हम मोरा

जो तुम चन्दा हम भये हैं चकोरा

माधव तुम तोरहु तो हम नार्हि तोरहि

तुम सों तोरि कवन सों जोरहि ?

काफी देर तक कीर्तन चलता रहा । नन्हों लौटी तो उसके मन में रेवास के धीत की पंक्तियाँ बार-बार गूंजती रहीं । 'जो तुम तोरहु तो हम नार्हि तोरहि...' वह धीरे-धीरे गुनगुना रही थी । दालान का दरवाजा रामसुभग ने बन्द कर रखा था । साँकल खटखटायी तो उसने ग्राकर दरवाजा खोला :

"इतनी रात को तुम्हारा इस तरह गली-गली धूमना टीक नहीं है, भौजी ..." जाने कहाँ का साहस आ गया था उसे । रामसुभग दरवाजा बन्द करते हुए बोला ।

"हूँ..." नन्हों ने और कुछ न कहा ।

“मैं तुम्हीं से कह रहा हूँ…”

नन्हों एक झटके के साथ घूमी। रामसुभग के चेहरे पर उसकी आँखें इस तरह टिकी थीं मानो वेघकर भीतर घुस जायेगी, “इतनी कलक होती है तो पहले ही व्याह कर लिया होता। इस तरह डॉट रहे हो लाला, जैसे मैं तुम्हारी जोरु हूँ। खबरदार, फिर कभी आँख दिखायी तो…!” रामसुभग माथा पकड़कर बैठ गया। गुस्से और रलानि के मारे उसका सारा बदन जल रहा था, पर मुँह से एक शब्द भी न निकला। उसने चादर खींचकर मुँह ढौँक लिया और भीतर-ही-भीतर उफनता-उबलता रहा।

और तब से पाँच बरस बीत गये। आज पहली बार रामसुभग की चिट्ठी आयी है कि वह कलकत्ता से गाँव आ रहा है। ये पाँच बरस जाने नन्हों ने कैसे बिताये हैं। रामसुभग उसी रात को लापता हो गया। रोते-रोते नन्हों की आँखें सूज गयीं। मेरा कोई न होगा, मैं अकेली रहने के लिए ही जन्मी हूँ। वह अपने को धिक्कारती, कलपती। कभी मन पूछता—पर इसमें मेरी बता गलती थी, मैं तो गादी देखने-भर चली गयी थी, कौन नहीं गयी थी वहाँ, मैंने बधा कर दिया था ऐसा। हाँ, गलती जल्दी ही। मैं बिधवा हूँ, उत्सव-तमाज़ा मेरे लिए नहीं है…”

“बवुआ नहीं हैं क्या ?” दूसरे दिन शाम को कमारी ने पूछा था, “देखो दुलहिन, मेरी बात मानो, सुभग से व्याह कर लो, तुम्हारी जात में यह मना भी नहीं है, कब तक ऐसे रहोगी…”

“चुप रह…!” नन्हों ने उसे बरज दिया था। दूसरे ही क्षण वह शरम से गड़ गयी थी। जाने क्यों लोग मन के छुपे राजा को भाँप लेते हैं। जिसे जितना छिपाओ, उसे उतनी ही जलदी लोग खींचकर सामने कर देते हैं।

“चुप तो रहूँगी दुलहिन, पर पछताओगी, ऐसा दूल्हा हाथ न आयेगा। वह जिन्दगी-भर तुम्हारे लिए कुंवारा नहीं बैठा रहेगा, ऐसा मौका हमेशा नहीं आता… तुम्हारे बाबूजी ने तो उसी को देखा था, मिसरीलाल से तो व्याह धोखे से हुआ…”

“मैं कहती हूँ चुप कर…!” नन्हों की आँखें डबडबा आयीं—“जिनकी जिन्दगानी में धोखा ही लिखा है, उसे कौन मेट सकता है !”

कमारी सक्रपकाकर चुप हो गयी। आँसुओं की धार सँभालना उसके बश के बाहर था। वह चुपचाप दरवाजा बन्द कर चली गयी।

“नन्हों चाची, नन्हों चाची !” दूकान से कोई लड़का चीख रहा था, नन्हों माची पर से उटी और दूकान की ओर लपककर चली।

“क्या है, रे ? क्यों चीख रहा है ऐसे ?”

“थे देखो, किसना बैर लेकर भाग रहा है…!” जन्मू ने हकलाते हुए कहा। वह ललचायी आँखों से लाल-लाल बेरों से भरी टोकरी को देख रहा था।

“अच्छा भाग रहा है तो भागने दे, तू भी ले और भाग यहाँ से, हल्ला मत मचाओ यहाँ…” लड़के जैवों में बैर भरे खिलखिलाते हुए बाहर चले गये। नन्हों ने दरवाजा बन्द कर लिया और रसोई में चली गयी।

कलकत्ता की गाड़ी शाम सात बजे के क्रीव आती थी। नन्हों आँगन में चारपाई डाले लेटी थी। फिलंगी चारपाई थी, मूँज की। पैरों में रेशों की चुभन अजीव क्रिम की लगती। हवा पहले-जैसी सर्द न थी। हल्की गर्मी...गुलाबी रंग की तरह हर झकोरे में समायी हुई थी। नन्हों के खुले हुए काले वाल सिरहाने की पाटी जैसी तक लटके हुए थे। वह चुपचाप नीले आसमान के तारों को देख रही थी। आँगन की पूर्वी दीवार की आड़ से शायद चाँद निकल रहा होगा, क्योंकि उजला-उजला ढेर-सा प्रकाश मुंडेर की छाजन पर मिट्टी की पटरियों से टकराकर चमक रहा था।

साँकल खड़की।

“भौजी !”

नन्हों ने दरवाजा खोला। सुभग था सामने। औंधेरे में वह उसे देखती रही।

“आ जाओ...” पंखुरियों के चिटकने जैसी आवाज सन्नाटे में उभरकर खो गयी। दोनों विलकुल खामोश थे। रामसुभग आँगन की चारपाई पर आकर बैठ गया। एक अजीव सन्नाटा दोनों को घेरकर बैठ गया था।

खा-पीकर रामसुभग जब सोने के लिए अपनी चारपाई पर गया, तो माची सींच-कर नन्हों उसके पास ही बैठ गयी।

“क्यों बाबू, बहुत दिनों के बाद सुध ली...” नन्हों ने ही बात शुह की, “बहुत दुखले हो गये हो, बीमार तो नहीं थे ?”

“नहीं तो...” रामसुभग बोला, “पाँच साल तक तो नुजाने की कोशिश करता रहा भौजी, पर मूलता नहीं। मैंने कई बार सोचा कि चलकर तुमसे माफ़ी माँग लूँ, पर हिम्मत न हुई। अबकी मैंने तय किया कि जो कहना है वह ही आऊँ। मैंने अनजाने में गलती कर दी, भौजी। मैं नहीं जानता था कि मेरी तनिक-सी गलती इतना बुरा फल देगी। मैंने जो कुछ किया मिसरी मैया की खुशी के लिए ही, पर कसूर तो है ही, चाहे वह जैसे भी मन से हो...” रामसुभग ने जैसी पर देखते हुए कहा, “मेरे कसूर को तुम ही माफ़ कर सकती हो...”

“कसूर कैसा लाला, तुम जिसे कसूर कहते हो वह मेरे भाग्य का फल था। तुम समझते हो कि बाबूजी को कुछ नहीं मालूम था। मालूम तो उन्हें तभी ही गया जब डोला भेजने की बात हुई। बिगड़ने वाली बात को सभी पहले से जान लेते हैं; जिनके पास बल है, उसे नहीं होने देते, जो कमज़ोर हैं उसे धोखा कहकर छिपाते हैं...बाबू को सब मालूम हो गया था, पर अच्छे घर-बर के लिए जो चाहिए वह बाबू कहाँ से लाते। इसमें तुम तो एक बहाना बन गये, तुम्हारा क्या कसूर है इसमें...” नन्हों ने आँखें पोंछ लीं। रामसुभग घेवकूँक की तरह आँखें फाड़कर औंधेरे में नन्हों को देख रहा था।

“अच्छा बाबू, थके हो, सोओ, सवेरे फिर बातें कर लूँगी...” नन्हों उठकर अपने बर में चली गयी।

रामसुभग तीन दिन तक रहा। तीन दिनों में शायद ही वह दो-एक बार गाँव में घूमने गया। दिन-रात नन्हों से बातें करना ही उसका काम था। दुनिया-भर की बातें, कलकत्ता की, बाप की, माँ की, भाइयों और भौजाइयों की। नन्हों रामसुभग को एकदम

बदली हुई लगती । उसकी आँखों में अब पहले-जैसी तीखी चमक नहीं थी, उसके स्थान पर ममता और स्नेह का जल भरा था । अब वह एकटक सुनसान कोने को नहीं देखती थी, पर वरीनियों में नमी अब भी पहले-जैसी ही थी । नन्हों को इस नये रूप में देखकर बुभय का मन नयी आशा से भरने लगा । तो क्या यह सच हो जायेगा—क्या भाग्य की गणना किर सही हो जायेगी ? पर नन्हों से कुछ कह पाना उसके लिए सदा ही कठिन रहा है । वह आज भी घिटली दो घटनाओं को भूला नहीं था, पर नन्हों भी तो ऐसी पहले न थी ।

आज नन्हों को फिर पुरानी बातें याद आ रही हैं । रैदास के गीत की वह पाँत जाने फिर वयों बार-बार याद आने लगी है ।

“जो तुम तोरहु तो हम नाहिं तीरहि, तुम सों तोरि कवन सों जोरहि ?”

वह खुश है, प्रसन्न है । पर रामसुभग को चैन नहीं । शायद चलने की बात करूँ तो वह कुछ खुलकर कहेगी । इसी आशा से उस दिन सुबह ही रामसुभग ने कहा, “भौजी, अब मैं गाँव जाऊंगा, आज रातवाली गाड़ी से ।”

“वयों वादू, मन नहीं लग रहा है ?”

“मन तो लग रहा है...पर...”

“अच्छा, ठीक है ।”

रामसुभग इस उत्तर से कुछ समझ न सका । वह मन मारे अपने कमरे में बैठा रहा । शायद चलते बक्त कुछ कहे, शायद फिर लौट आने के लिए आग्रह करे ।

शाम को अपना सामान बाँधकर जब सुभग तैयार हुआ, तो नन्हों प्रपने घर में से निकलकर आयी ।

“तैयारी हो गयी, लाला ?”

“हाँ ।”

नन्हों ने आँचल से हाथ निकाला और रामसुभग की ओर हाथ बढ़ाकर कहा, “यह तुम्हारा रूमाल है, लाला ।”

रामसुभग काठ की तरह निश्चेष्ट हो गया—“पर इसे तो मैंने मुँहदेखाई में दे दिया था, भाभी ।”

“वादू ने तुम्हारा मुँह देखकर मुझे अनदेखा सुहाग सोंपा था, तुम्हारी माँ ने उसी के अमर रहने के लिए रुपये दिये थे, आशीर्वाद में । बड़ों ने जो दिया उसे मैंने माये पर ले लिया । मैं कमज़ोर थी वादू, भाग्य से हार गयी । पर आज तो मैं अपने पैरों पर चढ़ी हूँ, आज मुझे तुम हारने मत दो । तुम्हारा रूमाल मेरे पाँव बाँध देता है लाला, इसी से लौटा रही हूँ, बुरा न मानना...”

रामसुभग ने धीरे-से रूमाल ले लिया । नन्हों उसका जाना भी देख न सकी । आँखें जल में तैर रही थीं । दीये की लौ जटामासी के फूल की तरह कई फाँकों में बैट गयीं । नन्हों ने किवाड़ तो बन्द कर लिया, पर साँकल न चढ़ा सकी ।

एक साथी ने उसकी परेशानी का कारण भाँप लिया था—“एंग नहीं उत्तरेगा, मास्टर। आओ, तेल में धो लो”—कहकर उस साथी ने उसे अपने माथ चंगे ग्राने का संकेत किया।

घटिया किस्म के कैरोसीन तेल में कुहनी-कुहनी हाथ डुबाकर दोनों ने अपने हाथों को मला। अब हथेलियों और वाँहों में लिपटी गारी चिकनी कानिम घूल गयी थी, परन्तु उसे लगा जैसे दोनों वाँहों में अदृश्य चीटियाँ रेंग रही थीं। कैरोसीन की गन्ध के कारण जी मिचला उठा। इस खीझ और गन्ध में गुकिन पाने के लिए बहुत नल की ओर चल दिया।

अन्तिम साइरन बज चुका था। पानी के प्रत्येक नल पर बीमियों का मरमर छिने हुए थे। कुछ लोग हाथों में साबुन मल रहे थे और ये प साबुन मल चूकने पर हाथों को पानी से धोने के लिए अपनी दारी की प्रतीका कर रहे थे। उसे देखकर सबकी अचूकी निगाहें उसकी ओर गयीं। एक-दो सजड़ों ते सौहाल्य प्रदर्शन के लिए छार्ने वाले आने से पहले ही उसे पानी लेने को बढ़ावा दिया। किंचिन् संकेत के बड़े उत्तरों पर बढ़कर पानी ले लिया। यह संकेत स्वाभावित था। अर्थात् उन्होंने उसे लेने का प्रयत्न करनेवालों को उत्ताहित करने की उच्छिति की जगह उन्होंने यह वह दो क्षण पहले विभिन्न स्वरों में सुन चुका था।

परन्तु उसे पानी लेते देखकर किसी ने आनंद नहीं की। ऐसा चार बड़े तरह धो लेने पर उसने उन्हें नाक तक ले जाकर ढूँढ़ा, निट्टी के हैन के सब उन्हें नहीं छूटी थी। दोबारा साबुन से धो लेने पर भी उने कैची ही गम्भीर दाढ़ान दूर किया। एक बार और उसने साबुन जेव रो निगालकर हाथों में नज़ारा घूल दर दिया।

धासी रस लेकर एक किसाना सुनाने लगा और मारा नमृद्ध अपनी लगातार दूर कर उसकी वात सुनता रहा।

एक गाँव के मेहतर की खोलिया भी। उसकी धारी हुई थार में। ऐसा दूर जानो—गाँव के मेहतरों को तो कभी भला रसाये की लकड़ता ही नहीं पहनी। नवीन शहर में गयी तो दिन-रात नाक खड़ा के लाले खड़ा से बहा करे—“वहातु धारी है, बड़ी धीरे लौंडिया भी काम पर आने लगी। रसाये रसाये रेशम लो धो। तहीं गमता था।” नवीन देखने आयी। रासते में ही हाथ में ५१३८ रसाये लिए देखी मिल गईं थीं। वह

लाड़ से वेटी के गले मिली और फिर नाक पर आंचल रख लिया ।

वेटी ने पूछा—“ऐ अम्मा, नाक-मुँह क्यों बन्द कर लिया ?”

माँ बोली—“वेटी, वद्वू आती है ।”

वेटी ग्रचम्भे से दोली—“कैसी वद्वू ? मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम देती ।”

नल के इंद-गिर्द घिरे हुए सभी का मगरों के थके उदास चेहरों पर भी उसकी चाँत सुनकर हँसी छिल गयी । धासी ने ही फिर वात को स्पष्ट किया—“ये भाई भी आभी हाथ नाक पे ले जाके सूंध रहे थे, तभी किस्सा याद आया । पहले-पहल हम भी ऐसे ही सूंधा करें थे । पर अब तो समुरा पता ही नहीं लगता । किसी बार तो सावुन नहीं मिलता, ऐसे ही पांच-पाँछ के रोटी खाने बैठ जाते हैं ।”

संकेत उसी की ओर था । परिहास के उत्तर में गम्भीर हो जाना उसे उचित न लगा । सभी की हँसी में उसने अपना योग भी दे दिया परन्तु धासी की बात पर उसे आश्चर्य हो रहा था । तेल की ऐसी तीखी दुर्गन्ध को सावुन से छुटाये विना आदमी भला कैसे चंन से रह सकेगा, इसका उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था ।

कपड़े बदलकर वह लाइन में जा लगा । इकहरी पंचित के प्रारम्भ में हेड-फोर-मैन के साथ एक गोरखा सिपाही खड़ा था । प्रत्येक मज़दूर अपना रोटी का डिव्वा खोल-कर उसे दिखाता थीं और किर दोनों हाथ ऊँचे उठाकर तलाशी देने की मुद्रा में खड़ा हो जाता । गोरखा सचंर मज़दूर की छाती, कमर और जेवों को टटोलकर आगे वढ़ जाने का संकेत कर देता । जल्दी घर पहुँचने की इच्छा रखनेवालों को पंचित की धीमी गति के कारण झुँभलाहट हो रही थी । इसी झुँभलाहट के कारण कभी-कभी लोग पंचित में अपने से आगेवाले व्यक्ति को ठेल देते । बीच-बीच में मोटा फोरमैन उनकी इस जल्द-वाजी का कोई भद्दा, अद्लील कारण बताकर हँस देता था । उसे फोरमैन का यह व्यक्तिर अच्छा नहीं लगा । परन्तु उसने सुना—पंचित में से ही कोई कह रहा था—“फोरमैनजी भी वड़े रँगीले आदमी हैं ।” सम्मति प्रकट करनेवाला एक अधेड़ उन्न का व्यक्ति था, जो अब भी कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से फोरमैन की ओर देख रहा था, कि जैसे फोरमैन से यह मजाक करके उन पर वड़ी कृपा कर दी हो ।

उसकी तलाशी देने की वारी आ गयी थी । ठिगने सिपाही ने अपनी एड़ी उठाकर वड़ी कठिनाई से उसकी तलाशी ली । सिपाही के इस आयास को देखकर उसदा भन हँसने को हुआ परन्तु मन पर यवसाद वी धुन्ध इतनी गहरी छा गयी थी कि वह हँस न सका । वड़े फाटक से पहले फिर इकहरी पंचित चन गयी थी । परन्तु इस बार पंचित के परले सिरे पर खड़ा हुआ सिपाही तलाशी नहीं ले रहा था बरन् वह यह देखने के लिए खड़ा था कि कोई भी व्यक्ति कठघरे में आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लाँधे विना न चला जाय । अन्य सभी मज़दूरों की भाँति वह भी आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लाँधकर बाहर चला आया । पीछे मुड़कर उसने फिर एक बार कठघरे की ओर देखा—लोग श्रव भी एक-एक कर कूदते हुए चले आ रहे थे । इस उछल-कूद का प्रयोजन वह नहीं समझ पाया । गेट से बाहर निकलकर उसने अनुभव किया, जैसे वह बन्द कोठरी से निकलकर खुली हवा में चला आया हो ।

“क्या आफकत वना रखी है !” अनायास ही उसके मुँह से निकल गया।

अनजान में ही कहे गये थे शब्द चलनेवाले एक बुजुर्ग के कानों तक पहुँच गये थे। उन्होंने धीरे-से अपनी राय प्रकट की, “नये आये लगते हो ? पहले-पहल ऐसा ही लगता है, धीरे-धीरे आदत पड़ जायेगी।” आकाश की ओर अँगुली उठाकर उन्होंने बात आगे बढ़ायी, “उस नीली छतरी वाले का घुक करो कि यहाँ काम मिल गया। अच्छे-भले पढ़े-लिखे लोग धबके खाते फिरते हैं, हमारे पड़ोस में एक लड़का...” बुजुर्ग अपने अनुभव की पोटली खोलकर बहुत-कुछ विवरना चाहते थे, लेकिन उसका मन उनकी बातों में नहीं लगा, कनखियों से उसने उनकी ओर देखा। उस ‘झपर वाले’ के अहसान का बोझ उठाते-उठाते ही जैसे उनकी कमर टेढ़ी हो गयी थी। वह चाल तेज़ कर आगे बढ़ गया।

रास्ते-भर उसके दिमाग में वही सब-कुछ घूमता रहा। धासी और उस बुजुर्ग आदमी की बात याद आने पर वह सोचने लगा, क्या सब ही एक दिन वह भी सब-कुछ सहने का आदी हो जायेगा और नीली छतरी वाले के अहसानों का बोझ उसकी कमर को भी बैंसे ही झुका देगा ?...

० ०

कारखाने में हर जगह बीड़ी का तूफान भचा हुआ था।

“अब्रे, हद हो गयी। साला बुधुवा सुलगती बीड़ी निगल गया।”

“निगली नहीं यार, दाँत के नीचे दबा रखी थी।”

“हम वहीं खड़े थे, भाई। साहब ने मुँह खुलवाया, मुँह में नहीं थी।”

“कमाल है—साले को सरकस में जाना चाहिए !”

चीफ साहब के आदेश पर सभी मजदूर एक स्थान पर एकत्रित हो गये थे। साहब के निकट ही बुद्धन सिर झुकाये खड़ा था। उपस्थित समूह को नसीहत देते हुए साहब ने चताया कि किस तरह उन्होंने पीछे से जाकर बुद्धन को कारखाने के अन्दर बीड़ी पीते हुए पकड़ा और किस चतुराई से उसने बीड़ी मुँह के अन्दर ही डालकर गायब करली थी।

साहब बोले, “कारखाने में इतनी क्रीमती चीजें पड़ी रहती हैं, किसी भी वक्त आग लग सकती है। एक आदमी की बजह से लाखों रुपये का नुकसान हो सकता है। हम ऐसी गलतियों पर कड़ी-से-कड़ी सजा दें सकते हैं।”

बुद्धन को कड़ी चेतावनी के साथ एक रुपये का दण्ड देने की साहब ने घोषणा कर दी, तभी भीड़ में से किसी ने ऊचे स्वर में कहा, “साहब, आग तो सभी की बीड़ी-सिगरेट से लग सकती है !”

सैकड़ों विस्मित आँखें उस और उठ गयीं जिधर से आवाज आयी थी। साहब कुछ कहे इसने पहले वही व्यक्ति बोला, “अफसर साहबान भी तो सारे कारखाने में मुँह में सिगरेट दावे घूमते रहते हैं !”

भीड़ में एक भयानक खामोशी छा गयी। इस मुँहजोर नये आदमी की उद्दण्डता देखकर साहब का मुँह तमतमा उठा। बड़ी कठिनाई से उनके मुँह से निकला, “ठीक है, हम देखेंगे।” और फिर जाते-जाते उन्होंने तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा जैसे

उसकी मुखाकृति को अच्छी तरह पहचान लेने का प्रयत्न कर रहे हों।

चीफ़ साहब अपने चैम्बर की ओर चल दिये। भीड़ छंट गयी। हवा में चारों ओर कानाफूसी के विचित्र स्वर फैलने लगे। बुद्धन की ओर से हटकर लोगों का ध्यान अब उसकी ओर केन्द्रित हो गया था।

उस दिन छूटी के बाद लौटते हुए दो-तीन नौजवान उसके साथ हो लिये। प्रत्यक्ष रूप में किसी ने भी बीड़ीबाली घटना को लेकर उसकी सराहना नहीं की, यद्यपि उनके व्यवहार और उनकी वातों से उसे लगा, जैसे उन्हें यह अच्छा लगा हो और वे उसके अधिक निकट आना चाहते हों। कठघरे से निकलकर एक नौजवान बुद्बुदाया, “सालों को शक रहता है कि हम टाँगों के साथ कुछ वाँध ले जा रहे हैं, इसीलिए अब यह उछल-कूद का खेल कराने लगे हैं।”

“इनका वथ चले तो ये गेट तक हमारी नागा साधुओं की वरात बनाकर भेजा करें।” दूसरे ने उसकी वात का समर्थन किया।

“खीर खाये वामणी, फाँसी चढ़े शेख, नहीं देखा तो यहाँ आकर देख ! छोटे साहब की गाड़ी के पिस्टन अन्दर बदले गये हैं, खुद मैंने अपनी आँखों से देखा।” पहले वाले ने आवेश में आकर कहा।

“चुप !” दूसरे नौजवान ने फुसफुसाकर उसे टोक दिया, “टेलीफोन जा रहा है !”

एक चुस्त-चालाक आदमी उनके साथ-साथ चलने लगा था, तभी दोनों जवानों ने अपनी बीवियों के बारे में वातें शुरू कर दीं।

○ ○

जिस वात की उसे आशंका थी वही हुआ। शायद रात की सारी रिपोर्ट चीफ़ साहब के पास पहुँच गयी थी। चपरासी ने साहब के कमरे का द्वार खोलकर उसे उनके सामने पहुँचा दिया, फिर द्वार पूर्ववत् बन्द हो गया। साहब ने अपने हाथों से स्टूल उठाकर उसके बैठने के लिए आगे बढ़ा दिया और नर्मी से बोले, “हम तुम्हारी भलाई के लिए ही कह रहे हैं। जमाना बुरा है। वाल-वच्चोंवाले आदमी को ऐसी वातों में नहीं पड़ना चाहिए।”

अपनी वात की प्रतिक्रिया जानने के लिए साहब ने उसकी ओर देखा। उनके हाथ भेज पर विछेकपड़े की सलवटों को सहलाने में व्यस्त थे। साहब की ओर देखकर इस प्रश्न का उत्तर उनकी आँखों में ही झाँक पाने का उसका मन हुआ, परन्तु काले चश्मे के अपारदर्शी शीशों के पीछे छिपी आँखों के स्थान पर केवल अंधकार धिरा हुआ था।

‘ऐसा कोई खतरनाक काम तो मैंने नहीं किया, साव !’ उसने पेपरवेट के फूलों पर अपनी नजर जमाकर उत्तर दिया।

“हम जानते हैं, सब-कुछ जानते हैं। कल रात तुम्हारे घर पर मीटिंग हुई थी या नहीं ?” मानसिक उत्तेजना के कारण साहब दोनों हाथों की अँगुलियों को आपस में उलझाते हुए बोले।

‘दो चार यार-दोस्त बैठने के लिए आ जायें तो उसे मीटिंग कौन कहेगा, साव ?’

उसने बात का महत्व कम करने की कोशिश में मुसकराने का अभिनय किया।

“सुनो जवान ! यार-दोस्तों की महफिल में गप्पे होती है, ताकि मैंने जाते हैं, शराब पी जाती है, स्कीमें नहीं बनतीं !” इस बार स्वर कुछ अधिक सधा हुआ था।

“साहब, लोगों को यकान की परेशानी है, छुट्टियों का ठीक हिसाब नहीं, छोटी-छोटी बातों पर जुर्माना हो जाता है, यही बातें आपसे अर्ज करनी थीं। यही वही भी सोच रहे थे !” स्वर में दीनता थी परन्तु साहब के चेहरे पर टिकी हुई उसकी तीरी दृष्टि अनजान में ही जैसे इस अभिनय को झुठला रही थी।

“मैं कौन होता हूँ, जो तुम लोग मुझसे यह कहने के लिए आते हो ? मैं भी तो भाई, तुम्हीं लोगों की तरह एक छोटा-मोटा नौकर हूँ।” अपनी दोनों हथेलियों को मेज पर फैलाकर साहब ने कृत्रिम मुसकान का क्रूण लौटा दिया और अपनी कुर्सी पर अधिक आश्वस्त होकर बैठ गये।

उनके सामने बैठे व्यक्ति को यह समझौता स्वीकार न हुआ। कृपिभाना के आवरण को पूरी तरह उतारकर दृढ़ स्वर में वह बोला, “तो जो भी हमारी बात मुझमा उसी से कहेंगे, साव !”

एकाएक साहब बीखलाकर कुर्सी पर उछल पड़े, “तुम लोग बाहर की पार्टियों के एजेन्ट हो, ऐसे लोग ही हड्डताल करवाते हैं। मैं एक-एक की सीधा कर दूँगा। मैं जानता हूँ तुम्हारे गुट में कौन-कौन हैं। आइन्दा ऐसी बातें मैं नहीं सुनता चाहता !”

वह चीफ के कमरे से निकलकर अपने काम पर लौटा तो मिस्ट्री पास दिठाकर समझाने लगा, “इस दुनिया में सबसे मेल-जोल रखकर चलना पड़ता है। नदी-दिनारे की घास पानी के साथ थोड़ा झुक लेती है और फिर उठ जाती है, नेपिन दण्ड-बढ़े पेढ़ धार के सामने अड़ते हैं और टूट जाते हैं। साहब ने तुम्हारी बदली कामिन्दर टैक पर कर दी है। बड़ा सख्त काम है, अब भी साहब को खुश कर सको तो बदली न कर मदहोश है।”

उत्तर में उसने कुछ नहीं कहा, उठकर कास्टिक टैक पर चला गया। टैक पर काम करनेवाले पुराने मज़दूरों ने उसे देखकर भी अनदेखा कर दिया। उसे पैन मगा कि जैसे वे लोग जान-वूभकर उससे पृथक् रहने का प्रयत्न कर रहे हैं। पुराने वैट घौंस-लगे हुए सामान को कास्टिक में धोया जा रहा था। आगे बढ़कर उसने भी जन्मी दी तरह काम शुरू कर दिया। शाम तक काम का यही अम चलदा रहा। घर नौटंकी उसने अनुभव किया—हाथ-पैर में विचित्र प्रकार की जलन ही नहीं थी।

घर पहुँचते-पहुँचते अंधेरा घिर गया था; हाथ-मुँह धोकर उसने जल्दी-जल्दी खाना खाया और फिर बच्चे को लेकर आँगन में भिरंगी चानपाई दर द्या देता। नीम अत्यधिक उदास हो आयी थी। बच्चे ने कुछ देरतक उसने नैनते ला प्रदनिया, नैनिन पिता की ओर ने विशेष प्रीत्साहन न पाने पर वह कब सौ के दाम चला गया, उसका व्यान न रहा। जिनकी उसे प्रतीक्षा थी उसमें न कोई भी न आदा था, नैनत हरीन आकर अब तक दोनों दीलियाँ फूँक ली थीं। हरीगम ली और न ही दीलीन वातचीत शुरू करने का प्रयत्न किया जा चला था। नैनिन उमदे इटट।

प्रेत-मुक्ति

आधी नदी पार कर चुके थे, कि जलांजलि छोड़ने के लिए पूर्वाभिमुख होते ही सूर्य और आँखों के मध्य धूमकेतु-सा दिखायी दे गया। पूरी आँखें खोलने पर देखा कि उत्तर की ओर जो चूदों का इमशान देवगढ़ है, वहीं से धुआँ ऊपर उठ रहा है और हवा के प्रवाह की दिशा में धनुपाकार झुककर, सूर्य के समानान्तर धूमकेतु की तरह लटक गया है।

ओम् विष्णुविष्णुविष्णु…

पाण्डेजी के घुटने पानी के अन्दर आपस में टकरा गये और अंजलि में भरा जल ढीली पड़ी हुई अँगुलियों से रीत गया। कहीं अचेतन मन से एक आशंका तेजी से उठी, कि 'कहीं किसनराम ही तो नहीं मर गया है?' और पाण्डेजी के घुटने फिर यथरथा गये और उन्हें लगा कि उनके ओर सूर्य के बीच में धूमकेतु नहीं, बल्कि उनके हत्तिया किसनराम की आत्मा प्रेत की तरह लटकी हुई है। गले में झूलता यज्ञोपवीत, माथे में । हुम्रा श्रीखण्ड-तिलक और आत्मा का जातीय संस्कार वार-वार अनुभव करा रहा था कि ऊपर इमशान से अछूत केशव की यस्ति-मज्जा को बहाकर लाती हुई सुंयाल नदी का निपिछ जल उनके पाँवों से टकरा रहा है। हो सकता है, ऊपर से अधजला मुर्दा ही नीचे को बहा दिया जाये और वही पाँवों से टकरा जाये, लिपट जाये ।

नदी पार करके गाँव की ओर बढ़ने की जगह, पांडेजी तेजी से इस पार ही लौट आये। उन्हें लगा था कि आगे की ओर पानी चीर सकने की सामर्थ्य उनके धूटनों में नहीं रह गयी है। धुआँ देखने से पहले भी, आधी नदी पार करने में न जाने इतने आकस्मिक रूप से क्यों किसनराम की याद आयी थी कि उन्हें लगा था कि वे नदी के पाट को अपने पाँव से ठीक बैसे ही चीर रहे हैं, जैसे किसनराम हल की फाल से खेत की मिट्टी को चीरता है। अब भी विना किसी प्रत्यक्ष कारण के ही, आँखिर क्यों उनकी कत्पना के आकाश में आशंका का यह धूम नेतु एकाएक उत्तर आया है, कि किसनराम ही मर गया होगा और उसी का शब जलाया जा रहा होगा? हो सकता है, चिता न जल रही हो, नदी के किनारे मछली मारनेवालों ने ही आग जला रखी हो ।

पांडेजी का मन हुआ किनारे का जल हाथ में लेकर उसे सुधें कि उससे शब-दाह की गन्ध फूट रही है या नहीं। उन्हें याद आया कि जब कभी हल जोतते-जोतते चैल थाम-कर, किसनराम उनके समीप आ जाता था मुर्ती भाँगने को, तो उसके मैले कपड़ों से ठीक बैसी ही तीखी गन्ध फूटती लगती थी, जैसी सुर्ती वी गाँठ तोड़ते हुए फैलती है। कहीं ऐसा

न हो कि पानी से भी वैसी ही तीखी गन्ध फूट आये...अपनी अजीब-अजीब कल्पनाओं पर पांडेजी को हँसी आने लगी। किसनराम की बातों को लेकर जो कमज़ोरी उनके मन में है, जोँदृढ़ उनके अचेतन में चलता रहा है, उसके इस मृत्यु की आशंका से जुँड़ जाने के कारण ही मन अपनी स्वाभाविक स्थिति खो बैठा है, ऐसा उन्हें लगा तो वह किनारे-किनारे चलने लगे। देवगढ़ लगभग एक मील दूर था वहाँ से। खुले मैदान की मुरमुरी मिट्टी में रेंगती हुई गर्मवर्ती नाशिन-जैसी पहाड़न सुंयाल उल्टी दिशा को लौटती अनुभव हो रही थी। चन्द्रमा की तरह सीधी किरणों के पानी की सतह पर हवा से काँपने की स्थिति में, नदी भी अपने साथ चलती लगती है। ऐसे में हो सकता है, किसनराम का अधजला शब इसी बीच वहा दिया गया हो, तो वह भी पाण्डेजी के ही साथ उत्तर की ओर लौटने लगे? सामने ही एक गहरा ताल दिखायी दिया, तो लगा कि कहीं ऐसा न हो कि शब यहाँ तक वह आया हो और मछलियाँ उसे नोंच रही हों? एक बार गहराई तक उस ताल में झाँककर पांडेजी और भी तेजी से चलने लगे, ताकि आशंकाओं का समाधान हो जाये, तो मन की इस विश्रान्ति से मुक्ति मिले।

००

केवलानन्द पांडेजी और किसनराम की उम्र में विशेष फर्क नहीं था। शायद, दो-तीन वर्ष बड़ा हो किसनराम। मगर पांडेजी की तुलना में, किसनराम बहुत जल्दी ही बूढ़ा दिखने लग गया था। वचपनवाँ वर्ष पार करते हुए भी पाण्डेजी के गौर-प्रशस्त ललाट में श्रीखण्ड का तिलक रेखाओं में नहीं ढूबता था, मगर किसनराम की कमर झुक गयी थी। केवल पांडे ने वचपन से ही किसनराम को देखा था। किसनराम के पिता की तीन पत्नियाँ थीं और वहुत बड़ा परिवार था। खाने-पहनने को पूरा पड़ता नहीं था, मगर परिश्रम का बोझ दिन-रात कल्यां पर लदा रहता था। पांडेजी को याद नहीं पड़ता कि कभी उन्होंने किसनराम में किशोरावस्था की चंचलता या जवानी के उदाम आवेग को उसके चेहरे या उसकी आँखों से फूटता हुआ देखा हो। जब भी देखा, हल या हथौड़े-हँसिये की मूठ थामे काम में जुटा हुआ देखा।

किशोरावस्था गाँव में गुजारकर, मिडिल पास करके, पांडेजी पहले मामा के यहाँ नैनीताल और फिर वहाँ से अपनी वारदत्ता के पिता के पास जाकर बनारस पढ़ने चले गये थे। नैनीताल से हाईस्कूल, बनारस से शास्त्री करके, पाण्डेजी फिर घर ही लौट आये थे। छोटे भाई सब पढ़ रहे थे और पिताजी अत्यन्त बृद्ध हो चुके थे। यजमानी बहुत बड़ी थी, उसे सेंभालना आर्थिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक था।

घर लौटने पर पांडेजी को पता चला था किसनराम से ही कि इस बीच उसकी माँ मर गयी थी और वह भी अपने मामा के यहाँ चला गया था। मामा लोहार था, मगर किसनराम सिर्फ़ किसानी या ओढ़गिरी जानता था और गरम लोहा पीटने में अपने दायें हाथ की अँगुलियाँ पिटवा बैठा था। हाथ बेकार हो गया था, तो मामा ने भी दुरा दिया था और वहाँ से पत्नी को लिये-लिये ससुराल चला गया था, तो ससुर-सालों ने भी उसकी घरवाली को तो रोक लिया और उसे विदा कर दिया।

दायें हाथ की तीन अँगुलियाँ गिर गयी थीं, शेष दो से सोटा और बायें हाथ से

हल की मूठ पकड़कर वैलों को ऊँची हाँक लगाते हुए किसनराम की आवाज पाने गाँव की सीमा में पहुँचते ही सुनी थी और जब रास्ते में ही किसनराम के पास कर उसका दुख-मुख पूछ लिया था, तो लगा था, जैसे किसनराम अपनी सारी उन्हीं की प्रतीक्षा में अपनी छाती में दबाये हुए था। क्योंकि जिस तरह धीरे-धीरे उआँखें भरती चली आयी थीं, उससे लगता था कि वहुत गहरे दबायी हुई व्यथा : उठ रही है—जैसे वाँध वाँधकर ऊपर की ओर उठाया हुआ पानी धीरे-धीरे आगे चल है। किसनराम को रोते हुए देखने का यह पहला अवसरथा, अन्यथा उसकी खुशक इमें एक दीन मुसकराहट ही उन्होंने सर्व देखी थी और कठोर परिश्रम के कारण पाने लघवपथ उसकी देह देखने से ही यह अनुभूति हो पाती थी कि उसके सारे आँहे ही शरीर के जोड़-जोड़ से नितर जाते हैं... और पाण्डेजी को तब भी विचित्र-सी कल हो आती थी, कि किसनराम अभिशप्त इन्द्र है, और उसकी सारी देह में आँखें-हीं-फूट आयी हैं। पसीना भी वह कुछ इतने जतन से पोंछता था, कि लगता था कि, गपर से नितरते हुए आँमू पोंछ रहा है। और एकटक उसकी ओर देखते रहने पर में खारा-खारा स्वाद उभड़ने लगता था।

लेकिन तब तक सुर्ती की गाँठ तोड़ने की जैसी तीखी गत्व उसके कपड़ों से आती थी। बनारस से लौट आने के बाद, केवल पांडेजी ने देखा था, कि उम्र में होने पर भी उनके गौर-बलिष्ठ और खुले हुए शरीर की तुलना में किसनराम ऐसा लगा, जैसे इतने वर्षों के बीच प्रकृति ने उस लोहे को गरम करके, उसके दुर्भाग्य की चाप से पीट-पीटकर थोड़ा-बहुत फैला दिया है, बस। पांडेजी को बार-बार वह अनोखा दिया आता था, जब चौदह वर्ष की उम्र में ही शादी हो जाने के बाद, किसनराम दुर के लिए अपनी पत्नी को उसके मायके ले जा रहा था और वे मिडिल स्कूल से लौट थे। छोटी-सी, ठिगनी-साँवली लड़की बीड़ी पीते हुए उसके पीछे-पीछे चली जा रही थी और जब किसनराम ने 'महाराज' कहकर पांडेजी को प्रणाम किया था तो उजलदी में बीड़ी को अपनी हथेली में ही घिस लिया था और फिर रो पड़ी थी।

पांडेजी को हँसी आ गयी थी। किसनराम भी हँस पड़ा था, "गुसाईं, हमा कौम में तो सारे करम-काण्ड बचपन में ही सीख लेती हैं छोरियाँ।" और आरि शरमाते-शरमाते पूछने लगा था, कि शास्तरों के अनुसार किस उम्र तक आपस में व्यक्ति-निपिद्ध है।

'शास्तर' का उच्चारण करने में किसनराम का कण्ठ कुछ थरथरा गया था पांडेजी बचपन से ही तीव्र बुद्धि के थे, समझ गये कि किन्हीं सयानों की बात को गवाये हुए हैं। किसनराम के भोले-निश्चल स्वभाव के प्रति उन्हें शुरू से ही आत्मीयत सी थी और यह कहते-कहते, उस दिन उन्होंने भी किसनराम की घरवाली को देख लिया कि, "प्ररे, यार किसनराम ! अभी तो खुद मैंने ही कोई शास्त्र नहीं पढ़ा है पिताजी काशी भेजने वाले हैं, संकृत पढ़ने। दस-बारह वर्ष बाद लौटने पर तु बताऊँगा कि शास्त्रों में व्या लिखा है।"

कई वर्षों के बाद एक बार छुट्टियों में घर लौटे थे कुछ दिनों को, तो उन्होंने

किसनराम से पूछा कि, “किसन, कोई सन्तान हुई या नहीं ?” और किसनराम के उत्तर से उन्हें लगा था कि जैसे वह उसी दिन की प्रतीक्षा में है अभी, जबकि पाण्डेजी उसे शास्त्रों में लिखा उत्तर बताएंगे ।

काशी से शास्त्री करके लौट आने के बाद भी, उनका मन वही प्रश्न पूछने की हो रहा था कि किसनराम की दुःखान्त गाथा से मन भर आया था……और उन्होंने अनुभव निया था, कि इस बार अवज्ञे प्यार को अपनी हयेली पर धिस लेने की जगह, किसनराम की घरवाली ने उसके कलेजे के साथ धिसकर उसे बुझा दिया है……और उन्हें लगा था कि किसनराम के प्रति उनकी इस संवेदनशील-कल्पना पर उसकी घरवाली उस दिन की तरह रो नहीं रही, बल्कि खिलखिला रही है ।

○ ○

वचपत वीतते-वीतते ही शादी हो गयी थी और जवान होते-होते सम्बन्ध टूट गया था । उन दिनों किसनराम अकेला ही रहता था । उसके पिता के मना करने के बावजूद, पाण्डेजी के पिताजी ने किसनराम को ही अपना हलिया रख लिया था । हलिया रख लेने के बाद खुद उन्होंने तथा पाण्डेजी की माँ ने किसनराम से कहा था कि, “किसनराम, पहली तो डाल पर बैठी हुई जैसी कुर्र उड़ गयी, अब तू क्यों उसके लिए जोग घारण कर रहा है ? अरे, तू व्याह कर लेता तो हमारी छेती भी कुछ और ज्यादा सँभलती । विना जोड़ी का बैल तक नहीं खिलता, रे ! तू तो हलिया हूं । नहीं करता दूसरा व्याह, तो पहली को ही लौटा ला ।”

किसनराम जानता था, कि एक तो विन घरवाली का हलिया वैसे ही पूरा श्रम नहीं कर पाता गुसाइयों के बेत में, उस पर उसका दायाँ हाथ पूरा नहीं लगता है । उसने एक दिन हाथ जोड़कर अपनी अनुपयोगिता को स्वीकार लिया था और अपने सौतेले भाइयों में से किसी को रख लेने को कह दिया था, “बौराणज्यू, मैं अभागा तो हाथ से झड़ी लोध ही नहीं लौट पाया, कलेजे से झड़ी हुई लोध कैसे लौटा पाऊँगा ?”

और उन दिनों गाँव-भर में यह बात केल गयी थी कि सायानी श्रीरत का माँ का मन भी कैसा कोमल होता है । खुद कुसुमावती वहूरानीजी ने ही अपने हाथों से किसनराम के अर्णसू पोंछ दिये थे । केवल पाण्डेजी के पूछने पर ही कुसुमावती वहूरानीजी की अर्णखें फिर गीली हो ग्रायी थीं । बोली थीं, “हिया-हिया सभी कातो एक होता है, केवल ! मैंने अर्णसू पोंछे, तो मेरे पाँव के पास की मिट्टी उठाकर कपाल से लगाते हुए बोला, ‘बौराणज्यू, पारसमणि ने लौहे का तसला छू दिया है, मेरे जन्म-जन्म के पापों का तारण हो गया है ।’ शूद्र कुल में जनमा है, मगर बड़ा मोह, बड़ा चैराम्प है किसनिया छोरे में ।”

पाण्डेजी भी अनुभव कर रहे थे, कि कहीं पहली पत्नी के प्रति किसनराम में बहुत बड़ा मोह था और इसलिए इतना गहरा विराग भी है ।

मगर उन दिनों हफ्ते-हफ्ते किसनराम अपने कपड़े भी धो लेता था । भोजन भी नित्य समय पर कर लेता था । खेतों में काम होता तो पाण्डेजी के घर से ही रोटियाँ जानी थीं और विन म्रनापूर्वक किसनराम केवल पाण्डेजी की पत्नी से कह देता था कि, “बौराणज्यू, रोटियाँ मुझे टैम से ही देना ।”

एक दिन, खेत जोतने से निवटकर, किसनराम सुंयाल के किनारे कपड़े धो रहा था। लैंगोटी पहनकर, बैप कपड़े सूखने डाल रखे थे। यजमानी से लौटते हुए पाण्डेजी आये थे, तो उनके नदी पार करते समय पानी से अलग हट गया था कि उसके पाँचों का छुआ जल उन्हें न लगे। पाण्डेजी ने यजमानी से मिली हुई मिठाई में से कुछ मिठाई उसे दी थी और कहा था, “किसन, अच्छा नहीं किया भवानी ने। नहीं तो, तुझे यहने हाथों से खाना पकाने और कपड़ा बोने से मुक्ति मिलती।”

किसनराम के हाथ जुड़ आये थे और होंठों पर हलकी-सी हँसी, “महाराज, जिस दिन बड़ी बौराणज्यू की सोने की ढड़ी जैसी अँगुलियों की ममता पा ली मेरी आँखों ने, उस दिन से कलेजे की जलन से कुछ मुक्ति मिल गयी है, इतना ही बहुत है।”

और यों ही वर्षों बीत गये थे। धीरे-धीरे किसनराम की कमर भी भुकने लगी थी, मगर उसने हल नहीं छोड़ा था। और जब तक वह हल नहीं छोड़े, तब तक हलिया न बदला जाये, केवल पाण्डे इसका निर्णय कर चुके थे। जब्रत पड़ने पर रोजाना मजदूरी देकर खेत जुतवा लिये जाते थे, लेकिन किसनराम को कोई नहीं टोकता था। केवल पाण्डेजी की पत्नी चन्द्रा वहूरानी भी अपनी सास की-सी ही सहानुभूति उसके प्रति रखती थीं और, कभी-कभी, किसनराम कह देता था कि बड़ी वहूरानीजी की तो देह-ही-देह गयी है, आत्मा तो छोटी वहूरानीजी में समा गयी है...“और ऐसा कहने के बाद, वहूधा, वह पाण्डेजी से आत्मा के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगता था कि, ‘महाराज, आस्तगें में तो आत्मा-परमात्मा के ही मन्त्र लिखे हुए रहते हैं न? आपके चरणों का सेवक ठहरा, दो-चार मन्त्र मेरे ग्रपवित्तर कानों में भी पड़ जायें, तो मेरी आत्मा का मैल भी छूँट जाये। कथा करूँ, गुसाई! धास खाने वाले पशु वैल नहीं हुए, अनाज खाने वाला पशु किसनराम ही हो गया...’महाराज, मरने के बाद आत्मा कहीं परलोक को चली जाती है या इसी लोक में भटकती रह जाती है?”

चीरासी लाख योनियों से भी इतर एक योनि और प्रेतात्मा-योनि होती है, यह जानने के बाद से किसनराम और भी श्रविक जिज्ञासु हो गया था कि आत्मा की इच्छा न होने पर भी क्या देह-मात्र की इच्छा से भी प्रेत-योनि मिल सकती है?

जब यजमानी में नहीं जाना होता था, तो पाण्डेजी खेतों में चले जाते थे। उन्हें इस बात का बोध भी था कि जब चन्द्रा वहूरानी खेतों में होती हैं, तो किसनराम एकदम दत्तचित्त होकर, काम करता रहता है। मगर जब पाण्डेजी खुद होते हैं, तो बार-बार सुर्ती मार्गने के बहाने उनसे तरह-तरह की बातें पूछने लगता है। फिर भी, पाण्डेजी किसनराम के प्रति कठोर नहीं हो पाते थे। जैसी वहकी-वहकी बातें वह इन दिनों करता था, उससे लगता था कि किसनराम की चेतनाएँ बहुत जल्दी-जल्दी अन्तर्मुखी होती जा रही हैं। उसकी खुश्क आँखें इतनी धैर से गयी थीं अन्दर कि मरने के बाद तालाब में डूबी हुई मछली-जैसी कोई चीज उनमें चमकती लगती थी और पाण्डेजी को लगने लगा था कि यह उसकी मृत्यु का पूर्वाभास है।

ओरत-सन्तानहीन लोगों की इस लोक से मुक्ति नहीं हो पाती है और वे रात-रात-भर मशालें हाय में लिये, अपने लिये पत्नी और सन्तति खोजने की तृष्णा लिये,

कायाहीन प्रेत-रूप में भटकते रहते हैं—ऐसा कभी पाण्डेजी ने ही उसे दताया था। साथ ही यह भी दताया था कि उच्च जाति के लोग जो प्रेत-योनि में ज्यादा नहीं जाते हैं, श्रीरत्न-सन्तति से वंचित रहने पर भी, उसका कारण यह है कि उसकी सद्गति शास्त्रोक्त-पद्धति से हो जाती है। और, यह सब-कुछ जानने के बाद से, किसनराम निरन्तर उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछता रहता था।

अभी कुछ ही दिन पहले उसने फिर पूछा था कि खुद प्रेत-योनि में भटका जाये या कि जिस पर तृष्णा रह गयी हो, उस पर प्रेत-रूप में छाया जाये, तो इससे मुक्ति का उपाय क्या है?

वहुत गहराई से पूछने पर, किसनराम कुछ खुला था, “महाराज, आप तो मेरे इष्ट देवता-सरीखे ठहरे, आपसे क्या छिपाना। इधर शरीर बहुत कमज़ोर हो चला है। समय से खा नहीं पाया हूँ। बात-पित्त बढ़ गया है, ठीक से आँख नहीं लग पाती और नहाने-कपड़े धोने की शक्ति अब रही नहीं, गुसाईज्यू ! … और जब-जब भूख से पेट जलता है, जब-जब खासी और चड़क से देह फूटने को हो आती है और इधर-उधर झाँकने पर सिर्फ अपनी ही दुर्गन्ध, अपनी ही प्रेत-जैसी छाया धेरने लगती है, तो पापी चित्त वस में नहीं रहता, गुसाईज्यू ! जिसे जवानी के दिनों में कभी गाली नहीं दी, उसे अब मरते समय न जाने कैसी-कैसी भयंकर और पलीत गालियाँ बकने लग जाता हूँ। आत्मा फाँसी के फन्दे पर लटकी हुई धिक्कारती रहती है कि किसनराम, अब मसानधार की तरफ जाते हुए अपनी घरवाली को रांड-पातर मत कह, रे कसाई ! … मगर ये दो ठूँठ अँगुलियाँ चरस-भरी हुई बीड़ी-जैसी सुलगती हुई मेरे कपाल को दाढ़ती रहती हैं कि ओरे, पातरा ! तूने जो मेरा कलेजा ही नहीं निकाल लिया होता, तू आज इस वृद्धावस्था में तू नहीं, तो कोई और तो होती……”

“किसनराम, भवानी को तू भूला नहीं है, रे ! जैसी दगा वह कर गयी तेरे साथ, किसी और के साथ करती, तो वह थू-थू थूकता और दूसरी ले आता। मगर तेरा मोह तो घटा ही नहीं उससे ।”

“गुसाईज्यू, डाल-पात टूटा वृक्ष तो फिर से पंगुर जाता है, मगर जड़ से उखड़ा हुआ वृक्ष क्या करे ? जब तक हाथ-पाँव चलते रहे, टैम से पेट की आग दुभाना, टैम से मैले कपड़े धोना इसीलिए करता रहा, कि नहीं कर पाऊँगा, तो भीनी छोरी के लिए गाली निकलेगी मुँह से। महाराज, आपने तो उसे पुरपुतली की तरह मेरे आगे-पीछे, उड़ता हुआ देखा ही था ? उस छोटी-सी छोरी को गंवा देने के बाद सवानी श्रीरत्न ले आता, तो मुझे लगता, कि मेरे आगे-पीछे चील झपटटे मार रही है…… महाराज, आप भी कह रहे होने कि इस किसनुवा डोम की मति वृद्धावस्था में चीपट हो गयी है…… मगर मैंने उस पुरपुतली का सुख कभी नहीं खोना चाहा, गुसाईज्यू !”

पाण्डेजी को लगा था, कि धैंसती हुई आँखों में जो तालाब में डूबी हुई मछली-जैसी चमकती है, वह खुद तब का किसनराम ही अपनी भावुकता की गहराई में डूबा हुआ है, जब वह बीड़ी का जलता ठूँठ हथेली में घिस लेनेवाली भवानी को साथ लेकर, शास्त्रों की व्यवस्था पूछता फिरता था।

“महाराज, आजकल जो तड़प रहा हूँ, तो इसीलिए, कि म्लेच्छ योनि का पहले ही ठहरा, उपर से यह संसारी कुट्टिल चित्त की हाय-हाय है। गरुड़-पुराण सुनने को तो पहले ही हक नहीं ठहरा, किर सुनाये भी कौन? कभी-कभी जंगल में आँखें बन्द करके लेट जाता हूँ, गुसाईज्यू, कि कोई आकाश में उड़ता गरुड़ पक्षी ही मुझे मुर्दा समझकर, मेरे भाये पर बैठकर टिटकारी छोड़ जाये……महाराज, अपने तारण-तरण की उतनी चिन्ता नहीं है……मगर आत्मा इसी पाप से डरती है, कि कहीं प्रेत-योनि में गया, तो उस भोनी-छोरी को न लग जाऊँ? हमारी सौतेली महतारी में हमारे वाप का प्रेत आने लगा है, महाराज! और उसे उसके लड़के गरम चिमटों से दाग देते हैं……कहीं उसके लड़के भी उसे ऐसे ही न दारों, महाराज! ……जिसे जीते-जी अपना सारा हक-हुकम होते हुए भी एक कठोर वचन तक नहीं कह सका, कि जाने दे, रे किसनराम, पुतली-जैसी उड़ती छोरी है, जहाँ उसकी मर्जी आये, वहीं बैठने दे……उसे ही मरने के बाद दागते कैसे देख सकूँगा? ……श्रद्धा, गुसाईज्यू, आगर कोई आदमी जीते-जी अपनी आँखें निकालकर किसी गरुड़ पक्षी को दान कर दे, तो वह प्रेत-योनि में भी अन्धा ही रहता है, या नहीं?”

पाण्डेजी अनुभव कर रहे थे कि ज्यों-ज्यों किसनराम मृत्यु की ओर बढ़ रहा है, त्यों-त्यों भवानी एक वच्ची की तरह, रंग-विरंगी तितली की तरह, उसके अन्दर-ही-अन्दर उड़ती हुई, उसे भी एक ऐसे वचने की ओर ले जा रही है, जहाँ मन के बावलेपन को थामने की क्षमता न देह में रह गयी है, न बुद्धि में। वह डरने लगे थे कि कभी अपनी अन्ध-भावुकता में कहीं सचमुच न किसनराम अपनी आँखें निकाल बैठे। उसकी बँसी हुई आँखों में भाँकने पर उनको ही ऐसा लगता था कि किसनराम ने मछली पकड़ने के जाल को ऊपर से मूठ बांधकर नीचे की गहराइयों में फैला दिया है और बार-बार उसकी आत्मरिक वेदनाएँ उस जाल में फैसकर छटपटाती हैं और वह बार-बार उसे अन्दर की ओर समेटने की कोशिश करता है—और तब उसकी आँखों की झुरियाँ ऐसे आपस में सिमट आती हैं कि लगता है, जाल की बंधी हुई मूठ एकदम कस दी गयी हैं और ढोरियों में भीगा हुआ पानी निचुड़ आया है। ऐसी आँखों की अपनी ही देह पर सहना कितना कठिन होता है, जिन्हें दूसरे तक न सह सकें। उस निरे अशिक्षित और अबोध किसनराम की आँखों की गहराई में जो चमक दिखायी देती थी, पानी के तल में मरी हुई मछली के चमकने की तरह, उसे देखते में पाण्डेजी को यथ-युधिष्ठिर-प्रसंग याद आ जाता था और उन्हें लगता था कि विना अपनी प्रश्नाकुल आँखों के लिए तृप्ति पाये, यह किसनराम उन्हें छोड़ेगा नहीं। सो, उन्होंने किसनराम से यह कहना शुरू कर दिया था कि शास्त्रों में यह भी तो लिखा हुआ है, कि जो व्यक्ति आत्मिक-रूप से प्रायशिच्चत कर लेता है, वह अपनी मरणोत्तर स्थिति में स्वर्गेवासी हो जाता है। किसनराम के प्रश्न पूछते ही, अब पाण्डेजी कह देते थे, कि, “किसनराम, तू तो एकदम निश्छल-निर्वंश आत्मा बाला है। तुझ-जैसे सात्त्विक लोग प्रेत-योनि में नहीं जा सकते।” मगर इससे किसनराम के प्रश्न ही घटे थे, उसकी बैचैनी उसका दुःख नहीं घटा था। पहले अपनी जिस बैचैनी को वह प्रश्नों में बाँट देता था, अब वह और यादा भरती जा रही थी उसकी आँखों में……और पाण्डेजी को लगता था, कि किसनराम की यह तालाब में सिमटते हुए पानी-जैसी बैचैनी यदि नहीं घटी, तो

उसकी आँखों की गहराइयों में ढूबी हुई अपनी ही शर्थों के बांस के सहारे टिके हुए धव-जैसी उसकी आहत आत्मा एकदम ऊपर ही उतर आयेगी... और आँखों के रास्ते जिनके प्राण निकलते हैं, उनका चेहरा कितना डरावना हो जाता है...

० ०

सुंयाल के किनारे चलते-चलते पाण्डेजी को ऐसा लग रहा था, जैसे कोई उनकी पीठ पर लदी उस पोटली को नीचे धरती की ओर खींच रहा है, जिसमें यजमानी से मिली हुई सामग्री है। दूर के गाँव में, एक वृद्ध यजमान की मृत्यु हो गयी थी और तेरहवीं कराकर पाण्डेजी लौट रहे थे। पोटली में जौ-तिल भी थे और एक जोड़ी वर्तन भी थे। चाकी वर्तन तो गति-किरिया के दिनों से चुके थे, आज सिफ्ऱ एक लोटा था, एक कटोरा, एक चम्भच और एक थाली।

किसनराम के मरने पर, हो सकता है, उसके सीतेले भाई उसके थोड़े-से जो वर्तन थे, उन्हें सभेट ले गये हों और, सम्भव है, अपनी हीन नीयत के कारण, किसनराम के नाम पर कोई वर्तन न लगाएँ? पाण्डेजी को याद आया कि चन्द्रा वहूरानी जो पानी का लोटा लाती थीं, उसे किसनराम छूता नहीं था। वहूरानी लौटे से पानी छोड़ती थीं, और वह दावीं हृथेली होंठों से लगाकर, पीता था... सोचते-सोचते, पाण्डेजी को लगा, जैसे किसनराम ही उनकी पीठ के पीछे-पीछे चलता हुआ, लौटे को अपने होंठों की ओर झुका रहा है। पाण्डेजी के पाँव एकदम भारी-भारी हो आये। उन्हें याद आया कि यजमान के मरने से पहले उन्होंने किसनराम को आश्वासन दे दिया था कि उसके मरने पर वह खुद उसका तर्पण कर देंगे... और तब किसनराम आश्वस्त हो गया था कि "महाराज, आपके हाथ की तिलांजलि से तो मुझ अभागे के समस्त पापों का तारण हो जायेगा! मगर कहीं ऐसा तो नहीं, गुसाईंज्यू, कि आप-जैसे पवित्र व्रात्यूण देवता से तर्पण कराने का मुझे कोई दण्ड भुगतना पड़े?"

पाण्डेजी भी जानते थे कि किसनराम का तर्पण उनके लिए शास्त्र-विरुद्ध और निपिद्ध है, मगर उसे आश्वस्त करने का एकमात्र उपाय ही यही रह गया था, सो उन्होंने कह दिया था कि जाति तो सिफ्ऱ मिट्टी की होती है। मिट्टी छूट जाने के बाद, सिफ्ऱ आत्मा रह जाती है और आत्मा कोई अछूत नहीं होती। मगर इस समय बड़ी द्विधा हो ग्रायी, कि कहीं किसनराम सचमुच मर गया होगा, तो क्या वह अपना वचन पूरा कर सकेंगे? मन-ही-मन पाण्डेजी प्रार्थना करते जा रहे थे कि किसनराम न मरा हो। गाँव में उन दिनों सिफ्ऱ दो के ही मरने की आशंका ज्यादा थी, एक किसनराम और दूसरी उसकी सीतेली माँ। पाण्डेजी की भावना थी कि वही मरी होती, तो अच्छा था।

० ०

इमशान तक पहुंचे, तो वहाँ सिफ्ऱ वुभती हुई चिता घोप रह गयी थी। मुर्दा फूँकने वाले जा चुके थे। पाण्डेजी अपने बाहरी आचार-संस्कार में बूढ़ों को जितना अचूत समझते थे, आत्मिक-संस्कार में नहीं। पिता और माँ से उन्होंने उदार संवेदना और मानवीयता पायी थी। मगर अपनी परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में जितना उन्हें बाहरी आचार-व्यवहार को जीना पड़ता था, उतना अपने आत्मिक-संस्कार को नहीं, सो, आत्मा से

बृषालु न होते हुए भी, एक वित्तृष्णा-सी उन्हें हो आयी। किसनराम के सम्बन्ध में जिज्ञासा और बढ़ गयी थी, मगर दूर से पूछ लेने की जो सुविधा समझी थी, वह भी नहीं रही थी। जानना चाहते थे कि किसनराम था, उसकी सौतेली माँ थी या आकस्मिक रूप से मरा हुआ कोई और—मगर दूर से देखने पर चिता में शव भी जलता दिखायी नहीं दे रहा था। सम्भव है, अच्छी तरह से पूर्णदाह कर दिया हो। सम्भव है अधजला शव वहा दिया हो।

वित्तृष्णा और निषध के बावजूद, पाण्डेजी थोड़ा और आगे बढ़ गये। अजीव मनः-स्थिति उनकी हो गयी थी। वह आशंका पीछे लौटा लेना चाहती थी कि कहीं दूर देतों में काम करता या इस और आता हुआ कोई यों इमशान टटोलते देखेगा उन्हें, तो न-जाने क्या समझे, कि एक अद्यूत के शब्दाह के बाद वह वहाँ क्या खोज रहे हैं? मगर उनकी जिज्ञासा आँखों को चारों ओर घुमा देती थी, कहीं कोई ऐसा अवशेष ही दिख जाय—किसनराम की सौतेली माँ का धाघरा-पिछोरा ही दिख जाय जिससे शंका टले... और तभी, पाँवों के एकदम समीप, कोई कपड़ा उनके पाँव से लग गया और पाण्डेजी चौंकर पीछे हट गये। देखा, किसनराम की काली दोपलिया टोपी थी, जिसे चन्द्रा बहुरानी से रोटियाँ लेते में वह लीहे के तसले की तरह आगे फैला देता था।

“किसनराम! ...ओम् विष्णुर्!” पाण्डेजी को लगा, तसले की तरह फैली हुई उस टोपी के पास ही किसनराम भी है और याचना-भरी आँखों से उन्हें घूर रहा है।

“महाराज !”

“हे राम !” व्यथा से पाण्डेजी की आँखें गीली हो आयीं। आशंका के प्रमाण सिद्ध हो जाने से पाँव अपने-ग्राप एकदम हल्केहो आये और पाण्डेजी पीछे लौट आये। गाँव की ओर जानेवाली सड़क पकड़ने के लिए, थोड़ी दूर और सुंयाल के किनारे-किनारे ही चलना था। मगर इमशान भूमि से जरा ऊपर पहुँचते ही, फिर पाँव भारी पड़ने लगे। लगा, किसनराम पीछे छूट गया है और टोपी फैलाये हुए... आखिर व्या माँगना चाहता रहा होगा किसनराम अपने अन्तिम क्षणों में? सिर्फ़ यहीं तो कि उसकी प्रेत-मुक्ति हो जाय? शायद, मरते समय किसी से कह भी गया हो कि उन्हें इस बात की बाद दिला दी जाय कि उन्होंने उसका तर्पण करने का आशवासन दे रखा था!

अन्तिम दिनों में अपनी मुक्ति की जो आश्वस्ति किसनराम की आँखों में आ गयी थी, वहीं ऐसा न हो कि उसकी मरणत्तोर आत्मा यही खोजती फिर रही हो कि पाण्डेजी उसका तर्पण करते भी हैं या नहीं?

पाण्डेजी अनुभव कर रहे थे कि किसनराम उनको पीछे लौटा लेना चाहता है और उसने मुक्ति का एकमात्र उपाय यही है कि उसका तर्पण कर दिया जाय। अपने मन की तमाम द्विविधाओं से मुक्ति का यही मार्ग शेष था, मगर जाति-विरादरी के लोगों की जानकारी में तो कुछ भी करना सम्भव नहीं। यहाँ इस सुंयाल-घाटी के एकान्त में तो सिर्फ़ वही ईश्वर साक्षी रहेगा, जिसके लिए मनुष्य मनुष्य सब एक है... मगर एकदम इमशान के समीप ही तर्पण करने से कोई आता-जाता प्रश्नवाचक आँखों से घूरने लगेगा। और कोई कहीं यह अफवाह ही न फैलावे कि पैसे के लोभी बाह्यण ग्रव चोरी-

चोरी के शूद्रों का पोरोहित्य भी निभाने लग गये हैं।

योही ही ऊपर, एक पतली धारा सुमाल से मिसा रही थी। पाण्डेजी आगे बढ़े और संगम के पास एक ऊँची शिला पर पोटी रख दी। पोटी खोतात में चोटा पूँछ पड़ा। पाण्डेजी का मन भर जागा। जल भरकर, लोटा उन्होंने जीव-किनारे को छिट्ठी में चेदी-जैसी वनाकर, रख दिया। जिन्दगी-भर तो यजमानों की हृषिकी से धन ही अपना किया है। आज योड़ा-सा दान बधने सेवकों के नाम पर रथय भी खो न करने। नाम के उदार होते-होते पाण्डेजी यह भी भूल गये कि पहुँ एक धूम का संग्रह कर रखे हैं। पाली-गिलास और कटोरा भी उन्होंने निकाल लिया। पाली में जी-तिव धान लिये। योड़ा-सा कुश भी बीन लाये। और सारी सामग्री थीक कर खेव में लाय, पहुँची तितानवीं द्वे के लिए 'किसनराम प्रेम प्रेतार्थ' कहते-कहते उनका गम ही जागा कि रामाय के पास पड़ी हुई किसनराम की टोपी उठा लायें और उसी में जी-तिव छोड़ दें।

० ०

किसनराम का तर्पण करके, गर्व के एक धूम समीप पहुँच जान पर पाण्डेजी ने याद आया कि कल ही उन्हें अपने पिताजी का थाढ़ भी लो करना है? '...'ओः पहला एक शूद्र का तर्पण करने के बाद फिर अपने पर्यग्राण थोर धारा-जीवी को पिला कर लाय। पाण्डेजी ने अपने हाथों की ओर देखा। लगा, इस अधृत तिथि की गम है। गोपनीय धूम, अपने मुँह पर ग्रंगुलियाँ फिरायीं, तो गुरुती तीक्ष्ण गी जैरी तीक्ष्ण गम खाउगय हुई।

पाण्डेजी सोच रहे थे कि यों चोरी-सोरी धूम का गर्वण करने के मात्र, विमा पर चालों से कुछ सुने उन्हें पिताश्री का थाढ़ करायि नहीं करता भाविष्य। अपार्व निर के प्रति यह छल अनिष्टकर ही होग। पाण्डेजी जानते थे कि थार्हीं के प्रति वामप मानवीय उदारताओं के बावजूद, जातीय-मन्त्रारण की पृथग विकल थी। पहुँचा अपनी पिता में थी। जिसने जीवन-भर शान्त्य-विग्रह की थीं गर्वी किया, उसी पर धान अशुद्ध हाथों में कैसे दिया जा सकता है?

गांव समीप आता जा रहा था, मगर पाण्डेजी एक धूम थक गये थे। उन्हें धन धरा रहा था कि शूद्र मन से धार्द करने के लिए उन्हें समय नहीं दी दिया, जिस पहुँच पर चालों और विचादनी में कैसी ही अद्विद्य अद्विद्यि समीं न हो। उन्हें धन रहा था कि किसनराम की प्रेत-मुक्ति ही गर्वी है, ऐसिन उन्हें धूमामारण थक दिया दिया है। किसनराम की याद आने पर सार्व आदरीता दीये थे, उन्हींने धूम का धन भी दीया की ओर आर्वें उठायीं, तो उस दार उन्हें दूर दिशा-प्रदाया दी ही थीं और उन्हें दीच में दूसरे समय उनका अपना ही प्रेत लटका हुआ है। और उन्हींने दूसरी दीच में दूसरे दीर्घ लौटता हुआ, किसनराम दृढ़ चर्चने से धूमामारण दूर ही है। और उन्होंने अब और 'महानज' कहते हुए, दृढ़द्रवत में झूला, जो उन्हींने उसे दृढ़द्रवत की विशेषता को किसनराम का नंदा मिल दियायी दिया। दृढ़द्रवत के, पहुँ इनका नहीं रहा था, परन्तु की बूँदें दीक गिरे ही चमक रही थीं, और उन्हींने उसकी जान दी। उन्हींने बूँदें दिलगी हड्ड दी... और 'ओँ नाम रह' कहते ही दृढ़द्रवत की धूम छोड़ा, उन्होंने उन्हींने को छोड़ा नहा, दैनं धारमान में लटके हुए, दृढ़द्रवत की धूम छोड़ा।

भोलाराम का जीव

ऐसा कभी नहीं हुआ था…

धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफारिश के आधार पर स्वर्ग या नक्क में निवास-स्थान 'अलॉट' करते आ रहे थे—पर ऐसा कभी नहीं हुआ था।

जामने वैठे चित्रगुप्त वार-वार चश्मा पोँछ, वार-वार थूक से पन्ने पलट, रजिस्टर देख रहे थे। शलती पकड़ में ही नहीं आ रही थी। अस्त्रियर उन्होंने खीभकर रजिस्टर इतने जोर से बन्द किया, कि मक्खी चपेट में आ गयी। इसे जिकालते हुए वह बोले—“महाराज, रिकार्ड सब ठीक है। भोलाराम के जीव ने पांच दिन-पृथ्वी देह त्यागी और यमदूत के साथ इस लोक के लिए रवाना भी हुआ, पर यहाँ अभी तक पूर्ण पहुंचा।”

धर्मराज ने पूछा, “और वह दूत कहाँ है?”

“महाराज, वह भी लापता है।”

इसी समय द्वार खुले और एक यमदूत बहुत बदहवास-सा वहाँ आया। मौलिक कुरुप चेहरा परिश्रम, परेशानी और भय के कारण और भी विकृत हो था। उसे देखते ही चित्रगुप्त चिल्ला उठे, “अरे, तू कहाँ रहा इतने दिन? भोलाराम का जीव कहाँ है?”

यमदूत हाथ जोड़कर बोला, “दयानिधान, मैं कैसे बतलाऊं कि क्या हो गया। आज तक मैंने धोखा नहीं खाया था, पर इस बार भोलाराम का जीव मुझे चकमा दे गया। पांच दिन पहले जब जीव ने भोलाराम की देह त्यागी, तब मैंने उसे पकड़ा और इस लोक की याचा आरम्भ की। नगर के बाहर ज्योंही मैं उसे लेकर एक तीव्र वायु-तरंग पर सवार हुआ, त्योंही वह मेरे चंगुल से छूटकर न जाने कहाँ गायब हो गया। इन पांच दिनों में मैंने सारा ब्रह्माण्ड छान डाला, पर उसका कहाँ पता नहीं चला।”

धर्मराज क्रोध से बीले, “मूर्ख, जीवों को लाते-लाते बूढ़ा हो गया, फिर भी एक मामूली बूढ़े आदमी के जीव ने तुझे चकमा दे दिया।”

दूत ने सिर झुकाकर कहा, “महाराज, मेरी सावधानी में विलक्षण कसर नहीं थी। मेरे इन अन्यस्त हाथों से अच्छे-अच्छे बकील भी नहीं छूट सके, पर इस बार तो कोई इन्द्रजाल ही हो गया।”

चित्रगुप्त ने कहा, “महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को फन भेजते हैं और वे रास्ते में ही रेलवेवाले उड़ा लेते हैं। हौजरी के पासलों के मोजे रेलवे-अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डिव्वे-के-डिव्वे रास्ते

में कट जाते हैं। एक वात श्रीर हो रही है। राजनीतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर कहीं बन्द कर देते हैं। कहीं भोलाराम के जीव को भी तो किसी विरोधी ने, मरने के बाद भी खराबी करने के लिए नहीं उड़ा दिया ?”

धर्मराज ने व्यंग्य से चित्रगुप्त की ओर देखते हुए कहा, “तुम्हारी भी चिटायर होने की उच्च आ गयी। भला भोलाराम जैसे नगण्य, दीन आदमी ने किसी को क्या लेना-देना ?”

इसी समय कहीं से घूमते-फिरते नारद मुनि वहाँ आ गये। धर्मराज को गुमसुम बैठे देख बोले, “क्यों धर्मराज, कैसे चिन्तित बैठे हैं? क्या नक्क में निवास-न्याय की समस्या अभी हल नहीं हुई ?”

धर्मराज ने कहा, “वह समस्या तो कभी की हल हो गयी, मुनिवर ! नक्क में पिछले सालों में वडे गुणी कारीगर आ गये हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रही इमारतें बनाईं। वडे-वडे इंजीनियर भी आ गये हैं, जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर भारत की इन्डो-योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मज़दूरों की हाजिरी कर पैसा हड़पा, जो कभी काम पर गये ही नहीं। इन्होंने बहुत जल्दी नक्क में इमारतें तान दी हैं। वह समस्या तो हल हो गयी। भोलाराम नाम के एक लड़का की पांच दिन पहले मुत्यु हुई। उसके जीव को यह दूत यहाँ ला

जाव इसे रास्ते में बकमा देकर भाग गया। इसने सार ब्रह्माण्ड छान डाला, कहीं नहीं मिला। अगर ऐसा होने लगा, तो पाप-पुण्य का भेद ही मिट जायेगा।” नारद ने पूछा, “उस पर इन्कम-टैक्स तो बकाया नहीं था ? हो सकता है, उन लड़कों ने रोक लिया हो !”

चित्रगुप्त ने कहा, “इन्कम होती तो टैक्स होता ! … भुखमरा था !”

नारद बोले, “मामला बड़ा दिलचस्प है। अच्छा, मुझे उसका नाम-पता तो चलताओ। मैं पृथ्वी पर जाता हूँ।”

चित्रगुप्त ने रजिस्टर देखकर बताया, “भोलाराम नाम था उसका, जबलपुर शहर के घमापुर मुहल्ले में नाले के किनारे एक डेढ़ कमरे के टूटे-फूटे मकान में वह परिवार-समेत रहता था। उसकी एक स्त्री थी, दो लड़के और एक लड़की। उम्र लग-भग पैसठ साल। सरकारी नौकर था; पांच साल पहले रिटायर हो गया था। मकान का किराया उसने एक साल से नहीं दिया था, इसलिए मकान-मालिक उसे निकालना चाहता था। इतने में भोलाराम ने संसार ही छोड़ दिया। आज पांचवां दिन है। वहुत सम्भव है कि अगर मकान-मालिक, वास्तविक मकान-मालिक है, तो उसने भोलाराम के मरते ही, उसके परिवार को निकाल दिया होगा। इसलिए आमको परिवार की तलाश में काफी घूमना पड़ेगा।”

० ०

माँ-बेटी के सम्मिलित बन्दन से ही नारद भोलाराम का मकान पहचान गये।

द्वार पर जाकर उन्होंने आवाज लगायी, “नारायण…नारायण !” लड़की ने देखकर कहा, “आगे जाओ, महाराज !”

नारद ने कहा, "मुझे भिधा नहीं चाहिए। मुझे भोलाराम के बारे में कुछ पूछताछ करनी है। अपनी माँ को जरा बाहर भेजो, वेटी।"

भोलाराम की पत्नी बाहर आयी। नारद ने कहा, "माता, भोलाराम को क्या दीमारी थी?"

"क्या बताऊँ? जारीवी की दीमारी थी। पांच साल हो गये, पेशन पर बैठे, पर पेशन अभी तक नहीं मिली। हर दस-पन्द्रह दिन में एक दरख्वास्त देते थे, पर वहाँ से या तो जवाब ही नहीं आता था और आता तो यही कि तुम्हारी पेशन के मामले पर विचार ही रहा है। इन पांच सालों में मेरे सब गहने बेचकर हम लोग खा गये। फिर बत्तन बिके। अब कुछ नहीं बचा था। फाके होने लगे थे। चिन्ता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।"

नारद ने कहा, "क्या करोगी, माँ?... उनकी इतनी ही उम्र थी।"

"ऐसा तो मत कहो, महाराज। उम्र तो बहुत थी। पचास-साठ रूपया महीना पेशन मिलती, तो कुछ और काम कहीं करके गुजारा हो जाता। पर क्या करें? पांच साल नीकरी से बैठे ही गये और अभी तक एक कोड़ी नहीं मिली।"

दुख की कथा सुनने की फुरसत नारद को थी नहीं। वह अपने मुद्दे पर आये, "माँ, यह तो बताओ कि यहीं किसी से क्या उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उनका जी लगा हो?"

पत्नी बोली, "लगाव तो महाराज, वाल-वच्चों से ही होता है।"

"नहीं, परिवार के बाहर भी ही सकता है। मेरा मतलब है, कोई स्त्री..."

स्त्री ने गुरुकर नारद की ओर देखा। बोली, "वको मत, महाराज। साधु हो, कोई लुच्चे-लफांगे नहीं हो। जिन्दगी-भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री को ग्रांड उठाकर भी नहीं देखा।"

नारद हँसकर बोले, "हाँ, तुम्हारा यह सोचना ठीक ही है। यहीं भ्रम अच्छी गृहस्थी का आधार है। अच्छा, माता, मैं चला।"

द्यंग्य समझने की असमर्थता ने नारद को सती के कोघ की ज्वाला से बचां लिया।

स्त्री ने कहा, "महाराज, आप दो साधु हैं, सिढ़ पुरुष हैं। कुछ ऐसा नहीं कर सकते कि उनकी इको हुई पेशन मिल जाय। इन वच्चों का पेट कुछ दिन भर जायेगा।"

नारद को दया आ गयी थी। वह कहने लगे, "साधुओं की बात कोन मानता है? गेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं। फिर भी मैं सरकारी दफ्तर जाऊँगा और कोशिश करूँगा।"

वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफ्तर में पहुँचे। वहाँ पहले ही कमरे में बैठे बादू से उन्होंने भोलाराम के केस के बारे में बातें कीं। उस बादू ने उन्हें ध्यानपूर्वक देता और बोला, "भोलाराम ने दरख्वास्तों तो भेजी थीं, पर उन पर बजन नहीं रखा था, इसलिए कहीं उड़ गयी होंगी।"

नारद ने कहा, "भट्ट, ये बहुत-से पेपरवेट तो रखे हैं। इन्हें क्यों नहीं रख दिया?"

बादू हँसा, "आप जायु हैं, आपको दुनियादारी समझ में नहीं आती। दरख्वास्ते

पेपरवेट से नहीं दबतीं... खैर, आप उस कमरे में बैठे वालू से मिलिए।”

नारद उस वालू के पास गये। उसने तीसरे के पास भेजा, तीसरे ने चौथे के पास, चौथे ने पाँचवें के पास। तब नारद पचीस-तीस वालुओं और अफसरों के पास पूम आये, तब एक चपरासी ने कहा, “महाराज, आप क्यों इस झंझट में पड़ गये! आप अगर साल-भर भी यहाँ चक्कर लगाते रहें, तो भी काम नहीं होगा। आप तो तीधे बढ़े साहब से मिलिए। उन्हें खुश कर लिया तो अभी काम ही जायेगा।”

नारद बड़े साहब के कमरे में पहुंचे। वाहर चपरासी ऊंचे रहा था, इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। उन्हें एकदम बिना विजटिंग-कार्ड के आया देख, साहब बड़े नाराज हुए। बोले, “इसे कोई मन्दिर-वन्दिर समझ लिया है यद्या? धड़धड़ते चले आये! चिट क्यों नहीं भेजी?”

नारद ने कहा, “कैसे भेजता? चपरासी तो सो रहा है!”

“क्या काम है?” साहब ने रोब से पूछा।

नारद ने भोलाराम का पैशन-केस बतलाया।

साहब बोले, “आप हैं वैरागी; दफतरों के श्रीति-रिवाज नहीं जानते। असल में भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी एक मन्दिर है। यहाँ भी दान-पूण्य करना पड़ता है; मैंट चढ़ानी पड़ती है। आप भोलाराम के श्रात्मीय भालूम होते हैं। भोलाराम की दरख्वास्ते उड़ रही हैं; उन पर बजन रखिए।”

नारद ने सोचा कि फिर यहाँ बजन की समस्या खड़ी हो गयी। साहब बोले, “भई, सरकारी पैसे का मामला है। पैशन का केस बीसों दफतरों में जाता है। देर लग ही जाती है। हजारों बार एक ही बात को हजार जगह लिखना पड़ता है, तब पक्की होती है। जितनी पैशन मिलती है उतनी कीमत की स्टेशनरी लग जाती है। हाँ, जल्दी भी हो सकती है, मगर...” साहब रुके।

नारद ने कहा, “मगर क्या?”

साहब ने कुटिल मुक्कान के साथ कहा, “मगर बजन चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आपकी यह सुन्दर बीणा है, इसका भी बजन भोलाराम की दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा। साधुओं की बीणा तो बड़ी पवित्र होती है। लड़की जल्दी संगीत सीख गयी, तो उसकी शादी ही जायेगी।”

नारद अपनी बीणा दिनते देखकर जरा घबराये। पर फिर सेभलकर उन्होंने बीणा टेबल पर रखकर कहा, “यह लीजिए। अब जरा जल्दी उसकी पैशन का ग्रॉटर निकाल दीजिए।”

साहब ने प्रसन्नता से उन्हें कुर्सी दी, बीणा को एक कोने में रखा और घंटी बजायी। चपरासी हाजिर हुआ।

साहब ने हुक्म दिया, “बड़े वालू से भोलाराम के केत की फ़ाइल लाशो!”

धोड़ी देर बाद चपरासी भोलाराम की ती-डेढ़ सौ दरख्वास्तों से भरी फ़ाइल लेकर आया। उसमें पैशन के कागजात भी थे। साहब ने फ़ाइल पर का नाम देखा और निश्चित करने के लिए पूछा, “क्या नाम बताया, साधुजी, आपने?”

नारद ने कहा, “मुझे भिधा नहीं चाहिए। मुझे भोलाराम के बारे में कुछ पूछताछ करती है। अपनी माँ को जरा बाहर भेजो, बेटी।”

भोलाराम की पत्नी बाहर आयी। नारद ने कहा, “माता, भोलाराम को क्या बीमारी थी?”

“क्या बताऊँ? गरीबी की बीमारी थी। पांच साल हो गये, पेशन पर बैठे पर पेशन अभी तक नहीं मिली। हर दस-पन्द्रह दिन में एक दरखास्त देते थे, पर वह से या तो जवाब ही नहीं आता था और आता तो यही कि तुम्हारी पेशन के मामले पर विचार हो रहा है। इन पांच सालों में मेरे सब गहने बेचकर हम लोग खा गये। फिर बनन बिके। अब कुछ नहीं बचा था। फाके होने लगे थे। चिन्ता में घुलते-घुलते और भूखे मरते-मरते उन्होंने दम तोड़ दिया।”

नारद ने कहा, “क्या करोगी, माँ?... उनकी इतनी ही उम्र थी।”

“ऐसा तो मत कहो, महाराज। उम्र तो बहुत थी। पचास-साठ रूपया महीन पेशन मिलती, तो कुछ और काम कहीं करके गुजारा हो जाता। पर क्या करें? पांच साल नीकरी से बैठे हो गये और अभी तक एक कौड़ी नहीं मिली।”

दुख की कथा सुनने की फुरसत नारद को थी नहीं। वह अपने मुद्दे पर आये “माँ, यह तो बताओ कि यहाँ किसी से क्या उनका विशेष प्रेम था, जिसमें उनका जलगा हो?”

पत्नी बोली, “लगाव तो महाराज, बाल-बच्चों से ही होता है।”

“नहीं, परिवार के बाहर भी हो सकता है। मेरा मतलब है, कोई स्त्री...”

स्त्री ने गुराकर नारद की ओर देखा। बोली, “बको मत, महाराज। साधु ही लुच्चे-लफंगे नहीं हो। जिन्दगी-भर उन्होंने किसी दूसरी स्त्री को आँख उठाकर भी देखा।”

नारद हँसकर बोले, “हाँ, तुम्हारा यह सोचना ठीक ही है। यही भ्रम अच्छे गृहस्थी का आधार है। अच्छा, माता, मैं चला।”

व्यंग्य समझने की असर्वता ने नारद को सती के क्रोध की उबाला से बचां लिया स्त्री ने कहा, “महाराज, आप दो साधु हैं, सिद्ध पुरुष हैं। कुछ ऐसा नहीं क सकते कि उनकी एकी हुई पेशन मिल जाय। इन बच्चों का पेट कुछ दिन भर जायेगा।

नारद को दया आ गयी थी। वह कहने लगे, “साधुओं की बात कौन सात है? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं। फिर भी मैं सरकारी दफतर जाऊँगा और कोशिक हूँगा।”

वहाँ से चलकर नारद सरकारी दफतर में पहुँचे। वहाँ पहले ही कमरे में बैचादू से उन्होंने भोलाराम के केस के बारे में बातें की। उस बादू ने उन्हें ध्यानपूर्व देखा और बोला, “भोलाराम ने दरखास्तें तो भेजी थीं, पर उन पर बजन नहीं रख था, इसलिए कहाँ उड़ गयी होंगी।”

नारद ने कहा, “भई, ये बहुत-से पेपरवेट तो रखे हैं। इन्हें क्यों नहीं रख दिया?

बादू हँसा, “आप साधु हैं, आपको द्वन्द्यादारी समझ में नहीं आती। दरखास्त

पेपरवेट से नहीं दवतीं... खैर, आप उस कमरे में बैठे वालू से मिलिए।”

नारद उस वालू के पास गये। उसने तीसरे के पास भेजा, तीसरे ने चौथे के पास, चौथे ने पाँचवें के पास। जब नारद पचीस-तीस वालूओं और अफसरों के पास धूम आये, तब एक चपरासी ने कहा, “महाराज, आप क्यों इस झंझट में पड़ गये! आप अगर साल-भर भी यहाँ चक्कर लगाते रहें, तो भी काम नहीं होगा। आप तो सीधे बढ़े साहब से मिलिए। उन्हें खुश कर लिया तो अभी काम हो जायेगा।”

नारद बड़े साहब के कमरे में पहुंचे। वाहर चपरासी ऊंध रहा था, इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। उन्हें एकदम चिना विजटिंग-कार्ड के आया देख, साहब बड़े नाराज हुए। बोले, “इसे कोई मन्दिर-वन्दिर समझ लिया है क्या? धड़वड़ते चले आये! चिट क्यों नहीं भेजी?”

नारद ने कहा, “कैसे भेजता? चपरासी तो सो रहा है!”

“क्या काम है?” साहब ने रोब से पूछा।

नारद ने भोलाराम का पेशन-केस बतलाया।

साहब बोले, “आप हैं बैरागी; दफतरों के श्रीति-खिलाज नहीं जानते। असल में भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी एक मन्दिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है; मेंट चढ़ानी पड़ती है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरख्वास्ते उड़ रही हैं; उन पर वजन रखिए।”

नारद ने सोचा कि फिर यहाँ वजन की समस्या खड़ी हो गयी। साहब बोले, “भई, सरकारी पैसे का मामला है। पेशन का केस वीसों दफतरों में जाता है। देर लग ही जाती है। हजारों वार एक ही बात को हजार जगह लिखना पड़ता है, तब पक्की होती है। जितनी पेशन मिलती है उतनी की मत की स्टेशनरी लग जाती है। हाँ, जल्दी भी हो सकती है, मगर...” साहब रुके।

नारद ने कहा, “मगर क्या?”

साहब ने कुटिल मुक्कान के साथ कहा, “मगर वजन चाहिए। आप समझे नहीं। जैसे आपकी यह सुन्दर बीणा है, इसका भी वजन भोलाराम की दरख्वास्त पर रखा जा सकता है। मेरी लड़की गाना-वजाना सीखती है। यह मैं उसे दे दूँगा। साधुओं की बीणा तो बड़ी पवित्र होती है। लड़की जल्दी संगीत सीख गयी, तो उसकी शादी हो जायेगी।”

नारद अपनी बीणा छिनते देखकर ज़रा घबराये। पर फिर सँभलकर उन्होंने बीणा टेबल पर रखकर कहा, “यह लीजिए। अब ज़रा जल्दी उसकी पेशन का आँडर निकाल दीजिए।”

साहब ने प्रसन्नता से उन्हें कुर्सी दी, बीणा को एक कोने में रखा और घंटी बजायी। चपरासी हाजिर हुआ।

साहब ने हुक्म दिया, “बड़े वालू से भोलाराम के केस की फ़ाइल लाओ!”

थोड़ी देर बाद चपरासी भोलाराम की सौ-डेढ़ सौ दरख्वास्तों से भरी फ़ाइल लेकर आया। उसमें पेंदान के कागजात भी थे। साहब ने फ़ाइल पर का नाम देखा और निश्चित करने के लिए पूछा, “क्या नाम बताया, साधुजी, आपने?”

नारद ने समझा कि साहब कुछ ऊँचा सुनता है। इसीलिए जोर से बोले, “भोलाराम !”

सहसा फ़ाइल में से आवाज आयी, “कौन पुकार रहा है मुझे ? पोस्टमैन है क्या ? पेंशन का ऑर्डर आ गया ?”

साहब डरकर कुर्सी से लुढ़क गये। नारद भी चौंके। पर दूसरे ही क्षण बात समझ गये। बोले, “भोलाराम ! तुम क्या भोलाराम के जीव हो !”

“हाँ,” आवाज आयी।

नारद ने कहा, “मैं नारद हूँ। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, स्वर्ग में तुम्हारा इन्तज़ार हो रहा है।”

आवाज आयी, “मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तों में अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरख्वास्तों छोड़कर नहीं जा सकता !”...

